श्रीमद्भगवद्गीता

पर

भावार्थदीपिका

'ज्ञानेश्वरी'

नवम अध्याय

'विमल-वाणी' में प्रतिबिम्बित

VIMAL
PRAKASHAN TRUST
'Vimal Saurabh'
Vaniya Wadi Street No. 9,
Rajkot-360 002. (Guj.)
Mob. : 99255 29096
E-mail : vimalprakashantrust@yahoo.com

ॐ नमो जी आद्य ।
वेद – प्रतिपाद्य ।
जय जय स्वसंवेद्य ।
आत्मरूप ॥

श्रीमद्ज्ञानेश्वरप्रशस्तिः

सिद्धप्रज्ञासनस्थिताय ज्ञानेश्वराय नमो नमः।
सहजसर्वाङ्गसुन्दराय ज्ञानेश्वराय नमो नमः।
मूर्तमार्दवस्वरूपाय ज्ञानेश्वराय नमो नमः।
करुणामयाय ज्ञानमुद्राय ज्ञानेश्वराय नमो नमः।
सत्योन्मीलितचक्षुष्काय ज्ञानेश्वराय नमो नमः।
विदग्धवाङ्मयविभूषणाय ज्ञानेश्वराय नमो नमः।
शारदासुतकविगौरवाय ज्ञानेश्वराय नमो नमः।
निखिलरससिद्धेश्वराय ज्ञानेश्वराय नमो नमः।
भक्तिज्ञानयुतयोगेश्वराय ज्ञानेश्वराय नमो नमः।
नवरससागरमीनाय ज्ञानेश्वराय नमो नमः।
अद्वैतामृतपूर्णकामाय ज्ञानेश्वराय नमो नमः।
सहजसमाधिविलासाय ज्ञानेश्वराय नमो नमः।
विश्वसंविदोन्मेषश्रेष्ठाय ज्ञानेश्वराय नमो नमः।
पञ्चमपुरुषार्थप्रतिष्ठापकाय ज्ञानेश्वराय नमो नमः।
भक्ताय भागवतवरिष्ठाय ज्ञानेश्वराय नमो नमः।
परतत्त्वप्रक्षालितवाणीरमणाय ज्ञानेश्वराय नमो नमः।
वीतरागरञ्जितजीवनाय ज्ञानेश्वराय नमो नमः।
विनम्रलाघवपूर्णचन्द्राय ज्ञानेश्वराय नमो नमः।
अलाञ्छितलावण्यमयाय ज्ञानेश्वराय नमो नमः।
मृदुमधुरमन्दहासाय ज्ञानेश्वराय नमो नमः।
चिरषोडशकलासंयुताय ज्ञानेश्वराय नमो नमः।
सुखदशीतलमार्तण्डाय ज्ञानेश्वराय नमो नमः।
शिवशक्तिलालितसौम्याय ज्ञानेश्वराय नमो नमः।
आत्मविलोपनलोलाय ज्ञानेश्वराय नमो नमः।
स्फुटितचिद्रत्नसौरभाय ज्ञानेश्वराय नमो नमः।
चिद्विलासस्फुटितपुष्पाय ज्ञानेश्वराय नमो नमः।
निवृत्तिसुताय प्रेमेश्वराय ज्ञानेश्वराय नमो नमः।।

अतामी (जापान) दिसम्बर, १९६८ —विमला

श्रीश्री ज्ञानेश्वर महाराज

आविर्भाव	समाधि
शके-११९३ (ई० १२७१)	(ई० १२९३) १२१५ – शके

पञ्चमपुरुषार्थप्रबोधिनी

श्रीज्ञानेश्वरी

अथवा

भावार्थदीपिका

श्रीमद्भगवद्गीता पर सन्तकौस्तुभश्रीज्ञानेश्वर – प्रणीत

ओवीछन्दोमयी टीका

मूल मराठी से हिन्दी में ओवीबद्ध अनूदित

(विस्तृत भूमिका : परिशिष्ट – सहित)

प्रेरणा : निर्देशन : प्रस्तावना

विमला ठकार

अनुवादिका : सम्पादिका

डॉ० ऊर्मिला शर्मा

विमल-प्रकाशन-ट्रस्ट

अहमदाबाद

Books Available At:
VIMAL PRAKASHAN TRUST
"SANTKRUPA", 103, RATNAM TOWER,
B/H. CHIEF JUSTICE'S BUNGALOW,
JUDGE'S BUNGALOW ROAD,
BODAKDEV, AHMEDABAD- 380015.
PHONE NO : 079 6854991.

विमल–प्रकाशन–ट्रस्ट
कृष्णकुटी, ५ थियोसोफिकल हाउ. सो.
दादासाहेबना पगला, नवरंगपुरा
अहमदाबाद–९

प्रथम आवृत्ति : १९८३ ई०
प्रतियाँ : ७५० मात्र

मूल्य रु. [redacted] 100 = 00

मुद्रक जितेन्द्र देसाई
नवजीवन मुद्रणालय, अहमदाबाद–१४

विश्वात्मा भगवान् प्रीयताम्

बाल्यावस्था से ही 'श्री ज्ञानेश्वर माउली' का परिचय रहा। उनके तीन ग्रन्थों ने हृदय को अत्यन्त प्रभावित किया श्रीज्ञानेश्वरी, अमृतानुभव और चांगदेवपासष्टी। सचमुच ये तीनों ही कृतियाँ सर्वात्मभूत की अभिव्यक्ति हैं। आदिनाथ की योगसाधना, काश्मीरी शैवों का आत्मोल्लास एवं शङ्कराचार्य का ब्रह्मात्मैक्यज्ञान मानो समन्वित होकर अन्तर्यामी की वाणी के द्वारा प्रकाश पा रहे हैं। हिन्दी गद्य में एवं संस्कृत में भी इन ग्रन्थों का अनुवाद देखा था। परन्तु श्रीज्ञानदेव की वाणी से जिस ओवीछन्द की सङ्गीतरसधारा छलकी है वह अभी तक देखने में नहीं आई थी। हिन्दी भाषा में यह एक अपूर्व, अनुत्तर एवं अनुपम कृति है कि ओवी छन्द अपने ही स्वर, गति एवं ताल लेकर प्रकट हुए हैं। आदरणीय बहन श्री विमलाताई ठकार की प्रेरणा और पथ-प्रदर्शन में बहन ऊर्मिला ने ओवियों को एक नवीन रूप दिया है। भगवत्-प्रेरणा, सद्गुरु की करुणा एवं आत्मा के उल्लसित रस ने इस में जो अपनी रसमयी, लास्यमयी, ललितललित प्रासादिक माधुरी भर दी है — इस के लिये ये अभिनन्दन की पात्र हैं। मैं हृदय से इन के लिये

"**शुभाशीराशयः सन्तु**" का उच्चारण करता हूँ।

१५–१०–८२ **अखण्डानन्द सरस्वती**

आश्विन कृष्णचतुर्दशी

आनन्दवृन्दावन, मोतीझील,
वृन्दावन

अनन्तश्री स्वामी
अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

प्रस्तावना

ईसवी सन् १९६८ में जापान के गांधी श्री फूजीगुरुजी के निमन्त्रण पर मैं तीन सप्ताह के लिये जापान गई थी। प्रशान्त महासागर के किनारे श्री फूजी गुरुजी का आश्रम है। एक दिन सन्ध्या समय मैं सागर किनारे ध्यान में बैठी थी। सामने श्यामवर्ण विशाल सागर था। ऊपर आकाश की मनोरम नीलिमा थी। किनारे पर श्वेत रेती में मैं अकेली ध्यानावस्थित बैठी थी। उस निर्जन नीरव एकान्त में श्रीमद्ज्ञानेश्वरप्रशस्ति* स्फुरित हुई। निमीलित चक्षुओं के सामने श्री ज्ञानेश्वर स्वयं उपस्थित हुए हैं यह देख कर मैंने आँखें खोल दीं। महान् आश्चर्य यह था कि सागर के जल पर से चलते हुए ज्ञानेश्वर मेरी तरफ़ आ रहे थे। प्रशस्ति की पहली पंक्ति पूरी होने तक वे स्थिर थे। दूसरी पंक्ति में उन्हों ने चलना शुरू कर दिया। उन का चरण बढ़ना और इधर एक पंक्ति का पूरा होना – यह क्रम चला। अन्तिम पंक्ति के समय वह तेजोमयी काया मेरे सम्मुख खड़ी थी। चरण-स्पर्श करके मैं न प्रणाम किया। मस्तक पर स्पर्श पाया। इतना याद है।

उस रात्रि को चित्त में इच्छा पैदा हुई कि ज्ञानेश्वर की ग्रन्थ-रचनाओं का भारत की सभी भाषाओं में अनुवाद हो सके तो कितना अच्छा होगा। किन्तु इच्छा को मूर्तरूप देने की शक्ति मुझ में कहाँ? मैं ने मन ही मन श्रीज्ञानदेव से प्रार्थना की कि आप की शक्ति से आप यह काम करा लें तो ही शायद हो सकेगा।

ई. १९७१ के जून में श्रीकिशनसिंह चावड़ा नाम के एक साहित्यिक एवं जीवनसाधक मेरे साथ रहने आबू आये। उन्होंने श्रीज्ञानेश्वरी का अध्ययन शुरू किया और गुजराती भाषा में श्रीज्ञानेश्वरी के मूल ओवीछन्द में गुजराती अनुवाद सम्पन्न किया। वह अनुवाद १९७८ में प्रकाशित हुआ। यह समाचार जानने पर वेदमार्तण्ड स्वामी गङ्गेश्वरानन्दजी ने मुझ से कहा कि श्रीज्ञानेश्वरी का ऐसा ही अनुवाद हिन्दी, अंग्रेजी तथा संस्कृत में होना चाहिये। उन की बात सुन कर मैं अवाक् रह गई। १९६८ में चित्त में उठी हुई इच्छा का ऐसा समर्थ समर्थन सुनकर हृदय गद्गदित हो उठा। इस घटना

*[वही प्रशस्ति ग्रन्थारम्भ में श्रीज्ञानेश्वरमहाराज के चित्र के सम्मुख रखी गई है । – सं.]

के समय मेरे साथ थीं डॉ० ऊर्मिला शर्मा, जो हिन्दीभाषी एवं संस्कृत की विदुषी है। शिवकुटी लौटने पर उस से परामर्श किया। हिन्दी भाषा में गेय ओवी छन्द उतारने का संकल्प हुआ। और आज उस के परिणामस्वरूप पञ्चम पुरुषार्थप्रबोधिनी श्रीमती ज्ञानेश्वरी का हिन्दी अनुवाद पाठकों के हाथों में प्रस्तुत करने का सौभाग्य मिला।

मराठी सन्तसाहित्य में श्रीज्ञानेश्वरी एक निरुपम ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के लिये कोई भी विशेषण प्रयुक्त करना असम्भव-सा लगता है। यदि कहा जाय कि यह अध्यात्म-विषयक ग्रन्थ है तो उस से ऐसा ध्वनित होगा मानो अध्यात्म जीवन का केवल एक अंग है। दार्शनिक ग्रन्थ है कहने से आभास होगा कि वह काव्यग्रन्थ नहीं है। जिस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता का यथार्थ वर्णन करना अशक्य लगता है, उसी प्रकार श्रीज्ञानेश्वरी का विषयवर्णन दुष्कर प्रतीत होता है। इतना ही कह सकती हूँ कि इस ग्रन्थ में पञ्चम-पुरुषार्थ 'मधुराद्वैत' की प्रतिष्ठा देखने को मिलती है।

श्रीज्ञानेश्वरी याने योगेश्वर की योगवाणी। आत्मानन्द के रस में भीगी -भीगी प्रेमावतार की पावन वाणी। श्रीज्ञानेश्वरी याने भगवान् वासुदेव की वाणी में भरा हुआ उपनिषद्-रहस्य आत्मसात् कर के शब्दों द्वारा प्रवाहित करने वाले ज्ञानराय का जीवनसंगीत। श्रीज्ञानेश्वरी याने बालयोगी ज्ञानेश्वर के द्वारा वाग्विलासिनी भुवनमनमोहिनी शारदा के साहित्यमन्दिर में रचित श्रीमद्भगवद्गीता की मंगलपूजा।

यह ग्रन्थ केवल गीताभाष्य नहीं है। यह केवल संस्कृत शब्दों का प्राकृत मराठी में किया हुआ अर्थानुवाद भी नहीं है। यह ग्रन्थ है परमज्ञानी, परम प्रेमी और परम योगी होते हुए भी सहजावस्था में जीवनविहार करने वाले एक दिव्य विभूति की वाङ्मयी काया। श्री ज्ञानेश्वर महाराज की यह अक्षर काया उन के देहधारी व्यक्तित्व या जीवनचरित्र से कम दिव्य नहीं है। वस्तुतः महाराष्ट्र की जनता पर श्रीज्ञानेश्वर रूपी अमृतमेघ बरसा है। श्रीज्ञानेश्वर की साहित्य-रचनायें सचमुच एक शाश्वत अमृतवर्षा हैं।

उनकी सभी रचनायें काव्य हैं। श्रीज्ञानेश्वर थे शब्दसृष्टि के ईश्वर। वे थे एक परतत्त्वस्पर्शी क्रान्तदर्शी कवि। एक ही व्यक्ति आत्मानुभवी हो, तत्त्वज्ञानी और योगी हो, साथ-साथ अभिजात कवि भी हो यह घटना दुर्लभ है। किन्तु श्रीज्ञानेश्वर के व्यक्तित्व में योगाधिष्ठित आत्मानुभव, विविध शास्त्रों का अध्ययन तथा तत्त्वदर्शिता का अद्भुत समविकास था, समन्वय था और सामरस्य भी था। काव्य तो उन के उत्कट जीवनप्रेम का एक सहज उन्मेष था। प्रेम की मधुर मृदुता उन की भाषा में मात्र स्पन्दित होती है ऐसा नहीं, किन्तु अपने निखिल ऐश्वर्य के साथ वह इठलाती रहती है, थिरकती

है और अपनी खुमारी से पाठकों के रोम-रोम को प्रफुल्लित करती है। मधुराद्वैत के प्रथम आचार्य, ज्ञानियों के चक्रवर्ती, योगियों के मुकुटमणि, भक्त-श्रेष्ठ ज्ञानेश्वर एक अद्वितीय मानवरत्न हो गये – इस में कोई सन्देह नहीं। श्रीज्ञानेश्वरी जैसा भाष्य-ग्रन्थ हो, श्री अमृतानुव जैसा स्वतन्त्र ग्रन्थ हो, श्री चांगदेवपासष्ठी हो या फिर उन की अर्थगम्भीर अभंगरचना हो – प्रत्येक रचना में श्रीज्ञानेश्वर की अलौकिक, अपार्थिव दिव्य रसमयी विभूति दीप्तिमती हो उठती है।

श्रीज्ञानेश्वर का जन्म नाथ-सम्प्रदाय में हुआ था। उन के प्रपितामह श्री त्र्यम्बकपन्त ने श्री गोरखनाथ से अनुग्रह पाया था। श्रीज्ञानेश्वर के गुरु श्रीनिवृत्तिनाथ ने श्रीगहिनीनाथ से दीक्षा पाई थी। ऐसा माना जाता है कि आदिनाथ श्रीशंकर नाथ–सम्प्रदाय के आदिपुरुष थे। हठयोग-प्रदीपिका पर जितनी टीकायें उपलब्ध हैं उन सब में श्रीशंकर का उल्लेख आदिनाथ के रूप में देखने को मिला है। नाथपन्थ के लिये 'योगबीज' 'सिद्धमार्ग' 'योगमार्ग' तथा अवधूत-सम्प्रदाय जैसे शब्दों का उपयोग देखने में आया है। महाराष्ट्र में नाथपन्थी लोग अपने पन्थ को 'सिद्धमत' भी कहते हैं। श्रीगोरखनाथ इस सम्प्रदाय के सर्वश्रेष्ठ विभूति थे। औपनिषदिक योगमार्ग के वे एक समर्थ प्रवक्ता थे। आद्यश्री शंकराचार्य के बाद इतने महिमान्वित प्रभावशाली महापुरुष के दर्शन भारतीयों को नहीं हुए होंगे।

नाथमत के प्रवक्ता श्री गहिनीनाथ के विषय में बहुत कम ऐतिहासिक जानकारी उपलब्ध है। श्रीनिवृत्तिनाथ ने जो कुछ किया है वह श्रीज्ञानेश्वर की मार्फत ही हुआ है। श्रीज्ञानेश्वर के जीवनदर्शन पर गौडपादीय, शांकरीय एवं नाथसम्प्रदाय के तत्त्वज्ञान का गहरा परिणाम दीखता है; फिर भी चिन्तन और अनुभूति के क्षेत्र में वे पूर्ण स्वतन्त्र, स्वयंप्रज्ञ और स्वयम्भू रहे होंगे। अपनी रचनाओं में उन्होंने कहीं भी श्रीगौड़पादाचार्य का उल्लेख किया नहीं है, किन्तु ज्ञानेश्वरी तथा अमृतानुभव के अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि उन्होंने गौड़पादीय कारिकायें आत्मसात् की थीं। अमृतानुभव ग्रन्थ में शिव-सूत्र का उल्लेख करके ज्ञानेश्वर ने नाथपन्थीय तत्त्वज्ञान के ऋण का स्पष्ट निर्देश किया है।

श्रीज्ञानेश्वर के जीवनदर्शन का मर्म है आत्मबोध और आत्मरति। उन का जीवनदर्शन कहता है कि आत्मा की सत्ता पर प्राणिमात्र के देहों के स्पन्दन उठते हैं और शान्त होते हैं। फिर भी ज्ञानेश्वर क्षणिक-विज्ञान-वादी नहीं हैं। वे बहुत ही विशदता से आत्मा की अविकारता पर जोर देते हुए दिखाई देते हैं। 'अहं ब्रह्मास्मि' के वृत्तिज्ञान को वे मोक्ष की उपलब्धि मानते नहीं हैं। वृत्ति तो अपने में ही एक बन्धन है। इसलिये ज्ञानेश्वर की दृष्टि

में 'अहं'–'इदं' इन दोनों वृत्तियों से जो अवस्था सर्वथा मुक्त होगी–वही मनुष्य की सहज दशा या कैवल्य दशा कहलायेगी।

श्रीज्ञानेश्वरी ग्रन्थ में श्रीकृष्ण और अर्जुन के रूप में भगवान् और भक्त का जो एक अद्‌भुत रम्य सम्बन्ध सूचित होता है, वही महाराष्ट्र के वैष्णव या 'वारकरी'–सम्प्रदाय का वैशिष्ट्य है। श्रीरामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत से यह मधुराद्वैत स्पष्ट रूप से भिन्न है। सम्पूर्ण ज्ञानेश्वरी में कहीं भी निषेधात्मक या खण्डनात्मक भाषा का प्रयोग देखने में नहीं आयेगा। ऋजु-कोमल-चित्त ज्ञानेश्वर एक विधायक क्रान्तिकारी व्यक्ति रहे होंगे। किसी भी दर्शन, मत या सम्प्रदाय का खण्डन किये बिना वे पञ्चमपुरुषार्थ-प्रबोधिनी ज्ञानेश्वरी लिख सके–यह एक चमत्कार ही है।

चि० ऊर्मिला एक जीवनसाधिका है। अद्वैतवेदान्तपरक प्रबन्ध लिख कर उसने पीएच. डी. उपाधि ली है। किन्तु उस का पिण्ड भक्त का है। ज्ञानेश्वरी-ग्रन्थ का ओवीबद्ध अनुवाद करते-करते उस के भीतर भक्ति के पञ्चम पुरुषार्थ का उदय हुआ होगा ऐसी मुझे आशा है। अनुवाद सुललित हुआ है। हिन्दीभाषी साहित्यप्रेमी उस के गेय स्वरूप को जनप्रिय बनायेंगे तो हिन्दी-भाषी राज्यों में यह ग्रन्थ घर-घर में पहुँच सकेगा। चि० ऊर्मिला के साथ बैठ कर मैं अनुवाद देख गई हूँ इसलिये यदि अनुवाद में कोई त्रुटि रह गई हो तो उस का दायित्व मुझ पर है। यदि प्रभुकृपा होगी तो चि० ऊर्मिला के ही हाथों से श्रीज्ञानेश्वरी का संस्कृत-अनुवाद भी सम्पन्न होगा।

१५–१२–८२
शिवकुटी
अर्बुदाचल

—विमला

॥ ॐ ॥

"मेरो मन हर लीन्हो रे!"

(आत्मनिवेदन)

"ॐनमस्तस्मै भगवते वासुदेवाय वेधसे।
पपुर्ज्ञानमयं सौम्या यन्मुखाम्बुरुहासवम् ॥"

भैंसे के मुख से सस्वर वेदोच्चार करवाने और खंडहर दीवार को सम्य गति से चलाने का जिन्हें सहज अभ्यास है – उन की कृपा का वैसा ही एक उदाहरण वन पाने से यह हृदय पुलकित है। अन्यथा सर्वरसघन सच्चिदानन्दवपु सन्त की स्वानुभव-स्फुरित वाणी के अनुवाद को यह अनुभव संवेदना-शून्य अन्ध-बधिर चेतनावाला प्राणी (ऊर्मिलानामक) धारण भी कैसे कर पाता? पाषाण को पात्र बना कर रस परोसने वाले उस 'रसिया' के चरणों में अनन्त प्रणाम। इस रस का शील ऐसा है कि पात्र को भी आस्वाद-आनन्द-विभोर कर देता है और 'रसलीन' होने की 'आस' जगा देता है। अतः धन्यता से सराबोर हृदय बस रटता है – प्रणाम! प्रणाम!

ग्वाल-बालों, गाय-बछड़ों, पक्षियों, लता-गुल्मों से ले कर उद्धव – पाण्डव-भीष्म-वेदव्यास-शुकदेव तक को आह्लाद से भर देने वाले, समराङ्गण में सखा शिष्य का मोह मिटाने के लिये 'गीता' गा कर परम-अध्यात्म-सिञ्चन करने वाले वासुदेव को मानो स्वयं उस रस के आस्वादन की इच्छा उठी होगी और स्वभाववश खुले हाथों बाँटे विना कुछ भी चखना न रुचने से वे श्रीज्ञानदेव रूप में अवतरित हुए होंगे। तभी तो १२ वर्ष की मृदु-मधुर निजबोध-मुग्ध वयस् में प्रतिज्ञा करते हैं – "श्रीगुरुकृपा से पुष्ट मैं वेदों की कृपणता (द्विज-वर्णों को ही तथा षडङ्ग-षट्शास्त्र-अध्ययन में समर्थ को ही परमतत्त्व समझाना) मिटा कर वत्सला धेनु के प्रसाद रूप गीतार्थ से विश्व भर दूंगा' 'मराठी भाषा में ऐसी रसिक अक्षरयोजना करूँगा कि अमृत को भी जीत ले।' 'शब्द केवल श्रवण-भोग्य न रहेंगे, बल्कि उन से नितरते रसग्रहण के लिये सभी इन्द्रियों में होड़ मचेगी।' 'शान्तरस द्वारा शृंगार पराजित होगा!'

सच ही तो वयस् की सुकुमारता व्यक्त करती अद्भुत प्रसादमयी ऋजु-विशद-प्राञ्जल शैली, गीता के समय-दृश्य-रस-भाव को साक्षात् अनुभवगोचर

कराता हुआ निरूपण, जीवन के सूक्ष्मातिसूक्ष्म विविध क्षेत्रों का उपमा–दृष्टान्तादि तूलिका से अनायास मर्मस्पर्श, अतिगहन तत्त्वज्ञान का मांके दूध जैसा सुगम-रुचिर परिवेशन – श्रीज्ञानेश्वरीगंगा के तट पर आये सभी के रोम-रोम को आह्लाद और आश्चर्य से मुग्ध कर देता है। वह विभोर-भाव सहज व्यक्त होता है एकनाथजी के शब्दों के रटन में –

'आरती ज्ञानराजा ! महाकैवल्यतेजा ! सेविती साधु सन्त ! मनु वेधिला बा माझा! उस पर फिर 'श्रीनिवृत्तिदास' विनय की झड़ी लगाते हैं तो श्रोता कह उठते हैं –

'तुम्हें तो श्रीमुरारि ने। कहा कहो प्रगट करके।
जो अभिप्राय मैंने। रखा गुप्त ।।
देव का वह मनोगत। दिखाते हो करके मूर्त।'. . . (ज्ञा० १३/८५६-५७)
'अहो देव धन्य-धन्य। वर्णनशैली कैसी सुरम्य।
जीत आई हो नादब्रह्म। ऐसी मधुर।। . . .
आकाश में उमड़े समृद्ध। साहित्यरंग।। . . .
बिछी शुभ्र ज्ञान–चन्द्रिका। उस में भावार्थ–सुशीतलता।
श्लोकार्थ–कुमुदिनी प्रफुल्लिता। उस स्पर्श से।। (ज्ञा० ६/१३२-३४)

पाठक कभी सन्देह में भी पड़ सकते हैं कि 'मूल ग्रन्थ कौन सा है ? सात सौ श्लोकों का 'भावार्थ' नौ हजार ओवियों में कहा गया है या इस मराठीग्रन्थ का सार संस्कृत-गीता है ?' श्रीज्ञानदेव कहते हैं चिन्ता न करें। केवल यह 'भावार्थदीपिका' पढ़ने से भी काम भलीभाँति पूरा हो जायेगा, कोई घाटा नहीं रहेगा। दोनों साथ-साथ देखें तो सोने में सुगन्ध है ही !

अस्तु। प्रस्तुत अनुवाद में आधार–ग्रन्थ रहे हैं —

(१) श्रीशंकर वामन दाण्डेकर – सम्पादित सार्थ ज्ञानेश्वरी।
(२) श्री साखरेमहाराज साम्प्रदायिक, श्री रामचन्द्र तु० यादव – सम्पादित सार्थ ज्ञानेश्वरी।

दोनों की मराठी व्याख्या एवं मूल-पाठ मिला कर देखे गये हैं, ओवीसंख्या में कहीं-कहीं थोड़ा अन्तर पाया, तब जिस में अधिक ओवी मिलीं उस में से संगृहीत कर ली गईं। ओवीक्रम में श्री दाण्डेकर-प्रति को आधार माना है। अर्थ की दृष्टि से श्र० "दीदी" (विमलाजी) की अन्तःप्रज्ञा अन्तिम प्रमाण है; उन्होंने उक्त दोनों के अतिरिक्त (३) श्रीबाबाजीमहाराज – प्रणीत गूढार्थदीपिका (श्रीज्ञानेश्वरीव्याख्या) को भी अर्थ-निर्णय में समाविष्ट किया है।

ई० तेरहवीं शताब्दी में अध्यात्मग्रन्थ–शृंखला में अभिनव क्रान्तिकारी कदम उठाने वाले चिदुन्मेषवपु श्रीज्ञानेश्वर महाराज की मराठी भाषा — अपार भाव-झंकार तथा अर्थगौरव से भरी होते हुए प्रसाद-चारु, मृदु-पद-विन्यासयुत

अनुप्रास–विलासिनी, लय-ललिता, श्रुतिमधुरा मराठी — ऐसी मौलिक है कि अन्य भाषा उसे धारण करने की अभिलाषा से आगे बढ़ती हुई असामर्थ्य से लजा जाती है, तब बरबस माँ (संस्कृत) की गोद में आ कर ही 'बहन' (मराठी) को भेंटने की ललक कुछ-कुछ पूरी होती है। इस कारण, तथा महाराज की वाणी की समास-रुचिरता, अजुष्ट भाव-लावण्य, अनुप्रास-लालित्य एवं ओवी छन्द*, में 'अ'कार – उच्चार के गौरव को यथाशक्य न छेड़ते हुए हिन्दी-करण का प्रयास होने के कारण, अनुवाद में संस्कृतप्रचुरता आई है, क्वचित् व्रजभाषा का स्पर्श भी हुआ है। कुछ विशिष्ट मराठी प्रयोग यथावत् भी लिये गये हैं। पाठकों की सुविधा के लिये सामान्य भाषास्तर में कठिन प्रतीत होने वाले संस्कृत शब्द, मराठी अर्थ में प्रयुक्त संस्कृतशब्द, देशी-भाषीय शब्द तथा पारिभाषिक शब्द, विशेष प्रयोग आदि परिशिष्ट (२) में अर्थसहित दिये गये हैं।

चरम-अद्वैत-भूमिका में परम-प्रेम-भक्ति का कमनीय लास्य प्रकट करते हुए मधुराद्वैतप्रवर्त्तक योगेश्वर श्रीज्ञानदेव रस-विदग्ध कवि भी हैं। उन की तत्त्व-ज्ञानमयी लेखनी मानो रम्य-सुगम्य अर्थालङ्कारों की स्याही से ही लिखती हो ऐसा प्रतिपद अनुभव होता है। दृष्टान्तों के दिव्याञ्जन द्वारा वे मानो अन्धे को भी 'वस्तु' दिखाने को कटिबद्ध हैं। यह जगत् जिन्हें 'माया नहीं, प्रभु की रसोल्लसित काया' रूप दिखता है उन की वाचा का स्पर्श पा कर शुष्क-वेदान्त-परिभाषावली भी जलकेलि बन गई है। सृष्टि के रग-रग में से नवीन-नवीन उपमान-दल उन की लेखनी में खिंचे चले आते हैं। प्रसिद्ध भी उपमान नये वस्त्राभूषणों में सज-धज कर नवीन मित्रों से मिलने आ विराजे हैं। मुख्य

---

*ओवीछन्द – श्रीज्ञानेश्वर महाराज ने नवीन ही छन्द प्रकट किया, जिस में साढ़े तीन चरण रखे। इस में प्रणव (ॐ) की साढ़े तीन मात्रा एवं कुण्डलिनी के साढ़े तीन लपेट का संकेत एक साथ लेते हुए निगम (वैदिक धारा) तथा आगम (तन्त्र-धारा) का मानो संगम सूचित किया हो ऐसा प्रतीत होता है। इस ओवी छन्द में त्रियमक है, चरणों में अक्षर, गण, मात्रा का कोई स्थापित नियम नहीं है, फिर भी न्यूनतम आठ अक्षर से लेकर २१ अक्षरों तक के तीन चरण और चौथा आधा चरण रहता है। छन्दःशास्त्र की परिभाषा लायें ही तो विषम-वृत्त कोटि में प्रायः उद्गता सदृश प्रकारों में ओवी की गणना होगी। ओवी का पाठ गद्य-पद्य दोनों प्रकार से करने की प्रथा है। ओवी के चरणों के अन्त में ह्रस्व अकार का विशेष लावण्य है। उसकी संवृत प्रकृति रखते हुए पादान्त-गुरुत्व और गेयता मराठी-उच्चारण की विशिष्टता है। दीर्घीकरण ('आ' करने) की भी मराठी उच्चारण में प्रथा है। जैसे 'आद्य' का 'आद्या' . . . 'आत्मलिंगा' इत्यादि।

रूप से – उपमा–रूपक–उत्प्रेक्षा – दृष्टान्त – निदर्शना – दीपक – अपह्नुति-अनन्वय-एकावली – स्वभावोक्ति – अलंकार दिखाई देते हैं। पर उन की अदायें – छटायें अपार हैं। उन्हें लक्षणानुरूप पृथक् दिखाने में ग्रन्थ-कलेवर अतिशय बढ़ेगा अतः वह रसिकभोग्य ही रहे। इस विषय पर थोड़ी चर्चा 'भूमिका' में आयी है। कुछ थोड़े से अलंकारमय स्थलों का संकेत परिशिष्ट (३) में दिये बिना रहा नहीं गया। वहाँ भी 'दृष्टान्त' शब्द को केवल पारिभाषिक सीमित अर्थ में न लिया जाय ऐसी विनम्र प्रार्थना है।

श्रीज्ञानेश्वरी में चर्चित मुख्य विषयों को कुछ शीर्षकों के अन्तर्गत चुन कर उन का स्थल-संकेत परिशिष्ट (१) में दिया है। कलेवर न बढ़े – इस दृष्टि से ही विस्तीर्ण विषयानुक्रमणी न दे कर यह रूप अपनाया है। यह कै० श्री दाण्डेकर-सम्पादित ज्ञानेश्वरी के परिशिष्ट (८) में से संकलित है। उसी ग्रन्थ की श्रीदाण्डेकरजी द्वारा लिखित सुविस्तृत प्रस्तावना (मराठी) में से श्री श्रीज्ञानेश्वर महाराज का जीवनवृत्त प्रायः अविकलरूप से अनूदित करके, अन्य अनेक विशेष उपयोगी विषय संक्षिप्त-संकलित रूप से अनूदित कर के प्रस्तुत ग्रन्थ की 'भूमिका' बनी है। इस के लिये सानन्द अनुमति प्रदान करके उक्त ग्रन्थ की प्रकाशिका श्रीवारकरी-शिक्षण-संस्था, आळन्दी (देवाची) के अध्यक्ष महोदय ने हमें उपकृत किया है। इस भूमिका द्वारा श्रीज्ञानेश्वरी-मन्दिर के गर्भगृह में प्रवेश सुकर होगा ऐसा विश्वास है।

प्रस्तुत प्रकाशन में प्रत्येक अध्याय के अन्त की पुष्पिका (अध्याय समाप्ति-सूचकवाक्य) नवीन बनाई गई हैं, उस में अध्यायनाम श्रीमद्भगवत्गीता के अनुसार ही रखा गया है किन्तु स्वयं संस्कृतगीताजी इस ग्रन्थ में उल्लिखित नहीं होने के कारण 'श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु . . . .' इत्यादि पुष्पिका नहीं दी गई है, प्रत्युत मूल ओवीग्रन्थप्रणेता के नाम एवं स्वयं उन के द्वारा इस ग्रन्थ को दिये गये नाम का उल्लेख पुष्पिकापद्धति से किया गया है।

परिशिष्टों में अर्थ–प्रामाण्य के लिये निम्नोक्त कोषों की सहायता ली गई है –

(१) श्री ज्ञानेश्वरी शब्दार्थकोष (मराठी में अर्थ) – श्री शिवाजी न० भावे
(२) श्री दाण्डेकर – ज्ञानेश्वरी परिशिष्ट में दिया लघुकोष (मराठी अर्थ)
(३) मराठी से हिन्दी शब्दसंग्रह – श्रीगणेश र० वैशम्पायन
(४) संस्कृत-हिन्दी शब्दकोश (आप्टे)
(५) श्रीभगवद्गोमण्डल (गुजराती विश्वकोष)
(६) प्रामाणिक हिन्दीकोष – रामचन्द्र वर्मा
(७) शब्दकल्पद्रुम (प्राचीन संस्कृत-विश्वकोश)
(८) पातञ्जल योगप्रदीप – स्वामी ओमानन्दतीर्थ (गीताप्रेस)

श्र० "दीदी" की प्रेरणा से, ग्रन्थ-प्रकाशन का निश्चय होते ही, परम-श्रद्धेय पूज्यपाद स्वामी श्रीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज के चरणों में उपस्थित होने का, इस नवरचना पर उन के आशीर्वाद–याचना का सौभाग्य मिला। सूर्य से वितरित ऊष्मा-आलोक एवं चन्द्र से झरती सुधा के सदृश स्नेहमय आशिष-राशि पा कर धन्य-धन्य हुई। उन के चरणों में सश्रद्ध अमित वन्दन।।

'नवजीवन' मुद्रणालय के मुद्रण-तन्त्र के प्रति सविशेष कृतज्ञ हूँ जिस की कृपा से मुद्रण-अवधि में मुझे प्रायः ६ बार ग्रन्थ-पारायण करने को मिला। किन्तु अपार जटिलताओं से भरे जगत् में अतिजटिल जीवनयन्त्र (शरीर) का ठीक-ठीक चलते रहना जैसे महान् आश्चर्य है, बिगड़ना या रुक जाना बहुत स्वाभाविक है; वैसे ही 'मुद्राराक्षस' के मुख से अधिकांश शब्दों का शुद्ध रूप में प्रकट होना ही आश्चर्य एवं प्रभुकृपा का फल है, अशुद्धियाँ स्वाभाविक हैं। जितना शुद्ध सामने आया उस के लिये प्रभुकृपा के प्रति सश्रद्ध वन्दन, उस कृपा के वाहक सभी मुद्रण — शिल्पियों के प्रति हार्दिक आभार एवं कृतज्ञता व्यक्त करती हूँ। यन्त्रजन्य तथा दृष्टि-प्रमादजन्य अशुद्धियों के लिये पाठकों से क्षमायाचनापूर्वक यथाशक्य शुद्धिपत्र दिया गया है। अन्ततः सब सुषम रीति से पार लगाने हेतु 'नवजीवन' ट्रस्टके — व्यवस्थापक भाईश्री जितेन्द्र देसाई के प्रति विमलप्रकाशन-ट्रस्ट की ओर से आभार व्यक्त करती हूँ।

यह वाङ्मयी पूजा पूर्ण सम्पन्न करवा लेने वाले 'पंगुं लंघयते गिरिम्' सर्वसमर्थ सूत्रधार के चरणों में उन्हीं की स्नेहधन्या कठपुतली के अनन्त प्रणाम।

२९–३–८३ — ऊर्मिला

हुताशनी पूर्णिमा

"कृष्णकुटी"

अनुक्रमणिका

भूमिका

विषयक्रम	पृष्ठ संख्या
१. श्रीज्ञानेश्वर महाराज का संक्षिप्त जीवनचरित	१–१४
२. श्रीज्ञानदेव का कवित्व	१५–२१
३. नाथ सम्प्रदाय	२१–३२
४. 'भाष्यकारों से राह पूछते हुए'	३३–४१
५. श्रीज्ञानेश्वरी का 'पन्थराज' अथवा कुण्डलिनीयोग	४२–४६
६. श्रीज्ञानेश्वर म० की गीता के प्रति दृष्टि	४६–५०
७. ज्ञानेश्वरी लिखने का हेतु	५१–५३
८. आत्मसाक्षात्कार	५३–६०

श्रीज्ञानेश्वरी–ग्रन्थ

प्रथम से अष्टादश अध्याय	१–५७८
वन्दना	५७९–९०

परिशिष्ट

१. श्रीज्ञानेश्वरी में चर्चित विषय	**५८३–५९५**
२. कठिन व नवीन शब्दार्थं	**५९६–६११**
(क) संस्कृत शब्द	५९६
(ख) मराठी अर्थ में प्रयुक्त (तत्सम) शब्द	६०४
(ग) देशी भाषा के (तद्‌भव) शब्द	६०५
(घ) संस्कृतधातुओं के देशीकृत प्रयोग	६०९
(ङ) पारिभाषिक शब्द	६०९
३. विशिष्ट तथा नवीन उपमा–रूपक–दृष्टान्तादि	**६१२–६१६**
शुद्धिपत्रक	**६१७–६१९**

॥ ॐ ॥

भूमिका

[श्रीवारकरी शिक्षणसंस्था, आळन्दी (देवाची) से प्रकाशित, कै. श्री शं. वा. दाण्डेकर द्वारा सम्पादित 'सार्थ ज्ञानेश्वरी' मराठी–ग्रन्थ की सम्पादक–लिखित सुविस्तृत प्रस्तावना (मराठी) में से साभार संक्षिप्त–अनूदित–सङ्कलित]

१. श्री ज्ञानेश्वर महाराज का संक्षिप्त जीवनचरित

महाराष्ट्र-वाङ्मय के ललाम-आभूषण-स्थानीय ग्रन्थराज श्रीज्ञानेश्वरी के प्रणेता श्रीज्ञानेश्वर महाराज का जन्म पुण्यक्षेत्र आळन्दी में शक सं. ११९३ (ई०. १२७१) में हुआ। उनके पिताश्री का नाम श्रीविट्ठलपंत और मातुश्री का नाम रखुमाबाई था। ज्ञानदेव इनकी द्वितीय सन्तान थे। कुल चार अपत्य हुए; सब से बड़े श्रीनिवृत्तिनाथ फिर ज्ञानदेव, सोपान और सब से छोटी मुक्ताबाई। विट्ठलपंत का घराना पवित्रता और सदाचारसम्पन्नता के लिये प्रसिद्ध था। इस कुल के मूलपुरुष श्री हरिहरपंत कुलकर्णी थे। वे शक सं. १०६० में आपेगाँव के कुलकर्णी भी रहे। श्री ज्ञानेश्वर के परदादा त्र्यम्बकपंत को श्री गोरक्षनाथ का साक्षात्कार हुआ था, उपदेश भी मिला था। ज्ञानदेव से पहले इस घराने में ये ही प्रथम भगवद्भक्त हुए। ज्ञानदेव के दादा गोविन्दपन्त एवं दादी नीराबाई – इन दोनों को श्रीगहिनीनाथ ने उपदेश दिया था। ज्ञानदेव के पिता विट्ठलपन्त इन्हीं दम्पती की प्रौढावस्था की सन्तति थे।

ज्ञानदेव का मातृवंश भी सदाचार के लिये प्रसिद्ध घराना था। ज्ञानदेव के नाना श्रीसिद्धेश्वरपंत कुलकर्णी आळन्दी में रहते थे। वे चाकण-आळन्दी आदि चौबीस गाँवों के कुलकर्णी-वृत्तिधर थे।

विट्ठलपंत के इन चारों अपत्यों का जन्म जिस काल और परिस्थिति में हुआ वह वास्तव में लोकविलक्षण थी। दो सदाचार-सम्पन्न, सत्त्वशील और ईश्वरविषयक भक्ति में आनन्द मानने वाले घरानों का ईश्वरीय इच्छानुसार ही घटित हुआ सम्बन्ध था वह। विट्ठलपन्त को बाल्यकाल में ही, घर में से ही शास्त्राध्ययन की अभीप्सा और सामर्थ्य मानो घूंटी में मिली थी। व्याकरण,

वेद, काव्य का अध्ययन अल्प वयस् में ही कर के वे निपुण शास्त्रवक्ता बन गये थे। उस काल की पद्धति के अनुसार शास्त्राध्ययन के साथ ही अनुभव का लाभ मिले इस के लिये देशपर्यटन करना क्रमप्राप्त ही था। उस पर फिर विट्ठलपन्त को उन के प्रकृतिगत वैराग्य का साथ मिला था। सहज ही माँ-पिताजी को वन्दन कर के तीर्थाटन प्रारम्भ किया।

पहले मोक्षविश्रान्तिरूपा द्वारिका में श्रीकृष्णमूर्ति के दर्शन किये। वहाँ से पिण्डारक, भालुकातीर्थ इत्यादि तीर्थों में पावन होते हुए वे नासिक जिले के सप्तशृंङ्ग पर्वत पर आये। वहाँ से कपालेश्वर की पूजा करके त्र्यम्बकेश्वर आये। कुशावर्त में स्नान कर के ज्योतिलिङ्ग के दर्शन कर के भीमाशङ्कर आ पहुँचने पर भीमा नदी के दर्शन से उन्हें 'पण्ढरी' (पण्ढरपुर) का स्मरण हो आया और चित्त उसी ओर दौड़ने लगा। पण्ढरी के मार्ग में इन्द्रायणी के तीर पर 'सिद्धेश्वर' नामक प्रसिद्ध प्राचीन शिवपीठ – अलकापुर आये। यात्रियों का आवागमन वहाँ नित्य ही रहता है। इन्द्रायणी में स्नान करके सिद्धेश्वर मन्दिर के निकट सुवर्ण-अश्वत्थ के नीचे वे अपना नित्यनियम किया करते। वहीं रखुमाबाई (ज्ञानेश्वर की मातुश्री) के पिता ने उन का तेजःपुञ्ज स्वरूप देखा, उन्हें हार्दिक समाधान हुआ। वे विट्ठलपंत को अनुरोध-आग्रह-पूर्वक भोजन के लिये अपने घर ले गये। वार्तालाप में उनके घर, कुल, परिवार, वृत्ति, तीर्थयात्रा का उद्देश्य आदि की जानकारी पा ली। अपनी विवाहयोग्य कन्या रुक्मिणी के लिये वर-रूप में विट्ठलपन्त को उन्होंने मनोनीत कर लिया। उस रात विट्ठलपन्त को अपने घर ही रखा। दैवयोग से उसी रात स्वयं पण्ढरीनाथ ने स्वप्न दे कर कहा कि कन्या रुक्मिणी विट्ठलपन्त को देना। प्रातःकाल सिद्धेश्वरपन्त ने विट्ठलपन्त को रात में हुआ स्वप्नादेश तथा अपना मनोदय स्पष्ट कहा; किन्तु, 'मैं रामेश्वर जा रहा हूं और इस प्रकार की बात में माता-पिता की अनुज्ञा अनिवार्य अपेक्षित है' कह कर कन्या को अङ्गीकार नहीं कर सकेंगे ऐसा विट्ठलपन्त बोले। तब कृपा करके एक रात और यहां ही रहिये और वही आज्ञा आप को भी होने पर ही हमारा अनुनय स्वीकार कीजियेगा – सौम्य शब्दों में सिद्धेश्वरपन्त ने ऐसी प्रार्थना की। आश्चर्य की बात कि उसी रात तुलसीचौरे के समीप सोये हुए विट्ठलपन्त को स्वयं विश्वम्भर ने स्वप्न में कहा –

भक्ति – ज्ञान – वैराग्य – प्रीति। तेरे तनु में सहज वसती।
इस के उदर से घर चार मूर्ति। मैं जन्मूंगा मानो आज्ञा मेरी।।
(नामदेवकृत अभंग ८८९।१६।१७ अनूदित)

सुबह उठ कर वह स्वप्न सिद्धेश्वरपन्त को सुनाया, होनहार अटल है यह समझ कर उन की कन्या को अङ्गीकार करने की अपनी तैयारी बताई।

ज्योतिषी को बुला कर सिद्धेश्वरपंत ने घड़ी दिखाई और सभी प्रकार से सुसम्पन्न शुभ योग है ऐसा देखा गया। परमसन्तुष्ट हुए सिद्धोपन्त ने ज्येष्ठमास में सुमुहूर्त देखकर सालङ्कार कन्यादान किया।

ज्येष्ठ में विवाह हुआ। थोड़े ही दिन बाद गाजे-बाजे-पताकाओं सहित पण्ढरपुर की यात्रा* पर जाते हुए वैष्णव-समूह विट्ठलपन्त को दृष्टिगोचर होते ही पण्ढरपुर जाने की उनकी इच्छा बलवती हो गई। श्वशुर के समीप वह व्यक्त करते ही सानन्द अनुमति तो मिली ही, साथ ही स्वयं सिद्धोपन्त अपने साथियों-सहित उन के साथ चल पड़े। हरिरंग में तल्लीन जामाता पा कर सिद्धोपन्त का आनन्द समाता न था। पण्ढरपुर में "पाण्डुरङ्ग" के दर्शन करके श्वशुर से सम्मति ले कर विट्ठल अकेले ही रामेश्वर गये और वहाँ की यात्रा का संकल्प पूरा कर के आळंदी लौट आये। तब स्वाभाविक ही उन्हें अपने माता-पिता से मिलने की इच्छा हुई। श्वशुर से वह कही। तत्काल ही सब लोग हर्षभरे समारम्भ से आपेगाँव आये। विट्ठल के पिता श्री गोविन्दपन्त एवं माँ नीराबाई पुत्र की राह ही देखते थे। ऐसे में बिना पूर्वसूचना के अचानक पुत्र आ पहुँचा और पुत्रवधू तथा समधी-परिवार के साथ आया यह देखकर उनका आनन्द गगन में भी समाता न था। समाधियों का बहुमान-सन्मानकर सिद्धोपन्त लौट गये।

इसके बाद कुछ दिन विट्ठलपन्त के सुखमय बीते। समय आने पर वृद्ध माता-पिता वैकुण्ठवासी हुए और गृहस्थी का भार उन पर आया। किन्तु उन की वृत्ति विरक्त की होने के कारण सब भार भगवान् पर छोड़ कर वे सन्तोषपूर्वक रहते थे। उनकी इस उदासीन वृत्ति की बात श्वशुर ने जानी तब आपेगाँव आये और विट्ठलपंत से कहा कि संसार में वित्त के बिना काम नहीं चलता, आप की वृत्ति उदासीन है; इसलिये आप हमारे घर रहें, एक-दो सन्तान होने के बाद इच्छा हो तो यहाँ आवें। भगवान् ने ही अपने कष्ट की बात सुनी है यह सोच कर विट्ठलपंत अलकापुरी आ गये। वहांका उन का जीवनक्रम नामदेव ने ऐसा वर्णित किया है :–

"नित्य हरि कथा नामसंकीर्तन। सन्तों का दर्शन सर्वकाल।।
पण्ढरी की यात्रा आषाढी-कार्तिकी*। एक विट्ठल-श्रवण-श्रावण सुखरूप।।"
अ० ८५८ २/३

---

* महाराष्ट्र-वैष्णव-वारकरी सम्प्रदाय का सुमहान् पुण्यपर्व हैं – आषाढ़ी तथा कार्तिकी शुक्ल एकादशी – देवशयनी तथा देवोत्थान एकादशी – जब वे बड़े ही समारम्भ से भाव-विभोर कीर्तन-भजन करते हुए पण्ढरपुर की यात्रा करते हैं। यह क्रम पूरा चातुर्मास्य चलता है।

इस का स्वाभाविक परिणाम जो होना था वह हुआ ही। उनकी संसारगत आसक्ति छूटी और विरक्तता बढ़ी। इसके सिवा विवाह हुए पर्याप्त समय बीतने पर भी सन्तान न होने के कारण उन्हें संन्यास की लगन लग गई। बीच-बीच में वे पत्नी से कहते – 'मुझे संन्यास लेने की इच्छा है तू अनुमति दे।' रुक्मिणीदेवी ने वह बात अपने पिता से कही तो उन्होंने कहा "उनसे कहो सन्तान हुए बिना संन्यास नहीं लेना चाहिये।" विट्ठलपन्त को तो संन्यास की ही लगन बढ़ती जा रही थी इसलिये वे वही प्रश्न बारबार पत्नी से पूछते। इसी कारण एक बार कुछ परेशानी और अनवधान में पत्नी के मुख से 'जाओ' – ऐसा उद्‌गार निकला। इसे ही विट्ठलपन्त ने अभीष्ट आज्ञा मान कर काशी का पथ पकड़ लिया। सुबह सब के उठते ही खोज प्रारम्भ हुई, किन्तु वे न मिले। 'पति काशी के पथ पर बढ़ चुके हैं अब लौटने की आशा नहीं। मेरे ही शब्द ने मुझे ठगा है' – यह मान कर पत्नी ने जन्म सार्थक करने के लिये सिद्धेश्वरमन्दिर के समीप सुवर्ण अश्वत्थ की सेवा प्रारम्भ कर दी।

श्रीविट्ठलपन्त ने काशी जाकर किन्हीं संन्यासीजी से संन्यासदीक्षा ले ली और चैतन्याश्रम नाम से व्यवहार करने लगे। वहाँ शास्त्राध्ययन, वेदान्तचिन्तन करते हुए रहने लगे। एक बार उन के गुरुजी को रामेश्वर जाने की इच्छा हुई। उन्होंने आश्रम का कार्यभार चैतन्याश्रम को सौंपा और स्वयं यात्रा पर निकले। मार्ग में विभिन्न तीर्थक्षेत्रों में होते हुए वे आळन्दी आये। रुक्मिणी का भाग्य ही उन्हें वहाँ ले आया ऐसा कहने की अपेक्षा महाराष्ट्र के परम भाग्य से ही उन्हें वहाँ आने की प्रेरणा हुई ऐसा कहना चाहिये।

वे आळन्दी आये उस समय रुक्मिणी अश्वत्थ वृक्ष की परिक्रमा कर रही थीं। इन महिमान्वित स्वामीजी पर दृष्टि पड़ते ही रुक्मिणी ने इन्हें प्रणाम किया। सहज ही स्वामीजी के मुख से 'पुत्रवती भव' ऐसा उद्‌गार निकला। वह सुनते ही रखुमाबाई को सखेद हँसी आ गयी। उस का कारण स्वामीजी ने पूछा तो सब हकीकत निवेदित की। वह सुन कर स्वामीजी को निश्चयपूर्वक लगा कि चैतन्याश्रम ही इस के पति होंगे। उन्होंने रखुमाबाई एवं उन के पिता को वचन दिया कि विट्ठलपन्त को खोज कर यहाँ भेज देंगे। वे उन दोनों को साथ ले कर ही काशी आये। उन्हें एक स्थान पर बैठा कर अकेले ही आश्रम में आये। गुरुदेव को अचानक वापिस आये हुए देख कर चैतन्याश्रम थोड़े चकित हुए। स्वामीजी ने उन्हें बलपूर्वक पूछा कि घर-परिवार में कौन-कौन हैं। इस से चैतन्याश्रम को सब घटना का ख्याल आ गया और उन्होंने सारी आपबीती निवेदित करके कहा कि पत्नी की आज्ञा लेकर

घर से निकल गये थे। स्वामीजी ने उन्हें उठा कर रुक्मिणी को बुलाकर पुनः उन का गठबन्धन कर के निम्नोक्त उपदेश किया –

. . . म्हणती करीं ग्रहण इचें आतां।
अविधी कर्माचें न धरावें भय।
यासी आहे साह्य जगदीश।
स्वदेशा जाउनी करावा आश्रम।
सुखरूप स्वधर्म चालवावा।।
(नाम० अ० ८९१।७।८)

(मेरा आदेश मान कर अब इसे स्वीकार करो। विधि-विपरीत कर्म का भय न रखो। इसके साथ जगदीश हैं। स्वदेश जाकर सुखपूर्वक गृहस्थाश्रम-धर्म का पालन करो।)

ज्ञानेश्वरी में गुरुवाक्य की महिमा देखिये –

गुरु क्षेत्र गुरु देवता। गुरु माय गुरु पिता।
जो गुरुपूजेपरौता। मार्गु नेणें।।
गुरुवाक्यावांचूनि शास्त्र। हातीं न शिवे।।
(ज्ञा. अ. १३।४४, ४५, ४८)

(जिसके लिये गुरु ही तीर्थ है गुरु ही देवता, गुरु ही माता और पिता। जो गुरुपूजा से अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं जानता। गुरुवाक्य से अन्य किसी शास्त्र को नहीं छूता।)

इसी वृत्ति से चैतन्याश्रम ने स्वामी की आज्ञा शिरोधार्य कर के पुनः गृहस्थाश्रम स्वीकार किया और कुटुम्ब में लौट आये। संन्यासाश्रम से गृहस्थाश्रम में प्रवेश – यह अतीव असाधारण एवं जनरूढिविरुद्ध घटना हुई थी। इस के कारण उस रूढिग्रस्तकाल में विट्ठलपन्त को कितनी बड़ी जननिन्दा का पात्र बनना पड़ा होगा, आज उस की कल्पना भी कठिन है। समाज के मूर्धन्य ब्राह्मणों ने विट्ठलपन्त को जातिबहिष्कृत कर दिया और भी आप्त सगे-सम्बन्धी उपेक्षा करने लगे। इन पति-पत्नी ने ग्राम के बाहर झोंपडी में ही ईश्वर-चिन्तन करते हुए अतिशय विपन्न अवस्था में एक-दो नहीं बारह वर्ष व्यतीत किये। लौकिक दृष्टि से यह काल अत्यन्त हीन परिस्थिति में बीता दिखता है किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से उनकी यह घोर तपश्चर्या बाद में आने वाले ज्ञान-रत्नों की निर्मिति के लिये ही थी – ऐसा कहना पड़ता है। ज्ञानेश्वर महाराज ने गीता के ६ठे अध्याय के व्याख्यान में – योगभ्रष्ट कहाँ जन्म लेता है – इसका जो वर्णन किया है, उसे पढ़ते हुए प्रतीत होता है कि उनकी कुलपरम्परा दृष्टिसम्मुख रही होगी।

इस पारमार्थिक जीवन के तपःकाल में शकसंवत् ११९० में उनका जो पुत्ररत्न हुआ वे हैं ज्ञानदेव के ज्येष्ठ भ्राता निवृत्तिनाथ। ये ही ज्ञानदेवके पारमार्थिक गुरु हुए। उन के बाद ज्ञानदेव, सोपानदेव तथा मुक्ताबाई ऐसे तीन अपत्य क्रमशः शाक. ११९३, ११९६, ११९९ में हुए। इन सब का जन्म आळन्दी में हुआ।

निवृत्तिनाथादि चारों भाई-बहन के जो जन्मसंवत् मैंने दिये हैं उनका आधार जनाबाई का निम्नलिखित अभङ्ग है–

शालिवाहन शाके अकरार्शो नव्वद।
निवृत्ति आनन्द प्रगटले।
त्र्याण्णवाच्या सालीं ज्ञानेश्वर प्रगटले।
सोपान देखिले शाण्णवांत।
नव्वाण्णवाच्या सालीं मुक्ताबाई देखिली।
जनी म्हणे केली मात त्यांनीं।। जनाबाई अ. २७७ ।।

किन्तु तिथि के अनुसार इनके जन्मदिवस एवं समय निम्नलिखित हैं–

(१) निवृत्तिनाथ : शाक ११९५ श्रीमुख संवत्सर, माघ वद १ सोमवार, प्रातःकाल।
(२) ज्ञानदेव : शाक ११९७ युवा संवत्सर, श्रावण वद ८ बुधवार, मध्यरात्र।
(३) सोपानदेव : शाक ११९९ ईश्वर संवत्सर, कार्तिक शुद्ध १५ रविवार, प्रहर रात्र।
(४) मुक्ताबाई : शाक १२०१ प्रमाथि संवत्सर, आश्विन शुद्ध १ शुक्रवार, मध्याह्न।

ये जन्मसंवत् और तिथियाँ कै. भिंगारकर, कै. पांगारकर और 'महाराष्ट्र सारस्वत'-कार कै. भावे ने दी हैं। इन में से भिंगारकर और पांगारकर (श्रीज्ञानेश्वर महाराज चरित्र पृ–४६) ने जनाबाई, नामदेव, विसोबा खेचर और 'ज्ञानेश्वरविजय' के कर्ता सच्चिदानन्द बाबा के जन्मसंवत् और तिथि देने वाले अभंग दिये हैं, तथापि उनके द्वारा दिये हुए नामदेव जनाबाई और विसोबा खेचर के अभंग इन्दिरा प्रेस, चित्रशाला और जगद्हितेच्छु द्वारा छापी हुई गाथाओं में नहीं मिलते। आजगांवकर ने 'महाराष्ट्र-कविचरित्र' भाग ६ में दोनों संवत् दिये हुए हैं (पृ. ८) और इन दोनों में से शुद्ध जन्मकाल कौनसा है इस विषय में निष्कर्ष भी दिया है। वे कहते हैं–"इन दोनों कालों की एकवाक्यता करने का प्रयत्न व्यर्थ है यह नहीं कहना चाहिये। इन में कोई एक ठीक है अथवा दोनों ही यथार्थ नहीं हैं।"

जिन को मस्तक पर लेकर जगत् सचमुच नाचने लगा, इतना ही नहीं, जिन की समाधि के दर्शन के लिये अतीव उमंग से, अखिल महाराष्ट्र से लोग नाना कठिनाइयों की परवाह न करके जाते हैं और दर्शन से धन्यता अनुभव करते हैं ऐसे रत्न जिन्हों ने दिये उन माता-पिता को इन रत्नों को जन्म देने के साथ ही साथ अधिकाधिक कष्ट भोगने पड़े। समाजबन्धन तोड़ने वालों को जो-जो कष्ट भोगने पड़ते हैं वे तो उन्हें भोगने पड़े ही, साथ ही उन के मनःचक्षु के सामने उन के बालकों के भावी जीवन का चित्र खड़ा था, इससे उनके अन्तःकरण में अतीव विलक्षण वेदना होती होगी। क्योंकि उन के समान ही उनके निष्पाप एवं निर्मल बालकों का दर्शन भी अपशकुन समझा जायेगा इन चारों भाई-बहनों के भाग में भी वही अपमान, तिरस्कार और कष्ट आयेंगे।

वही हुआ भी। किन्तु घर के बाहर जितना ही रुक्ष, सहानुभूति-शून्य, निरादर वाला वातावरण था, उतना ही घर के अन्दर शीतल, सात्त्विक, वैराग्य-पूर्ण वातावरण उन्हें मिला था। इसीलिये बाह्य परिस्थिति सर्वथा प्रतिकूल होते हुए भी बहुत अल्प-वयस् में ही इन बालकों के चित्त पर उत्तम विद्या के संस्कार पड़े थे। अल्पवय में ही 'अक्षर'–वाङ्मय में प्रतिष्ठित होनेवाले ग्रन्थों का निर्माण ज्ञानदेव ने किया। उन ग्रन्थों में महाभारत, श्रीमद्भागवत तथा योगवासिष्ठ के भी दृष्टान्तों का समावेश है। इस के अन्य जो कोई भी कारण हों, पिताश्री के समीप बीता बाल्यकाल अवश्य एक महत्त्वपूर्ण कारण है। अतीव अल्पवयस् में इन चारों भाई-बहनों में अतीव कुशाग्र बुद्धि एवं समझ थी। "तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्"–यह उन में स्पष्ट दिखाई देता ही है।

इस प्रकार से व्यतीत होते हुए जीवन में तीर्थक्षेत्र-यात्रा के प्रेमी विट्ठल-पन्त अधिक समय आलन्दी में रहे हों यह सम्भव नहीं। वे तीर्थों में घूमते होंगे तो चारों नन्हें बालक भी साथ ही रहते होंगे। माता-पिता के साथ ऐसे तीर्थ-यात्रायें करने के संस्कार ज्ञानेश्वरी में दिखते हैं। श्रीज्ञानेश्वर ने अपनी अति-संक्षिप्त जीवनयात्रा में जो चमत्कार किये, उनकी अपेक्षा उन का स्वयं का जीवन ही अधिक चमत्कारमय है।

समाज द्वारा अपने प्रति होने वाले उपद्रवों से मुक्ति पाने के लिये उग्र तपश्चर्या के सिवा कोई उपाय नहीं, ऐसा प्रतीत होने से निवृत्तिनाथ ने उस समय के प्रसिद्ध तीर्थ त्र्यम्बकक्षेत्र में जा रहने का सोचा, तदनुसार वहाँ जा कर देह-तपस्या के रूप में वहाँ समीपस्थ गोदावरी के उद्गमस्थान ब्रह्मगिरि पर्वत की प्रतिदिन प्रदक्षिणा करने लगे। यह प्रदक्षिणा करते हुए ही किसी दिन बाघ के भय से दौड़ते हुए गुफ़ा में घुस गये हुए निवृत्तिनाथ जब

उस गुफा के बाहर आये तब श्रीगहिनीनाथ की कृपा से—"घर आवे स्वर्ग या झपट पड़े बाघ। पर आत्मबुद्धि में भङ्ग। कभी नहीं।" (ज्ञा. १४।३५८) ऐसे अभयगुण से मण्डित स्वानन्द-साम्राज्य के सम्राट् हो कर ही। इसीलिये श्रीज्ञानेश्वर को परमार्थ-पथ से मंजिल तक पहुँचाने वाले पारमार्थिक सद्गुरु अनायास ही सहज ही मिल गये। सम्भवतः इसीलिये सद्गुरु मिलने की तड़प इन भाई-बहनों के पदों (अभंगों) में विशेष दिखाई नहीं देती। श्रीनिवृत्तिनाथ ने ज्ञानदेव, सोपानदेव तथा मुक्ताबाई को स्वानन्दसाम्राज्य के भागीदार बनाया।

इन भाई-बहनों की दृष्टि से यद्यपि वे आनन्दघन, आत्मरूप हो कर घर आये थे किन्तु इन के आगमन से विट्ठलपन्त को सामने आया संकट और विकट प्रतीत होने लगा। निवृत्तिनाथ उपनयन-संस्कार के योग्य हो गये थे। पर आळन्दी के निवासी लोग तो विट्ठलपन्त और उन की सन्तान के दर्शन को भी अपशकुन समझते थे, फिर बेटों के मौंजीबन्धन (यज्ञोपवीत) की बात वे कैसे और किस के पास कहें? समाज ने हमारा बहिष्कार किया तो किया किन्तु हमारे कर्म बाल-बच्चों के अभ्युदय-निःश्रेयस् में बाधा न बनें—ऐसा उन्हें लगता था इसीलिये तिरस्कृत बहिष्कृत होने पर भी आळन्दी के ब्राह्मणसमुदाय की शरण में जाने के सिवा कोई गति नहीं थी। ब्राह्मणों की सभा में जा कर उन्होंने प्रार्थना की—

. . . . . ।
कृपया दीन के अपराधको क्षमा कीजिये।
निबन्ध (उपनयन) के लिये धर्मशास्त्र में निर्णय देखिये।
आप सब अतीव श्रुतिपरायणजन जो कहेंगे।
उसे हम ६हों व्यक्ति अवश्य स्वीकारेंगे।
कृपया पतितों को शुद्ध कीजिये।

(अनु. नामदेव अभंग सं. ९००)

सभा में बैठे हुए 'पवित्र' ब्राह्मणवृन्द को विट्ठलपंत और उनके कुटुम्ब को पावन कर लेने के लिये धर्मग्रन्थों में कोई आधार नहीं मिला। उन्होंने विट्ठलपन्त को अपना कठोर निर्णय सुनाया—'देहान्त ही प्रायश्चित है। विचार लो हित करना हो तो यही करो... अन्य कोई उपाय नहीं।'

(नाम. अ. ९००)

विट्ठलपन्त पहले से ही विरक्त व्यक्ति; उन को मायापाश नितान्त नगण्यवत् था ही; इस लिये तुरन्त कहा कि मेरे और मेरे बाल-बच्चों के कल्याण के लिये यदि मेरा देहत्याग करना आवश्यक हो तो मैं त्रिवेणी में शरीर डाल कर या 'करवत' लेकर देहान्त-प्रायश्चित अवश्य करूँगा—ऐसा कह कर सभास्थित ब्राह्मणों को वन्दन करके पत्नी-बच्चों को छोड़ कर विट्ठलपन्त चले

गये। पीछे मुड़ कर भी देखा नहीं। रखुमाबाई (रुक्मिणी) भी उनके पीछे हो चली गईं।

इतना कठोर निर्णय शास्त्र ने दिया होने पर भी श्रीज्ञानेश्वर की शास्त्र पर अतीव श्रद्धा देखते हैं तो कल्पना आती है कि विभूति-स्वरूप व्यक्तियों का अन्तःकरण कितना उदार होता है। सोलहवें अध्याय में – 'तस्मात् शास्त्रं प्रमाणम्' की टीका में श्री ज्ञानेश्वर के – 'जिसे शास्त्र कहे त्याज्य। वह तृणवत् मानो राज्य।' – इस उद्‌गार से यही तो दिखाई देता है।

ऐसी दुःखद रीति से माता-पिता का प्रश्न तो समाप्त हुआ किन्तु लोक-दृष्टि से अबोध इन बालकों का प्रश्न तो बना ही रहा। इन में ज्येष्ठ निवृत्ति-नाथ ने उस सभा से वही प्रश्न किया 'महोदय! हमारी क्या गति'? इस पर उन लोगों ने कहा – 'पैठण (प्रतिष्ठानपुर) से शुद्धिपत्र ले आओ तो हम तुम्हें अपनी जाति में ले लेंगे।'

निवृत्तिनाथ प्रकृतिसे ही निवृत्त थे अतः इतना सब कर के 'शुद्ध' होने पर न आया हुआ भी कर्मबन्धन मोल लेना – उन्हें उपद्रव प्रतीत हुआ। उन्होंने ज्ञानदेव से कहा कि हम तो नाम-रूप से अतीत हैं इसलिये देहाश्रित वर्णाश्रम विहित कर्मबन्धन के प्रपञ्च में पड़ने की मेरी इच्छा नहीं है। किन्तु ज्ञानदेव को तो वर्णाश्रम-धर्म की प्रतिष्ठा करनी थी और उसके लिये लोकसंग्रह करना था इसलिये उन्होंने निवृत्तिनाथ से कहा –

विधि-वेद-विरुद्ध सम्पर्क-सम्बन्ध। नहीं भेदाभेद स्व-स्वरूप में।।
अविधि-आचरण परम दूषण। वेद नारायण कहते ऐसे।।
स्वधर्म-अधिकार जाति-परत्व भेद। उचित, शुद्ध जो जिस के लिये।।
अतएव सज्जन करें अवश्य। आचरण कर के लोक को दिखावें।।
कुल का कुलधर्म अवश्य करें पालन। अनाचार किसी भी प्रकार न करें।।
शास्त्रहीन चलने से होगा प्रत्यवाय। पावन अवस्था हुई हो भले।।
ज्ञानदेव कहें सुनिये श्रीनिवृत्ति। कही गई पद्धति धर्मशास्त्रों में।।
(नाम० अ० ९०३, अनूदित)

सोपानदेव को भी 'पावन' होने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई। किन्तु ज्ञानदेव के आग्रह के सामने सबने मस्तक झुकाया। आळन्दीवालों का पत्र लेकर सब भाई-बहन दक्षिणकाशी-रूप से प्रसिद्ध प्रतिष्ठान क्षेत्र में आये। वहाँ ब्राह्मण-समाज के वरिष्ठजनों के सम्मुख निवृत्तिनाथ ने आळन्दीवाले ब्राह्मणों का पत्र रखा और अपना वृत्तान्त निवेदित किया। ये संन्यासी की सन्तान हैं यह मालूम होते ही –

'नहीं प्रायश्चित उभयतः कुलभ्रष्ट का।
पहले की भाँति ही 'श्रेष्ठ' बोले।। (ना. अ. ९०५)

फ़िर भी 'हमारी गति क्या?' ऐसा प्रश्न निवृत्तिनाथ ने उन्हें किया—उस का कोई उत्तर न देना ठीक न लगने से उन श्रेष्ठ लोगों ने कहा—

शास्त्रमत से है एक ही उपाय। अनन्य-भक्ति का करो अनुसरण।।
तीव्र अनुताप से करो भजन। गो-खर-श्वान सब को वन्दन।।
ब्रह्मभावना से अन्त्यज को भी नमन। ऐसी पद्धति से बोले ब्राह्मण।।
(नाम. अ. ९२५)

यह सुन कर निवृत्त ही प्रकृति वाले निवृत्तिनाथ आदि चारों को सन्तोष हुआ। ब्राह्मणों के प्रति कहा कि आप ने जो कहा वैसा ही हम करेंगे।

इतने में ही बात पूरी हो जाती तो महाराष्ट्र (एवं भारत) की बड़ी हानि हुई होती; किन्तु कभी-कभी बुराई में से भी भलाई निकल आती है। वैसा ही कुछ यहाँ हुआ जो महाराष्ट्र के लिये महान् सौभाग्य-प्रद बना। हुआ यह कि वहाँ बैठे हुए लोगों में से कुछ मसखरों का ध्यान इन बालकों के नामों की ओर गया। 'निवृत्तिनाथ' 'ज्ञानदेव' नाम सुन कर वे उसी पर मज़ाक करने लगे। कोई मशकवाला अपने 'ज्ञाना' नाम के भैंसे पर मशक रखे हुए उधर से जा रहा था। उसकी तरफ़ देख कर एक ने मज़ाक किया 'अरे नाम में क्या रखा है? इस भैंसे का नाम भी ज्ञान है न!' इस पर ज्ञानदेव बोले 'आप जो कह रहे हैं वह ठीक ही है। उस में और मुझ में एक ही आत्मा है।' इस के बाद क्या हुआ यह नामदेव के ही शब्दों में देखें।

'भैंसे की पीठ पर मारा चाबुक। वह चिह्न उठे ज्ञानदेव पर।।
द्विजवर बोले अहो ज्ञानदेव। कराओ तो इस से वेदोच्चार।
तभी तुम्हारी सत्ता मानेंगे हम। नहीं तो बोलो नहीं यहाँ कुछ।
ज्ञानदेव बोले कहे ऋग्वेद। ओङ्कार प्रणव है मूल शब्द।
कहते ही पशु ने किया वेदारम्भ। आगे भी किया विधि उपन्यास।
आश्चर्य-चकित हुए द्विजवर। तीनों देवों के हैं ये अवतार।
आदिमाता मुक्ता मुक्त ही अवतरित। हम से हुआ बड़ा अपराध।
कर्मठ-अभिमान और देहबुद्धि से भ्रान्त। हमसे हुई च्युत विधि निस्संदेह।
न जानें भक्ति-ज्ञान-वैराग्य का लेश। कुटुम्ब के दास रहे केवल।।
देते सिखावन न करें आचरण। झूठी प्रतिष्ठा धरें अभिमान।।
धन्य इनका वंश धन्य इनका कुल। धन्य ये पुण्यशील अवतार।।
सकल द्विजवर करें नमस्कार। सानन्द कर रहे जय-जयकार।।
ज्ञानदेव कहें चरणमहिमा आपकी। सामर्थ्य नहीं यह हम में कहीं।।
(नाम. अ. ९०६)

ज्ञानदेव के अलौकिक योगसामर्थ्य से लोगों की आँखें चकाचौंध हो गईं और अनजाने ही सभा विसर्जित हो गई। शुद्धिपत्र के प्रश्न पर आगे विचार करने की होश ही ब्राह्मण – समुदाय को न रही।

श्रीनिवृत्तिनाथ – चतुष्टय कुछ दिन पैठण में ही रहे। उन की उस समय की चर्या ऐसी रही ;

पैठण में रहते अध्यात्म – ग्रन्थ देखते। गीता-सम्बोधन नित्य प्रति करते।
भोगावती-स्नान कालिका-दर्शन। परिमित वाणी वेदान्तव्याख्यान।
कहते पुराण रात्रि हरिकीर्तन। . . . (नाम. अ. ९०७)

बाद में इन्हें शुद्धिपत्र देते हुए पैठण के लोगों को अतीव धन्यता का अनुभव हुआ होगा। उस शुद्धिपत्र का आशय नामदेव वर्णित करते हैं –

'ये परलोक के नाविक देवत्रय। इन्हें क्या प्रायश्चित्त दे कौन ?'

शुद्धिपत्र लेकर वे पैठण से चले। स्वाभाविक ही ज्ञानदेव की कीर्ति सर्वत्र फैलने से उन के दर्शन के लिये झुण्ड के झुण्ड लोग आने लगे और अध्यात्म-श्रवण का लाभ मिलेगा इस अभिलाषा से लोग उन्हें अपने-अपने गाँवों में बुलाने लगे।

श्रीगहिनीनाथ के प्रसाद से परिपूर्ण हुए निवृत्तिनाथ और निवृत्तिनाथ के प्रसाद से निःशङ्क ब्रह्मस्थिति-प्राप्त अवाप्तकाम सब भाई-बहनों को अपने लिये तो कुछ करना था ही नहीं। कीर्तन और प्रवचन द्वारा भक्तिमार्ग का प्रसार करती हुई यह मण्डली सञ्चार करती रहती थी। ऐसे सञ्चार करते हुए ही गोदावरी से दो कोस पर स्थित प्रवरा के तीर पर म्हालसापुर अथवा नेवासे में शक सं. १२१२ में ज्ञानदेव ने श्रीमद्भगवद्गीता पर टीकाग्रन्थ प्रणीत किया जो 'ज्ञानेश्वरी' नाम से प्रसिद्ध हुआ। उस ग्रन्थ का लेखन श्रीसच्चिदानन्द बाबा करते थे ऐसा स्पष्ट उल्लेख ज्ञानेश्वरी के अन्त में है।

नेवासे में ही श्रीगुरु-निवृत्तिनाथ के आदेश से योगेश्वर श्री ज्ञानेश्वर ने 'अमृतानुभव' अथवा 'अनुभवामृत' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ का निर्माण किया। जीवनभर अध्ययन करके भी जिन का अध्ययन पूरा न हो सके और प्रत्येक पारायण के समय जो विचारवान् पाठक को नया-नया आनन्द देते हैं ऐसे इन दो ग्रन्थों का अतीव अल्पवयस् में निर्माण किया – यह ज्ञानदेव का सब से बड़ा चमत्कार है।

ज्ञानदेव के सामर्थ्य की बातें तापी के तीर पर रहने वाले, योगबल से १४०० वर्ष जीवन जी चुके हुए योगिराज चांगदेव के सुनने में आईं। भैंसे के मुंह से वेदोच्चार करवाने वाली यह महान् विभूति कौन है ? – यह जानने की उत्कण्ठा उन के चित्त में उठना स्वाभाविक ही था। किन्तु पहले प्रत्यक्ष दर्शन की अपेक्षा पत्र द्वारा अन्दाज ले लेना अच्छा, ऐसा लगने से चांगदेव

ने पत्र लिखने के लिये कागज सामने रखा। किन्तु श्रीज्ञानदेव को सम्बोधन क्या करें, आशीर्वाद लिखें कि नमस्कार? – इसका निर्णय न हो पाने के कारण उन्होंने वह पत्र रूप कागज कोरा ही भेज दिया। उस पर ज्ञानदेव ने उत्तर-रूप में जो लिखा वही 'चांगदेवपासष्टी' (चांगदेव के प्रति पत्र में लिखे ६५ पद्य) हैं। वह उत्तर पा कर तो चांगदेव की जिज्ञासा शिखर पर पहुंची। तब वे अपनी योग-सामर्थ्य के अनुसार बाघ पर बैठ कर सर्प का चाबुक ले कर ज्ञानदेव से मिलने निकले। जब वे ग्राम-सीमा पर पहुँचने वाले थे उस समय ज्ञानदेवादि भाई-बहन एक दीवार पर बैठे हुए थे। चांगदेव बाघ पर बैठे हुए आ रहे हैं। ऐसा सुनने पर ज्ञानदेव ने उस दीवार को ही चलने की आज्ञा दी और तत्काल वह चलने लगी। जड़ दीवार भी चेतन हो कर चल रही है – यह देख कर चांगदेव का गर्व मिट गया और वे ज्ञानदेव के शरणागत हो कर शिष्य बने। फिर मुक्ताबाई ने उन पर अनुग्रह करके आत्मोपलब्धि कराई।

ऐसे 'बँधे को छुड़ाते। डूबतों का उद्धार करते। दुःखियों का सङ्कट मिटाते' किम्बहुना जगत की सुखोन्नति के लिये अहोरात्र परिश्रम करते हुए इनका समय बीत रहा था। वास्तव में तो –

"जिन का नाम ही तीर्थराज। दर्शन प्रशस्ति-धाम।
जिन के बोलने से ब्रह्मभाव। हो भ्रान्त को भी॥"

ऐसी उच्च स्थिति में स्थित थे ज्ञानेश्वर। किन्तु उन्हींके कथनानुसार –

"जीवन्मुक्त ज्ञानी भले हुए पावन। किन्तु न छोड़ें देव-तीर्थ-भजन॥"
क्योंकि जगत् को सही पथ दिखाना उन का धर्म है। सन्तों का समागम होगा और यात्रा में आनन्द मनाया जायेगा इस विचार से ज्ञानदेव नामदेव को साथ आने का आग्रह करने के लिये पण्ढरपुर गये। ज्ञानदेव जैसे सन्त के पधारने से नामदेव को परम आनन्द हुआ। ज्ञानदेव ने उन्हें अपना मनोगत कहा। नामदेव बोले – 'मेरी वास्तविक इच्छा तो पण्ढरीनाथ के द्वार पर पड़े रहने की है। मैं पण्ढरीनाथ के हाथ बिका हुआ हूँ। अतः मेरे विषय में उन्हीं से पूछिये।' तब योगिराज ज्ञानेश्वर ने अपनी बात पण्ढरीनाथ (देव) से कही, उन्होंने आज्ञा दी –

'प्रत्यक्ष परब्रह्ममूर्ति ज्ञानेश्वर। इन की सङ्गति का करो आदर।
ऐसा भाग्य साधें सर्वस्व दे कर। तभी पावें विष्णुदास का जन्म।
जाओ स्वस्ति-क्षेम। आओ पुनः शीघ्र।
करो स्वहित सूझे जैसा॥" (नाम अ. ९१७)

यह आज्ञा पा कर सगुणभक्ति के अध्वर्यु एवं परमप्रेमी भक्त नामदेव बड़ी कठिनाई से यात्रा पर निकले। पण्ढरीराय के वियोग में हुई अपनी मनःस्थिति का उत्कृष्ट वर्णन नामदेव ने ही अपने भजनों में किया है।

पण्ढरपुर से चल कर प्रभास के पथ में इन दोनों लोकोत्तर महापुरुषों में जो संवाद हुआ होगा उसे नामदेव ने अपने अभंगों (भजनों) में ग्रथित किया है। वे अवश्य मननीय हैं। कभी ज्ञानदेव नामदेव की सगुण-भक्ति को कसौटी पर परखने के लिये या कस चढ़ाने के लिये अद्वैत वेदान्त कहते हैं, तो कभी अणिमा-लघिमा जैसी सिद्धियों के चमत्कार दिखा कर उन्हें स्तिमित करने का प्रयत्न करते हैं। पर नामदेव इन परीक्षाओं में उत्तम रीति से उत्तीर्ण होते हैं और ज्ञानदेव से 'धन्य है तुम्हारा भाव एकविध अनन्य!'—ऐसा प्रशस्तिपत्र पाते हैं। कभी ज्ञानदेव स्वयं जिज्ञासु बन कर पूछते हैं—'कहिये तो कैसे साधें भजन विधि?' उस पर नामदेव द्वारा दिये हुए उत्तर का खूब-खूब गौरव करते हुए कहते हैं कि सच ही तुम पर प्रभु की असीम कृपा है। . . . ऐसी जी-भर आत्मचर्चा करते हुए और 'कृष्ण-विष्णु-हरि-गोविन्द' ऐसे हरिकीर्तन करते हुए उन्होंने प्रभास, द्वारिका आदि सप्तपुरियों के दर्शन किये और सुखपूर्वक पण्ढरपुर लौट आये। पण्ढरपुर पहुंचते ही नामदेव मन्दिर में गये और पाण्डुरङ्ग से लिपट गये।

अपना इहलोक का कार्य पूरा हो गया है ऐसा प्रतीत होने पर ज्ञानदेव ने भी पाण्डुरङ्ग के चरणों में ही समाधि-अनुमति की प्रार्थना की। वह विनति सुन कर नामदेव को अत्यन्त दुःख हुआ। नामदेव ने वह समाधि का प्रसङ्ग अतीव करुण-वाणी में वर्णित किया है। ज्ञानदेव को पाण्डुरंग से इस प्रकार का वचन मिला—

'कृष्णपक्ष में निश्चित ही तुम्हें भेंटने आयेंगे।
कार्तिक शुद्ध एकादशी को सुन्दर पण्ढरी यात्रा होगी।
दूसरी कृष्णपक्षीय तिथि निश्चित तुम्हें दी।'
(अभंग-९७६)

आळन्दी में महावल्ली अजानवृक्ष के समीप ज्ञानदेव-समाधि का स्थान चुना गया। सन्तसमुदाय यात्रा-समारम्भ सहित आळन्दी आये। ज्ञानदेव के समाधिस्थ होने के निर्णय से सभी को मार्मिक खेद हो रहा था। नित्यनिवृत्त श्रीनिवृत्तिनाथ का भी कण्ठ भर आया। सोपान एवं मुक्ताबाई तो रो ही पड़े। प्रेमी नामदेव के शोक का पारावार न रहा।

इन्द्रायणी-तट के श्रीसिद्धेश्वर के सामने नदी के नीचे जा कर समाधि स्थान स्वच्छ किया गया। नामदेव के दोनों बेटों ने वह स्वच्छ किया। सभी

ने योगिराज ज्ञानेश्वर की षोडशोपचार पूजा की। सब के भरे हुए कण्ठ से एक ही उद्गार निकला –

"पहले अनन्तभक्त हो चुके। आगे भी होंगे भविष्य कहे।
किन्तु निवृत्ति-ज्ञानदेव ने मुक्त किये। अपार जीव-जन्तु।।
नाम. अ. १००८"

इस के बाद श्रीज्ञानदेव ने १०९ ओवियों में भगवान की नामरूपी स्तुति की। वे समाधि में जा कर बैठे और श्रीनिवृत्तिनाथ ने समाधि-द्वार बन्द किया। ज्ञानदेव की सजीवन समाधि का यह प्रसंग शक १२१५ कार्तिक कृष्ण त्रयोदशी के मध्याह्न में घटित हुआ।

ज्ञानदेव की समाधि के बाद आठ महीनों के अन्दर ही सोपानदेव, मुक्ताबाई एवं श्री निवृत्तिनाथ ने इहलोकयात्रा सम्पूर्ण की।

चारों भाई-बहनों के जन्म तथा समाधिकाल एवं स्थान :

जन्मकाल, स्थल		समाधिकाल, स्थल
निवृत्तिनाथ :		
शक ११९०, आळन्दी	(ई० १२६८-१२९४)	शक १२१६ ज्येष्ठ कृ० ११ त्र्यम्बकेश्वर
ज्ञानदेव :		
शक ११९३, आळन्दी	(ई. १२७१-१२९३)	शक १२१५ कार्तिक कृ० १३ आळन्दी
सोपानदेव :		
शक ११९६, आळन्दी,	(ई. १२७४-१२९३)	शक १२१५ मार्गशीर्ष कृ. १३ सासवड
मुक्ताबाई :		
शक ११९९, आळन्दी	(ई. १२७७-१२९४)	शक १२१६ वैशाख कृ० १२ मेहुण

(श्रीनामदेव द्वारा गाये गये चरित्र के आधार पर)

२. श्रीज्ञानदेव का कवित्व

"उपमा, भाषासौन्दर्य, तत्त्वज्ञान, साक्षात्कार, भक्ति और अद्वैत का समन्वय; अलौकिक निरीक्षणशक्ति, अप्रतिहत कवित्वशैली, अद्भुत वाङ्माधुर्य – इन सब गुणों के सम्मिश्रण से 'ज्ञानेश्वरी' ग्रन्थ 'न भूतो न भविष्यति' है – यह निस्सन्देह अबाधित रूपसे कहा जा सकता है।"

– प्रा० रा० दा० रानडे

"With Jnanadeva the Ovi strips, it gallops, it dances, it whirls, it ambles, it trots, it runs, it takes long leaps or short jumps, it halts or sweeps along, evolves a hundred and one graces of movement at the masters command. In the music of sound too it reveals a mysterious capacity of manifold evolution. The thrill, the quiver the thunder the below, the murmur, the grumble—in fact, every shade of sound it wields when occasion demands. It is an instrument that he has only to touch, and it responds to any key high or low, and to any note and tune."

"Unparalleled in Marathi literature Jnaneshvari is so exquisite, so beautiful, so highly poetic in its metaphors and comparisions, similies and analogical illustrations, so perspicacious and lucid in style, so lofty in its fights, so sublime in tone, so melodious in word-music, so original in its concepts so pure in taste . . that notwithstanding the profundity, the recondite nature of the subject and the inevitable limitations attendent upon the circumstance that the author's main object was to make the original, ineligible rather than add anything new, the reader is simply fascinated, floats repturousely on the crest of the flow, and is lost in the cadence of rythm and the sweet insinnating harmonies till all is thanksgiving and thought is not."

—*W. B. Patawardhan*

[Wilson Philological lectures, III, Quoted by Prof. R. D. Rande in Mysticism in Maharashtra, Page 36.]

ज्ञानदेव जैसे महान् पण्डित थे, श्रेष्ठ आत्मानुभवी थे, वैसे ही वे अभिजात कवि भी थे। उन्होंने अपनी काव्यप्रतिमा केवल विश्वात्मक देव के वर्णन में धर्मकीर्तन में ही लगाई। सामान्यतया रूखा माना जाने वाले वेदान्त को उन्होंने काव्यरूप में सजा दिया। उन्हीं की भाषा में कहें तो –

"माझा मराठाचि बोल, कौतुकें। परी अमृतातेंहि पैजा जिंके।
ऐसी अक्षरें रसिकें। मेळवीन॥" (ज्ञा. ६।१४) तथा
"ऐका रसाळपणाचिया लोभा। कीं श्रवणींचि होती जिभा।
बोलें इन्द्रिय लागे कलंभा। एकमेकां॥ (ज्ञा. ६।१६)

(मेरी मराठी भाषा के लाडले शब्द हैं। स्पर्धा में ये अमृत को भी जीत लें, ऐसे रसभरे अक्षर यहां जुटाऊँगा। . . . रसालता की लालसा से मानो जिह्वा भी श्रवण बन जाना चाहती है, सभी इन्द्रियों में इस शब्दरस का आस्वाद लेने की होड़ मचती है।)

इस प्रतिज्ञा को उन्हों ने सत्य कर दिखाया है।

ज्ञानेश्वरी में कर्म है पर कर्मकाण्ड की खटपट नहीं, ज्ञान है पर ज्ञान का रूखापन नहीं, भक्ति है पर वह मूढ़-अज्ञानवश भावना वाली नहीं। ज्ञानदेव महाराज तत्त्वज्ञान में प्रेम की माधुरी ले आये और भक्ति को ज्ञान-नयन दिये। उन के दृष्टान्तों में भी कौटुम्बिकों के प्रति, पशु-पक्षियों के प्रति और चराचर सृष्टि के प्रति अतुल प्रेम पद-पद पर उमड़ रहा है। उनके वैराग्य में शुष्कता नहीं, और ज्ञान में रूक्षता नहीं। विश्व में किसी महापुरुष को न मिली हुई 'माऊली' (माँ) पदवी ज्ञानदेव को सब ने एकमत से दी है। **"ज्ञानेश्वर माऊली"**! दो ही शब्दों में उनके प्रति सब का प्रेम प्रकट होता है। 'ज्ञानेश्वर माऊली" – यह महाराष्ट्र का महामन्त्र बन गया।

इस विश्वप्रेम के कारण उनके काव्य में सहज माधुर्य आया। भावना की कोमलता, कल्पनाशक्ति की उदारता, मृदु-मधुर शब्दों की समृद्धि, रचना की सरलता और सहजता – ये सब प्रथमश्रेणी के काव्य-गुण ज्ञानेश्वरी में परिपूर्ण दिखाई देते हैं। प्रो. रा. कृ. लागू कहते हैं – "विश्वभर के वाङ्मय की त्युच्च श्रेणी के किसी भी काव्य के समकक्ष श्रेष्ठता ज्ञानेश्वर महाराज की भावार्थदीपिका में है।"

"वाक्यं रसात्मकं काव्यम्"

विश्वनाथ (साहित्यदर्पणकार) की यह व्याख्या सर्वमान्य है। ज्ञानेश्वर कहते हैं –

"आर्चे बरवें कवित्व। कवित्वीं बरवें रसिकत्व।
रसिकत्वीं परतत्त्व – । स्पर्शु जैसा॥"

अर्थात् सत्काव्य को जैसे रसात्मक होना चाहिये वैसे परतत्त्व का स्पर्श करनेवाला, जीवन का रहस्य उद्घाटित करनेवाला होना चाहिये, यह स्पष्ट है।

काव्य प्रभावशाली होने के लिये प्रसाद, माधुर्य इत्यादि गुणों की आवश्यकता है। निर्मल और शान्त जलाशय में झांक कर देखने वाले को अपना प्रतिबिम्ब स्पष्ट स्वच्छ दिखाई देता है, उसी प्रकार प्रासादिक ग्रन्थ में प्रतिबिम्बित हुआ प्रमेय पाठकों के अनुभव में स्पष्ट आ जाता है। गहन विषय सहज सुन्दर भाषा में कहना यह बहुत कठिन कार्य है। उसमें फिर प्रसादगुण में नादमाधुर्य का संयोग हो जाय तो कहना ही क्या? ऐसा उभयगुणयुक्त काव्य – ज्ञानेश्वर के ही दृष्टान्त में कहें तो –

"सहजें मलयानिलु मृदु सुगन्धु। तया अमृताचा होय स्वादु।
आणि तेयेंचि जोडे नादु। जरी दैवगत्या।।"
तरी स्पर्शें सर्वाङ्ग निववी। स्वादें जिह्वेतें नाचवी।
तेवींच कानाकरवी। म्हणवी बापु माझा।।
(ज्ञा० अ० ४ ओ० २२०-२१)

ज्ञानदेव को ऐसा प्रसन्नमधुर काव्य रचना था।

ज्ञानदेव के वाङ्मय में शान्तरस प्रमुख दिखाई देता है। निर्वेद अथवा शम शान्तरस का स्थायी भाव है। ज्ञानदेव की ऐसी प्रतिज्ञा है कि 'अपने व्याख्यान में शान्तरस द्वारा शृंगार को जीतेंगे। खेचर सिद्धों के मन में भी सात्विक भावों की कोंपलें उगेंगी। और सहृदयों को तो श्रवण के साथ ही समाधि लग जायेगी।'

ज्ञानदेव की काव्यकन्या ने शब्दालङ्कार अर्थालङ्कार इत्यादि आभूषण धारण किये। अपने सौन्दर्य से विश्व के नयनों में ज्योति (रौनक) ला दी। पर यह काव्ययुवती, ज्ञानेश्वर के शब्दों में लावण्यवती है – कुलीना है, साथ ही पतिव्रता भी है। अपना शृंगार विलास पार्थिवसेवा में लगाने वाली 'आहेव' (वारांगना) नहीं है। लक्ष्मी जैसे श्रीविष्णु के समीप अनन्य हो कर रहती हैं वैसे ही ज्ञानदेव की यह अलंकृता काव्यकन्या आत्माराम की पतिव्रता हो कर रही है।

ज्ञानेश्वरीग्रन्थ शान्तरसप्रधान है। इस शान्तरस में बीच-बीच में अन्य रस मिल कर स्वादिष्ट व्यञ्जन सिद्ध हुआ है। ज्ञानेश्वर कहते हैं – "यहाँ शान्तरस के घर में अद्भुत रस अतिथि आया है, और सब रस इन के पंक्तिघर (भोज में साथ बैठने वाले) बन गये हैं।" (११।२) जैसे वधू-वर के परिणय-प्रसङ्ग में बरातियों को भी सुन्दर वस्त्र-अलङ्कार मिलते हैं वैसे अन्य रस भी मराठी-काव्य-पालकी में सुशोभित हो रहे हैं। (११।३)

ज्ञानेश्वरी में शान्तरस का प्राधान्य होने के कारण शृंगार को अधिक अवकाश नहीं है किन्तु ज्ञानदेव का शृंगार से भी कोई विरोध नहीं है। अवश्य ही शृंगार यहाँ मुग्ध रूप में अवतीर्ण हुआ है। "जैसे किशोरावस्था में नवीन-लावण्य की अभिवृद्धि रुचिर रूपसे अङ्गना-अङ्गोंमें प्रकट होती है" (१।४२) वीर और भयानक रस प्रथम तथा एकादश अध्यायों में दिखाई देते हैं।

काव्य के आत्मा रस का ज्ञानेश्वरी में कैसा परिपोष हुआ है – यह संक्षेप में देखा। अब काव्य की शोभा बढ़ाने वाले शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कारों का भी थोड़ा निरीक्षण करें।

काव्य केवल परतत्त्वस्पर्शी हो इतने से पूरा काम नहीं हो जाता, उसका बाह्याङ्ग भी मनोहारी सजीला प्रमाणबद्ध और आकर्षक होना चाहिये। इस-लिये – शब्द – अर्थ को सुसज्जित करने वाली पदपद्धति, नादमाधुर्य इत्यादि की ओर भी ज्ञानेश्वर महाराज ने लक्ष्य दिया है। 'मराठी भाषा में ऐसी शब्द रचना करूँगा कि उन शब्दों के नाद-रंग की ओर देख कर लोग मुग्ध हो जायें'। ज्ञानदेव कहते हैं 'देख जिनकी सुकोमलता। नादब्रह्म पड़े फीका। जिन के सौरभ से परिमल का। बल पराजित ।।' (ज्ञा. ६-१५)

शब्दसौष्ठव के साथ-साथ अनुप्रासादि अलंकार साधे हुए हैं। उदा०

'ऐसे निजजनानन्दें। तेणें जगदादि-कन्दें।
बोलिले मुकुन्दें। सञ्जयो म्हणे।। १२-२३९ ।।

ज्ञानेश्वर के काव्य में उपमा, दृष्टांत, रूपक, उत्प्रेक्षा, निदर्शना, अनन्वय, अपह्नुति, एकावली इत्यादि अर्थालंकार भरपूर हैं। उपमालंकार दो वस्तुओं के किसी साधर्म्य पर अधिष्ठित है। वर्ण्य विषय पाठक के चित्त में सहज ही प्रवेश करे इस प्रकार के उपमान और उपमेय का साधर्म्य उपमा द्वारा दिखाया जाता है। उपमा व्यावहारिक होनी चाहिये साथ ही सूचक और साभिप्राय भी।

उदाहरणार्थ –

'जात्यन्ध हुआ उन्मत्त। स्वैर धावे यत्र-तत्र।
वैसा तेरा नीतिशास्त्र। दिखता यहाँ।। (ज्ञा. २।९३)
'स्वशिखर का भार। न जाने जैसे मेरु पर्वत।
या धरा को यज्ञशूकर। बोझ न कहे।।' (१३।३४८)

उपमा में जैसा साधर्म्य होता है वैसा दृष्टान्त-अलंकार में भी होता है किन्तु उपमा का साधर्म्य दो वस्तुओं में होता है और दृष्टान्त का साधर्म्य दो स्वतन्त्र घटनाचित्रों में होता है। इसे साहित्यशास्त्र में बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव कहते हैं। उदाहरणार्थ – (ज्ञा. १०/३०१)

यहाँ समुद्र के तरंग और विभूति – इन दो वस्तुओं में अमितता समान धर्म है अतः उपमा है। और – १०/३२२–२३

यहाँ दृष्टान्त है – श्रीकृष्ण के हाथ में आना और भेद न रहना यह एक वस्तुस्थिति का चित्र है. . . .

दूसरा चित्र है – श्रीकृष्ण और चन्द्रबिम्ब, हाथ में आना और भीतर प्रवेश करना तथा भेद और उष्णता समाप्त होजाना – ये बिम्ब-प्रतिबिम्बरूप से कहे गये हैं।

व्यावहारिक दृष्टान्त देकर ज्ञानदेव ने व्यवहार सिखाया ऐसा कुछ लोग मानते हैं पर वह ठीक नहीं, उन्होंने तो पारमार्थिक सत्य समझाने के लिये ही दृष्टान्त दिये हैं। छोटी सी आयु में ही ज्ञानदेव का निरीक्षण अत्यन्त व्यापक और सूक्ष्म था ऐसा दिखता है। ज्ञानदेव के प्रिय और नवीनता भरे अनेकों दृष्टांतों का उनके बाद हुए कवियों ने अङ्गीकार किया है। जैसे – शुक-नलिका (६।७६-७९)

ज्ञानदेव की और एक विशेषता है एक साथ अनेकों दृष्टान्तों की पंक्ति देकर कोई विषय भलीभाँति स्पष्ट समझाना। (जैसे १६।१७९-८३, १४।३७३-७६) ये दृष्टान्त एक से बढ़कर एक हुआ करते हैं। तात्त्विक दृष्टि से उनका बहुत उपयोग है। ऐसी दृष्टान्त परम्परा देने के लिये कवि का सृष्टि और व्यवहार का निरीक्षण अत्यन्त व्यापक और सूक्ष्म होना अपेक्षित है।

एक ही उपमान का भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से, पहलुओं से उपयोग करने में ज्ञानदेव का विशेष बुद्धिवैभव प्रकट हुआ है। एक सूर्य को लें –

'नन्हा-सा दिखे रवि बिम्ब। पर त्रिलोक में न अमाये आलोक।
शब्द-व्याप्ति वैसी अनुभूत। होगी यहाँ॥'

(१) शब्द को व्याप्ति (४।२१४)

(२) हम ब्रह्म हुए तो सभी कुछ ब्रह्म ही है (५।८६)

'जैसे पूर्व दिशा का मन्दिर। सूर्योदय से आलोकित।
तभी सब दिशाओं से लुप्त। अन्धकार॥'

(३) गुणातीत पुरुष देह में अकर्तृत्व देखता है

'हो तारकों का लोप। सूर्यकान्त हो उद्दीप्त।
कमल हों विकसित। अस्त हो तम॥
इन में किसी भी कार्य में। सविता कुछ न करे जैसे।
वैसे अकर्ता मैं देह में। सत्तारूप॥' (१४।२९६-९७)

अब ज्ञानदेव के रूपकों को देखें। उन की काव्यस्फूर्ति में ज्वार आता है एकके बाद एक रूपक तरंगों की भाँति उमड़ते आते हैं। सोलहवें अध्याय के प्रारम्भ में सूर्य का रूपक लेकर किया हुआ चित्सूर्य का वर्णन दर्शनीय है।

अनेकबार पढ़ते रहने की इच्छा होती है। प्लेटो ने अपने 'रिपब्लिक' में इस सूर्यश्लेष का उपयोग किया है। उससे इस वर्णन की तुलना करें तो श्रीज्ञानदेव का आध्यात्मिक अनुभव और काव्यस्फूर्ति कितनी श्रेष्ठ कोटि के हैं यह अनुभव होगा।

उपमा-मूलक अन्य अलंकार भी ज्ञानेश्वरी में भरपूर हैं। अनन्वय के उदाहरण देखें –

रहने दें, यह कथन ऐसा। कि राम-रावण-युद्ध कैसा?
राम-रावण का हुआ जैसा। समर-मिलन॥ १०।३८॥
कहना चाहें अमृत का स्वाद। तो कहें अमृत के समान॥
वैसे ज्ञान का उपमान। है ज्ञान ही॥ ४।१८२॥

उत्प्रेक्षा द्वारा गीतावर्णन – (१८।१६७१–७४)

ज्ञानदेव के काव्य की पहली विशेषता है उसमें प्रकट हुई निर्व्यङ्ग और सुदृढ़ मानसिक स्थिति। इन ग्रन्थकार के अन्तःकरण को पापी वृत्ति का स्पर्श नहीं हुआ है। उन के चरित्र में पार्थिवता कहीं भी नहीं है। मराठी भाषा का और शुद्ध परमार्थ का गौरव बढ़ाने के लिये ईश्वरीय तेज ही श्रीज्ञानदेव के रूप में उद्भासित हुआ।

उन के काव्य की दूसरी विशेषता है अलौकिक काव्यस्फूर्ति। उनका लोकोत्तर काव्यसामर्थ्य देखना हो तो तेरहवें अध्याय में अज्ञान के लक्षण और ज्ञानी पुरुष के लक्षणों में अहिंसा की व्याख्या देखें।

तीसरी विशेषता है स्वसामर्थ्य के विषय में उन का आत्मप्रत्यय। अपना असाधारण भाषाप्रभुत्व उन्होंने बहुधा व्यक्त किया है। उनके स्वभाव में स्वाभिमान है, घमण्ड नहीं; लीनता है, दीनता नहीं। उदाहरणार्थ उनका तेजस्वी उद्गार प्रसिद्ध है—'मेरी मराठी की शब्द रचना स्पर्धा में अमृत को भी अनायास जीतेगी' (६-१४)। अपनी ग्रन्थ रचना की श्रेष्ठता १८।१७३७-५० में वर्णित की है। श्रीगुरु के प्रति विनयवचन कहने में भी उनके स्वाभिमान की शालीन झलक मिलती है। श्रीगुरु के प्रति नम्र होते हुए यह कहने से नहीं चूकते कि आपका वरद हस्त मेरे मस्तक पर आया कि सब सम्भव हो जायेगा – "मैं मराठी भाषा के नगर में ब्रह्मविद्या का सुकाल (बाहुल्य) कर दूँगा जगत् में आत्म सुख का ही लेन-देन होने लगेगा। (१२।१६-१७)

ज्ञानदेव की लेखनपद्धति स्वतन्त्र है। ज्ञानेश्वरी में पूर्वपक्ष – उत्तर पक्ष कर के वे अपना मत प्रतिपादित नहीं करते। बल्कि अपना भावार्थ सहज सुन्दर रीति से श्रोताओं के सम्मुख रखना उन्हें अभीष्ट है। ज्ञानेश्वरी में वेदान्तप्रक्रिया की चर्चा स्पष्ट नहीं दिखती इस लिये यह ग्रन्थ सामान्य लोगों

के लिये है यह मानना अनुचित होगा। वेदान्त की भाषा और अर्थ को पचा कर भावार्थ-दीपिका प्रकट हुई है यह लक्ष्य में रखना चाहिये।

अन्तमें, ज्ञानदेवने गीता की रमणीयता का जो वर्णन किया है वह स्वयं उनके ग्रन्थ को भी लागू होता है।

"चाहें यदि गगनालिङ्गन। चाहिये अधिक विशालपन।
कहें हर जैसे अनिरूप। हे देवि तव स्वरूप।
वैसा यह नित्य-नवरूप। गीतातत्त्व।।" १/७०-७२।।

३. नाथसम्प्रदाय

ज्ञानेश्वरीग्रन्थ नाथसम्प्रदाय की गुरुपरम्परा से प्राप्त समाधि-धन की जगत् के लिये खोल कर रखी हुई धरोहर है।–ऐसा ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं एवं ज्ञानेश्वरी के अन्त में उन्हों ने अपने गुरुसम्प्रदाय का थोड़ा इतिहास भी दिया है। वे कहते हैं "अति प्राचीन काल में (न जाने कब) त्रिपुरारि शंकर ने क्षीरसिन्धु के तटपर शक्ति पार्वती के कान में उपदेश किया जिसे मत्स्य के उदर में स्थित विष्णुने सुना और वे ज्ञानसम्पन्न हुए। वही मत्स्येन्द्रनाथ के रूप में सञ्चार करते हुए सप्तशृंगी पर्वत पर आये। वहाँ उन्हें टूटे हाथ-पाँव वाला चौरङ्गी मिला। उस पर मत्स्येन्द्रनाथ ने कृपा की और उसे सर्वांग-परिपूर्ण बनाया। फिर गोरखनाथ को योगाब्जिनी–सरोवर तथा विषयविध्वंसैकवीर ग्रन्थों का उपदेश किया। गोरक्षनाथ ने इस ज्ञान का उपदेश गहिनीनाथ को किया। गहिनीनाथ ने निवृत्तिनाथ को उपदेश किया और उन्होंने मुझे कृतकृत्य किया।" (ज्ञा० १८/१७५१-६२) इस प्रकार संक्षेप में अपने सम्प्रदाय का इतिहास ज्ञानेश्वर महाराज ने दिया है। इस में कहे गये महापुरुषों के विषय में क्या जानकारी अन्यत्र प्राप्त होती है उसे थोड़े में हम देखें।

नाथपन्थ और महाराष्ट्र का सम्बन्ध ज्ञानदेव के समय से ही प्रारम्भ हुआ हो ऐसा नहीं है। ज्ञानदेव के प्रपितामह त्र्यम्बकपन्त पर गोरक्षनाथ का अनुग्रह था और पितामह गोविन्दपन्त व दादी नीराबाई पर गहिनीनाथ का अनुग्रह था। इसीसे दिखता है कि नाथपन्थ के साधु महाराष्ट्र में आ कर धर्मजागृति का कार्य करते रहे होंगे।

जिस नाथपन्थ ने महाराष्ट्र को ज्ञानदेव जैसे दिव्य रत्न दिये उस पन्थ का उद्गम उत्तरभारत में हुआ यह निश्चित है। उसका विस्तार पहले उत्तर में हुआ बाद में दक्षिण में आया। बंगाल, गुजरात, कर्नाटक, वर्हाड, दक्षिण-

भारत इन सभी विभागों में नाथपन्थ का विस्तार दिखाई देता है। इन में इतर कुछ बातों में मतभेद होने पर भी इस पन्थ के संस्थापक आदिनाथ थे—यह सब को मान्य है, ये आदिनाथ शंकर हैं यह भी सर्वमान्य है। हठयोग-प्रदीपिका के टीकाकार ब्रह्मानन्द लिखते हैं कि सब नाथों में प्रथम आदिनाथ प्रत्यक्ष शङ्कर होने के कारण इस पन्थ को नाथसम्प्रदाय कहा गया।

आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ इत्यादि के स्थान महाराष्ट्र में दिखाये जाते हैं। कै० श्रीपांगारकर ने कहा है "नेवासे के पर्वत पर गोरक्षनाथ की समाधि और सतारा प्रान्त में मत्स्येन्द्रगढ़ पर मत्स्येन्द्रनाथ की समाधि है, वहाँ प्रतिवर्ष चैत्र कृष्ण पञ्चमी को यात्रा-मेला होता है।" (मराठी वाङ्मय का इतिहास खण्ड १, पृ० ४८६) कुछ लोगों का मत है कि विभिन्न नाथों के साथ जोड़े हुए स्थानों को उन के समाधिस्थान मानना कठिन है। क्योंकि आदिनाथ जब शंकर हैं तो उन की समाधि होना तो शक्य ही नहीं। अधिक से अधिक इतना कहा जा सकता है कि महाराष्ट्र में संचार करते समय जिस-जिस ग्राम में नाथ रहे होंगे वहाँ उन के नाम से गद्दी स्थापित की गई होगी। वाल्मीकि, कबीर, चैतन्य के स्थान जैसे दिखाये जाते हैं वैसी ही बात नाथ-स्थानों की भी है। अभी भी इस में खोज का बहुत अवकाश है।

पन्थ का प्रारम्भ : नाथपन्थ का प्रारम्भ आठवीं या नवीं शताब्दी होना चाहिये क्योंकि गोरक्षनाथ का समय दसवीं शती माना जाता है।

पन्थ का नाम : साम्प्रदायिक ग्रन्थों में सम्प्रदाय के विभिन्न नाम मिलते हैं। हठयोगप्रदीपिका की टीका में ब्रह्मानन्द ने लिखा है कि सब नाथों म प्रथम आदिनाथ शंकर हैं इसलिये इसे नाथसम्प्रदाय कहा जाता है। अनेक ग्रन्थों में ऐसा उल्लेख मिलता है। परन्तु सिद्धमार्ग, योगबीज, योगमार्ग, योग सम्प्रदाय, अवधूतमत, अवधूतसम्प्रदाय इत्यादि शब्द भी बहुधा इस सम्प्रदाय के ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं।

अपने संप्रदाय को ये लोग 'सिद्धमत' या 'सिद्धमार्ग' कहते हैं इस का कारण यह है कि नाथ स्वतःसिद्ध होते हैं—ऐसी इनकी मान्यता है। इस मतका अत्यंत प्रामाणिक ग्रन्थ 'सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति' है। इसी ग्रन्थ की संक्षिप्त प्रति 'सिद्ध-सिद्धान्त-संग्रह' नाम से अठारहवीं शताब्दी के अन्त में काशी के बलभद्र पण्डित ने बनाई है। वास्तव में वादी-प्रतिवादी द्वारा निर्णीत अर्थ को सिद्धान्त कहा जाता है किन्तु ये लोग सिद्ध द्वारा निर्णीत को ही सिद्धान्त कहते हैं। इसी लिये अपने सम्प्रदाय के ग्रन्थों को ये 'सिद्धान्त-ग्रन्थ' कहते हैं।

'सिद्धमत' नाम इस सम्प्रदाय में बहुत प्रचलित है और इस की परम्परा पुरानी है। मत्स्येन्द्रनाथ के 'कौलज्ञाननिर्णय' के सोलहवें पटल से ऐसा प्रतीत

होता है कि वे 'सिद्ध-कौल-सम्प्रदाय' के अनुयायी रहे होंगे। डॉ० बागची ने लिखा है कि मत्स्येन्द्रनाथ ने जिस सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया था उस का नाम 'योगिनीकौलमार्ग' था और वह सिद्ध-कौल-मत ही आगे चल कर नाथ-परम्परा के रूप में विकसित हुआ।

नाथपन्थ और बौद्ध, शाक्त तथा कापालिक पन्थ : नाथपन्थ के उदय के समय देश में बौद्ध, शाक्त और कापालिक आदि अनेक पन्थ थे। नाथसम्प्रदाय के आद्यगुरु स्वयं शंकर हैं अतः मूल से ही यह शैव सम्प्रदाय है और इस के मूल उपास्य देवता शंकर हैं। कापालिक मत को भी 'श्रीनाथ' (शंकर) ने ही प्रकट किया था। 'शाबरतन्त्र' में कापालिकों के बारह आचार्यों में सर्वप्रथम नाम आदिनाथ का है, और उन के बारह शिष्यों में अधिकांश नाथ सम्प्रदाय के प्रधान आचार्यों का नाम है।

तन्त्रानुसारी शाक्तमार्ग के भी उपदेष्टा 'श्रीनाथ' ही हैं। नाथों ने ही तन्त्ररचना की है। 'षोडशनित्यतन्त्रा' में श्रीशंकर ने कहा है कि मेरे कहे हुए तन्त्र का ही नौ-नाथों ने लोक में प्रचार किया है। शाक्तमत के अनुसार चार प्रधान आचार हैं—वैदिक, वैष्णव, शैव और शाक्त। शाक्त आचार भी पुनः चार प्रकार का है—वामाचार, दक्षिणाचार, सिद्धान्ताचार और कौलाचार। 'षट्शाम्भवरहस्य' ग्रन्थ में स्पष्ट कहा गया है कि आचारों में क्रमशः उत्तरोत्तर प्रथम से श्रेष्ठ हैं। अर्थात् वैदिक से श्रेष्ठ है वैष्णव, उस से श्रेष्ठ गाणपत्य, उस से सौर, उस से शैव, उस से शाक्त आचार श्रेष्ठ है।' फिर शाक्त आचारों में भी श्रेष्ठता क्रम उत्तरोत्तर है अर्थात् वाम से श्रेष्ठ दक्षिण, उससे सिद्धान्त और उस से भी कौल श्रेष्ठ है। कौल मार्ग को ही 'अवधूतमार्ग' कहा जाता है। इस प्रकार तन्त्रग्रन्थों के अनुसार कौल अथवा अवधूतमार्ग ही श्रेष्ठ है और शाक्ततन्त्र नाथानुयायी है।

'गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह' में तान्त्रिक और अवधूत में अन्तर दिखाया गया है। तान्त्रिक पहले बहिरंग उपासना करते हैं अन्त में क्रमशः सिद्धि प्राप्त कर कुण्डलिनीशक्ति की उपासना करते हैं। यह पूरी तरह अवधूतमार्ग की उपासना है।

कापालिक मत का थोड़ा सा परिचय यामुनाचार्य के 'आगमप्रामाण्य' ग्रन्थ में मिलता है। भवभूति के 'मालतीमाधव' नाटक में कापालिक का स्पष्ट वर्णन है। वे यदि मनुष्यबलि देते थे तो इसका अर्थ है कि उन का सम्बन्ध षट्चक्रभेद, नाडिका-निचय, कायायोग से था। यह कायायोग नाथपन्थियों की एक विशेषता है। कापालिकों में 'कान्हूपाद' अथवा कृष्णपाद नाम के प्रसिद्ध सिद्ध हुए हैं। उन के गुरु जालन्धरपाद थे। वे नाथपन्थ के आचार्य थे।

विस्तार : नाथमत को मानने वाली बहुत सी जातियाँ भारत के प्रत्येक प्रान्त में हैं। उन में कोई ब्रह्मचारी योगी हैं, कोई गृहस्थी हैं, कोई उच्चतर हैं तो कोई नीच जातियाँ गिनी जाती हैं। शिमला, अल्मोड़ा, पंजाब,अम्बाला, गढ़वाल, इत्यादि विभागों के 'जोगी' स्वयं को नाथ सम्प्रदाय की विभिन्न शाखाओं के अनुयायी मानते हैं और उन के चिह्न अंगों पर धारण करते हैं। इन में बहुत लोग कला-कौशल, हाथ की करामात, तन्त्र-मन्त्र आदि द्वारा अपनी उपजीविका चलाते हैं।

साधारणत: बुनकर, जुलाहा, कोरी, दर्जी आदि वयनजीवि (सूतकातना-बुनना-छापना आदि कपड़ा बनाने सम्बन्धी काम करने वाली) जातियाँ नाथमत को माननेवाली मिलती हैं। सूत का रोजगार योगीजाति का पुराना व्यवसाय है। अधिकतर गृहस्थ योगी जाति के मुसलमान होते हैं। सन्त कबीरदास ऐसे ही एक योगी मुसलमान घराने में हुए।

नाथों विषयक कुछ जानकारी :

आदिनाथ : नाथपन्थ के आदिगुरु। प्रत्यक्ष शंकर। अतएव इन के काल-निर्णय का प्रश्न ही नहीं।

मत्स्येन्द्रनाथ : ऐतिहासिक विभूति की दृष्टि से नाथ-पन्थ इन से प्रारम्भ हुआ। किन्तु मत्स्येन्द्रनाथ या गोरक्षनाथ इस पन्थ के प्रवर्तक या संस्थापक नहीं थे, तथा कबीर व नानक जिस अर्थ में धर्मपन्थसुधारक माने जाते हैं वैसे भी ये नाथ नहीं थे। नाथ-परम्परा में आदिनाथ के पश्चात् सर्वश्रेष्ठ आचार्य मत्स्येन्द्रनाथ हुए, मानवगुरुओं में प्रथम हुए। वे गोरक्षनाथ के गुरु, अवलोकितेश्वर के अवतार, और कौलाचार के सिद्धपुरुष हुए।

इन के नाम के विषय में अनेक मतभेद हैं। योगीसम्प्रदाय में 'मच्छन्दर-नाथ' नाम प्रसिद्ध है जो शुद्ध, वास्तविक मत्स्येन्द्रनाथ नाम का ही अपभ्रंश है। मत्स्येन्द्रनाथकृत बहुत से ग्रन्थ नेपाल के दरबार-पुस्तकालय में सुरक्षित हैं। उन में 'कौलज्ञाननिर्णय' नामक ग्रन्थ की लिपि देख कर स्व. महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने अनुमान लगाया था कि वह ई. नौवीं शताब्दी में लिखित है। इधर डॉ. प्रबोधचन्द्र बागची ने उस पुस्तक के तथा मत्स्येन्द्रनाथ रचित अन्य चार पुस्तकों के नवीन संस्करण प्रकाशित किये हैं। डॉ. बागची के मत से उन ग्रन्थों की पाण्डुलिपि ११वीं शताब्दी के मध्य भाग की है। इन में आचार्य के नाम मच्छघ्नपाद, मत्स्यघ्नपाद, मच्छेन्द्रपाद, मत्स्येन्द्रपाद, मीनपाद, मच्छिन्द्रनाथपाद इत्यादि हैं। इन में अन्य सब तो 'मत्स्येन्द्र' के अपभ्रंश और पर्याय हैं किन्तु 'मच्छघ्न' शब्द से पं. हरप्रसादशास्त्री ने अनुमान किया है कि मत्स्येन्द्रनाथ मछलीमार जाति में उत्पन्न हुए होंगे। 'कौलज्ञान निर्णय' ग्रन्थ में मत्स्यघ्न' नाम का समर्थन किया गया है। उसमें लिखा है कि मत्स्येन्द्रनाथ

ब्राह्मण थे, किन्तु किसी विशेष कारण से उन का नाम मत्स्यघ्न पड़ा। कारण यह बताया है कि कार्तिकेय ने 'कुलागम' शास्त्र चुरा कर समुद्र में फेंक दिया था तब उस शास्त्र का उद्धार करने के लिये स्वयं भैरव अर्थात् शिव ने मत्स्येन्द्रनाथ का अवतार लेकर समुद्र में प्रवेश किया और उस शास्त्र को खा गये हुए मत्स्य का पेट चीर कर ग्रन्थ को बाहर निकाला। इस पर से उन का नाम मत्स्यघ्न पड़ा।

अभिनवगुप्तपाद के मत से – आतान-वितान-वृत्त्यात्मक जाल को छिन्नभिन्न करने के कारण, तन्त्रालोक के टीकाकार जयद्रथ के मत से – चपल वृत्तियों का छेदन करने के कारण, कबीर-सम्प्रदाय के अनुसार चञ्चल मन का अथवा चपल-चित्तवृत्ति का छेदन करने के कारण उन का नाम मत्स्येन्द्रनाथ पड़ा। मत्स्येन्द्रनाथ का दूसरा नाम मीननाथ है। इस नाम के विषय में बहुतों के अनेक मत हैं। (१) कौलज्ञान-निर्णय के अनुसार मीननाथ और मत्स्येन्द्रनाथ – ये एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं। (२) साम्प्रदायिक अनुश्रुति के अनुसार मीननाथ मत्स्येन्द्रनाथ के पुत्र हैं। (३) तिब्बत-परम्परा के अनुसार मीननाथ मत्स्येन्द्र के पिता हैं। (४) नेपाली परम्परा मीननाथ को मत्स्येन्द्रनाथ का छोटा भाई मानती है। ऐसे विभिन्न मत होने पर भी मीननाथ और मत्स्येन्द्रनाथ एक ही व्यक्ति थे ऐसा अनेक ग्रन्थों से सिद्ध होता है। ज्ञानेश्वरमहाराज दोनों को एक ही कहते हैं — "मुद्रा गोरक्षराया दिधली मीनीं।"

मत्स्येन्द्रनाथ किस प्रान्त में जन्मे थे, उन के रचित ग्रन्थ कौन-कौन से हैं, उनका साधनामार्ग कौन सा था – इत्यादि प्रश्न अतिशय विवादग्रस्त हैं। सम्पूर्ण भारत में उन के विषय में उन के गुरुबन्धु जालन्दर नाथ और शिष्य गोरक्षनाथ के विषय में इतनी किवदन्तियां प्रसिद्ध हैं कि उन के आधार पर चरित्र लिखना अत्यन्त कठिन है। फिर भी कुछ-एक आधार लेकर मत्स्येन्द्रनाथ का चरित्र लिखा गया है। तदनुसार – कुछ लोग मत्स्येन्द्रनाथ का अवतारकाल ई० १०३८ के आसपास मानते हैं। परन्तु गोरक्षनाथ का काल दसवीं शताब्दीं माना जाने के कारण मत्स्येन्द्रनाथ का समय भी उस के निकट मानना होगा। पं. हरिप्रसाद शास्त्री एवं डॉ. बागची के संशोधनों के अनुसार मत्स्येन्द्रनाथ का जन्म चन्द्रगिरि में कामरूप प्रदेश में हुआ होगा। कौलज्ञाननिर्णय, बुद्धपुराण, सुधाकरचन्द्रिका, वङ्गाली साहित्य का इतिहास इत्यादि पुस्तकों में से मत्स्येन्द्रनाथ के विषय में जो अनेक कथायें मिलती हैं उन सब में एक बात समान रूप से सामने आती है कि मत्स्येन्द्रनाथ किसी शिष्या के मोह में पड़े होंगे और गोरखनाथ ने उन्हें उस में से निकाला होगा।

नाथ-पन्थ पर लिखने वाले हिन्दुस्तानी अर्वाचीन लेखकों के अनुसार मत्स्येन्द्रनाथ ने कौलमार्ग का प्रचार किया। उस की कुछ जानकारी प्रस्तुत है-

कुल और अकुल शब्दों का अर्थ और परस्पर सम्बन्ध :

'कौल' मतानुसार 'कुल' का अर्थ है शक्ति और अकुल का अर्थ 'शिव' है। कुल का अकुल से यानी शक्ति का शिव से सम्बन्ध स्थापित करना यही कौल मार्ग है। कुल-अकुल-सम्बन्ध जोड़ना कौलसाधना का ध्येय है, और उन दोनों का समरस होना कौलज्ञान है। 'कुल' शब्द के और भी बहुत अर्थ किये गये हैं, पर उक्त अर्थ ही मुख्य है। शिव अनादि हैं अतः उन का कुल या गोत्र कहा नहीं जा सकता, इसलिये वे अकुल हैं। शिव की जो सृष्टि-निर्माण की इच्छा है उसे शक्ति कहते हैं। सब पदार्थों की उत्पत्ति शक्ति से हुई है। शक्ति शिव की प्रिया है। इस का अर्थ यह नहीं कि शिव और शक्ति दो भिन्न वस्तु हैं। जैसे चन्द्र और चांदनी दो नहीं वैसे शिव-शक्ति दोनों एक ही हैं।

कौलमार्ग के कुछ दार्शनिक सिद्धान्त : कौलमार्ग सत्कार्यवादी है। कार्य की अव्यक्त अवस्था का नाम कारण है और कारण की व्यक्तावस्था ही कार्य है। प्रलय काल के समय परमशिव समस्त प्रपंच को अपने में विलीन कर लेते हैं और सब प्राणियों का कर्मफल सूक्ष्मरूप से अपने में धारण कर लेते हैं। कर्मफल शेष रह जाने के कारण, जब वे परिपक्व होते हैं तब सृष्टि का चक्र पुनः प्रारम्भ होता है। तब परमशिव में सूक्ष्म रूप से विद्यमान शक्ति सर्जन के रूप में पुनः व्यक्त रूप धारण करती है। यही त्रिपुरा शक्ति है। तान्त्रिक मतानुसार परब्रह्म यद्यपि सदा नित्यवर्तमान हैं फिर भी सृष्टि-सर्जन-कार्य त्रिपुराशक्ति के बिना नहीं होता। जगत् ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय ऐसी त्रिपुटी से युक्त होने के कारण उसे उत्पन्न करने वाली शक्ति को त्रिपुरा कहा गया है। मत्स्येन्द्रनाथ ने कौलज्ञाननिर्णय में शक्ति का त्रिपुरा नाम से उल्लेख नहीं किया है, पर तान्त्रिकों के सृष्टितत्त्व ज्यों के त्यों स्वीकार किये हैं।

सत्कार्यवाद का जो सिद्धान्त ऊपर कहा गया, उस पर एक आक्षेप आ सकता है कि जो वस्तु पहले कभी थी ही नहीं वह कैसे उत्पन्न होगी? केवल शक्ति से जगत् का निर्माण कैसे हुआ? इस का उत्तर यह है कि प्रलयकाल में शक्ति जगत् के ३६ तत्त्वों को लेकर अव्यक्तावस्था में चली जाती है, फिर उस का व्यक्त होना ही जगत् की उत्पत्ति है। फिर प्रश्न उठेगा कि यह शक्ति यदि अव्यक्त रूप में शिव में ही स्थित है तो परमशिव को ही जगत् का कारण क्यों नहीं माना जाता? वामकेश्वर तन्त्र में कहा गया है कि शक्ति जब जगद् रूप में व्यक्त होने लगती है तब उसे शिव की अपेक्षा नहीं रहती। तान्त्रिक शक्ति को जड़ न मान कर चिद्रूप मानते हैं। परमशिव को सृष्टि निर्माण की इच्छा होने पर शिव और शक्ति इन दो तत्त्वों का प्राकट्य होता है।

परमशिव निर्गुण-निरञ्जन हैं। शिव सगुण और शक्तियुक्त हैं। शिव का धर्म शक्ति है। इसीलिये वे अविभाज्य हैं।

गोरक्षनाथ :

विक्रम सं. दशम शताब्दी में भारतवर्ष में गोरक्षनाथ का आविर्भाव हुआ। शंकराचार्य के पश्चात् इतने प्रभावशाली महिमान्वित महापुरुष भारतवर्ष में अब तक नहीं हुए ऐसा कहना अतिशयोक्ति न होगी। आज भी भारत के कोने-कोने में उन के अनुयायी मिलते हैं। भक्तिमार्ग प्रचलित होने के पहले सर्वाधिक शक्तिशाली धार्मिक मार्ग गोरक्षनाथ का योगमार्ग ही था। गोरक्षनाथ-विषयक कथायें भारत की प्रत्येक भाषा में उपलब्ध हैं, उस से ऐसा स्पष्ट होता है कि गोरक्षनाथ अपने युग के सर्वश्रेष्ठ अग्रणी रहे होंगे।

उन के जन्मस्थान के विषय में अभी भी एकमत नहीं हुआ है। 'योगिसम्प्रदायाविष्कृति' ग्रन्थ में उन का जन्म गोदावरी-तीर पर चन्द्रगिरि नामक स्थान में होने का उल्लेख है। 'ग्रियर्सन' ने उन्हें काठियावाड की गोरखमढी का निवासी कहा है। कोई कहते हैं उन का जन्म बंगाल में हुआ तो कोई पंजाब में बताते हैं। पंजाब की गोरखटेकरी पर से 'ब्रिग्स' उन्हें पंजाब में जन्मे कहते हैं। डॉ. मोहनसिंह के मत से पेशावर के निकट उन का जन्मस्थान है। इतना अवश्य निश्चित कहा जा सकता है कि गोरखनाथ का जन्म ब्राह्मणकुल में हुआ और उन के आयुष्य का बहुत सा भाग ब्राह्मण्य वातावरण में व्यतीत हुआ होगा।

गोरक्षनाथ के नाम पर बहुत से ग्रन्थ आज उपलब्ध हैं, किन्तु कौन से स्वयं गोरक्षनाथ – रचित हैं और कौन से क्षेपक हैं यह अभी विवादगत प्रश्न है। इन ग्रन्थों के आधार पर ही विभिन्न विद्वानों ने गोरक्षनाथ के जन्मस्थान, काल, कथायें, इत्यादि पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। कबीरदास एव गुरुनानक के साथ गोरक्षनाथ का वार्तालाप हुआ था इसलिये वे चौदहवीं शताब्दी में हुए होंगे ऐसा ग्रियर्सन का अनुमान है। यहाँ तक कि सत्रहवीं शताब्दी में बनारसीदास जैन से गोरखनाथ का शास्त्रार्थ हुआ ऐसा भी एक स्वर है। डॉ. बड़थ्वाल ने उन्हें ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य का प्रसिद्ध योगी कहा है और अपने मत के समर्थन में गोरक्षनाथ के ग्रन्थों का उल्लेख किया है। कै० श्रीपांगारकर मानते हैं कि वे बारहवीं शताब्दी में हुए होंगे।

गोरक्षनाथ के संस्कृतग्रन्थ आज सब उपलब्ध नहीं हैं। कुल २८ पुस्तकों का उल्लेख डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपनी 'नाथसम्प्रदाय' पुस्तक में किया है। उन में से 'अमनस्क' 'अमरौघशासनम्' 'गोरक्षपद्धति' 'गोरक्षसंहिता,' 'सिद्धसिद्धान्त पद्धति' ये ग्रन्थ अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इन संस्कृतग्रन्थों के अतिरिक्त कुछ पुस्तकें हिन्दी में भी गोरखनाथ के नाम से मिलती हैं। 'गोरख-

वानी' नाम से उन का सम्पादन स्व. डॉ. पीताम्बर दत्त बडथ्वाल ने अत्यन्त परिश्रमपूर्वक और योग्य आधार से किया है। इस ग्रन्थ में गोरखनाथ की ४० हिन्दी पुस्तकों का उल्लेख है। उन में 'सबदी' और 'गोरखबोध' विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। मराठी में भी गोरक्षनाथ के ग्रन्थ हैं। उन में 'अमरनाथसंवाद' योगविषयक है। 'गोरक्षगीता' ओवीबद्ध है, उस में भी योगविषयक अनुभव दिये हैं।

गोरक्षनाथविषयक भ्रान्तियों में से कुछ ये हैं (१) गोरक्ष बौद्धमत के थे (२) वे कनफटा-पन्थ के संस्थापक थे (३) वे १४वीं शताब्दी में हुए (४) कबीर और नानक से उन का मिलना हुआ था (५) नासिक के पास उन का जन्म हुआ था।—इन भ्रान्तियों का निराकरण डॉ. मोहनसिंह की Gorakhanath & Medeaval Hindu Mysticism (Lahore, 1937) द्वारा हो सकता है।

गोरक्षमत :

डॉ. मोहनसिंह के अनुसार गोरक्षनाथ उपनिषदों में प्रतिपादित योगमार्ग के पुरस्कर्ता थे। श्रीभट्टाचार्य कहते हैं–'वृत्तिनिरोध कर के मन का अमनीभाव करना'–यह गोरक्षनाथ के मार्ग का सार है। गोरक्षमत का यह आद्य सिद्धान्त है कि जो ब्रह्माण्ड में है वह सब सूक्ष्म रूप में पिण्ड में है। इस पिण्ड (शरीर) में मुख्य कार्यकारिणी कुण्डलिनी शक्ति है। विश्वब्रह्माण्ड में भरी हुई महाकुण्डलिनी का यह पिण्डगत स्वरूप है। इस शक्ति की उपासना करने के लिये कहीं दूर भटकने की आवश्यकता नहीं है। प्रत्येक पिण्ड में, अणु-परमाणु पर्यन्त यह शक्ति भरी ही हुई है। ब्रह्माण्ड के प्रत्येक कण में भर कर बची हुई शक्ति मानवदेह में 'कुण्डलिनी' रूप से वास करती है। नाथपन्थी साधक इस शक्ति की उपासना करने के लिये शरीर को प्रमुख साधन मानते हैं। केवल शक्ति का संचालन यह प्रमुख ध्येय नहीं, शिवशक्ति का ऐक्यरूपी सहज समाधि साधना–यही वास्तविक ध्येय है। **मनुष्य को वस्तुतः मोक्ष साधना हो तो इस सहज समाधि द्वारा मन से मन को देखना सीखना चाहिये।** गोरक्षनाथ के अमरौघशासन में से एक उद्धरण–'अहो मूर्खता लोकस्य केचिद् वदन्ति शुभाशुभकर्म–विच्छेदनं मोक्षः। केचिद् वदन्ति वेदपाठाश्रितो मोक्षः। केचिद् वदन्ति निरालम्बलक्षणो मोक्षः। केचिद् वदन्ति ध्यानकलाकरणसम्बद्ध प्रयोगसम्भवेन रूपबिन्दुनादचैतन्यपिण्डाकाशलक्षणो मोक्षः। केचिद् वदन्ति पूजा-मद्यमांसादिसुरतप्रसंगानुलक्षणो मोक्षः। केचिद् वदन्ति मूलकरोल्लसितकुण्डलीसञ्चार लक्षणो मोक्षः। केचिद् वदन्ति सुसमदर्षिनिपातलक्षणो मोक्षः। इत्येवंविधः भावनाश्रित लक्षणो मोक्षो न भवति। अथ मोक्षपदं कथ्यते। यत्र सहजसमाधिक्रमेण मनसा मनः समालोक्यते स एव मोक्षः।'

(–अमरौघशासनम् पृ. ८-९)

डॉ० मोहनसिंह ने गोरक्षमत का सार संक्षेप में इस प्रकार दिया है– "मिथ्या असत् जीवन का त्याग करके शाश्वत जीवन जीना – यह गोरखपन्थ का ध्येय है। यह तभी शक्य है जब साधक मन, प्राण और काम यह जो अशुद्ध वर्ग है उस पर काबू पा कर शुद्ध आत्मस्वरूप में स्थित रहे। यह जो अविद्यावर्ग है, उसे जीतने के लिये भी उन्हीं की सहायता लेनी पड़ती है। प्राणायाम से काम जीता जाता है। मन को जीतने का उपाय है ध्यान; अर्थात् मन की वृत्ति द्वारा अन्तर्मुखता प्राप्त करके आत्मशोधन। इस से मन ही मन पर काबू पा कर अमनीभाव के समीप आता है। यह संयम 'सहज' मार्ग से ही करना सुखकर होता है। इस अभ्यास से ही अमनोभाव (Supramenta) प्राप्त हो सकता है। वहाँ कामादित्रयी का प्रवेश नहीं है। यह स्थिति शून्य नहीं, सच्चिदानन्द का परिपूर्ण-भाव-रूप है। इस सच्चिदानन्द के ही शब्द, रस ज्योति आदि नाम हैं। जागृति को निगले हुए जागना, निद्रा से अतीत सुषुप्ति और मन द्वारा मन को निगले रहना – ऐसी यह स्थिति है।

कुम्भक द्वारा प्राण पर विजय होता है। श्रीगुरु द्वारा कहे गये मन्त्र का अजपाजप करने से काम निःशेष होता है। विषयों को बाहर ही रखते हुए मन को मुक्त अक्रिय बनाने से और ध्यान द्वारा मन वशीभूत होता है। मन में स्पृहा समाप्त हो जाय, मन में ही मन स्वयं लीन रहे, द्वन्द्वातीत अवस्था हो जाय तो समदर्शिता आती है। इसी भाव के असम्प्रज्ञात समाधि, कैवल्य, सहज समाधि, तुर्यावस्था, महाशून्य – ऐसे विभिन्न-नाम हैं।

यह नादानुसन्धान का मार्ग है। गुरूपदिष्ट नाम-मन्त्र का शान्त ध्यान करना ही नादानुसन्धान है, यह मार्ग है और इस के द्वारा आत्मा में समरस होना ध्येय है। यही मंजिल है। मार्ग भीतरी है। इस के लिये बाहर आसन आदि किये जाते हैं। कुम्भारीबुवा के अनुसार यही सिद्धान्त योग है।

इस योग के लिये ब्रह्मचर्य की आवश्यकता अवश्य है, किन्तु योग्य संयम पालते हुए गृहस्थाश्रम में भी यह किया जा सकता है। भिक्षुवृत्ति या संन्यास इस के लिये अनिवार्य नहीं है। बौद्ध साधना जैसी आत्मपीड़ा इस में नहीं है। स्थूलतान्त्रिक मार्ग की तरह भोगातिशय भी नहीं है। हठयोग जैसी क्रिया-कठोरता नहीं है। गोरखनाथ का मार्ग उपनिषदों में कहा हुआ राजयोग ही है – यह निस्सन्देह कहा जा सकता है। इस में सब को अधिकार है। इस के साधक को नीति-अनुसार आचार और वैराग्य की आवश्यकता है। इतरमार्गों का जो साध्य होता है वह सद्गुरु के शब्द से ही साधक को प्राप्त हो जाता है। चमत्कार करने की शक्ति, ९ या १२ कही गई सिद्धियाँ प्राप्त होना — यह योग का ध्येय नहीं है। ये प्रलोभन योगमार्ग के बड़े विघ्न हैं। इन्हें पार कर आगे निकल जाना साधक के लिये आवश्यक है।

तन्त्र, हठ, तथा रसशास्त्र शरीर को अमर करने का प्रयत्न करने वाले शास्त्र हैं। गोरक्षनाथ का पन्थ आत्मा के अमरत्व का अनुभव करना, नादमधु का आस्वादन, शिव-शक्ति के सामरस्य का आनन्द लेना इस के लिये है। आत्मा के मन्दिर रूप शरीर का केवल शोषण यहाँ इष्ट नहीं, आत्मा के अमरत्व का अनुभव ही इस मार्ग का उद्देश्य है।"

गोरक्षनाथ का प्रभाव :

नाथपन्थ का प्रसार करने वाले, इस पन्थ की गौरवमहिमा बढ़ाने वाले गोरक्षनाथ जैसे प्रभावशाली व्यक्ति दूसरे कोई नहीं हुए—यह कहने में अतिशयोक्ति नहीं है। स्वयं ज्ञानेश्वर महाराज ने उन के विषय में बड़े गौरवपूर्ण उद्‌गार कहे हैं—

'तेणें योगाब्जिनी-सरोवरु। विषयविध्वंसैकवीरु।
तिये पदीं कां सर्वेश्वरु। अभिषेकिले॥ (ज्ञा. १८।१७५६)

गोरक्षनाथ ने बहुतों को इस मार्ग की दीक्षा दी। उस में से एक धारा गहिनीनाथ द्वारा श्रीनिवृत्तिनाथ में आई। गोरक्षनाथ ने तात्कालीन भारतीय जनता और राजाओं में योग-सम्बन्धी इतनी अभिरुचि उत्पन्न की थी कि संस्कृत में अनेकों ग्रन्थ योगविषयक रचे गये। सिखगुरु गोविन्दसिंह ने अपने आत्मचरित्र में वर्णन किया है कि गोरक्षनाथ की कितनी महिमा और प्रभाव था एवं उन्होंने किस प्रकार अनेकों राजाओं को अपने पथ में आकृष्ट किया था। दसवीं से चौदहवीं शताब्दी तक के बौद्ध व जैन सम्प्रदायों में भी योगमतपरक अनेक ग्रन्थ लिखे गये। चालुक्य और परमार राजाओं के कार्य-विवरण में शिवमन्दिर-निर्माण शैवयोग—विषयक ग्रन्थरचना की अतीव वृद्धि दिखाई देती है।

तात्पर्य यह कि गोरक्षनाथ ही नाथपन्थ के वास्तविक कर्तृत्वशाली आदि पुरुष हैं। उन के परिमाण में आदिनाथ एवं मत्स्येन्द्रनाथ का कार्यक्षेत्र बहुत थोड़ा है।

गोरक्षनाथ के पश्चात् : गहिनीनाथ के विषय में अधिक कुछ जानकारी नहीं मिलती, किन्तु महाराष्ट्र में उन का संचार था यह बात प्रसिद्ध है। 'ज्ञानोबा' के पितामह एवं पितामही श्री गोविन्दपन्त व नीराबाई पर गहिनीनाथ का अनुग्रह था यह पहले कहा जा चुका है। इन्होंने महाराष्ट्र को श्रीनिवृत्तिनाथ दिये।

श्रीनिवृत्तिनाथ के द्वार पर पनपे नाथपन्थ के पौधे का विस्तार गगन-पर्यन्त पहुँचा। किन्तु अभीतक उस का इतिहास नहीं लिखा गया है।

उत्तर भारत में जैसे गोरक्षनाथ वैसे महाराष्ट्र में श्रीज्ञानराज। 'निवृत्ति-ज्ञानदेव ने अपार जीवजन्तुओं (प्राणियों) को मुक्त किया'—ऐसा नामदेव ने उन के कार्य का वर्णन किया है। ज्ञानेश्वर महाराज योगी, भक्त एवं ज्ञानी

एकसाथ होने के कारण उन्हें गुरुरूप मानते हुए उन से सम्बन्ध जोड़ने वाली अनेक धारायें हैं। ज्ञानदेव को अपनी योगमार्गपरम्परा का साधु कहने वाले महाराष्ट्र के पन्थराज के 'कापडी' अभी भी हैं। भक्तिपन्थी वारकरी ज्ञानदेव को श्रेष्ठ भक्त मानते हुए उन से अपना सम्बन्ध जोड़ते हैं। ज्ञानमार्गी भी ज्ञानराजा से ही अपना सम्बन्ध बताते हैं। महाराष्ट्र में अनुभवामृत की परम्परा अभी भी विद्यमान है। उस में शाखायें हैं। एक शाखा ने शिवकल्याण दिये और दूसरी शाखाने विश्वनाथ उर्फ भय्याकाका दिये जिन्होंने कै० कुण्टेजी को ज्ञानेश्वरी के माधुर्य का चस्का लगाया।

इन दो शाखाओं ने नाथपरम्परा का क्रमवर्णन दो प्रकार से किया है। पहली – शिवकल्याण ने अनुभवामृत पर अपनी टीका 'नित्यानन्दैक्य दीपिका' के अन्त में लिखा है — शंकर, पार्वती, मत्स्येन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ, गहिनीनाथ, निवृत्तिनाथ, ज्ञानदेव, मुक्ताबाई, वटेश्वर, चक्रपाणि, विमलानन्द, चांगा केशवराज जनकराज, नृसिंह, श्रीदयानन्द, विश्वेश्वर, श्रीकेशवराज, श्रीहरिदास, स्वामी परमानन्द, नित्यानन्द व शिवकल्याण (नि. दी. अ. १०/३४५-७५) दूसरी मत्स्येन्द्रनाथ, गोरक्षनाथ, गहिनीनाथ, निवृत्ति, ज्ञानदेव, सत्यामलनाथ, दीनानाथ, अनन्तराज, अमलनाथ, भूमानन्द, गोपाल, विश्वनाथ (भय्याकाका), अण्णाबोवा हुपरीकर, रघुनाथ बुवा।

ज्ञानदेव द्वारा दिये गये उपदेश के योग-भक्ति-ज्ञान का समन्वय पण्ढरपुर में श्री पाण्डुरंगचरणों में हुआ और महाराष्ट्र के लिये पण्ढरपुर नाथपन्थ का 'पीठ' बन गया। शंकराचार्य ने भी 'महायोगपीठ' कहकर पण्ढरपुर का वर्णन किया है। नाथपन्थ का नन्हा सा पौधा पण्ढरपुर में श्रीनिवृत्ति-ज्ञानदेव ने लगाया, उस में खाद-पानी दिया नामदेव, एकनाथ, तुकाराम ने। उस पौधे का विस्तार गगनपर्यन्त गया। महाराष्ट्र में वारकरी संप्रदाय के समान विस्तीर्ण दूसरा कोई सम्प्रदाय नहीं है।

यहाँ मत्स्येन्द्रनाथ एवं गोरखनाथ के विषय में जो जानकारी दी गई उस का मुख्य आधार उत्तरभारत के पं० हजारीप्रसाद, डॉ० मोहनसिंह आदि के लिखे ग्रन्थों का है। महाराष्ट्र में नाथसम्प्रदाय की जो शाखा श्रीनिवृत्तिनाथ द्वारा रोपी गई उसका उत्तरभारत के नाथ-सम्प्रदायिक इतिहास से मेल बैठा कर अधिकृत इतिहास अभीतक बना नहीं है।

श्रीनिवृत्ति ज्ञानदेव ने भक्तिमार्ग के समन्वयपूर्वक नाथसम्प्रदाय का प्रसार किया। इन सन्तों के 'अभंगों' (मराठी पदों) में जो उल्लेख हैं, तदनुसार गोरक्षपन्थ भक्तिमार्ग के विरुद्ध नहीं था ऐसा दिखता है। उत्तरभारत में जो गोरखपन्थ प्रसिद्ध है वह केवल योगमार्गी माना जाता है ऐसा कुछ लोगों का कहना है। कबीर एवं तुलसीदास के काव्य में इस पथ का भक्ति के अनुकूल

मार्ग के रूप में उल्लेख नहीं मिलता। पर कुछ लोग कहते हैं कि गोरक्षनाथ के मार्ग में ईश्वरनिष्ठा का स्थान था इसीलिये कबीर, नानक एवं ज्ञाननाथ के मन पर गोरखपन्थ का इतना प्रभाव पड़ा।

अपने पास जितनी जानकारी है उस के अनुसार ज्ञानेश्वर महाराज भक्ति और योग की विसंगति तो नहीं ही मानते थे बल्कि उन में भक्ति और योग का उत्कृष्ट समन्वय हुआ था।

नाथपरम्परा

- आदिनाथ
  - उमा
  - मत्स्येन्द्रनाथ
    - गोरक्षनाथ
      - गहिनीनाथ
        - निवृत्तिनाथ
          - ज्ञाननाथ अथवा ज्ञानदेव
            - विसोबा खेचर
              - नामदेव
                - चोखामेला
            - सत्यामलनाथ
              - गैबीनाथ
                - गुप्तनाथ
                  - उद्बोधनाथ
                    - केसरीनाथ
                      - शिवदिन केसरी
          - सोपानदेव
          - मुक्ताबाई
      - नागनाथ
      - भर्तृनाथ
      - माणिकनाथ
      - विलेशयनाथ
    - चर्पटीनाथ
    - रेवानाथ
    - चौरंगीनाथ
  - जालन्धरनाथ
    - कानिफनाथ
    - मैनावती
    - गोपीचन्द

महाराष्ट्र में एक दूसरी भी नाथ-धारा कही जाती है—

आदिनाथ – हरनाथ – रघुनाथ – मुकुन्दराज

४. "भाष्यकारों से राह पूछते हुए"

ज्ञा. १८।१७२२ के उक्त वाक्यांश के विषय में थोड़ा सा इतिहास देना आवश्यक है। एक जमाना ऐसा था कि ज्ञानदेव के कार्य का मूल्याङ्कन न्यून-दृष्टि से किया जाता था। कहा जाता था कि उन्होंने संस्कृतभाषा में से अध्यात्म और तत्त्वज्ञान को मराठी में ला दिया यह तो ठीक, किन्तु वह तत्त्वज्ञान कभी उन्हें शंकराचार्य का पिछलगा और उन्हीं के उपदेश का सामान्य भाषा में सारार्थ कहनेवाला बना देता है। ज्ञानेश्वरी प्राकृतग्रन्थ है वह अनपढ़ सामान्य लोगों के लिये है और भामती, पंचदशी आदि पण्डितों के लिये — ऐसा मान लिया गया था। इस प्रवाद को दृढ़ता से दूर किया – कै० गुरुवर्य जोगमहाराज ने।

जोगमहाराज ने इस विषय में कुछ लिखा नहीं। उन के मत से गीता-तात्पर्य के विषय में शाङ्कराचार्य एवं ज्ञानेश्वरमहाराज का एक ही मत है किन्तु इस का अर्थ यह नहीं कि ज्ञानेश्वरी शाङ्करभाष्य का मराठी रूपान्तर हो।

कै० श्री जोगमहाराज के वैकुण्ठवास के बाद 'ज्ञानेश्वर-दर्शित तत्त्वज्ञान स्वतन्त्र है' – यह दिखाने का प्रयत्न पं० पाण्डुरंग शर्मा ने किया। उन के (लेखों ने उस समय) वेदान्त के वाचकवर्ग में काफ़ी खलबली मचायी। पहले तो पण्डित की लेखनी और वह भी प्रतिक्रिया से भरी हुई। इसीलिये उन लेखों का स्वरूप तीक्ष्ण हो गया। ज्ञानेश्वर महाराज शंकराचार्य के पिछलगे नहीं थे, अन्य आचार्यों के ग्रन्थ भी उन्होंने देखे थे और उन की स्वयं की स्वतन्त्र प्रज्ञा थी यह दिखाने के लिये रामानुजाचार्य की अनुपपत्ति से ज्ञानदेव के अमृतानुभव के सप्तम प्रकरण का कुछ साधर्म्य पं. शर्मा ने दिखाया। उन्हों ने यह कहीं लिखा नहीं है कि ज्ञानेश्वर रामानुज के सदृश विशिष्टाद्वैती थे, फिर भी कुछ लोग कहते हैं कि पं० पाण्डुरंग ज्ञानदेव को रामानुजीयमतानुयायी मानते हैं। इस के लिये पं० पाण्डुरंगशर्मा की लेखनी ही उत्तरदायी है।

ज्ञानेश्वरी में भी ज्ञानदेव शंकराचार्य के अन्धानुयायी नहीं हैं – यह दिखाने के लिये कुछ श्लोकों का अर्थ रामानुजमतानुसार कैसा किया है यह पं० शर्मा ने दिखाया है। अपनी इस उक्ति की पुष्टि के लिये ज्ञानेश्वरी में ही उन्हें अभीष्ट प्रमाण मिल गया –

"तैसा व्यासाचा मागोवा घेतु। भाष्यकारातें वाट पुसतु।
अयोग्यहि मी न पवतु। के जाइन।।" (१८।१७२२)

'भाष्यकारां' में अनुस्वार का केवल आदरसूचक अर्थ न ले कर बहुवचन-अर्थ लिया, इस से ओवी का अर्थ हो गया 'अनेक भाष्यकारों से पथ पूछते हुए'।

इस विषय में नागपुर के सुप्रसिद्ध डॉ० शं. दा. पेंडसे ने अपने 'श्री ज्ञानेश्वरांचे तत्त्वज्ञान' ग्रन्थ के तीसरे प्रकरण में ज्ञानेश्वरी, गीता का शांकर-भाष्य तथा रामानुजभाष्य इन तीनों की अध्याय-क्रम से तुलना करके यह सिद्ध किया है कि उद्धृत ओवी में 'भाष्यकार' शब्द से शंकराचार्य ही अभिप्रेत हैं। उन के लेख का निष्कर्ष उन्हीं के शब्दों में :

"कुल २१८ स्थलों की तुलना करने पर दिखाई दिया कि १४६ स्थानों पर शंकर एवं ज्ञानेश्वर के तत्त्वज्ञान तथा अर्थ की दृष्टि से सदृश टीका हुई है। उन में से ४२ स्थानों पर ज्ञानेश्वर ने शंकर की ही शब्दावली कही है, १० जगह दोनों के दृष्टान्त भी समान हैं, ५७ जगह शंकर का अर्थ लेकर उस में रामानुज का अर्थ भी लगा दिया है। ६८ जगह उन दोनों का ही अर्थ न लेते हुए ज्ञानदेव ने स्वतन्त्र अर्थ किया है। ३८ स्थानों पर तो शंकराचार्य से भी आगे बढ़कर निर्गुण एवं मायावादपरक अर्थ उन से भी अधिक स्पष्ट रूप से किया है। एक जगह शंकर व रामानुज के अर्थ का समुच्चय किया है; और केवल चार जगह शंकर का अर्थ छोड़कर रामानुज का अर्थ स्वीकारा है।

तत्त्वज्ञान की दृष्टि से शंकराचार्य का विरोधी एक भी स्थल नहीं है। शंकर को छोड़ कर रामानुज का अनुसरण करने के स्थल तत्त्वज्ञान की दृष्टि से महत्त्व के नहीं हैं। फिर रामानुज के अनुसार जिन ६ स्थलों पर अर्थ किया है उन में से ५ स्थल ऐसे हैं जहाँ का अर्थ ज्ञानेश्वर को स्वतन्त्र रूप से सूझा होना सम्भव है। उदाहरणार्थ – (१) 'आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनम्' (गी. २।२९) इस श्लोक पर 'दिठी सूनि जयातें। ब्रह्मचर्यादि व्रतें। मुनीश्वर तपातें। आचरताति ॥' १७१ ॥ इस ओवी की तप-आचरण की कल्पना कठोपनिषद् के 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति। तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।' (२।१५) इस मन्त्र से ली गई है। उक्त गीताश्लोक भी कठोपनिषद के इसी प्रकरण का है – 'श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्य : . . . आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य श्रोता' (२।७) – इसलिये तप-आचरण की कल्पना रामानुज और ज्ञानेश्वर दोनों ने कठोपनिषद् से ली होगी। शंकराचार्य के भाष्य में यहां तप का उल्लेख नहीं इसलिये रामानुज भाष्य की छाया उक्त ओवी पर होना तुलना में दिखाया है। वस्तुतः यह कल्पना सीधे कठोपनिषद् से ही ज्ञानेश्वर को स्वतन्त्र सूझी होगी यह स्पष्ट है। ऐसे ६ स्थलों पर रामानुज एवं ज्ञानदेव में शब्दसाम्य होने पर भी तत्त्वज्ञान के महत्वपूर्ण ५७ स्थलों पर रामानुज को छोड़ कर

शंकराचार्य का अर्थ ज्ञानदेव ने स्वीकार किया है, १४६ जगह शंकराचार्य के अनुसार ही अर्थ किया है, ४२ जगह शंकराचार्य के शब्द उपयोग में लिये हैं, १२ जगह उन के ही दृष्टान्त लिये हैं और २-३ जगह शाङ्करभाष्य का अनुवाद किया है। ये तथ्य ध्यान में रखें तो 'भाष्यकारांते' शब्द में शङ्कराचार्य ही अभिप्रेत प्रतीत होते हैं।"

डॉ० पेंडसे का निष्कर्ष उचित है ऐसा मेरा भी मत है। पर मुझे लगता है कि इस चर्चा को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया गया है। ज्ञानेश्वर महाराज के तत्त्वदर्शन पर औपनिषदीय तत्त्वज्ञान, नाथपन्थीय तत्त्वज्ञान के साथ-साथ शङ्कर-तत्त्वज्ञान का भी प्रभाव पड़ा है यह निर्विवाद तथ्य है। अयथार्थ आरोप के निराकरणार्थ उतने ही बलशाली प्रमाण देना आवश्यक होने से डॉ० पेंडसे का सपरिश्रम प्रयत्न स्तुत्य है। फिर भी मुझे ऐसा लगता है कि उक्त 'तैसा व्यासाचा मागोवा घेतु' ओवी का मूल्यांकन जैसा होना चाहिये था वैसा हुआ नहीं है।

(१) ज्ञानेश्वर अतीव विनयशील व्यक्ति थे; उन का कर्तृत्व उन के गुरुदेव श्रीनिवृत्तिनाथ का ही है—ऐसा वे स्थान-स्थान पर बहुत नम्रता व भावपूर्ण रीति से कहते हैं। ज्ञानदेव में लीनता (नम्रता) है पर दीनता नहीं। प्रसंग आने पर शालीन अभिमानपूर्वक सत्य कहने में वे कतराते नहीं। 'मराठी के इस नगर में मैं ब्रह्मविद्या का सुकाल ला दूं' ऐसी गुरुदेव की प्रार्थना करते हुए वे 'मेरे मराठी शब्दविन्यास कौतुक से स्पर्धा में अमृत को भी जीत लें ऐसे रसिक अक्षरों का विनियोग करूँगा'—यह कहते हैं। 'मानो टिटिहरी चोंच से सागर उलीचने चली हो ऐसे मैं अज्ञान यहाँ प्रवृत्त हो रहा हूँ'—ऐसा विनयवचन कहने वाले ज्ञानदेव गीता एवं अपनी टीका के विषय में यह भी कहते हैं कि 'अलंकार धारण किया हुआ शरीर सुन्दर है और अलंकार भी उत्कृष्ट हैं—ऐसी स्थिति में कौन किस की शोभा बढ़ा रहा है—यह कहना जैसे कठिन है, वैसे मूल संस्कृत गीता उत्तम और उस पर साहित्यभरी मेरी देशीभाषा की टीका भी उत्तम। ये दोनों इतनी समकक्ष हैं कि अर्थ समझने में यदि कोई दोनों की तुलना करने लगे तो उसे क्षणभर यह भ्रम हो सकता है कि मूल कौन है—मूलसंस्कृत पर मराठी टीका है या मूल मराठी का सार संस्कृत में लिखा है? मूलके निर्णय में कठिनाई हो सकती है।' (ज्ञा. १०।७३-७४)

(२) अठारहवें अध्याय के उपसंहार में 'तैसा व्यासाचा' से आगे ही ज्ञानदेव के ऐसे उद्‌गार हैं कि मैं भले अयोग्य होऊँ पर मेरे गुरु निवृत्तिनाथ तो सर्वथा समर्थ हैं। वे मेरे पृष्ठपोषक हैं फिर मैं मराठी में भलीभाँति गीता कह सकूं इस में क्या आश्चर्य? उन की कृपा से तो मेरे श्वासोच्छ्वास भी

काव्यग्रन्थ बन सकते हैं . . .' इत्यादि। इसलिये 'भाष्यकारांते वाट पुसतु' का महत्त्व कम ही रह जाता है।

(३) अपनी गीता पर टीका कैसी है इस विषय में ज्ञानदेव स्वयं ही कहते हैं–"श्रीगुरु कृपा से क्या नहीं हो सकता? वह कृपा मुझ पर है इसलिये लोग समझ सकें ऐसी स्पष्ट रीति से संस्कृतगीता का अर्थ मराठी में ले आया हूँ। किसी का संस्कृत भाषा में प्रवेश न हो और केवल मेरी टीका से गीतार्थ समझने का प्रयत्न करे तो वह किसी घाटे में नहीं रहेगा, पूरा गीतार्थ सम्यक् समझ सकेगा। संस्कृत गीता का अर्थ कह कर उस पर मेरी टीका कही तो यह अलंकाररूप होगी अर्थात् संस्कृत का अर्थ खोल कर दिखायेगी। केवल टीका ही कहें तो संस्कृत गीतार्थ कहने का काम भी स्वयं हो जायेगा। बल्कि उस से बढ़कर होगा। कलात्मक आभूषण स्वयं ही सुन्दर होते हैं, फिर सुन्दर अंगों में धारण किये हुए हों तो कहना ही क्या? जैसे मोती अपने आप में सौन्दर्यमय होते हैं फिर स्वर्ण में जटित हों तो स्वर्ण की शोभा बढ़ाते हैं। अथवा वसन्त ऋतु के प्रारम्भ में गठे हुए मोगरे के फूल गजरे में गुंथे हों या छुटे हों उन के सौरभ में कोई अन्तर नहीं होता, वैसे ही संस्कृत गीता के साथ यह मराठी टीका कही जाय अथवा अकेली टीका ही कही जाय–अर्थशोभा में कोई अन्तर नहीं होगा। ऐसा दोनों प्रकार से लाभप्रद ग्रन्थ ओवीछन्द में मैंने रचा है।" (१८। १७३४–४१)

ऐसे आत्मविश्वास से बोलने वाले ग्रन्थकार 'भाष्यकारों से मार्ग पूछने' 'उन का पदानुसरण करने' की बात कहें तो वह विनयसूचक ही है–यह वाचक के लिये स्पष्ट हो ही जाता है।

(४) एक स्थान पर ज्ञानेश्वर महाराज ने दिखाया है कि अर्जुन का प्रश्न व्यासमुनि को किस प्रकार व्यक्त करना चाहिये था। वह प्रसंग अ. १४ श्लो. २१ पर की (३२०-२६) ओवियों में है।

अर्जुन उवाच– कैर्लिङ्गैस्त्रीन् गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन् गुणानतिवर्तते।।"

इस पर ज्ञानेश्वर कहलाते हैं कि "गुणातीत कैसा आचरण करता है? यह प्रश्न ही गलत है। क्योंकि 'गुणातीत' हो तो 'आचरण कैसा' यह प्रश्न सम्भव नहीं। किन्तु 'गुणातीत पुरुष गुणों का व्यवहार करता हुआ प्रतीत होता है तब वह गुणों के आधीन है या नहीं; यह कैसे पहचानें! –ऐसी तेरी शंका हो तो उत्तर देता हूँ।"

तात्पर्य यह कि व्यास को भी प्रश्न कैसे रखना चाहिये था यह सुझाने वाले लेखक जब पूर्वकालिक आचार्यों के चरणानुसरण की बात कहते हैं तो उन का अभिप्राय उन-उन व्यक्तियों के प्रति परम आदर तथा उन की सहा-

यता का ऋण व्यक्त करने से ही है। उन पर अवलम्बित होने से नहीं। ज्ञानेश्वर स्वतन्त्रप्रज्ञ थे।

इस सन्दर्भ में अपनी दृष्टि — (शाङ्करभाष्य व ज्ञानेश्वरी की तुलना)

(१) पं० पाण्डुरंग शर्मा के प्रमाणों में से 'भाष्यकारांते' शब्द में 'रा' पर अनुस्वार का प्रमाण तो निकम्मा है। क्योंकि सब पाण्डुलिपियों में वह अनुस्वार है भी नहीं और हो भी तो उस का अर्थ आदरसूचक करना अवश्य प्राप्त है, उसे अनेकार्थ सिद्ध करने के लिये पृथक् प्रबल प्रमाणों की आवश्यकता है। फिर प्राचीन पाण्डुलिपियों में लेखन की भूलें तो कितनी ही होती हैं, उन में एक अनुस्वार का इतना अवलम्ब लेना सार्थक नहीं। अन्य अन्तः साक्ष्यों से ही किसी प्रश्न का समाधान करना उचित है।

(२) अन्तर्गत प्रमाणों का विचार करें तो, गीता-व्याख्यान करते हुए ज्ञानदेव के पास 'सम्बोधिनी' टीका थी ऐसा नामदेव कहते हैं। वैसे ही उल्लेख न होने पर भी आज जो शंकराचार्य का गीताभाष्य नाम से परिचित ग्रन्थ है वह भी ज्ञानदेव के पास था यह निर्विवाद है। गीताभाष्य और ज्ञानेश्वरी में अन्तर सूर्यप्रकाश जितना स्पष्ट होने पर भी गीता-तात्पर्य के विषय में दोनों की एकवाक्यता है।

(१) गीताभाष्य के प्रारम्भ में शंकराचार्य कहते हैं — "तस्य अस्य गीताशास्त्रस्य संक्षेपतः प्रयोजनं परं निःश्रेयसं सहेतुकस्य संसारस्य अत्यन्तोपरमलक्षणम्। तच्च सर्वकर्मसंन्यासपूर्वकाद् आत्मज्ञाननिष्ठारूपाद् धर्माद् भवति।"

ज्ञानेश्वरमहाराज 'भक्त्या मामभिजानाति' (गी० १८/५५) पर लिखते हैं "यहाँ गीता में अविद्या का निरास विषय है, उस के द्वारा मोक्षोपलब्धि यह फल (प्रयोजन) है, इन दोनों के लिये साधन केवल ज्ञान है। इसी बात को इस ग्रंथ में विविध प्रकारसे विस्तार से कहा गया है।" (१८।१२४२-४५) — दोनों में साम्य स्पष्ट है।

(२) कहीं-कहीं अध्यायसङ्गति कहते समय आचार्य का भाष्य ज्ञानदेव के निकट होता है। जैसे — अध्याय १४ में —

"प्रकृतिस्थत्वं गुणेषु च सङ्गः संसारकारणम् इत्युक्तम्; कस्मिन् गुणे, कथं सङ्गः, के वा गुणाः, कथं वा ते बध्नन्ति इति गुणेभ्यश्च मोक्षणं कथं स्याद्, मुक्तस्य च लक्षणं वक्तव्यम् इत्येवमर्थश्च।" गीताभाष्य।

"आणि हाचि प्रकृतिगतु। सुख-दुःखभोगीं हेतु।
अथवा गुणातीतु। केवळ हा।। ३४।।
तरी कैसा पां असंगा संगु। कोण तो क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोगु।
सुखदुःखादि भोगू। केवीं तया।। ३५।।

गुण ते कैसें किती। बांधती कवणें रीती।
नातरी गुणातीतीं। चिन्हें काई ॥३६॥
एवं यया आघवेया। अर्था रूप करावया।
विषो एथ चौदाविया। अध्यायासी ॥३७॥" ज्ञा. १४.।

अध्याय १५ में–

"तत्र तावद् वृक्षरूपकल्पनया वैराग्यहेतोः संसारस्वरूपं वर्णयति, विरक्तस्य हि संसाराद् भगवत्तत्वज्ञाने अधिकारो न अन्यस्य इति॥"

"तरी विरक्तीवाचूनि केहीं। ज्ञानासि तगणें नाहीं।
हें विचारूनि ठाईं। ठेविलें देवें॥. . . .
तैसी संसारा या समस्ता। जाणिजे जै अनित्यता।
तै वैराग्य दडवितां। पाठी लागे॥. . . .
तेंचि वृक्षाकारमिषे। सांगिजत असे विश्वेशें। . . . .
(ओ. ३६-४०)

इत्यादि।

शङ्कराचार्य एवं ज्ञानेश्वर के प्रतिपादन में अन्तर

अनेक स्थल ऐसे हैं जहां ज्ञानदेव शंकराचार्य के सदृश वस्तु कहते हैं, फिर भी उन का तत्त्वज्ञान पृथक् ही है। इसलिये ज्ञानेश्वरी गीताभाष्य की मराठी आवृत्ति नहीं है यह स्पष्ट होता है।

(१) दोनों के ग्रन्थरचना के हेतु में और पद्धति में अन्तर है, एक 'अर्थनिर्धारणार्थ" लिख रहे हैं तो दूसरे 'मराठी में ब्रह्मविद्या का सुकाल करने के लिये'। इसीलिये एक कहते हैं 'संक्षेपतः विवरणं करिष्यामि' तो दूसरे 'ऐसे वाग्विलास-विस्तार' की प्रतिज्ञा करते हैं कि 'गीतार्थ से विश्व भर जाय।'

ज्ञानेश्वरी का 'भावार्थदीपिका' नाम गीतार्थ को संक्षेप में कहने का सूचक नहीं है यह तो ज्ञानेश्वरी के अध्ययन से स्वयं ही स्पष्ट हो जाता है। १५ वें अध्याय के २० ही श्लोकों पर ५९९, १३ वें के ३४ श्लोकों पर ११७० और १८ वें के ७८ पर १८१० ओवियाँ लिखी हैं। वस्तुतः 'भावार्थ दीपिका' का अर्थ है 'सार कहने वाली टीका।"

हेतु में यह अन्तर होने के कारण दोनों ग्रन्थों के प्रारम्भ में ही बहुत अन्तर है। शंकराचार्य ने पहले अध्याय का व्याख्यान किया ही नहीं, उपोद्घात लिख कर गीता का स्वरूप और टीका का प्रयोजन कह कर एकदम गीता के २/१० वें श्लोक से प्रतिश्लोक टीका प्रारम्भ की है। ज्ञानेश्वरमहाराज ने तो पहले अध्याय के भी प्रत्येक श्लोक पर टीका लिखी है।

(२) अध्यायसंगति कहने में दोनों में बहुत स्पष्ट अन्तर है। ये दोनों ही श्रेष्ठ टीकाकार गीता को काण्डत्रयनिरूपिणी मानते हैं और अन्य टीकाकारों के समान प्रथमषट्क कर्मकाण्ड, द्वितीयषट्क उपासनाकाण्ड और तीसरा ज्ञान-काण्ड – ऐसा विभाजन दोनों ही नहीं करते यह इन में साम्य है, किन्तु अध्यायों की संगति दोनों की स्वतन्त्र है।

चौथे अध्याय के प्रारम्भ में शंकराचार्य कहते हैं –

'गीतासु च सर्वासु अयमेव योगो विवक्षितो भगवता
अतः परिसमाप्तं वेदार्थं मन्वानः तं वंशकथनेन स्तौति।'

ज्ञानेश्वरमहाराज यहाँ विशेष न कह कर सम्पूर्ण अठारह अध्यायों की संगति कहते हुए कर्मकाण्ड और देवताकाण्ड का सेतुरूप इस अध्याय को बताते हैं। अध्याय-संगति का वह स्थल (ओ. १४३४-५५) ज्ञानदेव की स्वतन्त्र प्रज्ञा का परिचायक है।

(३) अध्यायसंगति के समान श्लोकसंगति में भी दोनों की अभिव्यक्तियाँ स्वतन्त्र हैं। उदाहरणार्थ – सम्पूर्ण गीता कहने के बाद श्रीकृष्ण अर्जुन से पूछते हैं – 'कच्चिदेतद् श्रुतं पार्थ . . .' इस पर दोनों की टीका देखने योग्य है। यह प्रश्न क्यों किया – इस पर आचार्य लिखते हैं – शिष्यस्य शास्त्रार्थग्रहणाग्रहण-विवेकबुभुत्सया पृच्छति, तदग्रहणे ज्ञाते पुनः ग्राहयिष्यामि उपायान्तरेण इति प्रष्टुः अभिप्रायः। यत्नान्तरम् आस्थाय शिष्यः कृतार्थः कर्तव्यः इति आचार्यधर्मः प्रदर्शितो भवति।'

ज्ञानेश्वरमहाराज यहाँ अन्य ही वस्तु कहते हैं – (१८–१५४०-५२) 'कहो तो पाण्डव! यह सम्पूर्ण शास्त्रसिद्धान्त तूने एकचित्त हो कर सुना तो समझ में बैठ गया या नहीं? मैं ने गीताशास्त्र जैसा तेरे कानों तक पहुँचाया वैसा तेरे चित्त में पहुँचा या नहीं? या कि बीच में ही कुछ छूट-बिखर गया? या उपेक्षा से तिरस्कृत हुआ? यदि वैसा का वैसा तेरे अन्तःकरण में पहुँचा है तो शीघ्र कहो कि स्वरूप के अज्ञान से उत्पन्न हुआ जो मोह तुझे भ्रम में डाले हुए था वह अब भी है या नहीं? 'अमुक कर्म मैं करूँगा या नहीं करूँगा, ऐसा कर्म-अकर्म का कर्ता तू अभी भी अपने आप को देखता है क्या? अर्जुन पूर्ण आत्मानन्द रूपी रस में घुल कर विलीन हो जायेगा – इसलिये इस प्रश्न के बहाने उसे भेददशा में ला रहे हैं। अर्जुन ब्रह्मस्वरूप हो गया है पर आज का कार्य साधने के लिये श्रीकृष्ण उसे देहस्मृति की मर्यादा लाँघने नहीं दे रहे हैं। अन्यथा क्या वे अपने उपदेश का परिणाम जानते न थे? . . .

अन्तिम श्लो० ७७ और ७८ के मध्य की संगति भी दर्शनीय है। ७७ में संजय कहता है "हरि के उस अतिशय अद्‌भुत रूप का मुझे पुनः पुनः स्मरण हो रहा है और पुनः पुनः अतीव हर्ष पा रहा हूँ। फिर ७८ में कहता

है कि जहाँ योगेश्वर कृष्ण और धनुर्धर पार्थ हैं वहाँ श्री, विजय, ऐश्वर्य और नीति ये अटल एवं निश्चित हैं ही हैं–ऐसी मेरी समझ है।" यहीं गीता पूर्ण होती है यह सभी जानते हैं।

संजय ने यह अन्तिम वाक्य क्यों कहा इस विषय में शङ्कराचार्य ७७ वें श्लोक के बाद केवल 'किंबहुना' कह कर ७८ वां श्लोक ले लेते हैं। ज्ञानदेव यहाँ विस्तारपूर्वक नवीन ही श्लोकसंगति देते हैं। (१८-१६१०-३०) अर्जुन ने जब 'नष्टो मोहः . . .' कहा उस के बाद संजय पूरे गीतासंवाद का समग्र वर्णन करने लगा; 'श्रीव्यास की कृपा से मुझे यह सुनने-देखने को मिला' अपार धन्यता सौभाग्य अनुभव करता हुआ 'वे मेरे गुरु हैं' ऐसा कहने लगा। पर ज्यों-ज्यों वर्णन करता गया त्यों त्यों उसे श्रीहरि के रूप का स्मरण होने से उसका देहभान भी छूटने लगा। उस के शरीर पर अष्टसात्विक भाव उत्पन्न हुए और वह बारम्बार सगद्गद् 'श्रीकृष्ण-श्रीकृष्ण' कहने लगा।

यह देखकर धृतराष्ट्र का धीरज छूट गया क्योंकि जब तक श्रीकृष्ण-का संवाद चल रहा था तब तक उसका समाप्त होना सम्भव था, वह संवाद पूरा हो गया तो संजय रुकने के बजाय ऐसा विभोर हो गया कि धृतराष्ट्र को ही कहने लगा कि 'स्वस्थ कैसे बैठे हैं?' संजय की अवस्था की धृतराष्ट्र को कल्पना ही नहीं। वह बोला–'अरे युद्ध में कब क्या हो रहा है वह बताने के लिये व्यास ने तुझे यहाँ बैठाया है–पर तू यह क्या-क्या अप्रसंग बोलने लगा: ज्ञानेश्वरमहाराज ने राजा के इस प्रश्न का कारण बताया (१८। १६२३-२६) कि जिसे जिस का महत्त्व ज्ञात नहीं उसे वह विपरीत ही प्रतीत होता है जैसे अरण्यवासी को बड़े महल में उदासी, पिशाचों को उजाले में रात्रि नजर आती है। इसीलिये राजा ने फिर अपनी ही बात के अनुसार प्रश्न किया कि 'इस युद्ध में जीत किसकी होगी–यह बता! मुझे तो लगता है दुर्योधन का बल-प्रताप अधिक है इसलिये वही जीतेगा। तेरा ज्योतिष क्या कहता है?'

इस प्रश्न से संजय को चमत्कारिक परिस्थिति हुई। यदि वह सीधे कह दे कि पाण्डवों की विजय होगी तो मालिक को वह रुचेगा नहीं। सत्य बोलना है पर प्रिय बोलना चाहिये, पर प्रिय भी असत्य नहीं बोलना चाहिये। इसलिये उस ने तदनुरूप भाषा में अपना मत कहा–'यत्र योगेश्वरः कृष्णो . . . .' यह हुई श्लोकसंगति। इस श्लोक की टीका अप्रतिम है। ज्ञानेश्वर महाराज की स्फूर्ति (सूझ) में मानो यहाँ ज्वार आ गया है। संजय अपना निश्चय व्यक्त करने के लिये एक के बाद एक उत्कृष्ट दृष्टान्त देकर अन्त में कहता है कि जहाँ 'विजयी' नाम से विख्यात अर्जुन और 'विजयस्वरूप' श्रीकृष्ण स्वयं हैं वहाँ 'जय' स्वतः सिद्ध ही है।

(४) श्री शङ्कराचार्य एवं ज्ञानेश्वर दोनों के ही मत में मोक्ष का कारणभूत संन्यास 'ज्ञानप्रधान' है, किन्तु 'आश्रम' रूप संन्यास के विषय में दोनों में कुछ अन्तर है। शङ्कराचार्य संन्यास आश्रम को जितना महत्व देते हैं उतना ज्ञानेश्वरमहाराज नहीं देते वल्कि वे तो कहते हैं –

'जैसे धोकर पहला एक। वहीं लगायें दूसरा लेप। . . . . .

(ज्ञा. ६।४९-५१)

(५) चातुर्वर्ण्य के प्रति दृष्टि में दोनों में भेद है यह गीता के १८।४१ श्लोक (ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप) की टीका में स्पष्ट दिखाई देता है –

शंकराचार्य लिखते हैं – "ब्राह्मणाः च क्षत्रियः च विशः च ब्राह्मणक्षत्रियविशः तेषां ब्राह्मणक्षत्रियविशां, शूद्राणां च, शूद्राणाम् इति असमासकरण एकजातित्वे सति वेदे अनधिकारात् . . . कर्माणि व्यवस्थापितानि।"

ज्ञानेश्वर कहते हैं –

गुणों से बनी देवत्रयी। गुणों से हुई लोकत्रिपुटी।
बने चतुर्वर्णों के भी। विभिन्न कर्म।। . . .
जिन में मुख्य ब्राह्मण। . . .
चौथा जो शूद्र। उसे नहीं वेदाधिकार।
वर्णत्रय के अधीन। वृत्ति उस की ।। . . .
जैसे फूलों के संग से। तन्तु भी सूंघे जाते।
वैसे शूद्रको भी द्विज-संग से। स्वीकारे श्रुति।।" (१८।८१७-२२)

ज्ञानेश्वरी उत्कृष्ट काव्य है। रोगी को रुचिकर लगे इसलिये वैद्य जैसे मधुर अनुपान में औषध देते हैं वैसे इस ब्रह्मरस का सेवन सब लोग रुचिपूर्वक कर सकें इस के लिये 'ज्ञानोबा'-मैया ने मधुरातिमधुर काव्य के अनुपान में यह रस परोसा है। श्रीशंकराचार्य का भाष्य उत्कृष्ट अवश्य है किन्तु उसे कोई 'काव्य-सम्राट्' नहीं कह सकता।

दोनों महापुरुषों के व्याख्यानों में हमें जो अन्तर दिखाई देता है उस में उन की व्यक्तिगत वृत्ति एवं कौटुम्बिक परिस्थिति भी कारण अवश्य है, साथ ही जिस काल में व्यक्ति का जन्म होता है उस काल का सामान्य वातावरण भी कारण बनता है शैली व निरूपण के निर्माण में। यहाँ पर दोनों परम वन्दनीय विभूतियों के व्याख्यानों का अन्तर दिखाने का हेतु इतना ही है कि 'भाष्यकारों से राह पूछते हुए' का अर्थ श्रीज्ञानदेव के व्यक्तित्व को लक्ष्य में रखते हुए किया जाय।

५. श्रीज्ञानेश्वरी का 'पन्थराज' अथवा कुण्डलिनीयोग

"हैं जिस मार्ग के जोगी। महेश आज भी।।" (ज्ञा. ६-१५३)

श्रीज्ञानदेव ने ज्ञानेश्वरीग्रन्थ का प्रणयन निज विद्वत्ताप्रकाशन के लिये नहीं वल्कि विवेक-वाणी उद्घोषित करने, ब्रह्मविद्या प्रगट आविर्भूत करने के लिये किया। गहरी आकूति से प्रेरित वक्ता या लेखक स्वयं को जो कहना है उस के लिये अवसर निकाल ही लेता है। इसीलिये श्रीमद्भगवद्गीता की टीका में आत्मसाक्षात्कार-विषयक विभिन्न साधनों की चर्चा हुई है और उन के निरूपक हैं स्वयं अनुभवी-सम्राट्। इसीलिये यह ग्रन्थ अध्यात्म-ग्रन्थों में सर्वोत्कृष्ट बन पड़ा है। ज्ञानेश्वरी साक्षात् 'ईश्वरदर्शन' ही है– यह कहने से अतिशयोक्ति न होगी।

एक स्थान पर ज्ञानेश्वर महाराज ने अपने नाथ-सम्प्रदाय का रहस्य कहने का अवसर निकाल लिया है; वह प्रसङ्ग मूल गीता का नहीं है, यह भान भी उन्हें भलीभांति है–"पिण्ड से पिण्ड का ग्रास करना यह हमारे नाथसंकेत (सम्प्रदाय) का एक 'दंश' (रहस्य) है। महाविष्णु (श्रीकृष्ण) ने 'प्रशान्तात्मा . . .' इत्यादि दो-तीन श्लोकों में इस का हल्का-सा उल्लेख किया है, यहाँ श्रोतृमण्डली इस विषय की विशेषज्ञ और प्रेमी है इसलिये उस रहस्य को थोड़ा खोल कर मैं आप के समक्ष स्पष्ट रख रहा हूँ, यद्यपि यह गीता का मुख्य विषय नहीं है" (ज्ञा. ६।२९१-९२) इस से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि 'नाथ सम्प्रदायान्तर्गत साधनामार्ग व पद्धति ही गीता का प्रतिपाद्य-विषय है' यह मानना भ्रान्ति है। उसी प्रकार द्वादशाध्याय में 'क्लेशोऽधिकतरस्तेषाम्' पर व्याख्या करते हुए जो कहा कि योगमार्ग की साधना दन्तहीन मुख से लोहे के चने चवाने जैसी कठिन है–उस पर से ज्ञानदेव की दृष्टि में योगमार्ग को तिरस्करणीय मान लेना भी भ्रान्ति ही नहीं विपरीत कल्पना है। क्योंकि गीता में जहाँ-जहाँ साधना के विशेष विवरण का प्रसंग आया है वहाँ-वहाँ ज्ञानदेव योग का ही उल्लेख करते हैं। फिर गीता में ही जहाँ योग-साधन कहा गया वहाँ ज्ञानेश्वर 'योग का योग' कह कर विवरण करते हैं। उदाहरणार्थ कुछ स्थल देखें।:–

(१) 'ज्ञानयोगव्यवस्थितिः' गी. १६।१ – इस पर टीका करते हुए शंकरानन्द कहते हैं – 'ज्ञानम् एव योगः ज्ञानयोगः श्रवणमननादिस् तत्रैव मनसो विशिष्य अवस्थितिः सदा तदेकप्रावण्यम्।।' ज्ञानेश्वर इस के व्याख्यान में कहते हैं—

आत्मलाभ के विषय में। ज्ञान योग में से किसी में।
निजरुचि के अनुसार लगे। पूरे बलसे ।। (१६।८१)

(२) 'बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः' (गी. ४।१०) पर भी 'ज्ञानमयं तपः' ऐसा परम्परागत अर्थ किया जा सकता था किन्तु 'ज्ञानदेव कहते हैं –

जो यम-नियम में पारंगत। तपोज्ञान से प्रक्षालित।
वे साक्षात् हुए मद्रूप। निःसंशय ।। (ज्ञा. ४/६५)

उन का स्पष्ट मत था कि ज्ञान से मोक्ष मिलता है यह सत्य है किन्तु, केवल शाब्दिक या बौद्धिक ज्ञान से नहीं, अनुभवात्मक ज्ञान से ही मिलता है। उस के लिये बौद्धिक प्रयत्न को योग के साहाय्य की अपेक्षा रहती है। श्री शंकराचार्य ने कहा है –

"योगेन रहितं न मोक्षाय भवेद् विधेः।
ज्ञानेनैव विना योगो न सिद्धयति कदाचन।
तस्माज्ज्ञानं च योगं च मुमुक्षुर्दृढमभ्यसेत्।
जन्मान्तरैश्च बहुभिर्योगो ज्ञानेन लभ्यते ।।"

यही मत ज्ञानदेव का भी है इसीलिये स्थान-स्थान पर योग-विषय में सहज ही गौरवपूर्ण उद्गार निकले हैं।

श्रीज्ञानेश्वर द्वारा साधन-विषयक उल्लेख :–

गी. १५।१५ 'सर्वस्य चाहम् . . .' की टीका में

'पर रहते हुए सन्त-समीप। करें योग-ज्ञानाभ्यास।
हों उपासित गुरुचरण। वैराग्यसहित ।। (१५।४२२)

गी. ७।१४ 'मायामेतां तरन्ति ते' – इस की व्याख्या में मायानदी को तैरना कितना कठिन है यह दिखाते हुए कहा कि कर्म, वैराग्य, विचार आदि का वहाँ वश नहीं चलता फिर योग-विषय में इतना ही कहा कि –

'जहाँ न चले वैराग्य की नाव। विवेक न पा सके थाह।
योग तारे किसी प्रकार। क्वचित् ही ।।७/९१।।

गी. १८:५२ 'ध्यानयोगपरो नित्यं . . .' पर कहा –

'अतएव मुमुक्षु वह। आत्मज्ञान में हुआ दक्ष।
फिर अपनाता पक्ष। योगाभ्यास का ।। १०३५।।

जहाँ पर साधनयोग थोड़े विस्तार से कहने का प्रसंग आया वहाँ ज्ञानदेव ने ६ ठे अध्याय में जिसे 'पन्थराज' कहा है उसी महायोग या कुण्डलिनी-योग का ही उल्लेख किया है। दर्शनीय – ज्ञा. ६।१५३-६३ ९।२१४, १२।५, १२।५१, १८।१०३८।

महायोग :

'कुण्डलिनी जगा कर' जिस मार्ग पर चला जाता है उसे वे 'पन्थराज' कहते हैं। उस का थोड़ा स्वरूप देखें।

संस्कृतग्रन्थों में इस मार्ग का नाम 'महायोग' है —

'मन्त्रो लयो हठो राजयोगोऽन्तर्भूमिका क्रमात्।
एक एव चतुर्धाऽयं महायोगोऽभिधीयते ।।
(योगशिखोपनिषद्)

सामान्यतया मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग पृथक् हैं ऐसा समझा जाता है। वस्तुतः वैसा नहीं है। इन चारों के द्वारा कुण्डलिनी ही जागृत होती है और साधक का कार्य होता है। इसीलिये कुण्डलिनी-जागृति को 'महा-योग' अथवा 'सिद्ध उपाय' ऐसी संज्ञा दी गई है। पूर्व-सुकृत से, ईश्वरप्रसाद हो कर सद्गुरुकृपा प्राप्त हो कर यदि कुण्डलिनी जागृत हुई तो इस सुख का अनुभव आयेगा।

"योगस्तु, द्विविधो ज्ञेयो ह्यभावः परमो मतः।
अपरस्तु महायोगः सर्वयोगोत्तमो मतः ।।
शून्यं सर्व-निराभासं स्वरूपं यत्र चिन्त्यते।
अभावयोगः स प्रोक्तो येनात्मानं प्रपश्यति ।।
यत्र पश्यति चात्मानं नित्यानन्दं निरञ्जनम्।
मयैक्यं स महायोगो भाषितः परमः स्वयम् ।।"
— श्रीमहेश्वरोक्त।

कुण्डलिनी जागृत-होने पर आगे का मार्ग सहज हो जाता है, अभ्यास ही अभ्यास को बढ़ाता है। इस विषय में ज्ञानेश्वरी में उल्लेख ६।१८६-२०७।। कुण्डलिनी जागृत अर्थात् क्रियाशील होने पर जो कुछ घटित होता है उस का विशद वर्णन छठे अध्याय में तथा ग्यारहवें अध्याय में अर्जुन को दिव्यदृष्टि मिलने के प्रसंग में किया है। (११।१८७-९४)

इस पन्थराज एवं महाराष्ट्रीय शक्तिसम्प्रदाय का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। आद्यशंकराचार्य ने पाण्डुरंगाष्टक में पण्ढरपुर को 'महायोगपीठ' कहा है। पण्ढरपुर में श्री विट्ठल-चरणों में श्रीज्ञानदेव, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम सभी सन्त एकत्र हुए हैं इसका मर्म यही है कि वह 'महायोगपीठ' है।

योग से होने वाले अनुभव भक्तियोग में भी आते ही हैं। विशुद्ध सगुण-भक्ति में अन्तर्बाह्य रसमय हुए, लोकदृष्टि में निरक्षर और 'बहुतों ने बहुत प्रकार के साधना-आचरण किये हैं, मेरा तो काम कीर्तन बिना नहीं चलता कीर्तन ही मेरा आचरण (साधना) है' कहनेवाले सन्त तुकाराम की वाणी

(अभंगों) में उनका स्वानुभव-निवेदन सिद्धयोगी के अनुभवों का ही शब्दांकन है। उस अनुभववाणी का भाषानुवाद रसभंग न करे अतः कुछ अभंग तथा अंश यथावत् उद्धृत हैं :

"स्थिरावली वृत्ति पांगुळला प्राण। अंतरीची खूण पावूनियाँ ॥ १ ॥
पांगुळलें नेत्र जालें अर्धोन्मीलित। कण्ठ सगद्गदित रोमांच आले ॥ २ ॥
चित्र चाकाटलें स्वरूपामाझारीं। न निघे बाहेरी सुखावले ॥ ३ ॥
सुनील प्रकाश उदैजला दीन। अमृताचे पान जीवनकळा ॥ ४ ॥
शशिसूर्या जाली जीवें ओवाळणी। आनंदा दाटणी आनंदाची ॥ ५ ॥
तुका म्हणे सुखें प्रेमेंसी डुलत। विरलों निश्चित निश्चितीने ॥ ६ ॥

× × ×

लक्षूनियाँ योगी पहाती आभास। तो दिसे आम्हांस दृष्टीपुढे ॥ १ ॥
कर दोनी कटीं राहिलासे उभा। सावळी हे प्रभा अंगकांती ॥ २ ॥

× × ×

रक्तश्वेत कृष्णपीत प्रभा भिन्न। चिन्मय अञ्जन सूदलें डोळाँ ॥ १ ॥
तेणें अंजनगुणें दिव्यदृष्टि झाली। कल्पना निमाली द्वैताद्वैत ॥ २ ॥

× × ×

अनुहातीं गुंतला नेणें बाह्यरंग। वृत्ति येतां मग बळ लागे ॥ १ ॥
मदें मातें तया नाहीं देहभाव। आपुले अवयव आवरितां ॥ २ ॥
आणिकांची वाणी वदे तेणें मुखें। उपचार दुःखें नाटवती ॥ ३ ॥
तें सुख बोलतां आश्चर्य या जना। विपरीत मना भासतसे ॥ ४ ॥
तुका म्हणे बाह्य रंगलें विठ्ठलें। अंतर निवालें ब्रह्मरसें ॥ ५ ॥

× × ×

पाण्डुरंगे सत्य केला अनुग्रह। निरसोनि संदेह बुद्धिभेद ॥ १ ॥
जिवाशिवा शेज रचिली आनंदें। औटावेपदीं आरोहण ॥ २ ॥
निजीं निजरूपीं निजविला तुका। अनुहतें बाळका हल्लरु गाती ॥ ३ ॥

× × ×

कंठीं धरला कृष्णमणि। अवघा जनीं प्रकाश ॥
बोल नाइके कोणाचे। कथे नागवाचि वाचे ॥

× × ×

सुखें मी निजलों गा शून्य सारोनि तेथें।
त्रिकूटशिखरीं गा दान मिळे आइतें ॥

× × ×

मागोनि आलीवाट। सिद्ध ओळखीची तैसी।
तरले तरले गा। आणीक विश्वासी।।

× × ×

जाईन सिद्धपंथे। अवघ्या चुकतील खेपा।।

× × ×

ऊर्ध्वमुखे आळविला। सोहंशब्दाचा नाद।
अरूप जागविला। दाता घेउनिया छन्द।
घेउनि आला दान। निजतत्त्व निजबोध।
स्वरूपीं मिळविलें। नांव ठेविला भेद।।

× × ×

अतः योग एवं भक्ति में फलतः भेद नहीं है। भगवान् जब एक ही हैं तो उन का सच्चा अनुभव जिन्हें आता है उन के अनुभवों में अधिक अन्तर कैसे हो सकता है? भेद की अपेक्षा साम्य होना ही स्वाभाविक है।

६. श्री ज्ञानेश्वरमहाराज की गीता के प्रति दृष्टि

श्रीमद्भगवद्गीता कही गई पांच हजार वर्ष पूर्व; किन्तु उसकी ताजगी अभी भी कायम है। महाभारत-प्रणेता व्यास के पश्चात् भारत में हुए सभी महान् आचार्यों (आद्य शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य, निम्बार्काचार्य) भारत के विभिन्न प्रान्तों में हुए मध्ययुगीन सन्त अर्वाचीन काल के मनीषी विचारक (लोकमान्य तिलक, श्रीअरविंद, महात्मा गांधी, विनोबा) – सभी एक विषय पर एकमत हैं कि गीता शिरोधार्य ग्रन्थ है। ज्ञानेश्वर-वाणी में कहें तो –

'अतः सुज्ञ और सामान्य। एक गीता का करें सेवन।
अन्य शास्त्रों से प्रयोजन। क्या रहे।।' ज्ञा. १८।१६९५।।

गीता का यह अनन्यसाधारण महत्त्व केवल अपने सामने आये हुए सन्दर्भ – एक ही गोत्र के दो विभागों को परस्पर युद्ध के लिये उद्यत देख कर विषाद ग्रस्त हुए एक महायोद्धा को उसके मित्र एवं सम्बन्धी एक व्यवहारचतुर, कर्म-कुशल, प्रबुद्ध व्यक्ति द्वारा उपदेश – इतने स्वरूप का ही नहीं है।

गीता की ओर देखने की दो दृष्टियाँ हैं। एक – महाभारत कथा के उक्त प्रसंग की दृष्टि। दूसरी – गीता भारत-कमल-पराग अवश्य है, किन्तु केवल प्रासंगिक – उपदेशात्मिका नहीं है। मानव-जीवन के जो शाश्वत मूल्य हैं उन का वस्तुनिष्ठ पद्धति से जिस में विचार हुआ है – ऐसा शास्त्र होने की दृष्टि।

दोनों दृष्टियों का अपना-अपना महत्त्व है। भारतीय इतिहास के एक अतिमहान् तथ्य की निरूपिका होने से पहली का महत्त्व है। और वेद-उपनिषदों से चली आती हुई अध्यात्मशास्त्रपरम्परा का एक दैदीप्यमान प्रदीप होने के नाते दूसरी दृष्टि का महत्त्व है।

यहाँ स्वयं श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि 'यह जो मैं कह रहा हूँ यह गुह्यतम शास्त्र है' (गी. १५।२०) यहाँ 'शास्त्र' शब्द का अर्थ स्पष्ट करना अच्छा होगा। 'शास्त्र है' अर्थात् कहानी तो नहीं ही है, पर किसी विशिष्ट मानव-समूह के लिये विशिष्ट स्थल-काल को लक्ष्य में रखते हुए कहा हुआ बोध-प्रतिपादन भी नहीं है। 'शास्त्र' यानी सब के लिये सर्वदा सब कालों में जो सत्य है – उस की शोध। इस का सूचन शब्दों में देखें तो – गीता में 'श्रीकृष्ण उवाच' नहीं कहा 'श्रीकृष्णगीता' भी नहीं कहा 'श्री भगवान् उवाच' श्रीमद्-भगवद्गीतासु उपनिषत्सु' कहा गया है। अर्थात् यह परमात्मा एवं मानव का संवाद है यह सूचित किया गया है।

यह शास्त्र किसे सुनाया जाय? किसे न कहा जाय? इस के पठन का उपयोग और फल क्या है? इत्यादि अनुबन्ध-चतुष्टय का कुछ-कुछ विचार पन्द्रहवें (श्लो. २०) अध्याय तथा अठारहवें (श्लो. ६७-७१) अध्याय में कहा गया है। इस का भी स्पष्ट तात्पर्य है कि जो गीता अपने सम्मुख है वह केवल अर्जुन के लिये उपयोगी प्रासंगिक संवाद नहीं है। जीवन के अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्नों का वस्तुनिष्ठ एवं मूलगामी पद्धति से जिस में विचार किया गया है वह ऐसा जीवनशास्त्र है।

प्रस्तुत विषय पर विचार करने के लिये निम्नोक्त बिन्दुओं को देखना उपयोगी होगा –

(१) गीता किस प्रकार का शास्त्र है?
(२) गीता के उपक्रम-उपसंहार में क्या कहा गया?
(३) गीता के वक्ता हैं – योगेश्वर भगवान्।
(४) गीता का अधिकारी किसे कहा गया?
(५) जिन दोनों में यह संवाद हुआ उन श्रीकृष्ण एवं अर्जुन के विषय में गीता के वर्णन किस प्रकार के हैं।
(६) 'यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्' ऐसा कर्म तुझे बता रहा हूँ – ऐसा भगवान् ने कहा है।

(१) गीता अध्यात्मशास्त्र (Philosophical Science) है। शास्त्र प्रमुख रूपसे दो प्रकार के कहे गये हैं। (क) प्रयोगप्रधान (Experimental.) (ख) विचारप्रधान (Philosophical)। रसायनविज्ञान, पदार्थविज्ञान, प्राणि-शास्त्र आदि प्रयोगप्रधान हैं। जीवन की एक मर्यादित कक्षा का एक भाग

ले कर उस में प्रयोग करके आविष्कार करना और दुनिया के ज्ञान-कोष में वृद्धि करना यह उन शास्त्रों का स्वरूप है। विचारप्रधान शास्त्र जीवन की सभी कक्षाओं का समग्र दृष्टि से विचार करता है। वस्तुत: जीवन में कोई खण्ड या विभाजन नहीं है, जीवन तो एक अखण्ड समग्र है। विविध क्षेत्रों में प्रयोग करते हुए भी वह करनेवाला जीवन ही जीता है। पर अपने भी जीवन की ओर उस की दृष्टि नहीं होती। उस-उस क्षेत्र के भी जीवन सम्बन्धी प्रश्न, अन्तिम मूल्य-विषयक प्रश्न उस के मर्यादित प्रयोग-क्षेत्र के बाहर ही रह जाते हैं। जैसे कि बाह्यपदार्थ दिखता कैसे है? अमुक समय अमुक व्यक्ति द्वारा अमुक दृश्य देखना उचित है क्या? जो दिखता है वह यथार्थ है क्या? ऐसे प्रश्नों पर मानसशास्त्र, नीति, अर्थ, अध्यात्म इत्यादि विचार प्रधान शास्त्र शोध करते हैं।

अज्ञ लोगों की ऐसी धारणा है कि अध्यात्मशास्त्र का जीवन से सम्बन्ध नहीं है। यह भ्रम है। वास्तव में तो बाह्यविज्ञान और मनोविज्ञानादि जिन क्रियाओं का विचार करते हैं उन पर अध्यात्म उस से भी आगे बढ़ कर विचारता है कि वह क्रिया होती क्यों है? वह क्रिया करने वाले का स्वरूप क्या है? कौन बोलता है? बोलना कहाँ तक चालू रहता है? कब थम जाता है? क्यों थम जाता है? . . . इत्यादि। अन्य विचार-प्रधान शास्त्र भी फिर एक-एक क्षेत्र पर विचार करते हैं, तो अध्यात्म उन सब के मूल में जा कर सब का आधार बनता है। जैसे कि 'मेरा कर्तव्य क्या है?' इसका उत्तर अवलम्बित है 'मैं कौन हूँ' के उत्तर पर। 'मैं' को यदि स्थूलशरीर एवं इन्द्रियों का संघात ही समझा गया तब तो जीवन के सभी क्षेत्रों के व्यवहार में 'यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्। ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्॥' (चाहे जैसे धन, सत्ता हथियाओ और मौज उड़ाओ) की नीति आयेगी। और 'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय . . . . अन्यानि संयाति नवानि देही। और शुद्ध-बुद्ध-आनन्दस्वरूप अमर आत्मा मैं हूँ'—यह सिद्ध हुआ तब तो 'मेरा' कर्तव्य अन्य ही होगा!

गीताशास्त्र का प्रारम्भ अर्जुन के ऐसे ही धर्मनीतिविषयक कर्तव्याकर्तव्य-विषयक प्रश्न के उत्तर रूप में ही है। वह उत्तर इतने में ही पूरा हो सकता था कि 'अर्जुन! तू क्षत्रिय है, न्याय के लिये युद्ध तेरा कर्तव्य है, सो तू युद्ध कर!' किन्तु इतना ही कहते तो भगवान्-रूप गुरु मिलने का लाभ क्या होता? तब यह शास्त्र न बना होता। यहीं ज्ञानेश्वरमहाराज की गीता के प्रति दृष्टि का मर्म है। वे दृष्टान्त द्वारा सुस्पष्ट करते हुए कहते हैं—

देख कर असाध्य व्याधि। अमृतसम दिव्यौषधि।
वैद्य करे सूचित निरवधि। निदानहेतु॥ (ज्ञा. २।८६)

वैद्य रोगी के लिये औषधयोजना दो प्रकार से कर सकता है, एक त्वरित और दिखता हुआ उपसर्ग मिटा देने वाली, और दूसरी भले विलम्ब हो, पर रोग को मूल से ही निकाल देने वाली। उक्त ओवी में इसी दूसरे प्रकार का उल्लेख है। सामान्य औषध से रोग न मिटेगा जान कर अमृत जैसी अन्तिम औषधि दे रहे हैं कि कभी फिर रोग हो ही नहीं। इसीलिये गीताशास्त्र का निर्माण हुआ।

अर्जुन का प्रश्न था 'युद्ध करूँ या न करूँ?' भगवान् ने उत्तर में उसे समझाया कि हम कौन हैं। जगत् का स्वरूप क्या है? अपना जगत् से सम्बन्ध क्या है? इस जगत् का कोई कर्ता है या नहीं? . . . इत्यादि कह कर उसे ऐसा तैयार किया कि पुनः इस विषय में मोह हो ही नहीं। जिस भूमिका पर अर्जुन को पहुँचाना चाहते थे वहाँ वह पहुँच गया तब भगवान् ने कहा 'यथेच्छसि तथा कुरु।' पहले कहा था 'युद्धयस्व!' अब स्वतन्त्रता दे दी। वस्तुतः अब उस के द्वारा कुछ भी गलत हो ही नहीं सकता। यही भूमिका यथार्थ आत्मज्ञान से होती है। ऐसा ज्ञान देने वाली होने के कारण गीता ज्ञानप्रधान अध्यात्म शास्त्र है।

(२) कि"उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता रने के लिये मीमांसक ६ लिङ्गों (चिह्नों) से परीक्षा करते हैं।—

"उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये॥"—

सामान्यतया गीता के उपक्रम में कर्म से विरति (मोहजन्य) और उपसंहार में (मोह दूर होने पर) कर्म में प्रवृत्ति दिखाई देने से गीता को कर्मशास्त्र माना जाता है। किन्तु ज्ञानेश्वरमहाराज की दृष्टि से उक्त विचार अधूरा है। गीता के उपक्रम में 'मोह' है और उपसंहार में 'नष्टो मोहः।' वह मोह रूपी व्याधि असाध्य देख कर भगवान् ने उस की अन्तिम कोटि की समर्थ औषधि ब्रह्मविद्या अर्जुन को दी। ब्रह्मविद्या बिना मनुष्य सदा के लिये स्थायी रूप से निर्मोह हो नहीं सकता।

उपसंहार में अर्जुन 'अब युद्ध करूँगा' ऐसा नहीं कहता बल्कि 'आप जो कहेंगे वही करूँगा' कहता है। अर्थात् स्वतः कर्तव्यशून्य हो कर 'आप की आज्ञा के सिवा कुछ नहीं जानता'—ऐसा हो गया है। गीता के उपसंहार की इन ओवियों (१८।१५५८-६७ . . . ७१-७५) में ज्ञानेश्वरमहाराज की दृष्टि से वस्तुतः सम्पूर्ण गीता का सार समा गया है।

(३) गीता के वक्ता हैं स्वयं योगेश्वर। केवल अर्जुन का सन्देह-निवारण करने के लिये सत्रह अध्याय बोलने की जरूरत नहीं थी। अर्जुन को निमित्त बना कर समस्त जगत् के सन्देह-निराकरण के लिये ही यह सात सौ श्लोक

कहे गये। ज्ञानेश्वर महाराज ने कहा कि सम्पूर्ण विश्व पर कृपा कर के अर्जुन के व्याज से महानन्द को सुलभ कर के प्रभु ने दिया है। जैसे चन्द्र चकोर के निमित्त से त्रिभुवन का सन्ताप दूर करता है . . (१८।१६६८-८९)

(४) गीता अधिकारी को ही कही जाय – यह बलपूर्वक भगवान् ने कहा है और अधिकारी कहा है तपस्वी, भक्त, शुश्रूषु तथा श्रद्धालु को। (गी. १८-६७) ज्ञानेश्वरमहाराज द्वारा की हुई उसकी विशद व्याख्या अवश्य मननीय है। उस से सिद्ध होता है कि गीता केवल वाचा-पाठ या बौद्धिक वैभव का विषय नहीं, जीवन जीने का शास्त्र है।

(५) गीता के वक्ता हैं भगवान् श्रीकृष्ण! विवस्वान् को भी उपदेश देने वाले और जगत् के कल्याण के लिये, धर्म की संस्थापना के लिये युग-युग में अवतार लेने वाले नारायण। तथा श्रोता एवं प्रश्नकर्ता है अर्जुन – पापभय से राज्य भी त्यागना चाहनेवाला सख्यभक्ति का मूर्तरूप! अतः वेदान्त को भी पढ़ाने वाले आद्य गुरु एवं सर्वाङ्ग-अवधान बने जिज्ञासु शिष्य का यह संवाद अमर अध्यात्मशास्त्र है।

(६) भगवान् कहते हैं 'कर्म क्या है और अकर्म क्या है यह समझना बड़े ज्ञानियों के लिये भी कठिन है अतः तुझे कर्म समझाता हूँ ताकि तू अशुभ से मुक्त हो जाय।' पर कहने चले तो कर्तव्य कर्म, निषिद्ध कर्म आदि कुछ न कह कर कर्म की ओर देखने की दृष्टि ही कही जिस के द्वारा जीवात्मा कर्मपाश से मुक्त हो जाय।

इसीलिये ज्ञानेश्वरमहाराज कहते हैं कि – 'मोक्षदान में स्वतन्त्र। ज्ञान-प्रधान यह शास्त्र।' यही उन का गीता के प्रति दृष्टिकोण है।

७. ज्ञानेश्वरी लिखने का हेतु

श्रीज्ञानदेव ने ज्ञानेश्वरी क्यों लिखी? इस पर विचार करने के लिये ज्ञानदेव के समय की देश-समाज की परिस्थिति के साथ (१) वे गीता को किस प्रकार का ग्रन्थ समझते थे? (२) गीताज्ञान के प्रसार से क्या होने की सम्भावना उन की कल्पना में रही होगी? (३) गीता पर मराठी टीका लिखने का उद्यम क्यों उठाया होगा? (४) ज्ञानेश्वर का स्वभावविशेष क्या होगा? – इन सब पर विचार करना होगा।

(१) इस से पूर्व प्रकरण में देखा ही गया है।

(२) जीव के दुःख का मूलकारणभूत अज्ञान सर्वथा नष्ट करके उसे परमानन्द की प्राप्ति करा देना गीता का प्रयोजन है। ज्ञानदेव के शब्दों में

'यहाँ अविद्यानाश स्थल है, मोक्षोपादान फल है, इन दोनों का साधन है केवल ज्ञान। उसी के लिये नाना प्रकार से ग्रन्थविस्तार किया है।' (ज्ञा. १८।१२४३-४५)

(३) ज्ञानदेव कहते हैं– 'जीव का आनन्दसाम्राज्य पर अभिषेक करने में समर्थ केवल ब्रह्मविद्या है। वह पाने पर दृष्टि खुलते ही परतत्त्व का अनुभव आता है। जीव को अपेक्षित शाश्वत महासुख और किसी भी उपाय से नहीं मिल सकता। ब्रह्मविद्या के विषय में संस्कृत में तो बहुत ग्रन्थ हैं पर संस्कृत कहाँ सब को आती है? इसलिये अधिकांश जनसमाज के लिये तो वे ग्रन्थ न होने के समान ही हैं। ब्रह्मविद्या का यह अकाल दूर हो, जिसे भी ब्रह्मविद्या की अभिलाषा हो उसे वह भरपूर मिले–इसी उत्कट आकृति से मैं सारे जगत् के सामने गीता का अर्थ विस्तृत कर के रखता हूँ कि महाबोध का सुकाल हो जाय।'

द्रष्टव्य ज्ञा. १३।११५९-६१, ११।८-१०, १८।१७५६-६२॥

कहीं-कहीं यह भी कहा है कि 'गुरुदेव श्रीनिवृत्तिनाथ ने आप सब सन्तों (श्रोतृमण्डली) की सेवा करने का मुझे आदेश दिया है, आप को गीता प्रिय है इसलिए मैंने गीताग्रन्थ हाथ में लिया है।' (ज्ञा. १२।२४७, १३।३२८) अवश्य ही, यह गौण प्रयोजन है।

(४) ज्ञानदेव अतीव श्रेष्ठ आत्मानुभवी सन्त थे। उन के ग्रन्थों में प्रतिबिम्बित हुआ उन का स्वभाव कहना कठिन है; क्योंकि निजानन्द में मग्न रहते हुए वे संकेत भी नहीं होने देते कि समाज में उन पर क्या बीत रहा है। सब के कल्याण के लिये 'अपने प्राण बिछाने' वाली उन की वृत्ति सर्वदा रही होगी ऐसा स्वतःसूचित होता है। जिस शास्त्र के आधार पर ब्राह्मण-समाज ने पिता को देहान्त-प्रायश्चित्त का निर्णय सुनाया, उसे तत्काल स्वीकार करके पिता-माता के चले जाने पर भी उन की सन्तान इन चारों भाई-बहन को जिन्होंने अपनाया नहीं, तिरस्कारभरा व्यवहार किया (फिर अलौकिक चमत्कार देखकर भले ही पाँव पड़े हों, किन्तु सामाजिक सन्मान तो नहीं ही दिया) उस वेद-शास्त्र एवं वर्णाश्रमव्यवस्था के प्रति कभी भी ज्ञानदेव की वाणी में किसी भी प्रकार से रोष या अनादर का एक शब्द भी नहीं आया, प्रत्युत प्रसंगानुसार समयोचित शब्दों म उनका गुणवर्णन ही ज्ञानदेव ने किया है। कैसी अपरंपार शान्ति! जिन के कारण दुःख का पहाड़ सहना पड़ा उन के प्रति प्रेम की ही भावना रहना महान् आश्चर्य है। इस सम्बन्ध में 'तस्मात् शास्त्रं प्रमाणं ते' (गी. १६।२४) व्याख्यान मननीय है।

ऐसे 'जीवों के लिये अपने प्राण बिछाने' (ज्ञा. १३।२५०) की वृत्ति वाले महात्मा किसी सम्प्रदाय-विशेष के लिये ग्रन्थ कैसे लिखेंगे? वैसे संकुचित हेतु से ग्रन्थ लिखा गया हो तो उस की उपयोगिता व मूल्य संकुचित ही होगा।

किन्तु 'सम्पूर्ण जगत् का अभाव दूर करने, सब का कल्याण करने' की छटपटाहट जिस के हृदय में हो वह महापुरुष सब का मार्गदर्शन करनेवाला ही ग्रन्थ लिखेगा। श्रीज्ञानेश्वर के हृदय की यह सर्वकल्याणकामना ज्ञानेश्वरी के अन्त में उन के द्वारा माँगे गये प्रसाददान से भलीभाँति सूचित होती है। (१८।१७९५-९९)

ज्ञानेश्वरीकालीन परिस्थिति :

ज्ञानेश्वरी के रचनाकाल में यादववंशी राज्य था (१८।१८०४) भारत में मुसलमानों का प्रवेश हो चुका था, किन्तु महाराष्ट्र में उन का राज्य नहीं था। मुस्लिमधर्म के हाथ-पांव अभी यहाँ नहीं पसरे थे। इसीलिये गी. १८।२२ में कहे गये तामस ज्ञान के व्याख्यान में (१८।५४९-५०) विधि-निषेध न मानने वाले, निन्द्य, श्रुतिबाह्य ज्ञान को 'म्लेच्छधर्म' पर डाल दिया है। इस से सूचित होता है हमारे धर्म पर उस का स्पर्श नहीं है।

उस समय वैदिक धर्म में क्षीणता महाराष्ट्र में बौद्ध, जैन, मानभाव, लिंगायत इत्यादि धर्मों के प्रसार के कारण आ रही थी। इससे ज्ञानदेव की प्रिय संस्कृति एवं तत्त्वज्ञान के अंगों का विलय हो कर कहीं उस का रूप विकृत न हो जाय ऐसी आशंका हो रही होगी, इसीलिये अपने ग्रन्थ में वैदिकधर्म पर जोर दे कर ज्ञानेश्वर ने उस के रक्षण का प्रयत्न किया। यह ध्यान देने योग्य है कि ज्ञानेश्वरी में म्लेच्छ, बौद्ध, जैन का तो उल्लेख है पर मानभाव व लिंगायत का नामनिर्देश नहीं है; इस से सूचित होता है कि ज्ञानेश्वर की दृष्टि में उन पन्थों का इतना भी वर्चस्व तब नहीं था कि उन का उल्लेख किया जाय।

ज्ञानेश्वर ने वैदिक धर्म की रक्षा का तो प्रयत्न किया, किन्तु परधर्मियों पर चाहे जैसा आक्रमण करके नहीं, बल्कि सम्पूर्ण उदात्तता से उदार अध्यात्म कहने वाला गीता-ग्रन्थ टीका के लिये हाथ में लेकर और 'गीतार्थ से विश्व भरते' हुए। एक बार उत्तम का आस्वाद मिल जाने पर इतर ऐसे-वैसे भोज्य स्वयं ही छूट जाते हैं 'उन्हें छोड़ो' कहना नहीं पड़ता। वैसे ही स्वधर्म समझ में आ जाय तो परधर्मसेवन अपने आप छूट जाता है। इसीलिये सब जीवों को आनन्द देने वाले, भगवान् को प्रत्येक व्यक्ति तक पहुँचाने वाले सुरस तत्त्वज्ञान को आचाण्डाल सभी कक्षाओं के लिये भोग्य बनाकर वैदिक धर्म का सन्देश मराठी भाषा में लिख कर उन्होंने महाराष्ट्र के कोने-कोने तक पहुँचा दिया। यही है उन के वैदिक धर्म-प्रसार की पद्धति।

ज्ञानदेव का दृढ़ विश्वास था कि जिसे आत्मकल्याण की अभीप्सा है उसे वेदाज्ञा के विरुद्ध नहीं चलना चाहिये (ज्ञा. १६।४५५) तथा वैदिक धर्म ही जगत् के उद्धार में समर्थ है

"जो अहित से निकाले। हित दे कर पोषित करे।
उस श्रुति के सिवा न जग में। माता अन्य॥" (१६।४६२)

उस वैदिक धर्म का उदार ज्ञान समस्त जगत् को देने वाली होने से ही श्रीमद्-भगवद्गीता टीका के लिये चुनी। जिस से कि 'अद्वयानन्द' का सन्देश विश्व के कोने-कोने तक पहुँचा कर सब को सुखी किया जाय।

"समस्त संसार को सुख से भरूँगा।
आनन्द से भर दूंगा तीनों लोक॥" (ज्ञाने. अभंग)

यही ज्ञानेश्वरी लिखने का हेतु है।

८. आत्मसाक्षात्कार

श्रीज्ञानोबा के जीवन-विषयक तत्त्वज्ञान का हार्द एवं सार है—आत्म-साक्षात्कार। उन की दृष्टि में आत्मा के प्रसाद से बढ़कर मानव जीवन में प्राप्य कोई लाभ नहीं है। (१८।१२५९)

ज्ञानेश्वरी, अनुभवामृत, चांगदेवपासष्टी आदि ग्रन्थों की रचना का हेतु ही यही है—

'ऐसा वाग्विलास विस्तारूँ। गीतार्थ से विश्व भरूँ।
आनन्द का कोट रचूं। जगके लिये॥
विवेक की न्यूनता हो दूर। श्रवण मन हों कृतकृत्य।
जो चाहे सो देखे खान। ब्रह्मविद्या की॥ (१३।११६१-६२)

"ज्ञानराजा" ने मराठीभाषा के चौराहे पर अध्यात्मज्ञान का अन्नछत्र खोल दिया इस का हेतु यही कि जो कोई भी अभीप्सु हो उसे पूरी तृप्ति देने योग्य यह ब्रह्मरस का प्रसाद मिला करे। श्रीएकनाथमहाराज के गुरुबन्धु श्रीरामाजनार्दन ने ज्ञानोबा की उत्कृष्ट आरती की है। उस में अन्त में कहा है—"प्रगट गुह्य बोले। विश्व ब्रह्मचि केले।"

पहले कहे गये कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग, कुण्डलिनीयोग आदि सब मिल कर एक ही मार्ग बनता है। रामानुज के 'ज्ञानकर्मसमुच्चय' के ढंग से 'कर्मभक्तिज्ञान—समुच्चय' ज्ञानदेव ने नहीं कहा है।

आत्मसाक्षात्कार के लिये ध्यान में रखने की पहली महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मनुष्य का चित्त इधर मुड़ने के लिये भोग में से निकलना आवश्यक है। यदि चित्त भोग-रत हो तो इधर कदम उठें कैसे? भोग में से चित्त के निकलने का उपाय है सम्यक् विचारपूर्वक भोगों का अनित्यत्व समझ लेना। जबतक विषय नित्य और सुखरूप प्रतीत होते हैं तबतक उन से ऊब आयेगी

नहीं। विषयों की अनित्यता का विचार पूर्वजन्मों के संस्कारों से अथवा सत्-समागम और सत्शास्त्रश्रवण से उत्पन्न होता है। ज्ञानेश्वर महाराज के शब्दों में – 'जहां चन्द्र वहां चन्द्रिका, जहां शम्भु वहां अम्बिका, जहां सन्त वहां विवेक' रहना निश्चित ही है।

गीता १६।२२ की व्याख्या में कहा है कि जब तक काम-क्रोध-लोभ बने हुए हैं तब तक मोक्षमार्ग पर चलना अशक्य है। (१६/३३९-४०) सज्जन-संगति से इन विषयों का अनित्यत्व-दुःखरूपत्व जिस की समझ में बैठ गया वही उत्कटता से इस मार्ग पर चल पड़ता है। (५।१११)

ज्ञा. ९।४९६-५०६ में प्रपंच का विशद वर्णन आंख खोलने वाला है। १५वें अध्याय में भी अश्वत्थवृक्ष के रूपक से प्रपंच का वर्णन अनित्यता-प्रतिपादक है। १५-४३-४७ में प्रपंच की परमार्थ-पथ के प्रति बाधारूपता कही गई है। जबतक प्रपंच में इष्टसाधनता – सुखरूपता प्रतीत होती है तब तक मनुष्य सत्यवस्तु के संशोधन में प्रवृत्त नहीं होगा। संसार के प्रति सच्चे वैराग्य का एक दृष्टान्त से ज्ञानेश्वर वर्णन करते हैं कि बहुत स्वादिष्ट व्यंजनों से भरा भोजन का थाल भी 'विष-मिला हुआ है' – यह जानते ही जैसे खानेवाला तुरन्त छोड़ कर खड़ा हो जायेगा वैसे संसार की अनित्यता की समझ वैराग्य-प्रेरक है।

ऐसे भीतर से वैराग्य जागे तब संसारी व्यक्ति साधक बनता है, परमार्थपथ का प्रारम्भ होता है। स्थान-स्थान पर बारम्बार ज्ञानेश्वर महाराज द्वारा किया हुआ वैराग्यवर्णन अवश्य दर्शनीय है। (९।४९०-९५, १८।७८२, ८९) और सगेसम्बन्धी, सम्पत्ति, यश वगैरह को जाने दें स्वयं हम जिस शरीर पर टिके हुए हैं वह भी तो क्षणभंगुर और दुःखरूप है। (८।१४०-१५१; ३।२०५-२०९)

यह बोध होने पर मनुष्य अपने शाश्वत स्वरूप की खोज में जुट जाता है। इस खोज की उत्कट इच्छा ही पहली सीढ़ी पर पांव रखना है। यह सदिच्छा है अनन्त की जिज्ञासा और उस के लिये छटपटाहट। यह कभी तो दैवी प्रेरणा से उत्पन्न होती है, कभी संसार के दुःखों के अनुभव से जागती है और कभी अकारण ही भीतर से उठती है। परमार्थ की इस प्रथम भूमिका या सोपान को 'शुभेच्छा' कहते हैं।

जिस में यह तीव्र जिज्ञासा जागती है उसे सत्समागम प्राप्त होता है, सत्शास्त्रश्रवण का अवसर मिलता है, और प्रतीति होने लगती है कि अपना अभीष्ट आत्मदर्शन से ही प्राप्त होगा। ज्ञानोबा कहते हैं – 'फिर प्रबल सत्संग से, सत्शास्त्रों के बल से, जन्ममृत्यु के विकट अरण्य पार हो जाते हैं।' ज्ञा. १३।१०३४-४६ में विभिन्न शास्त्रों में कहे गये साधनों का उल्लेख है।

सन्तों की संगति में, अपने भाग में आये हुए विविध कर्म निष्काम बुद्धि से करते चलना, आत्मानात्मविवेक सतत जाग्रत् रखना, प्रत्याहार जैसे इन्द्रिय-

शोधन के साधन करना, मन पर परमात्मा की मोहर लगाये रहना — इत्यादि साधना द्वारा अन्तःकरण के दोष धो डालने का कार्य वह अनेक जन्म करता रहता है। यज्ञेश्वर के यजन में पूरे पुरुषार्थ से प्रयत्नशील रहता है। भगवान के इस वचन पर उसे पूरा विश्वास होता है —

'अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय ।। गी. १२।९।।

इस श्लोक की व्याख्या में ज्ञानेश्वरमहाराज ने अभ्यासयोग का बहुत सुन्दर वर्णन किया है। (१२।१०४-११३)

आठवें अध्याय में ऐसा ही प्रयत्नवाद ज्ञानेश्वर ने कहा है। उपायबल से पंगु भी गहनगिरि चढ़ सकता है, शरीर रहे या जाये, चित्त पर परम पुरुष की मुद्रा अंकित कर के सद्भाव से निरन्तर प्रयत्न में लगे रहें। (८।८२) यह परमार्थ का दूसरा सोपान है।

तीसरा सोपान है श्रीगुरुकृपा होना। यहाँ साधक पहुँच गया तो फिर परमार्थपथ में कोई कठिनाई शेष नहीं रहती। पहले कदम से इस तीसरे सोपान तक पहुँचने का मार्ग पार करना ही दुष्कर है। भले ही शास्त्रश्रवण किया हुआ हो और अपने सदृश साधकों का साथ भी मिला हो लेकिन गुरुकृपा के सिवा विश्रान्ति नहीं होती। आत्मदर्शन की छटपटाहट मची है किन्तु कैसे करें क्या करें कहाँ जायें — यह सूझता नहीं। श्रीज्ञानेश्वर के शब्दों में — श्रीगुरुनाथ जब तक मस्तक पर हाथ न रखें तब तक शान्ति मिले कैसे?

इस दुर्गमपथ में प्रयत्न-साधन करते समय साधक की दशा का वर्णन ज्ञा. १८।७८१-८७ में किया है। ऐसे कष्टतर साधन करते हुए स्वकर्माचरण, ध्यान, धारणा आदि साधनरूप सेवा यदि करता रहता है तो प्रभु प्रसन्न हो कर प्रसाद देते हैं। पहला प्रसाद है कोमल वैराग्य का परिपक्व होना। दूसरा प्रसाद है योगक्षेमवहन।

योगक्षेमवहन : गीता नवम अध्याय में 'अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्' की व्याख्या करते हुए भगवान् के भक्त-विषयक प्रेम का उत्कृष्ट वर्णन ज्ञानेश्वर-महाराज ने किया है। वे कहते हैं — भगवान जो भक्त का योगक्षेमवहन करते हैं उस का अर्थ कोई उस के खाने-पीने-रहने की सुख-सुविधा की व्यवस्था नहीं। यों तो भगवान् सभी की सँभाल रखते ही हैं, क्योंकि कहते हैं कि मैं जगत् का "माता-धाता-पितामह" हूँ। फिर भक्त को तो लौकिक-भौतिक कोई कामना या चिन्ता है ही नहीं जिस की प्रार्थना वह भगवान् से करे, या जिसे भगवान् पूरी करें। भक्त का तो पारमार्थिक योगक्षेम भगवान् वहन करते हैं। 'अप्राप्तस्य प्रापणं योगः प्राप्तस्य परिपालनं क्षेमः' जो प्राप्त नहीं है वह मिल जाना योग और जो प्राप्त है उस की रक्षा क्षेम कहा गया है। तो भक्त को भगवान्

के सायुज्य या सेवा में से जिस की चाह हो वह मिला देना और जो मिला हो उसे बनाये रखना – यह भगवान् करते हैं। (९।३४१-४३)

यह योगक्षेम-वहन भगवान् तब करते हैं जिस क्षण से भक्त उन के प्रति अनन्य हो जाता है। (९।३२८-४०) भक्त के लिये सबकुछ भगवान् करते हैं – अर्थात् मृत्युपर्यन्त उस को सँभाले रहते हैं। मृत्यु के समय भी भक्त का मन विकल न हो इसलिये उसे बोधरूप पिंजरे में डाल कर अपने स्मरण की शीतलछाया में उसे रखते हैं, और सुखपूर्वक उसे अपने समीप ले जाते हैं। सभी भक्तों का यही अनुभव है।

साधक का काम अनन्य होना है, शेष सब प्रभु करते हैं। फल परिपक्व होने पर वह डण्डी से लगा नहीं रहता और डण्डी भी उसे पकड़े नहीं रहती। वैसे भगवान् जिस भक्त के बन्धन खोल देते हैं उसे ईश्वर का ऐसा आकर्षण लगता है कि ईश्वर के सिवा और सब कुछ उसे वमन जैसा जैसा त्याज्य दिखने लगता है। ऐसी भगवदासक्ति प्राप्त हो जाय, लौकिक स्पृहा समाप्त हो जाय, कर्मसाम्यदशा प्राप्त हो जाय कि बस, उसे श्रीगुरुकृपा लाभ होता है। तुकाराम-महाराज कहते हैं कि 'भगवान् ही गुरुकृपा रूप से भेंटते हैं'।

गुरुकृपा बिना सब खोखला है इस विषय में ज्ञानेश्वरमहाराज का एक बड़ा 'अभंग' (पद) है –

"कां सांडिसीं गृहाश्रम। कां सांडिसीं क्रियाकर्म।
कासया सांडिसीं कुळीचे धर्म। आहे ते वर्म वेगळेंचि।।१।।
भस्म उधळण जटा भारु। अथवा उदास दिगम्बरु।
न धरीं लोकाचा आधारु। आहे तो विचारु वेगळाचि।।२।।
जप-तप-अनुष्ठान। क्रिया-कर्म-यज्ञ-दान।
कासया इन्द्रियां बन्धन। आहे तें निधान वेगळेंचि।।३।।
वेदशास्त्र जाणितले। आगमीं पूर्ण ज्ञान झालें।
पुराणमात्रा धांडोळिलें। आहे तें राहिलें वेगळेंचि।।४।।
शब्दब्रह्में होसी आगळा। म्हणसी न भिये कळिकाळा।
बोधेंविण सुखसोहळा। आहे तो जिव्हाळा वेगळाचि।।५।।
या कारणें श्रीगुरु। जंव मस्तकीं न ठेवी हातु।
निवृत्तिदास असे विनवितु। तंव निवांत केवि होय।।६।।"

ज्ञानेश्वरी में कहा है कि श्रीगुरुयोग से साधना सफल होती है। (१०। १६८-७२) श्री अमृतानुभव के दूसरे प्रकरण में इसी प्रकार श्रीगुरु को 'उपाय-वनवसन्त' कहा है। श्रीगुरुकृपा के प्रति ज्ञानेश्वर का कितना आदर एवं प्रेम है यह गी. १३।७ की 'आचार्योपासनं' की व्याख्या में भलीभांति प्रकट हुआ

है। वे कहते हैं—समस्त सद्भाग्य की जन्मभूमि है यह सेवा। जो शोचनीय भी जीव को ब्रह्म ही बना देती है। एकबार श्रीगुरु पृष्ठपोषक मिल जाय फिर क्या चिन्ता? ज्ञानोबाराय कहते हैं—

"श्रीगुरुसारखा असतां पाठीराखा।
इतरांचा लेखा कोण करी॥१॥
राजयाची कान्ता काय भीख मागे।
मनाचिया जोगे सिद्धि पावे॥२॥
कल्पतरुतळवटीं जो कोणी बैसला।
काय वाणी त्याला सांगिजोजी॥३॥
ज्ञानदेव म्हणें तरलों तरलों।
आतां उद्धरलों गुरुकृपे॥४॥

ज्ञानेश्वरी में भी कहा है—

परि हेंचि आत्मसिद्धि। जो कोणी भाग्यनिधि।
श्रीगुरुकृपालब्धि। काळीं पावे॥ ॥१८।९८४॥

श्रीगुरु द्वारा उपदिष्ट साधन का अवलम्बन करते हुए परमार्थी पथिक परमात्मप्राप्ति के पथ पर चलने लगा तो उसे दिव्यदर्शन, दिव्यश्रवण होने लगते हैं, तब उसे प्रतीति होती है कि वह सही पथ पर चल रहा है।

दिव्य दृष्टि प्राप्त होने पर साधक को किस प्रकार के अनुभव आते हैं, इस का विचार ज्ञानेश्वरी में अर्जुन को विश्वरूपदर्शन के समय दिव्य दृष्टि देने के प्रसंग में आया है। (११।२२९-३५)

गुरुकृपा इतनी प्रबल है कि साधक की इच्छा हो चाहे न हो दिव्य अनुभव आते ही हैं। गुरुदेव जैसा रखवाला और मार्गदर्शक मिलने पर फिर मंजिल पर पहुँचने में साधक को संशय ही क्या? भगवान् कहते हैं मैं ही उस का मशालची बन कर आगे चलता हूँ। (१०।१४१-४२) दृढ़ वैराग्य रूपी साथी द्वारा प्रत्येक कठिनाई में साधक को सहायता करते हुए पार ले जाता हूँ। (१८-१०४३-४६)

ज्ञानेश्वरमहाराज कहते हैं कि साधक वैराग्यरूपी कवच पहन कर साधना के अश्व पर सवार हो कर मुक्ति का वरण करने निकलता है तो संसाररण में संसारपक्ष के अहंकार आदि योद्धा उस के आड़े आते हैं। पर यह साधक वीतराग और साधनानिष्ठ होने के कारण सूर्य जैसे अन्धकार चीरता निकल जाता है वैसे साधक सब शत्रुओं का निर्भयता से सामना करता हुआ अपने रास्ते चलता जाता है। ज्यों-ज्यों वह आत्मप्राप्ति के निकट पहुँचता है त्यों-त्यों पहले विकार समाप्त हो कर दैवी सम्पत्ति के अमानित्व आदि गुण साधक

में सहज प्रकट होने लगते हैं। वह ब्रह्मैक्य के समीप पहुँचता है। तब भव-विजय का उत्साह वह कैसा अनुभव करता है इसका ज्ञानदेव ने उत्कृष्ट वर्णन किया है। (१८।१०६६-७५)

ऐसा भव-विजय सम्पन्न हुआ है यह दिखने पर भी साधक अपनी साधना तथा वैराग्य का त्याग नहीं कर देता। ज्ञानदेव कहते हैं कि विजयी वीर अपने शस्त्रास्त्र तोड़ नहीं फेंकता, धीमे से आदरपूर्वक रख देता है, उन की सम्हाल भी रखता है। इस प्रकार साधन करते-करते साधक की अन्त:करणवृत्ति सहित सम्पूर्ण द्वैत स्वरूप में लीन हो जाता है तब आत्मसाक्षात्कार होता है।

आत्मस्वरूप 'इदम्' अथवा 'अहम्' का विषय नहीं है अत: आत्मा का साक्षात्कार यानी आत्मस्वरूप को ही देखना। यह दर्पण में अपना मुख देखने जैसा नहीं है। वह देखना कैसा है यानी आत्मसाक्षात्कार का अर्थ क्या है? इस का वर्णन १५वें तथा १८वें अध्याय में ज्ञानदेव ने किया है। (१५।२६७-७५ तथा १८।१२०९-१७) वह दर्शन है द्रष्टा-दर्शन-दृश्य से अतीत। वह भोगना है – भोक्ता – भोग से अतीत। (५।१३१-३५)

ऐसा आत्मलाभ जिसे हो गया उसे भगवान् अपने ही स्थान पर प्रतिष्ठित करते हैं, उस का पट्टाभिषेक करते हैं। तुकोबा भी अपना अनुभव ऐसा ही बताते हैं – "तुकया स्वामी स्थापी निजपदीं दासा। करूनि उल्हासता सप्रेमता।

एक दृष्टि से तो यह आत्मदर्शन अशक्य ही है। क्योंकि आत्मा का निर्विषयत्व उपनिषदों वेदान्तग्रन्थों में प्रसिद्ध ही है। ज्ञानेश्वरी में भी बहुत बार आत्मा का निर्विषयत्व कहा ही गया है। (१५।३७०, गी. १३।१७ की व्याख्या) अमृतानुभव में आत्मा का अविषयत्व कहा गया है (अ. ५।१५, ७।११०) ज्ञानेश्वरमहाराज आत्मा के अविषयत्व का वर्णन करते हुए यहाँ तक कहते हैं कि वह तो अपने आप का भी विषय नहीं होता, मानो अपने को स्वयं चुरा लेता है – (ज्ञा. १४।५, अमृ० ५।३९)

ज्ञानेन्द्रियादि के प्रति ऐसा अविषय होने पर भी आत्मा सभी कुछ का प्रकाशक होने के नाते अज्ञेय नहीं है। अत: आत्मसाक्षात्कार की अभीप्सा और प्रयत्न मूर्खता नहीं है। आत्मा दूसरे किसी प्रकाश से प्रकाशित नहीं होता इतना ही अविषयत्व का अभिप्राय है। (ज्ञा. १०।७१–७४) आत्मा स्वप्रकाश है। 'जैसे सूर्योदय होने पर सूर्य द्वारा ही सूर्य को देखा जाता है वैसे मुझे जानने में मैं ही हेतु हूँ।" (१५।४२५)

ऐसा आत्मलाभ जिसे हो गया उस के कुछ लक्षण प्रकट भी होते हैं, जैसे कि छिद्रयुक्त घड़े में दीपक रखा हो तो प्रकाश बाहर पड़ता है, या सन्तागमन होने पर वृक्ष-वल्लरी लहलहा उठते हैं। आत्मलाभसम्पन्न व्यक्ति

के लक्षण ज्ञानेश्वरी में प्रायः प्रत्येक अध्याय में प्रसंगतः कहे ही गये हैं। फिर भी कुछ यहाँ देख लें –

(१) जिसे आत्मदर्शन हुआ उस के मन के गुण पलट जाते हैं। लकड़ी अग्नि में पड़ने पर, अंगार बनने पर जैसे लकड़ी के नाम गुण नहीं रहते, अग्निरूप ही वह हो जाती है। तुकोबा कहते हैं –

'अग्नीमांजी गेलें। तें अग्नि होउनि ठेलें।।
काय उरलें तयापण। मागील ते नामगुण।।'

वैसे ही मन का धर्म है सुख-दुःख की संवेदना; वह मन आत्मारामरूप हो गया इसका मुख्य लक्षण है सुख-दुःख-द्वन्द्वात्मक संवेदन का गुणधर्म समाप्त हुआ। क्योंकि वास्तविक सुखरूप ही हो गया। (ज्ञा. १२।१७१; ६।३६४-७१; ८। ८४-८५)

(२) उसे अपरिमित आनन्दलाभ होने के कारण अल्प और नश्वर विषयसुख की ओर वह झाँकना भी नहीं चाहता। (५।१०५-१०८)

(३) वेद पर्यन्त जिस सुख का वर्णन नहीं कर सकते, जिस की थाह नहीं पा सकते, ऐसी आश्चर्यमय सुखसम्पदा तुकोबा जैसे नित्य भोगते हैं, इसीलिये तो भौतिक दृष्टि से घर अत्यन्त दारिद्रयग्रस्त होने पर भी अपार सम्पत्ति स्वयं द्वार पर प्रार्थना करती आ खड़ी हो तो भी उसे सहज ही लौटा सकते हैं। विषयसुख तो मानो सर्वथा भूल ही जाते हैं। तुकोबा कहते हैं –

'विषयीं विसर पड़ला निःशेष। अंगीं ब्रह्मरस ठसावला।'

(ज्ञानेश्वरी में – ६।६२-६५; २।३५२/३५५–५६)

(४) ऐसा जो 'निजानन्द से परितृप्त' है उस की अन्तःकरण की स्थिरता विगड़ती नहीं। उसकी सब वासनायें शान्त हो जाती हैं। वह ऋद्धि-सिद्धि को पूछता भी नहीं। सागर में नदियाँ आ मिलती हैं तो वह छलकता नहीं, अपनी मर्यादा लाँघता नहीं और ग्रीष्म में सरितायें सूख जाती हैं तथा मेघ बन कर सागरजल भी उड़ जाता है पर सागर खाली नहीं पड़ता वैसी ही हानि-लाभ से अक्षुब्ध सदा समरस अवस्था आत्मतृप्त की रहती है। (२। ३५७-६५)

(५) स्वरूपस्थ होने के कारण निजानन्द में डूबे हुए व्यक्ति की दशा –अनुकूल विषय प्राप्त होने पर उस के संवेदनरूप 'सुख' में तथा प्रतिकूल विषय आने पर उस के संवेदनरूप 'दुःख' में समान ही रहती है। स्वरूपस्थ व्यक्ति के लिये इन दोनों में कोई अन्तर रहता नहीं। ऐसा सम-सुखदुःख, द्वन्द्वातीत होना यह आत्मसाक्षात्कार का प्रमुख लक्षण है। (१४।३५१-५४)

सूर्य के सामने जैसे अन्धकार कभी आता ही नहीं वैसे इस व्यक्ति को सुख-दुःखादि कभी द्वन्द्वरूप दिखते ही नहीं, ऐसी समदृष्टि हो गई होती है।
(१५। २९३-९५)

उसे सर्वत्र आत्मदर्शन होता है। उसकी वृत्ति में विषय आते ही नहीं।
(१५।२९६-९९)

अमृतानुभव के नवम प्रकरण में ज्ञानी की इस स्थिति का उत्तम वर्णन किया हुआ है। (अमृ० ९।२२-२५)

(६) आत्मरूप होजाने के कारण और आत्मदर्शन से पृथक् उसका दर्शन ही न रहने के कारण वह पाप-पुण्य के द्वन्द्व से अतीत हो जाता है।
(१८। ४४९-५३)

(७) वह सूर्य जैसा अलिप्त होता है। (२।३३३-३७)

(८) वह गुणातीत और अकर्ता हो जाता है। (१४।२९२-९७)

(९) देह-तादात्म्य न रहने के कारण वह अपने में जन्म-मृत्यु देखता ही नहीं। मूर्तिमान् बोध रूप से ही वह देह में रहता है। (१४।३०१-१८)

(१०) जगदुद्धार करने में उन्हें श्रम नहीं लगता, उनकी लीला से ही नीति का पालन होता है। (९।१८८-९२)

(११) भगवान् और भक्त में ऐक्य होता है। (१८–१५८९-१६०१)

(१२) जहाँ भगवान् और भक्त का संयोग हो वहाँ विजय निश्चित ही है। (१८।१६३१-४१, १६५५-५८)

अध्यायानुक्रम

अध्याय		नाम	ओ० सं०	पृष्ठ
प्रथम	–	अर्जुनविषादयोग	२७६	१–१८
द्वितीय	–	साङ्ख्ययोग	३७५	१९–४२
तृतीय	–	कर्मयोग	२७६	४३–६०
चतुर्थ	–	ज्ञानकर्मसंन्यासयोग	२२४	६१–७५
पञ्चम	–	कर्मसंन्यासयोग	१८०	७६–८७
षष्ठ	–	आत्मसंयमयोग	४९७	८८–११९
सप्तम	–	ज्ञानविज्ञानयोग	२१०	१२०–१३३
अष्टम	–	अक्षरब्रह्मयोग	२७१	१३४–१५०
नवम	–	राजविद्याराजगुह्ययोग	५३५	१५१–१८४
दशम	–	विभूतियोग	३३५	१८५–२०६
एकादश	–	विश्वरूपदर्शनयोग	७०८	२०७–२५१
द्वादश	–	भक्तियोग	२४७	२५२–२६७
त्रयोदश	–	क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग	११७१	२६८–३४१
चतुर्दश	–	गुणत्रयविभागयोग	४१५	३४२–३६८
पञ्चदश	–	पुरुषोत्तमयोग	६००	३६९–४०६
षोडश	–	दैवासुरसम्पद्विभागयोग	४७३	४०७–४३६
सप्तदश	–	श्रद्धात्रयविभागयोग	४३३	४३७–४६४
अष्टादश	–	मोक्षसंन्यासयोग	१८१०	४६५–५७९

श्रीज्ञानेश्वरी

॥ ॐ हरिः ॐ ॥

प्रथम अध्याय

ॐ नमोजी आद्य ।
वेद – प्रतिपाद्य ।
जय जय स्वसंवेद्य ।
आत्मरूप ॥१॥

देव ! तुम ही गणेश ।
सकलार्थ–मति-प्रकाश ।
कहे निवृत्तिदास ।
दें अवधान ॥२॥

शब्दब्रह्म अशेष ।
श्रीविग्रह सुवेश ।
वर्णवपु निर्दोष ।
सुशोभित ॥३॥

अङ्ग-प्रत्यङ्ग निरखें ।
स्मृतियाँ अवयव परखें ।
लावण्यखान सो झलके।
अर्थशोभा ॥४॥

अष्टादश पुराण ।
सुन्दर मणिभूषण ।
पद-पद्धति सुवर्ण- ।
जटित प्रमेयरत्न ॥५॥

पदबन्ध अतिसुन्दर ।
वही सुरङ्गी अम्बर ।
अलङ्कार–साहित्य ।
उज्ज्वल पोत ॥६॥

देखें काव्य नाटक ।
विचारें सकौतुक ।
हैं गणेश – पगनूपुर– ।
रुनझुन अर्थ ॥७॥

नाना प्रमेय – प्रतिपादन ।
उन का कुशल घटन ।
दिखते श्रीचरणन ।
उत्तम रत्न ॥८॥

व्यासादि की मति ।
कटिमेखला शोभती ।
स्वच्छ कान्ति झलकती ।
अंचल-छोर सी ॥९॥

षड्दर्शन – सिद्धान्त ।
भुजारूप आकारित ।
सजे हैं विविध वाद ।
कर-आयुध ॥१०॥

तर्क बना है परशु ।
नीतिभेद हैं अङ्कुश ।
वेदान्तरूप महारस – ।
मोदक सुहाता ॥११॥

एक कर में दन्त ।
जो स्वभावतः खण्डित ।
वह बौद्धमत–सङ्केत ।
वार्तिकों का ॥१२॥

सहज सत्कार्यवाद ।
वरद–कर–कमल–प्रसाद ।
धर्मनिष्ठा सुसिद्ध ।
अभयमुद्रा ॥१३॥

विवेकदन्त सुविमल ।
है शुण्डदण्ड सरल ।
विलसे परमानन्द केवल ।
महासुख ॥१४॥

संवादरूपी दशन ।
समता शुभ्रवर्ण ।
उन्मेष–सूक्ष्मेक्षण ।
विघ्नराज ॥१५॥
मीमांसा श्रवणस्थान ।
दोनों विराजमान ।
बोध–मदामृत मुनिजन–
अली सेवते ॥१६॥
प्रमेय सुप्रभ कोंपल ।
द्वैताद्वैत गण्डस्थल ।
गजानन-मस्तक पर ।
अतीव शोभते ॥१७॥
मुकुट में सुमन – सुगन्ध ।
महकै उदार ज्ञान-मकरन्द ।
ऐसे दसों उपनिषद ।
सुहा रहे ॥१८॥
अकार चरणयुगल ।
उकार विशाल उदर ।
मकार महामण्डल ।
मस्तकाकार ॥१९॥
तीनों हुए एकदेश ।
समाया वेदसन्देश ।
यों वन्दित आदिबीजेश ।
श्रीगुरुकृपा ॥२०॥
अभिनव – वाग्‌विलासिनी ।
चातुर्यार्थ – कला – कामिनी ।
शारदा विश्व – मोहिनी ।
हों नमस्कृता ॥२१॥
हृदय–निवासी श्रीसद्‌गुरु ।
तरा जिनसे भवपूर ।
अत एव विशेष समादर ।
विवेक पर ॥२२॥

ज्यों नेत्र से अञ्जन भेंटे ।
तो दृष्टि का अङ्कुर फूटे ।
जहाँ देखें वहाँ प्रगटे ।
महानिधि ॥२३॥
यदि चिन्तामणि करगत ।
तो विजयी सर्व मनोरथ ।
त्यों पूर्णकाम निवृत्तिदास ।
ज्ञानदेव ॥२४॥
अतः सुज्ञ हों गुरुभक्त ।
तो उसी से कृतकृत्य ।
जैसे यदि मूल सुसिक्त ।
सन्तुष्ट शाखादि ॥२५॥
त्रिभुवन – तीर्थाटन ।
इक समुद्रावगाहन ।
अथवा सुधास्वादन ।
सब-रस-पान ॥२६॥
अतएव बारम्बार ।
श्रीगुरु-प्रति नमस्कार ।
अभिलाष सब पुरनार ।
सदा वही ॥२७॥
अब सुनिये कथा गहन ।
सकल-कौतुक – जन्मस्थान ।
अथवा अभिनव उद्यान ।
विवेकतरु का ॥२८॥
सभी सुखों का आदि ।
है जो प्रमेय महानिधि ।
नाना नवरस – सुधाब्धि ।
परिपूर्ण यह ॥२९॥
या पर – धाम प्रकट ।
सर्वविद्या मूल – पीठ ।
सभी शास्त्रों का वरिष्ठ ।
आधार यह ॥३०॥

सर्वधर्मों का मायका ।
सज्जन-हृद्गत-स्नेह-सा ।
रत्न – कोष लावण्य का—
शारदागत ॥३१॥
नाना कथा – रूपी भारती ।
त्रिजगत् में प्रगटी ।
महामति व्यक्त करती ।
व्यासजी की ॥३२॥
अतः यह काव्यराज ।
ग्रन्थगुरुता रहो विराज ।
पाया यहाँ नवरस ने साज ।
रसालता का ॥३३॥
और सुनें रहस्य इक ।
यहीं से शब्दश्री सच्छास्त्रिक ।
महाबोध – सुसज्जित ।
दुगुनी हुई ॥३४॥
चातुर्य यहाँ सयाना हुआ ।
प्रमेय रुचिपूर्ण हुआ ।
और सौभाग्य पुष्ट हुआ ।
सुख का यहाँ ॥३५॥
माधुर्य में मधुरता ।
शृङ्गार में सुरेखता ।
योग्यता में श्रेष्ठता ।
दीखी भली ॥३६॥
कला को कौशल्य मिला ।
पुण्यों का प्रताप खिला ।
जनमेजय का दोष धुला ।
सहज ही ॥३७॥
और विचारें क्षणभर ।
रस-रङ्ग में सुरङ्ग बढ़कर ।
गुणों में सगुणता प्रखर ।
तेजस्विनी यहाँ ॥३८॥

भानु के तेज से धवल ।
त्रैलोक्य दिखता उज्ज्वल ।
व्यासमति का होकर कवल ।
शोभित विश्व ॥३९॥
या सुक्षेत्र में बीज पड़े ।
स्वयं ही वह विस्तरे ।
सभी अर्थ महाभारत में ।
शोभित वैसे ॥४०॥
नगर में निवास पाकर ।
बन जाते सभी नागर ।
वैसे व्यासोक्ति-तेज पाकर ।
धवलित सकल ॥४१॥
डग भरे जब तारुण्य ।
हँस खिले तब लावण्य ।
सामान्य भी दिखते अनुपम ।
अङ्गना-अङ्ग ॥४२॥
उद्यान मधु-परस पाये ।
शोभाखानि उघड आये ।
वनश्री विशेष खिलती जाये ।
जैसे भली ॥४३॥
घनीभूत सोना दिखे ।
रूप साधारण हो लगे ।
उससे ही अलङ्कार गढ़े ।
शोभा निराली ॥४४॥
वैसे व्यासोक्ति से अलङ्कृत ।
कथा हुई सुशोभित ।
यह जान बना आश्रित ।
इतिहास यहाँ ॥४५॥
पूर्ण – प्रतिष्ठा के लिये ।
विनत अङ्ग धारण किये ।
आख्यान बन पुराण आये ।
भारत में ॥४६॥

अत एव जो भारत में नहीं।
वह त्रिभुवन में कहीं नहीं।
इसीलिये यह उक्ति सही।
व्यासोच्छिष्ट जगत्त्रय ॥४७॥

जग में सुरस कथा वही।
परमार्थ–जन्मभूमि यही।
मुनि ने नृपनाथ से कही।
जनमेजय नाम ॥४८॥

जो अद्वितीय उत्तम।
पवित्रैक निरुपम।
परम मङ्गल–धाम।
अवधारिये ॥४९॥

वह भारत-कमल-पराग।
गीता नाम प्रसङ्ग।
संवक्ता जिस के श्रीरङ्ग।
अर्जुन-प्रति ॥५०॥

अथवा शब्द-ब्रह्माब्धि।
मथनी व्यासबुद्धि।
निकला वहाँ निरवधि।
नवनीत यह ॥५१॥

फिर ज्ञानाग्नि-सम्पर्क से।
निकाला गया विवेक से।
सुघटित स्वरूप परिपाकसे।
आमोद का ॥५२॥

चाहते जिसे विरक्त।
अनुभवते सदा सन्त।
सोऽहंभाव में पारङ्गत।
रमते जहाँ ॥५३॥

प्रियश्रव्य जो भक्तों का।
आदि-वन्द्य जगत्त्रय का।
प्रसङ्ग भीष्मपर्व का।
कहा गया ॥५४॥

नाम श्रीमद्भगवद्गीता।
ब्रह्मेशों की प्रशंसिता।
जो सनकादि-सुसेविता।
सादर सदा ॥५५॥

जैसे शारदी चन्द्रकला।
जहाँ सुधारस मधुर घुला।
चुगती मनजिह्वा सुकोमला।
चकोरशिशु की ॥५६॥

वैसे ही हे श्रोतृगण!
अनुभवें ये कथामृतकण।
ले अतीव सुकोमलपन।
निजचित्त में ॥५७॥

इसे शब्द बिना ही संवेदें।
बिन इन्द्रिय ही भोग लें।
उच्चार-पूर्व ही पहुँच रहें।
प्रमेय पर ॥५८॥

जैसे भ्रमर पराग लेता।
पर कमलदल न जानता।
उसी रीति से हो सेविता।
गीता कथा ॥५९॥

निज स्थान न छोड़ती।
उदित चन्द्र आलिङ्गती।
यह अनुराग-पद्धति।
कुमुदिनी जाने ॥६०॥

ऐसे ही गम्भीरता से।
धीर – चित्त – स्थिरता से।
जो समर्थ सम्पन्नता से।
वही जाने इसे ॥६१॥

अर्जुन-पंक्ति में बैठे अहो।
जो श्रवण के योग्य हों।
कृपापूर्ण वे सन्त अब।
अवधान दें ॥६२॥

लाडभरी विनती कहूँ।
श्रीचरणों में प्रणत रहूँ।
क्योंकि गम्भीर हृदय पाऊँ।
आप में जी ॥६३॥

स्वभाव यह मात-पिता का।
अपत्य बोले जब तुतली वाचा।
तब अधिक ही उन सभी का।
सन्तोष होता ॥६४॥

मात-पिता का यह स्वभाव।
तुतली वाणी बोले बालक।
अधिक ही वे सभी तब।
मानें सन्तोष ॥६५॥

वैसे आपने मुझे अपनाया।
सज्जनों का सगा कहाया।
सहज मम न्यूनत्व सहाया।
अब प्रार्थना कैसी ? ॥६६॥

पर अपराध तो और ही।
चाहूँ कहना गीतार्थ सही।
अवधारण की विनति कही।
इसी लिये ॥६७॥

न विचारे वर्णन दुष्कर।
व्यर्थ बना मन धैर्यधर।
कहाँ खद्योत कहाँ दिनकर।
क्या तेज-तुला ? ॥६८॥

चञ्चु से ज्यों टिट्टिभ।
चाहे सोखना सागर।
मैं वैसा ही अज्ञतर।
प्रवृत्त यहाँ ॥६९॥

चाहें यदि गगनालिङ्गन।
चाहिये अधिक विशालपन।
शक्य नहीं यह सम्भवन।
निर्धार में ॥७०॥

इस गीतार्थ की महत्ता।
स्वयं शम्भु द्वारा विवृता।
जहाँ भवानी हो चमत्कृता।
प्रश्न करतीं ॥७१॥

कहें हर "जैसे अनिरूप।
हे देवि तव स्वरूप।
वैसा यह नित्य-नव-रूप।
गीता तत्त्व" ॥७२॥

यह वेदार्थ—सागर।
है जिनका निद्रा-स्वर।
वे स्वयं सर्वेश्वर।
प्रत्यक्ष कहें ॥७३॥

है जो ऐसा अगाध।
जहाँ मूक होते वेद।
वहाँ मैं अल्प-मति जीव।
कहूँ क्या भला ॥७४॥

अपार यह कैसे हो कवल।
कौन महातेज को करे उज्ज्वल।
मुट्ठी में धरे गगन।
मशक कैसे ॥७५॥

पर है यहाँ एक आधार।
हुआ जिन से मैं साधार।
सानुकूल श्री गुरुराज।
कहें ज्ञानदेव ॥७६॥

यद्यपि मैं अतिमूर्ख।
कर बैठा अविवेक।
पर सन्त-कृपा-दीपक।
सोज्ज्वल सदा ॥७७॥

लोहे से कनक बनाता।
पारस सामर्थ्य दिखाता।
मृत भी जीवन पाता।
अमृतसिद्ध यह ॥७८॥

जब प्रकटे सिद्धसरस्वती।
मूक में खिलती भारती।
यह वस्तु-सामर्थ्य शक्ति।
नहीं नवल ॥७९॥

कामधेनु यदि है माँ।
अप्राप्य फिर रहा ही क्या?
अत एव हुई प्रवर्तना।
इस ग्रन्थ में ॥८०॥

जो न्यून हो सो पूर्ण करें।
अधिक का वर्जन करें।
योग्य बना स्वीकार करें।
यही विनति ॥८१॥

अब दीजिये अवधान।
बुलावें सो बोलूं वचन।
कठपुतली का हलन-चलन।
सूत्राधीन ॥८२॥

वैसा मैं अनुगृहीत।
साधुजन का आज्ञाङ्कित।
करें स्वेच्छया अलङ्कृत।
भलीभाँति ॥८३॥

तब श्रीगुरु कहते अहो।
यह कहना अब पूर्ण हो।
मन देकर तुम ग्रन्थ कहो।
शीघ्र ही ॥८४॥

इस वचन से निवृत्तिदास।
पा कर परम उल्लास।
कहे, सुनिये सावकाश।
चित्त दीजिये ॥८५॥

पुत्रस्नेह से मोह भरे।
धृतराष्ट्र थे पूछ रहे।
सञ्जय दिखते दृश्य कहे।
कुरुक्षेत्र के ॥८६॥

जो धर्मालय कहलाये।
जहाँ मेरे और पाण्डव गये।
ब्याज लिये सब साज नये।
युद्ध के ही ॥८७॥

वहाँ वे इस अवसर।
करते हैं क्या परस्पर।
शीघ्र बताओ वह कहकर।
मेरे प्रति ॥८८॥

तब सञ्जय ने कहा।
पाण्डव सैन्य क्षुब्ध हुआ।
मानो महाप्रलय में फैला।
कृतान्तमुख ॥८९॥

वैसे एकत्र कटिबद्ध।
घनरोष से हुए सज्ज।
उफना कालकूट क्रुद्ध।
संभाले कौन? ॥९०॥

या भड़का वडवानल।
पोषक प्रलय-वायु सदल।
सोख सागर, रहा उछल।
अम्बर तक ॥९१॥

वैसे पाण्डवदल दुर्धर।
नाना व्यूहों में परिकर।
दिखता अतीव भयानक।
इस समय ॥९२॥

दुर्योधन ने यह देखा।
तिरस्कार से अवलेखा।
पञ्चानन को ज्यों तुच्छ लगा।
गज-समूह ॥९३॥

द्रोण समीप चला वह तब।
कहा उनसे 'देखा यह सब!'
उमड़ा कैसा दलभार प्रबल।
पाण्डवों का! ॥९४॥

गिरि-दुर्ग ही मानो उठ चले।
वैसे ही विविध व्यूह सजे।
पटु बुद्धिबल से हैं रचे।
द्रुपदकुमार ने ॥९५॥

जिसे आपने सब सिखाया।
रणविद्या का निधि बनाया।
उस ने यह सैन्य सजाया।
देखिये – देखिये ! ॥९६॥

और भी असाधारण।
जो शस्त्रास्त्र में प्रवीण।
क्षात्र धर्म में निपुण।
वीरवर हैं ॥९७॥

जो बल में अतिप्रौढ़।
भीमार्जुन सम पौरुष दृढ़।
ले–ले नाम सकौतुक।
कहने लगा ॥९८॥

यह है युयुधान सुभट।
आया है देखें विराट।
वह महारथी श्रेष्ठ।
द्रुपदवीर भी ॥९९॥

चेकितान धृष्टकेतु।
काशिराज वीर विक्रान्त।
उत्तमौजा नृपनाथ।
शैव्य देखो ॥१००॥

तथा यह कुन्तिभोज।
आया यह युधामन्यु।
देखो ये पुरूजितादि–
सभी आये ॥१०१॥

यह–सुभद्राहृदय–नन्दन ।
मानो द्वितीय अर्जुन।
अभिमन्यु, देखिये द्रोण।
कहे दुर्योधन ॥१०२॥

और भी द्रौपदीकुंवर।
सभी हैं महारथी वीर।
यहाँ वीर असंख्य अपार।
हुए एकत्र ॥१०३॥

अपने दल के नायक।
जो हैं प्रसिद्ध वीर सैनिक।
सुनिये प्राप्त प्रसङ्ग।
कहता मैं ॥१०४॥

पहचान-हित उल्लेख करता।
नाम से दो चार का।
प्रथम स्थान है आप का।
सब में प्रमुख ॥१०५॥

ये भीष्म गङ्गानन्दन।
प्रताप तेजस्वी भानु सम।
यह रिपुगज-पञ्चानन।
कर्णवीर ॥१०६॥

इन एक-एक के मनोव्यापार।
कर सकते विश्वसंहार।
कृपाचार्य भी हैं अपार।
अकेले ही ॥१०७॥

विकर्ण वीर इधर।
अश्वत्थामा उधर।
जिनकी धाक मन पर।
कृतान्त के भी ॥१०८॥

समितिञ्जय सौमदत्ति।
ऐसे और भी बहुत।
जिन के बल की मिति।
धाता न जाने ॥१०९॥

जो शस्त्रविद्यापारङ्गत।
मन्त्रावतार ही मूर्त।
यहाँ तक कि अस्त्रजात।
प्रसिद्ध जिन से ॥११०॥

ये अप्रतिमल्ल जग में।
भरे प्रताप अंग-अंग में।
सब के प्राण जुड़े मुझ में।
अनुसरते मुझे ॥१११॥
पतिव्रता का हृदय जैसे।
पति के अतिरिक्त न स्पर्शे।
मैं सर्वस्व इन का वैसे।
ये सुभट सब ॥११२॥
मम-कार्य-साधन के लिये।
लघु मान निज जीवन दिये।
ऐसे निरवधि उत्तम ये।
स्वामिभक्त ॥११३॥
युद्ध कौशल में निष्णात।
सब कीर्तिकला के संघात।
क्षात्रनीति हुई प्रख्यात।
इन से ही ॥११४॥
ऐसे पराक्रमी सर्वोपर।
वीरों से भरा अपना दल।
भला गिनती करें कहाँ तक।
ये अपार ॥११५॥
फिर क्षत्रियों में श्रेष्ठ।
रण-सुभट सबके ज्येष्ठ।
सेनापति-पद – सुनिष्ठ ।
स्वयं भीष्म ॥११६॥
इन के ही बल पर आश्रित।
यह सैन्य-दुर्ग रचित।
इन के समक्ष लघु परिमित।
जगत्–त्रय ॥११७॥
यों ही देख कर सागर।
दुस्तरता लगती भयङ्कर।
उस पर भी यदि वडवानल।
सहायक हो ॥११८॥
प्रलयवह्नि और मारुत।
एक साथ दीखें विद्रुत।
वैसे ही ये गङ्गासुत।
सेनापति ॥११९॥
इस सेना से कौन भिड़े।
पाण्डव दल-बल हैं थोड़े।
अपनी सेना की तुलना में।
यदि देखें ॥१२०॥
वहाँ भीमसेन बलवन्त।
बना है सेनानाथ।
कह कर यह सब बात।
छोड़ दी उसने ॥१२१॥
फिर घूम कर पीछे।
कहा सब सैनिकों से।
"अपने दल भली विधि से।
करें सज्ज ॥१२२॥
जिस की अक्षौहिणी हो जहाँ।
उसके महारथी रहें वहाँ।
अपने-अपने दल-वीर महा।
रहें सम्मुख ॥१२३॥
सब अपना सैन्य भालें।
भीष्म का आदेश पालें।
कहा द्रोण से जी सँभालें।
आप सब को' ॥१२४॥
इन एक को सब रक्खें।
मेरे समान ही देखें।
इन पर ही निर्भर करें।
सम्पूर्ण निजबल" ॥१२५॥
राजा के इस वचन से।
सेनापति सन्तुष्ट हुए।
किया तब उन भीष्म ने।
सिंहनाद ॥१२६॥

गरजे वे ऐसे अद्‌भुत।
उभय सैन्य में प्रभूत।
प्रतिध्वनि न समातीसी।
उठने लगी ॥१२७॥

उस गूंजतो ध्वनि से।
वीरवृत्ति के स्फुरण से।
भीष्म, कृष्ण, ने दिव्य शङ्ख से।
किया नाद ॥१२८॥

जब ये दोनों नाद मिले।
तीनों लोक बधिर हुए।
मानो आकाश ही आ पड़े।
टूट कर ॥१२९॥

गड़गड़ाया अम्बर।
उछल उठा सागर।
क्षुब्ध भुवन सचराचर।
हुआ कम्पित ॥१३०॥

इस महाघोषमय गर्जन से।
गिरिकन्दर सब गूंज उठे।
विविध रण वाद्य बजने लगे।
उस के सहित ॥१३१॥

बजे उद्दण्ड रणवाद्य।
भयानक और कर्कश।
महाप्रलय से आशङ्कित।
धैर्यवन्त भी ॥१३२॥

भेरी निशान मादल।
शङ्ख तुरही काहल।
भयानक रण कोलाहल।
सुभटों का ॥१३३॥

आवेश में भुजताल ठोकते।
युद्ध को ललकारते।
मदमत्त गजों-से वीर वे।
रुकते न थे ॥१३४॥

कायरों की क्या बात कहूं।
कच्चे मन के कण-कण उड़ें।
कृतान्त भी वहां घुसता डरे।
साहस खोये ॥१३५॥

कुछ खड़े-खड़ों के प्राण गये।
धीरों के भी दांत जमे।
गण्यमान्य भी वीर हुए।
कम्पित वहां ॥१३६॥

यह अद्‌भुत तूर्य कोलाहल।
सुन ब्रह्मा हुए व्याकुल।
कहें देव 'क्या प्रलय काल।
उदित आज ?' ॥१३७॥

स्वर्ग में यह बात चली।
देख रण की खलबली।
कर रहे क्या पाण्डव बली।
निज सैन्य में ॥१३८॥

मानो विजय का निजसार।
या महातेज का भाण्डार।
जुते वेगवन्त अश्व चार।
गरुड जैसे ॥१३९॥

पंखयुक्त – सुमेरु – तुल्य ।
रथ उत्तम शोभित दिव्य।
उस तेज से हुईं व्याप्त।
दश दिशा ॥१४०॥

जिस के अश्व-चालक।
स्वयं वैकुण्ठ-नायक।
भला उस रथ के गुण।
क्या वर्णूं ॥१४१॥

ध्वजस्तम्भ पर वानर।
मूर्तिमन्त जो शङ्कर।
सारथी श्री शार्ङ्गधर।
अर्जुन के ॥१४२॥

देखिये प्रभु का नवल।
अद्भुत प्रेम भक्तों पर।
पार्थ का सारथि बन।
बैठे साथ ॥१४३॥

पीछे बैठाया सेवक।
आप बैठे सम्मुख।
फिर फूंका पाञ्चजन्य।
लीलया सहज ॥१४४॥

वह महाघोष सुघोर।
गरज उठा गम्भीर।
उगते ही दिनकरवीर।
लोपे नक्षत्र ॥१४५॥

वैसे रणवाद्य विविध।
जो कौरव सैन्य में गर्जित।
हुए कहाँ सब विलुप्त।
रहा शून्य ॥१४६॥

वही मानो द्वितीय।
नाद में अद्वितीय।
फूंक रहे धनञ्जय।
देवदत्त ॥१४७॥

दोनों शब्द अद्भुत।
मिले जब एकत्र।
हुआ मानो ब्रह्माण्ड।
शतखण्ड ॥१४८॥

भीमसेन आविष्ट।
महाकाल इव क्षुब्ध।
बजा उठे निज पौण्ड्र।
महाशङ्ख ॥१४९॥

महाप्रलय के जलधर।
जैसी गम्भीर गरज।
बजा रहे युधिष्ठिर।
अनन्तविजय ॥१५०॥

नकुल का सुघोष।
सहदेव का मणिपुष्पक।
बजे, नाद से अन्तक।
भयग्रस्त ॥१५१॥

भूपति थे अनेक।
द्रुपद - द्रौपदेयादिक।
काशीपति सुवीर।
महाबाहु ॥१५२॥

महारथी अर्जुन-सुत।
सात्यकि अपराजित।
धृष्टद्युम्न नृपनाथ।
शिखण्डी दृढ़ ॥१५३॥

विराटादि नृपवर।
जो सैनिक मुख्यवीर।
बजे सब के शङ्ख।
निरन्तर ॥१५४॥

पा महाघोष निर्घात।
शेष-कूर्म अचम्भित।
घबराहट में भूभार।
रहा छूट ॥१५५॥

तीनों लोक डगमग।
मेरु मन्दर आन्दोलित।
उछल रहा समुद्र-जल।
कैलास तक ॥१५६॥

उलट रहा सा पृथ्वीतल।
टूट पडा नभमण्डल।
बरस रहे धरती पर।
नक्षत्र सब ॥१५७॥

सृष्टि गई रे गई।
देवों को आधार नहीं।
सत्य लोक में हाँक हुई।
यही एक ॥१५८॥

दिन में दिनकर डूब चला।
प्रलयकाल सा आ पहुँचा।
वैसा हाहाकार मचा।
त्रिलोक में ॥१५९॥

आदिपुरुष विस्मित।
मानो निकट भवअन्त।
तब घोष वह अद्भुत।
किया शान्त ॥१६०॥

इस से मानो जग रक्षित।
अन्यथा होता युगान्त।
जैसे गूंजे थे महाशङ्ख।
कृष्णादि के ॥१६१॥

घोष हुआ उपसंहृत।
प्रतिध्वनि रही गुञ्जित।
उसीसे मानो विध्वंसित।
कौरवदल ॥१६२॥

गज-समूह आतङ्कित।
होता सिंह से विदारित।
वैसे ही हुआ भेदित।
कौरवहृदय ॥१६३॥

भयावना वह घोष उठा।
वीरों का भी धैर्य छुटा।
प्रत्येक परस्पर कहे खड़ा।
रह सावधान ॥१६४॥

प्रौढ़ बल-सम्पन्न।
महारथी वीर आसन्न।
सँभालते निज सैन्य।
दे आश्वासन ॥१६५॥

फिर भलीभाँति सब उमड़े।
द्विगुण वेग से आगे बढ़े।
उस घड़ी प्रक्षुब्ध हुए।
लोक त्रय ॥१६६॥

बाण-वृष्टि धनुर्धर।
बरसाते निरन्तर।
ज्यों प्रलयान्त जलधर।
दुर्निवार ॥१६७॥

यह देख अर्जुन ने।
सन्तोष माना मन में।
डाली दृष्टि संभ्रम से।
सैन्य पर ॥१६८॥

संग्राम-हित हुए सज्ज।
देखे सभी कौरव।
लीलया उठाया धनुष।
अर्जुन ने तब ॥१६९॥

तब बोला हे देव!
शीघ्र ले चलें रथ।
जहाँ जुटे उभयदल।
रखें मध्य ॥१७०॥

देखूं जरा क्षणभर।
सकल सैनिक वीर।
आये जो सदलबल।
करने युद्ध ॥१७१॥

सामने जो खचित।
किन से जूझना उचित।
है देखना समुचित।
समर – पूर्व ॥१७२॥

बहुधा ये कौरव।
हैं आतुर दुःस्वभाव।
पराक्रम बिना ही साहस।
करते युद्ध का ॥१७३॥

युद्ध की उमङ्ग करते।
समर में धीर न धरते।
वर्णन कर राजा से।
बोला सञ्जय ॥१७४॥

कहा इतना अर्जुन ने।
हाँका रथ तब कृष्ण ने।
दोनों सैन्यों के मध्य में।
किया स्थापित ॥१७५॥

जहाँ भीष्म – द्रोणादिक।
सम्बन्धी थे सम्मुख।
और भी अनेक नृप।
उपस्थित ॥१७६॥

स्थिर होने पर रथ।
देखे अर्जुन चकित।
वह दलभार समस्त।
ससंभ्रम ॥१७७॥

पार्थ कहे देख-देख।
ये गोत्र-गुरू अशेष!
कृष्ण-मनमें क्षण एक।
हुआ विस्मय ॥१७८॥

कहा प्रभु ने निज मन में।
न जाने सोचा क्या अर्जुनने।
अवश्य विशेष कुछ इसमें।
है आश्चर्य ॥१७९॥

यद्यपि होता पूर्व-सूचित।
सहज जानें सर्व-हृदयस्थ।
पर रहे वहाँ मानो चकित।
स्तब्ध इव ॥१८०॥

उधर पार्थ सकल।
पितृ-पितामह केवल।
गुरु – बन्धु – मातुल निज।
रहा देख ॥१८१॥

अपने ही इष्ट मित्र।
देखे वहाँ पुत्र-पौत्र।
सभी हुए थे एकत्र।
समर-हेतु ॥१८२॥

सुहृद् और श्वशुर-कुल।
अनेकों आये मिल।
पार्थ के दृष्टिगोचर।
हुए सब ॥१८३॥

जो थे बहुधा उपकृत।
या जिनसे स्वयं रक्षित।
सभी ज्येष्ठ–कनिष्ठ।
उपस्थित ॥१८४॥

निजगोत्र ही उभय दल।
समराङ्गण में प्रस्तुत।
अवलोका अर्जुन ने उस पल।
विस्मित हृदय ॥१८५॥

तब चित्त हो उठा व्याकुल।
हुआ क्षोभ स्वयं पर।
गई छोड़ करुणा-अपमानित–।
वीरवृत्ति ॥१८६॥

जो नारी उत्तम कुलीना।
हो गुण-लावण्य-सम्पन्ना।
निज गृह में न सहे प्रवीणा।
अन्य का तेज ॥१८७॥

नवीन में आसक्त हुए।
कामुक निजवनिता भूलें।
विवेकहीन ही अनुसरें।
मूढ इव ॥१८८॥

या तपोबल से ऋद्धि।
पाकर भ्रष्ट हुई बुद्धि।
तब वैराग्य की सिद्धि।
होती विस्मृत ॥१८९॥

वैसा अर्जुन वहाँ हुआ।
विद्यमान पुरुषत्व गया।
अन्तःकरण में था छाया।
कारुण्य ही ॥१९०॥

मान्त्रिक से हो अपचार।
उसी में भूत करे सञ्चार।
करता धनुर्धर अतिविचार।
महामोह-ग्रस्त ॥१९१॥

वर्तमान भी गया धैर्य।
अतिशय द्रवित हुआ हृदय।
चन्द्र-स्पर्श से पाता विलय।
ज्यों सोमकान्त ॥१९२॥

तब अतिक्षुब्ध पार्थ।
अतिस्नेह से मोहित।
बोला अति खेद-सहित।
श्री अच्युतप्रति ॥१९३॥

देव सुनें! बोला पार्थ।
देखा मैंने यह समुदाय।
सम्पूर्ण गोत्र–परिवार।
यहाँ एकत्र ॥१९४॥

सङ्ग्राम–हेतु उद्युक्त।
हुए सचमुच समस्त।
पर अपने लिये उचित।
क्या व्यवहार ॥१९५॥

इन से युद्ध का नाम।
लेते ही मन अविराम।
पाता क्लेश, बुद्धि स्वधाम।
छोड़ अस्थिर ॥१९६॥

देखते देह काँपता।
और मुख भी सूखता।
होती व्याकुलता।
सकल गात्र ॥१९७॥

सर्वाङ्ग रोमाञ्चित।
हुए अति – सन्तप्त।
गाण्डीव होता च्युत।
शिथिल कर ॥१९८॥

धनुष हुआ स्खलित।
हृदय अतीव विचलित।
आन्तर्बाह्य-तनु-भरित ।
स्वजन-मोह ॥१९९॥

था जो वज्राधिक कठिन।
दुर्धर अति दारुण।
उपजा उस में असाधारण।
स्नेह नवल ॥२००॥

सङ्ग्राम में शङ्कर विजित।
निवातकवच भी पराजित।
क्षणभर में मोह-कवलित।
अर्जुन वह ॥२०१॥

भ्रमर करता छिन्न।
कैसा भी काष्ठ कठिन।
पर करती उसे आच्छन्न।
कमलकली कोमल ॥२०२॥

भले होता प्राण-खेद।
करता नहीं कमल-भेद।
दिखा वैसा भाव स्नेह।
कोमलकठिन ॥२०३॥

यह आदिपुरुष की माया।
जिससे ब्रह्मा तक भरमाया।
उसी ने अर्जुन को भुलाया।
कहे सञ्जय ॥२०४॥

राजन् सुनें, वह अर्जुन।
देख कर सकल स्वजन।
बिसरा उसे अभिमान।
संग्रामहित ॥२०५॥

न जाने कैसा सदयत्व।
उपजा उस के चित्त।
कहा कृष्ण से – "मैं अशक्त।
फेरिये रथ ॥२०६॥

मन अतिशय व्याकुल।
हो रही वाचा विकल।
सब करण होते शिथिल।
देख स्वजनवध ॥२०७॥

यदि कौरव हैं वध्य।
युधिष्ठिरादि क्यों सुरक्ष्य।
हम सभी तो गोत्रीय।
परस्पर ॥२०८॥

अतः जल जाय युद्ध।
करता मम मन विद्ध।
क्या भला इस से सिद्ध।
महापाप यह ॥२०९॥

देव! हम सब विचारें।
फल–गुण–दोष निहारें।
रण केवल हानि प्रसारे।
नहीं लाभ ॥२१०॥

मन से विजयवृत्ति बही।
रण मेरा कर्तव्य नहीं।
राज्य-लालसा नहीं रही।
देखें देव! ॥२११॥

स्वजन-वध से जो मिलें भोग।
उन्हें भले ही लगे आग।
पाप से पहले सकूँ जाग।
कहे पार्थ ॥२१२॥

भले भाग कर दुःखी रहूँ।
अपमानादि कष्ट सहूँ।
विजय छोड़ कर मृत्यु गहूँ।
जियें स्वजन ॥२१३॥

इन सब का करूँ घात।
भोगूं राज्य-सुख-सङ्घात।
मनमें, स्वप्नमें भी, यह बात।
कहनी अशक्य ॥२१४॥

किसलिये हमारा जन्म।
किन के लिये जीवन।
यदि गुरुजन–प्रति आचरण।
हो विरुद्ध ॥२१५॥

पुत्र हों, चाहता कुल।
उन का क्या यही फल।
करें निर्दलित केवल।
निज गोत्र! ॥२१६॥

यह मनमें भी कैसे धरें।
क्योंकर वज्रकठिन बनें।
उचित, हर सम्भव भला करें।
रक्षें वंश ॥२१७॥

हम कर सकें जितना योग।
सब का ये करें भोग।
जगजीवन का यही उपयोग।
हों सुखी सब ॥२१८॥

दिग्‌दिगन्त के भूपाल।
बल से जीतें सकल।
सन्तुष्ट करें, दें सँभाल।
निज कुल ॥२१९॥

तब फिर क्यों समस्त।
करें कर्म विपरीत।
हुए ही हम क्यों उद्यत।
करने युद्ध ॥२२०॥

अन्तःपुर और कुमार।
छोड़ कर भाण्डार।
मुला जीव शस्त्र-धार।
आये सब ॥२२१॥

ऐसों को कैसे मारूँ।
इन पर मैं शस्त्र धारूँ?
निज हृदय का ही करूँ।
कैसे घात! ॥२२२॥

नहीं जानते क्या ये कौन।
खड़े उधर भीष्म-द्रोण।
जिन के उपकार असाधारण।
हम पर बहुत ॥२२३॥
यहाँ श्याल, श्वशुर, मातुल।
और भी बन्धु सकल।
पुत्र-पौत्रादि केवल।
सभी इष्ट ॥२२५॥
देखें ये सभी निकट के।
हमारे सम्बन्धी सगे।
कहने में भी दोष लगे।
युद्ध की बात ॥२२५॥
उलटे, ये भले जो भी करें।
यहाँ पर हमें ही मारें।
पर हम मन में न लावें।
इन का घात ॥२२६॥
त्रैलोक्य का अकण्टक।
राज्य भले हो प्राप्त।
तब भी न करूँ अनुचित।
आचरण यह ॥२२७॥
यदि आज ऐसा आचरें।
फिर कौन हमें आदरे।
मुख भी आपका देखें कैसे ?
कहो नाथ! ॥२२८॥
वध किया यदि गोत्रजों का।
बनूंगा पात्र दोषोंका।
मिले आप, सौभाग्य भवों का।
होगा दूर ॥२२९॥
कुलनाश के पातक।
अङ्ग-प्रत्यङ्ग में व्याप्त।
उस दशा में कैसे कहाँ।
दिखेंगे आप! ॥२३०॥

जैसे उद्यान में अनल।
सञ्चरित देख प्रबल।
न रहता क्षण भी कोकिल।
वहाँ स्थिर ॥२३१॥
अथवा सकर्दम सरोवर।
अवलोक कर चकोर।
सहज उसे तिरस्कृत कर।
जाता निकल ॥२३२॥
तब हो जाओगे देव।
माया में फँसा कर।
मुझे पुण्यक्षीण कर।
आप दूर ॥२३३॥
अतः यह न करूँगा।
रण में शस्त्र न धरूँगा।
निन्द्य कर्म में न पड़ूँगा।
कहे पार्थ ॥२३४॥
तुम से यदि अन्तराय।
आये, फिर क्या उपाय।
दु:ख से हृदय फट जाय।
तुम विना कृष्ण ॥२३५॥
अतः कौरवों का वध करें।
और स्वयं राज्य भोगें।
नाम भी इस का न लें।
कहे अर्जुन ॥२३६॥
ये अभिमान मद में भूले।
सङग्रामहेतु आये भले।
पर हम तो समझ कर देखलें।
हित-अहित ॥२३७॥
हम क्यों यह करें-करावें।
अपनों से अपनों को मरावें।
जान बूझ कर क्यों खावें।
कालकूट ॥२३८॥

वन-मार्ग चलते हुए।
सामने यदि हिंस्र आवे।
दूर हट निज को बचावें।
यही उचित ॥२३९॥

दिखता प्रकाश छोड़े।
अन्ध कूप की ओर दौड़े।
तो क्यों न लाभ मुख मोड़े।
कहो देव! ॥२४०॥

सामने जब अग्नि दिखे।
बच कर न यदि दूर हटें।
तो क्षणभर में शिखा बढ़े।
जलाये तन ॥२४१॥

वैसे यह दोष मूर्त।
चाहता चिपटना समस्त।
फिर कैसे हों इस में प्रवृत्त।
सब जान कर ॥२४२॥

उस अवसर पर अर्जुन।
कहने लगा खिन्न मन।
कितना यह कल्मष गहन।
सुनें देव ॥२४३॥

काष्ठ से काष्ठ मथा जाये।
वही वह्नि को उपजाये।
वही काष्ठ-समूह जलाये।
सुलग कर ॥२४४॥

वैसे गोत्रों का परस्पर।
वध कराये मत्सर।
होता महादोष घोर।
कुलनाश ॥२४५॥

अतएव यह पाप।
करेगा वंशधर्म-लोप।
होगा अधर्म आरोप।
निज कुल पर ॥२४६॥

सारासार-विचार।
और उचित आचार।
विधि-निषेध व्यवहार।
होगा नष्ट ॥२४७॥

जलता दीप बुझायें।
फिर अँधेरे में टकरायें।
कुपथ पर पग भटकायें।
खोये पथ ॥२४८॥

कुल से हो यदि कुलक्षय।
तो आद्य धर्म ही जाय।
रहे क्या पाप सिवाय।
भला वहाँ ॥२४९॥

यम-नियम का होता पतन।
करें इन्द्रिय स्वैर नर्तन।
कुलस्त्रियों में व्यभिचरण।
फैले दोष ॥२५०॥

न देखें उत्तम-अधम।
वर्ण-अवर्ण सङ्क्रम।
होता समूल विघटित।
जाति-धर्म ॥२५१॥

चौक में बिखरे बलि पर।
कौए टूटते आकर।
वैसे महापाप से वह कुल।
होता व्याप्त ॥२५२॥

उस कुल के सभी।
और कुलघातकी भी।
विविध नरक को ही।
होते प्राप्त ॥२५३॥

वंशवृद्धि समस्त।
इस से होती पतित।
नीचे गिरते स्वर्गस्थ।
पूर्वपुरुष ॥२५४॥

जब निरय कर्म रुकते।
नैमित्तिक बन्द रहते।
श्राद्ध-तिलोदक देते।
तब कौन? ॥२५५॥

तब पितर क्या करें।
स्वर्ग में कैसे ठहरें?
विवश नीचे उतरें।
कुल समीप ॥२५६॥

सर्प ' डसे जो नखाग्र।
विष फैले शिखान्त।
पाप डुबाता आब्रह्म।
समस्त कुल ॥२५७॥

देव! सुनें और एक।
इस से होता महापातक।
सङ्गदोष से लोक समस्त।
पाता भ्रंश ॥२५८॥

जैसे एक घर में।
दैववश अग्नि लगे।
अनेक घर जल उठें।
जो समीप ॥२५९॥

वैसे, उस कुल से संयोग।
पाते जो भी लोग।
उन्हें ग्रसता पाप-रोग।
इसी निमित्त ॥२६०॥

नाना दोषों से सकल।
महाघोर केवल।
निरय भोगते कुल।
कहे अर्जुन ॥२६१॥

एक बार जो निरय पड़े।
कोटि कल्प नहिं निकल सके।
कुलक्षय ऐसा, अर्जुन कहे।
पतन भीषण ॥२६२॥

सुनते यह वृत्तान्त भीषण।
हृदय हुआ क्या वज्र-कठिन।
अब भी उचित क्या लड़ना रण।
कहो देव! ॥२६३॥

अपेक्षित यह राज्यसुख।
जिनके लिये, वे क्षणिक।
दोष जान भी क्या अनुचित?
परित्याग ॥२६४॥

ये सभी गुरुजन कुल के।
वध-दृष्टि से मैंने देखे।
यही क्या कम पाप-लेखे।
कहो नाथ! ॥२६५॥

ऐसे जीने की अपेक्षा।
प्रतीत होता यही अच्छा।
मुझ पर करें ये बाण-वर्षा।
करूँ सहन ॥२६६॥

इसी से हो यदि मरण।
करूँगा सहर्ष वरण।
पर होगा नहीं सहन।
महाकल्मष ॥२६७॥

देखा ऐसे वहाँ सकल।
अर्जुन ने अपना कुल।
कहा यह राज्य केवल।
नरकभोग ॥२६८॥

ऐसे उस अवसर पर।
अर्जुन बोला मध्य समर।
कहे सञ्जय करें श्रवण।
हे धृतराष्ट्र ॥२६९॥

अत्यन्त हुआ उद्विग्न।
स्थिति नहीं हुई सहन।
कूदा रथ से अतिखिन्न।
अधीर अर्जुन ॥२७०॥

राजकुँवर ज्यों पदच्युत।
होता सर्वथा उपहत।
अथवा रवि राहुग्रस्त।
प्रभाहीन ॥२७१॥

महासिद्धि के संभ्रम से।
लुब्ध तापस भ्रम से।
घिरकर विषय-काम से।
होता दीन ॥२७२॥

वैसा वह धनुर्धर।
अत्यन्त दुःख से जर्जर।
उत्तम रथ त्यज कर।
खड़ा भू पर ॥२७३॥

छोड़ दिये धनुष-बाण।
अश्रु बरसाते नयन।
कहे सञ्जय ऐसा अर्जुन।
हुआ राजन् ! ॥२७४॥

तब वे वैकुण्ठनाथ।
देख कर सखेद-पार्थ।
करने लगे वहाँ परमार्थ –।
निरूपण ॥२७५॥

वह कथा सविस्तर।
अतीव रस-प्रचुर।
सादर सुनें श्रोतृवर।
कहे निवृत्तिदास ॥२७६॥

इति श्रीमद्ज्ञानेश्वरविरचितायां श्रीमद्‌भगवद्‌गीता – 'भावार्थ दीपिकायाम्' अर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्याय: ॥

॥ हरि: ॐ तत् सत् ॥

॥ ॐ हरिः ॐ ॥

द्वितीय अध्याय

कहे सञ्जय सुनें धृतराष्ट्र।
शोकाकुल हुआ पार्थ।
करता रुदन अति विक्लान्त।
विह्वल मन ॥१॥

देख कर कुल समस्त।
उपजा स्नेह अद्‌भुत।
इसी से द्रवित चित्त।
कैसा पार्थ ॥२॥

जैसे जल में लवण गले।
वायुवेग से अभ्र ढलें।
धैर्यवन्त, किन्तु पिघले।
हृदय वैसे ॥३॥

दया-कृपा में मूढ़ धँसा।
अर्जुन अतीव म्लान सा।
दीखे कर्दम में फँसा।
ज्यों राजहंस ॥४॥

व्याकुल पाण्डु-कुँवर।
महामोह से अति जर्जर।
देख उसे श्रीशार्ङ्गधर।
उठे बोल ॥५॥

भैया! तनिक विचारो।
स्थान-समय उर धारो।
मत अपना धर्म बिसारो।
कौन तुम? ॥६॥

आज तुम्हें क्या हुआ कहो।
क्यों ऐसी दीनता गहो?
क्या कर्तव्य विनष्ट अहो।
कैसा खेद? ॥७॥

नहिं अनुचित पर चित्त मोड़ते।
धैर्य कहीं भी नहीं छोड़ते।
तव नाम सुन अपयश दौड़ते।
त्याग दिगन्त ॥८॥

तुम शौर्य के निधान।
क्षत्रियों में मुकुट-स्थान।
तव पराक्रम करते गान।
त्रिभुवन ॥९॥

समर में हर पराजित।
उच्छिन्न हुआ निवातकवच।
करते गान यश-चरित।
गन्धर्व सकल ॥१०॥

खोजें यदि तव तुल्य।
अल्प पड़ता त्रैलोक्य।
ऐसा पौरुष सुदृढ़ भव्य।
तेरा पार्थ ॥११॥

वही तुम आज कैसे?
वीरवृत्ति निज त्याग बैठे।
अधोमुख रुदन करते।
अहो मित्र! ॥१२॥

विचारो जरा अर्जुन।
किस कारुण्य से दीन।
क्या कभी हुआ भानु।
तमोग्रस्त? ॥१३॥

मेघ से क्या डरे पवन।
अमृत क्या पाता मरण?
पावक को जाता निगल।
कभी इन्धन? ॥१४॥

लवण से क्या जल गले ?
निज संग से कालकूट मरे ?
सर्प को दर्दुर निगले।
सुना कभी ? ॥१५॥

सिंह पर श्रृगाल झपटे।
क्या कभी यह घटना घटे ?
देख तुम्हें वह सच लगे।
यहाँ आज ॥१६॥

अब भी सखे अर्जुन।
निकालो चित्त से हीनपन।
शीघ्र धीर करो मन।
हो सावधान ॥१७॥

त्यजो सत्वर मूर्खपन।
उठो धरो धनुषबाण।
सङ्ग्राम में यह कारुण्य।
कैसा भला ? ॥१८॥

अरे तू तो सुधीर ज्ञाता।
यहां नहीं क्यों विचारता।
रणभूमि में सदयता।
कैसे उचित ? ॥१९॥

वर्तमान कीर्ति का नाश।
परलोक का भी ह्रास।
होगा, कहें जगन्निवास।
अर्जुनप्रति ॥२०॥

अतः शोक न करो।
पूर्ण धैर्यं धारण करो।
विषाद सब त्याग दो।
पाण्डुकुँवर ! ॥२१॥

यह नहीं तुम्हें उचित।
नष्ट होगा यश सञ्चित।
अब भी विचारो निजहित।
प्रियसखे ! ॥२२॥

उपस्थित फल युद्ध का।
अयुक्त यहाँ कृपालुता।
कौरवों से अपना नाता।
क्या जाना आज ? ॥२३॥

अब तक क्या अज्ञात।
ये सभी गोत्र-नात ?
क्यों करते व्यर्थ आज।
अतिरेक ऐसा ? ॥२४॥

आज का सङ्ग्राम।
तव जन्म में क्या प्रथम ?
कलह रहा अविराम।
परस्पर ॥२५॥

फिर आज तुम्हें क्या हुआ ?
कहाँ से यह स्नेह उगा ?
कौन जाने, पर बुरा किया।
अरे पार्थ ॥२६॥

इस मोह का परिणाम।
होगा प्रतिष्ठा का नाश।
इह – पर – लोक – विनाश।
यही केवल ॥२७॥

हृदय की शिथिलता।
रणभूमि में क्लीबता।
क्षत्रियों की पतितता।
कहलाती ॥२८॥

बोले यह कृपावन्त।
विविध विधि भगवन्त।
सिखावन सुन विभ्रान्त।
बोला अर्जुन ॥२९॥

देव ! यह इतना कथन।
लगे मुझे निष्प्रयोजन।
आप ही विचारें प्रथम।
सङ्ग्राम क्यों ? ॥३०॥

यह युद्ध नहीं, महापाप।
देगा हमें अतिसन्ताप।
अस्त करना कुल-प्रताप।
यहाँ प्राप्त ॥३१॥

जो मात-पिता अति पूज्य।
सर्वस्व से सन्तोष्य।
उन का कैसे करें वध।
अपने हाथ! ॥३२॥

सन्त सदा नमस्कार्य।
सर्वथा ही सुपूज्य।
कैसे उन्हें कहें निन्द्य।
निजमुख से? ॥३३॥

ये गोत्रगुरु स्वकीय।
नियमतः पूजनीय।
मेरे विशेष आदरणीय।
भीष्म-द्रोण ॥३४॥

वैर जिन से मन में भी।
कर न सकता स्वप्न में भी।
कैसे करूँ प्रत्यक्ष ही।
घात उन का? ॥३५॥

ऐसा तो व्यर्थ जीवन।
जितना किया विद्याभ्यसन।
क्या उस का यही प्रयोजन।
गुरुघात? ॥३६॥

द्रोण-शिष्य मैं पार्थ।
सीखा धनुर्वेद सार्थ।
करूँ आभार व्यक्त।
वध द्वारा? ३७॥

जिन की कृपा से प्राप्त वर।
कृतघ्न वहाँ चलाऊँ शर?
बनूं क्या आज भस्मासुर?
कहे अर्जुन ॥३८॥

सुना अति-गम्भीर समुद्र।
पर होता वह भी क्षुब्ध।
स्वप्न में भी न देखे क्रुद्ध।
आचार्य द्रोण ॥३९॥

कहलाता अपार गगन।
भले हो उस का मपन।
किन्तु अगाध गहन।
द्रोण-हृदय ॥४०॥

अमृत भले हो विकृत।
कालवश वज्र खण्डित।
न मनोधर्म परिवर्तित।
द्रोण का कभी ॥४१॥

मातृ-स्नेह सुपरिचित।
होता बहुधा वर्णित।
मूर्त कृपा अपरिमित।
गुरु द्रोण ॥४२॥

ये कारुण्य के आदि।
सकल गुणों के निधि।
विद्या – सिन्धु निरवधि।
कहे अर्जुन ॥४३॥

हैं ये सर्वथा महान्।
मुझ पर कृपावान्।
इन का घात अपमान।
सोचूं कैसे? ॥४४॥

रण में इन्हें मारना।
फिर राज्य सुख भोगना।
प्राण जाँय पर सोचना।
अशक्य यह ॥४५॥

भले हो राज्य-सुख वरिष्ठ।
मुझे नहीं वह इष्ट।
न करूँ यह कृत्य निकृष्ट।
भिक्षा भली ॥४६॥

भले छूटें देश घर।
सेवें फिर गिरि-कन्दर।
न धारें शस्त्र इन पर।
कभी हम ।।४७।।

देव ! नव निशित बाण।
करें विद्ध मर्मस्थान।
कैसा सुख-भोग-ग्रहण।
रुधिरसिक्त ! ।।४८।।

ऐसों को क्यों करें प्राप्त।
सुख क्या भोगें रक्त--लिप्त।
इसीलिये लगे अयुक्त।
मुझे युद्ध ।।४९।।

कहे तब अर्जुन।
विचारिये श्रीकृष्ण।
भाया नहीं मुरारि-मन।
यह कथन ।।५०।।

यह समझ पार्थ सभीत।
कहने लगा सशङ्कित।
क्यों इस विषय में चित्त।
देते न देव ।।५१।।

मेरे चित्त में जो उठा।
वही विचार मैंने कहा।
किन्तु उचित या अनुचित क्या ?
जानें आप ही ।।५२।।

जिन से वैर हुआ सुनकर।
चले प्राण तनु तज कर।
वे ही समरभूमि पर।
खड़े सम्मुख ।।५३।।

ऐसों का वध करें।
या छोड़ इन्हें बस निकल चलें।
दोनों में से क्या चुन लें।
समझूं न मैं ।।५४।।

मेरे लिये क्या उचित।
होता नहीं यह स्फुरित।
क्यों कि मोह से चित्त।
विकल मेरा ।।५५।।

तिमिराविरुद्ध जैसे।
दृष्टि का तेज भ्रंशे।
समीपस्थ भी न दिखे।
वस्तुजात ।।५६।।

हाल वही मेरा हुआ।
मन को भ्रान्ति ने ग्रसा।
हित किस में हम सब का।
नहीं जानता ।।५७।।

अतः श्रीकृष्ण बतावें।
हित मुझे समझावें।
सखा सर्वस्व हमारे।
इक आप ही ।।५८।।

तुम हो गुरु बन्धु पिता।
तुम्हीं हमारे इष्ट देवता।
तुम्हीं रहे रक्षक सदा।
सङ्कट-समय ।।५९।।

जैसे शिष्यों का गुरुजन।
न करें सर्वथा अवहेलन।
नहीं नदी-नदों को सागर।
त्यजता कभी ।।६०।।

अपत्य को यदि माँ ही।
छोड़ कर चली जाती।
तो सन्तति कैसे जीती।
सुनिये कृष्ण ।।६१।।

आप हमारे सर्वोपर।
एकमात्र आधार।
यदि मेरा विचार।
लगा अयुक्त ।।६२।।

उचित हमारा क्या कर्म।
व्यभिचरित न हो जिससे धर्म।
वही कृपया पुरुषोत्तम।
कहिये शीघ्र ॥६३॥

ये सकल कुल देख यहाँ।
मन में जो शोक उपजा।
वह आप के वचन बिना।
होगा न दूर ॥६४॥

मिले भले पृथ्वीतल।
अथवा महेन्द्रपद।
छोड़े न मोह यह मन।
अहो नाथ! ॥६५॥

जैसे बीज भर्जित।
सुक्षेत्र में भी रोपित।
होते नहीं अङ्कुरित।
सींचने पर भी ॥६६॥

यदि आयुष्य-पूर्ति-योग।
औषध न मिटाता रोग।
तब उपयोगी पथ्य एक–।
नामामृत ही ॥६७॥

वैसे राज्य, भोग, समृद्धि।
न करें उज्जीवित बुद्धि।
इसे जिलाये कृपानिधि।
कारुण्य तव ॥६८॥

ऐसे तब अर्जुन बोला।
क्षणभर भ्रान्ति ने छोड़ा।
किन्तु फिरसे व्याप लिया।
उसी ऊर्मिने ॥६९॥

लगता मुझे यह ऊर्मि नहीं।
बात निराली ही बनी।
महामोह के कालव्याल ने।
ग्रसा उसे ॥७०॥

हृदय सा मर्मस्थान।
करुणोदय का मृदुक्षण।
ऐसे में डसा विषदशन।
अविरत लहरें ॥७१॥

देख विष का बढ़ा प्रताप।
विषहर दृष्टि हरे सन्ताप।
जिनकी, वे गारुडी दौडे आप।
श्रीहरिः ॥७२॥

व्याकुल अर्जुन कृष्ण–समीप।
शोभित दिखता था अतीव।
रक्षण कर लेंगे कृपाशील।
सहज ही ॥७३॥

क्यों कि वह पार्थ।
दिखा मोह-फणि-ग्रस्त।
किया मैंने रूपक व्यक्त।
इसीलिये ॥७४॥

दिखता फाल्गुन वहाँ स्थित।
अतिशय भ्रान्ति – कवलित।
घन – पटल से आच्छादित।
भानु जैसा ॥७५॥

उस समय वह धनुर्धर।
हुआ दुःख से जर्जर।
ग्रीष्म में जैसे गिरिवर।
दावदग्ध ॥७६॥

तब सहज ही सुनील।
कृपामृत से सजल।
बरसे श्रीगोपाल।
महामेघ ॥७७॥

सुन्दर दशनों की द्युति।
विद्युल्लता झलकती।
गभीर वाचा हो रीति।
गर्जना की ॥७८॥

घन उदार कैसे बरसे।
अर्जुनाचल कैसा सरसे।
उस पर नव अङ्कुर विहँसे।
उन्मेष रूप ॥७९॥

वही सब अब कथा सुनें।
सावधान मन, प्रीतिसे।
देखें, ज्ञानदेव कहे।
निवृत्तिदास ॥८०॥

करे सञ्जय शब्दाङ्कित।
राजन्! सुनें वह पार्थ।
फिर भी हो शोकाकुलित।
कहने लगा ॥८१॥

बोला सखेद श्रीकृष्ण सुनें।
कृपया विवश न करें मुझे।
रण सर्वथा अशक्य मुझसे।
यहाँ निश्चय ॥८२॥

एकाएक बस यही कहा।
फिर वह स्तब्ध ही रहा।
देख उसे विस्मय महा।
श्रीकृष्ण को ॥८३॥

मन ही मन वे यही कहें।
इसे हुआ क्या कौन जाने?
कर्तव्य नहीं क्यों पहचाने।
आज अर्जुन ॥८४॥

कैसे इसे अब समझायें।
क्यों कर धैर्य धरायें।
मान्त्रिक ज्यों ग्रह छुड़ाये।
विचार कर ॥८५॥

या, देख असाध्य व्याधि।
अमृत सम दिव्यौषधि।
वैद्य करे सूचित निरवधि।
निदानहेतु ॥८६॥

वैसे ही श्रीअनन्त।
उभयसैन्य के मध्य।
विचारें, कैसे पार्थ।
छोड़े भ्रान्ति ॥८७॥

कारण समझ निज मन में।
बोले सरोष से वचन वे।
जैसे माता के कोप में।
भरा स्नेह ॥८८॥

जैसे औषध का कड़वापन।
करता अमृत का ही व्यापन।
रहता अदृश्य, पर उसके गुण।
होते प्रकट ॥८९॥

वैसे दिखते अति कठोर।
परिणाम में सुहितकर।
हृषीकेश तब वचन वर।
कहने लगे ॥९०॥

कहा कृष्ण ने आज यहाँ।
देखा तेरा रूप नया।
क्या तूने आरम्भ किया।
समर-मध्य ॥९१॥

बनते हो महाज्ञानी।
पर छोड़ते अज्ञान नहीं।
सिखलाते हो मुझ को ही।
विविध नीति ॥९२॥

जात्यन्ध हुआ उन्मत्त।
स्वैर धावे यत्र-तत्र।
वैसा हो तेरा नीतिशास्त्र।
दिखता यहाँ ॥९३॥

तू स्वयं को भी न जाने।
चला कौरव हित शोक करने।
यही विस्मय मेरे मनमें।
वारंवार ॥९४॥

कहो मुझे जरा अर्जुन।
पाते स्थिति क्या तुमसे त्रिभुवन।
निर्भर अनादि यह विश्वघटन।
क्या तुझ पर? ।।९५।।

है कोई यहाँ एक समर्थ।
उद्भवते जिस से पदार्थ।
जग–प्रसिद्ध ये वचन व्यर्थ।
लगते तुम्हें? ।।९६।।

अब आया क्या सिद्धांत नया।
जन्म–मृत्यु तूने बनाया।
तू नष्ट करे तो नष्ट हुआ।
माने जगत् ।।९७।।

तेरे 'अहं' की भ्रान्त धारणा।
जो नहीं चाहता इन्हें मारना।
इस से क्या होगी यह सेना।
चिरन्तन? ।।९८।।

तू ही एक वध करता।
इसी से सकल विश्व मरता।
मत भ्रम ऐसा मन में धरता।
कभी अर्जुन ।।९९।।

अनादि सिद्ध यह जगत्–भाव।
उत्पत्ति नाश इसका स्वभाव।
इस पर क्यों करता शोक व्यर्थ।
कह तो सही? १००।।

मूर्खता में नहीं समझते।
अचिन्त्य की चिन्ता करते।
उलटे मुझे नीति सिखाते।
आज तुम ।।१०१।।

सचमुच हैं जो विवेकी।
उन्हें दोनों का शोक नहीं।
आने-जाने को वे भ्रम ही।
समझ रहते ।।१०२।।

और बात सुनो अर्जुन।
यहाँ खड़े हैं जो हम–तुम।
नाना देशों के भूपति-दल।
सन्नद्ध सब ।।१०३।।

ये ऐसे रहेंगे नित्य।
अथवा सभी होंगे नष्ट।
भ्रान्ति यह त्यागो, असत्य।
दोनों पक्ष ।।१०४।।

यह उत्पत्ति और नाश।
दिखते हैं मायावश।
वस्तुतः नित्य अविनाश।
तत्त्व इन का ।।१०५।।

जैसे पवन से जल हिला।
तरङ्ग बन वही उछला।
वहाँ कौन किस से निकला।
कहना अशक्य ।।१०६।।

उसी पवन का हुआ स्फुरण।
सहज–सपाट हुआ जीवन।
किसका किसमें है विसर्जन।
विचार तू ।।१०७।।

और सुनो, यह शरीर एक।
वयस्–भेद से होता अनेक।
यह तो प्रत्यक्ष ही देख।
प्रमाण तू ।।१०८।।

पहले कौमार्य दिखता।
तारुण्य में वह नष्ट होता।
वही शरीर बना रहता।
प्रत्येक में ।।१०९।।

वैसे चैतन्य अनन्त पर।
होते जाते शरीरान्तर।
देखे, समझे, न पाये वह।
व्यामोह-दुःख ।।११०।।

अज्ञान का यही कारण।
इन्द्रियों का आधीनपन।
उन्हीं से अन्तःकरण।
होता भ्रमित ॥१११॥

इन्द्रियों से विषय-सेवन।
करे हर्ष-शोक उत्पन्न।
इस सङ्ग से अन्तःकरण।
आप्लावित ॥११२॥

जिन विषयों में कभी कहीं।
एकनिष्ठता रहे नहीं।
सुख-दुःख रूप अनेक वहीं।
दिखा करते ॥११३॥

देखें, शब्दोंकी व्याप्ति।
निन्दा और प्रशस्ति।
ऐसे द्वेषाद्वेष-उत्पत्ति।
श्रवण-द्वार से ॥११४॥

मृदु और कठिन।
स्पर्श के उभय गुण।
सन्तोष-खेद उत्पन्न।
वपु-सङ्ग से ॥११५॥

भीषण और सुरेख।
ये रूप के स्वरूप देख।
यही उपजाते सुख-दुःख।
नेत्र द्वारा ॥११६॥

सुगन्ध और दुर्गन्ध।
ये परिमल के भेद।
देते तोष-विषाद।
घ्राण द्वारा ॥११७॥

वैसे ही द्विविध रस।
उपजाते प्रीति-त्रास।
इसी से करता अपभ्रंश।
विषयसङ्ग ॥११८॥

जो होते इन्द्रियाधीन।
वे पाते शीत-उष्ण।
सुख-दुःख का बन्धन।
स्वयं ही ॥११९॥

इन विषयों से अन्य।
कुछ नहीं सर्वथा रम्य।
है यही स्वभावगम्य।
इन्द्रियों का ॥१२०॥

ये विषय हैं कैसे?
रोहिणी के जल जैसे।
या स्वप्न में ज्यों आभासे।
गजसमूह ॥१२१॥

हैं अनित्य ये विषय।
रख तू यही निश्चय।
त्याग सर्वथा सङ्ग-सञ्चय।
धनुर्धर ॥१२२॥

इन विषयों से जो नहीं खिचते।
वे सुख-दुःख नहीं पाते।
और गर्भवास–सङ्गति से।
रहते मुक्त ॥१२३॥

वह है नित्यरूप पार्थ।
सर्वथा तू जान सार्थ।
जिसे ये इन्द्रियार्थ।
पकड़ें नहीं ॥१२४॥

सुन अर्जुन और एक।
कहता हूँ तुझे विवेक।
जिसे विचारशील लोक।
पहचानते ॥१२५॥

जगदुपाधि में गुप्त।
है चैतन्य सर्वगत।
उसे तत्त्वज्ञ सन्त।
स्वीकारते ॥१२६॥

सलिल में पय जैसे।
एक हुआ मिल रहे।
पटु चञ्चु से विलग करे।
राजहंस ॥१२७॥

या अग्नि में डाल कर।
सब अशुद्धि निकालकर।
शुद्ध स्वर्ण लेते केवल
बुद्धिमन्त ॥१२८॥

अथवा ज्ञान-समर्थ जन।
कर लेते दधि-मन्थन।
होती विलग छाछ, माखन।
दिखे भिन्न ॥१२९॥

कूटें सतुष धान्य।
फटकें तो रहता अन्न।
उड़ जाता तुष अन्य।
होता विलग ॥१३०॥

वैसे विचार से निरस्त।
होता सहज प्रपञ्च।
तत्त्वतः रहता तत्त्व।
ज्ञानियों का ॥१३१॥

इसीलिये जो विषय अनित्य।
वहाँ बुद्धिका नहिं आस्तिक्य।
निष्कर्ष, जहाँ जो सत्य-असत्य।
दोनों ज्ञात ॥१३२॥

करो यदि सारासार-विचार।
तो असार की भ्रान्ति उड़ जाय।
सार का जो नित्य स्वभाव।
वह हो उद्‌घाटित ॥१३३॥

यह लोक-त्रय आकार।
है जिसका विस्तार।
वहाँ नाम, रूप, आकार।
ये चिह्न नहीं ॥१३४॥

जो सर्वदा सर्वगत।
जन्म-क्षय से अतीत।
करने पर भी उसका घात।
असम्भव सदा ॥१३५॥

है शरीर-जात सकल।
स्वभाव से हो नाशवन्त।
अतः युद्ध करणीय।
हे पाण्डुकुँवर! ॥१३६॥

धारण करके देहाभिमान।
दृष्टि भी देहपरायण।
'मैं वधकर्ता, कौरव वध्य'।
कह रहा तू ॥१३७॥

पर तू न जाने अर्जुन।
करो यदि तत्त्वचिन्तन।
तो नहीं तू वधकर्ता।
वे न वध्य ॥१३८॥

ज्यों स्वप्न में जो भी देखें।
स्वप्न में वह सत्य लगे।
पर जाग कर जब परखें।
कहीं कुछ नहीं ॥१३९॥

वैसे ये माया-कृत्य।
तू भ्रमित होता व्यर्थ।
छाया पर चले शस्त्र।
न बिंधे अङ्ग ॥१४०॥

ज्यों पूर्ण कुम्भ दें उलट।
दिखे प्रतिबिम्ब का भ्रंश।
पर भानु का नहीं नाश।
उसके सहित ॥१४१॥

जैसे मठ में आकाश।
उतर हुआ मठाकार।
यदि हो मठ का विनाश।
स्वरूप शेष ॥१४२॥

होता शरीरों का लोप।
नष्ट नहीं सर्वथा स्वरूप।
अतः न कर आरोप।
भ्रान्ति का तात! ॥१४३॥

ज्यों जीर्णवसन उतारें।
फिर नूतन पहन लें।
त्यों देहान्तर स्वीकारे।
चैतन्यनाथ ॥१४४॥

यह अनादि नित्यसिद्ध।
निरुपाधि विशुद्ध।
अतः शस्त्रादि से छेद।
सम्भव नहीं ॥१४५॥

प्रलयोदक से न डूबे।
अग्निदाह से न जले।
महाशोष नहिं कर सके।
मारुत यहाँ ॥१४६॥

अर्जुन यह नित्य।
अचल शाश्वत सत्य।
सर्वत्र सदा उदित।
परिपूर्ण यह ॥१४७॥

तर्क आदि की दृष्टि।
न देखे इसे किरीटी।
ध्यान को भी भेंट की।
उत्कण्ठा रहे ॥१४८॥

मन को सदा दुर्लभ्य।
साधन से नहिं प्राप्य।
वह निःसीम, अलङ्घ्य।
पुरुषोत्तम ॥१४९॥

वह गुणत्रय से रहित।
अनादि तथा अविकृत।
अभिव्यक्ति से अतीत।
सर्वरूप ॥१५०॥

यदि उसे ऐसा जाने।
सकलात्मक ही देखे।
तो सहज सब शोक मिटे।
तेरा अर्जुन ॥१५१॥

न हो भले वैसा अवगत।
माने तू उसका अन्त।
तो भी शोक नहीं उचित।
पाण्डुकुँवर ॥१५२॥

जो आदि–स्थिति–अन्त।
सब में निरन्तर नित्य।
जैसे प्रवाह अनुस्यूत।
गङ्गाजल का ॥१५३॥

नहीं आदि में खण्डित।
सागर में होता मिलित।
मध्य में भी प्रवाहित।
दिखे जैसे ॥१५४॥

ऐसे ही ये तीन सदा।
रहते समान ही सर्वथा।
भूतमात्र में प्रवाह इन का।
अप्रतिहत ॥१५५॥

अतः इन सब को सोच।
उचित नहीं तेरा शोक।
क्योंकि सृष्टि का स्वभाव।
अनादि ऐसा ॥१५६॥

अन्यथा यदि अर्जुन।
न माने यह तेरा मन।
तो देख जन्म-क्षय-अधीन।
सर्वलोक ॥१५७॥

यहाँ पर पाण्डुनन्दन।
नहिं कोई शोक-कारण।
देख ये जन्म-मरण।
अपरिहर ॥१५८॥

जो उपजे वह नाशे।
नष्ट भी फिर आभासे।
घटिकायन्त्र जैसे।
परिभ्रमे ॥१५९॥

उदय-अस्त स्वयं जैसे।
अखण्डित होते जाते।
ये जन्म-मरण भी वैसे।
अनिवार जग में ॥१६०॥

महाप्रलय के अवसर पर।
त्रैलोक्य पाता संहार।
अतएव नहीं परिहार।
आदि – अन्त का ॥१६१॥

तुम यह भलीविधि समझते।
फिर क्यों भला खेद करते।
क्यों जानकर भी न जानते।
धनुर्धर? ॥१६२॥

पार्थ और भी कहूँ तुझे।
कर विचार तो तू समझे।
दुःख-विषय दिखता न मुझे।
कोई यहाँ १६३॥

जितने ये समस्त भूत।
जन्म से पहले अमूर्त।
हो जाते पर सभी व्यक्त।
जन्मते ही ॥१६४॥

और फिर जब पाते क्षय।
नहीं अन्य स्थिति निःसंशय।
अपनी ही पूर्व स्थिति में लय।
पाते हैं ये ॥१६५॥

मध्य में जो है प्रतिभास।
निद्रित को ज्यों स्वप्न भास।
वे सब आकार मायावश।
सत् स्वरूपमें ॥१६६॥

पवन जब स्पर्शे नीर।
वह भासे तरङ्गाकार।
या व्यक्त स्वर्ण में अलङ्कार।
परेच्छा से ॥१६७॥

वैसे ही यह सकल मूर्त्त।
जान सखे मायाकारित।
ज्यों आकाश में बिम्बित।
अभ्र-पटल ॥१६८॥

आदि में भी जो नहीं।
उसके लिये क्यों रोता भाई!
देख तू अविकारी।
चैतन्य एक ॥१६९॥

वहाँ अनुरक्त जिनके हृदय।
उन्हें छोड़ देते विषय।
सन्त विरक्त उसी में रत।
वनवासी ॥१७०॥

दृष्टि उस पर ही रखें।
ब्रह्मचर्या व्रत धरें।
विविध तपश्चर्या करें।
मुनीश्वर ॥१७१॥

एकाग्रवृत्ति निश्चल।
जिसे निहारते केवल।
भूल जाते सकल।
संसारजात ॥१७२॥

कोई गुणानुवाद करते।
उपरत – चित्त होते।
निरवधि तल्लीन रहते।
निरन्तर ॥१७३॥

श्रवण मात्र से कोई शान्त।
कोई देहभाव से परावृत्त।
अनुभव से किसी को प्राप्त।
तद्रूपता ॥१७४॥

जैसे सरितायें समस्त।
सागर में होतीं लीन।
स्थानाभाव से निवृत्त।
होतीं न कभी ॥१७५॥

वैसे योगीश्वरों की मति।
स्वरूप में मिल एक होती।
कर विचार पुनरावृत्ति।
नहीं पाती ॥१७६॥

जो सर्वत्र सर्वतनु-व्याप्त।
असम्भव जिस का घात।
देख तू वह विश्वात्मक।
चैतन्य एक ॥१७७॥

जिस के स्वभाव से ही।
उपजे-विनसे यह सभी।
करे शोक क्यों उस का ही।
कह तो भला? ॥१७८॥

तू क्यों न समझे पार्थ!
चकित हुआ मेरा चित्त।
सर्वथा है अनुचित।
शोक तेरा ॥१७९॥

अब भी न करता विचार।
क्यों हुआ तू चिन्तातुर।
भूला, जो करे भव-पार।
स्वधर्म तेरा ॥१८०॥

कौरवों का भला हो।
या तुझे यश प्राप्त हो।
अथवा भले युगान्त हो।
आज यहीं ॥१८१॥

पर स्वधर्म अपरिहार्य।
वह न सर्वथा त्याज्य।
क्या करेगी भव-पार।
कृपालुता? ॥१८२॥

अर्जुन तेरा चित्त।
हुआ जो द्रवीभूत।
किन्तु यह अनुचित।
सङ्ग्राम समय ॥१८३॥

गोक्षीर हो उत्तम।
यदि नहीं हो पथ्य-कथन।
तो वही होता विषसम।
नवज्वर में ॥१८४॥

यदि तू अन्यथा करे।
निश्चित हित का नाश करे।
इसी लिये अब पार्थ अरे।
हो सावधान ॥१८५॥

क्यों व्यर्थ ही तू व्याकुल।
अपने स्वधर्म को देख।
जिसे आचरते, बाध।
होता न कभी ॥१८६॥

यदि सन्मार्ग से चलें।
तो न अपाय कभी पायें।
ज्यों दीपक को अनुसरें।
तो न अटकें ॥१८७॥

वैसे ही अरे पार्थ।
स्वधर्म में रहें स्थित।
तो सकल काम पूर्ण।
सहज होते ॥१८८॥

अत एव सखे देखो।
अन्य कुछ भी क्षत्रिय को।
छोड़ कर सङ्ग्राम को।
नहीं उचित ॥१८९॥

रहे निष्कपट चित्त।
शूरता से करे युद्ध।
क्षात्रधर्म यह प्रत्यक्ष।
और क्या कहूँ? ॥१९०॥

सन्मुख जो सङ्ग्राम।
प्रकटा सद्भाग्य – विधान।
या स्वधर्म – निधान।
देख अर्जुन ॥१९१॥

इसे सङ्ग्राम क्या कहें।
स्वर्ग हो इस रूप में।
तेरे मूर्त प्रताप ने।
किया उदित ॥१९२॥

तेरे गुणों पर रीझकर।
आई हृदय में प्रीतिभर।
कीर्ति चाहती स्वयंवर।
निकट तेरे ॥१९३॥

क्षत्रिय जो बहु पुण्य करें।
तो ऐसा सङ्ग्राम मिले।
पाया मानो पथ चलते।
चिन्तामणि ॥१९४॥

जमुहाई में मुख फैले।
अकस्मात् पीयूष पड़े।
वैसा ही सङ्ग्राम अरे।
उपस्थित ॥१९५॥

इसे अगर अब अवहेलें।
फिर अशोच्य का शोक करें।
तो अपनी ही हानि अरे।
होगी पार्थ ! ॥१९६॥

पूर्वजों की सञ्चित।
कीर्ति होगी अपहृत।
यदि तुम रण में शस्त्र।
त्याग दोगे ॥१९७॥

वर्तमान कीर्ति का नाश।
होगा जग में उपहास।
खोजते आयेंगे पास।
महादोष ॥१९८॥

ज्यों पतिहीना वनिता।
सर्वथा ही तिरस्कृता।
वैसी जीवनकी आशा।
स्वधर्म–विना ॥१९९॥

रणभूमि में हो शव विशीर्ण।
चहुँओर गीध करते विदीर्ण।
वैसे नर स्वधर्म – हीन।
दोषाभिभूत ॥२००॥

यदि स्वधर्म त्यागोगे।
पापग्रस्त हो होगे।
कल्पान्त तक न छूटोगे।
अपयश से ॥२०१॥

जीवें तब तक गुरु–ज्ञाति।
जब तक न आये अपकीर्ति।
सोचो तुम, पर कैसे निर्गति।
समरभूमि से ॥२०२॥

भले तुम निर्मत्सर।
लौटोगे सदय हो कर।
नहीं समझेंगे कौरव।
हृदय तेरा ॥२०३॥

घेरेंगे तुझे चहुँओर।
करेंगे शरवर्षा घनघोर।
नहीं पाओगे तब निस्तार।
कृपालुता से ॥२०४॥

ऐसा प्राणसङ्कट सहकर।
कदाजित् निकले भी बचकर।
किन्तु वह जीवन तो दुःखकर।
मरण से भी ॥२०५॥

और भी अर्जुन करो विचार।
युद्ध में आये सुसज्ज होकर।
अब यदि ममतावश होकर।
पीछे लौटे ॥२०६॥

तब तुझे अरे अर्जुन।
क्या न कहेंगे ये दुर्जन।
क्या सोचेगा वैरी मन।
कह तो सही! ॥२०७॥

कहेंगे अर्जुन लौट गया।
यह हम से भयभीत हुआ।
लोकापवाद ऐसा, भला।
होगा सह्य? ॥२०८॥

लोग यत्न करते बहुत।
बेच तक देते हैं जीवित।
बढ़ाते हैं जो कीर्ति–चरित।
धनुर्धर! ॥२०९॥

वैसा यह अनायास।
स्वयं जुट आया तेरे पास।
है अद्वितीय विशाल।
गगन–सम ॥२१०॥

वैसी कीर्ति निःसीम।
स्वयं आई है निरुपम।
सुन तेरे गुण उत्तम।
त्रिलोक में ॥२११॥

भूपति सब दिगन्त के।
भाट बने बखानते।
सुन-सुन जिसे हैं चौंकते।
कृतान्तादिक ॥२१२॥

ऐसी तेरी महिमा गहन।
निर्मल जैसे गङ्गाजल।
देख जिसे जग के सुभट।
चकित, स्तब्ध ॥२१३॥

वह तेरा पौरुष अद्भुत।
सुन-सुन कर ही ये समस्त।
कौरवदल हुए विरक्त।
निजजीवन से ॥२१४॥

जैसे सिंह की हाँक।
गज के लिये युगान्त।
वैसे कौरवों पर धाक।
अर्जुन तेरी ॥२१५॥

पर्वत जैसे वज्र को।
अथवा सर्प गरुड को।
वैसे ये अर्जुन तुझ को।
मानते सदा ॥२१६॥

होगी अगाधता लुप्त।
और हीनता आरोपित।
युद्ध से तुम पलायित।
होगे यदि ॥२१७॥

करने न देंगे पलायन।
अपि तु करेंगे अवगणन।
बोलेंगे कुशब्द अनगिन।
सुना कर तुझे ॥२१८॥

सम्भावित वह मर्मभेद।
क्यों न करो अभी युद्ध।
शौर्य से जीत महीतल।
राज्य भोगो! २१९॥

अथवा यहीं रणमध्य।
हुए भी हतजीवित।
तो स्वर्गसुख अनकल्पित।
पाओगे ॥२२०॥

अब सुन कर यह बात।
न विचारो कुछ पार्थ।
छेड़ो सत्वर युद्ध।
धनुर्धर ॥२२१॥

अरे स्वधर्माचरण से।
सञ्चित भी दोष मिटते।
कैसा भ्रम तव चित्तमें।
पातक का? ॥२२२॥

क्या नाव नदी में डूबती ?
या सुपथ पर ठोकर लगती ?
पर चलना ही न जानें जो।
गिरते वे ही ॥२२३॥

अमृत से वही मरे।
जो सविष सेवन करे।
स्वधर्म से भी दोष लगे।
यदि हो सकाम ॥२२४॥

इसीलिये हे पार्थ।
हेतु सर्वथा त्याग।
क्षात्रवृत्ति से किया युद्ध।
पाप नहीं ॥२२५॥

सुख में न हो सन्तोष।
दुःख में न हो विषाद।
न रख लाभालाभ–।
–भाव मन में ॥२२६॥

रण में मिले विजय, या।
देह जाये सर्वथा।
न करो इस की चिन्ता।
तुम कभी ॥२२७॥

अपने लिये यही उचित।
स्वधर्म हो आचरित।
जो आवे निश्चिन्त।
सह लें उसे ॥२२८॥

यदि मन में ऐसा निश्चय।
न होगा दोष निःसंशय।
अतएव करो प्रारम्भ।
युद्ध का पार्थ ॥२२९॥

यह सांख्य स्थिति मुकुलित।
कही तुझे संक्षिप्त।
अब बुद्धियोग निश्चित।
सुनो पार्थ ॥२३०॥

जिस बुद्धि से युक्त।
होने पर पार्थ।
सर्वथा कर्मबन्ध।
बाँधे नहीं ॥२३१॥

जैसे वज्रकवच पहनें।
फिर शस्त्रों की वृष्टि सहें।
निश्चित हो विजय पावें।
अबाधित ॥२३२॥

नहीं ऐहिक से विरुद्ध।
मोक्ष सहज सिद्ध।
पूर्वानुक्रम विशुद्ध।
दिखता यहाँ ॥२३३॥

कर्माधार से चलें।
पर कर्मफल न चाहें।
मन्त्रज्ञ को न स्पर्शे जैसे।
भूतबाधा ॥२३४॥

वैसे ही सुबुद्धि।
जिसे अपनाती निरवधि।
उसे जन्मादि उपाधि।
बाँधे नहीं ॥२३५॥

न सञ्चरे जहाँ पुण्य-पाप।
जो सूक्ष्म अति-निष्कम्प।
गुणत्रयादि का लेप।
न लगे जहाँ ॥२३६॥

अर्जुन उस पुण्यबल से।
अल्प भी बुद्धि प्रकाशे।
तो अशेष ही नाशे।
संसारभय ॥२३७॥

जैसे दीपकलिका नन्ही।
प्रगटाये रहती दीप्ति।
वैसे अल्प सुमति को भी।
लघु न समझें ॥२३८॥

पार्थ विविध प्रकार।
इसे चाहते विचार शूर।
चराचर में जो दुर्लभ।
सद्वासना ॥२३९॥

अन्य पाषाणों के समान।
पारस न सुलभ जान।
मिलता अमृत–कण।
सुदैव से ही ॥२४०॥

ऐसी दुर्लभ सद्बुद्धि।
परमात्मा ही उसकी अवधि।
जैसे गङ्गा को उदधि।
निरन्तर ॥२४१॥

वैसे ईश्वर से अन्य।
नहीं कुछ जिस का प्राप्य।
वह सद्बुद्धि ही काम्य।
जग में पार्थ ॥२४२॥

इस से इतर दुर्मति।
बहुधा लाये विकृति।
रमते वहाँ अविवेकी।
निरन्तर ॥२४३॥

इस लिये उन को पार्थ।
स्वर्ग–संसार–नरक प्राप्त।
पायें न वे आत्मसुख।
सर्वथा कभी ॥२४४॥

वेदाधार से बोलते।
कर्म-प्रतिष्ठा ही करते।
कर्म-फल पर ही रखते।
आसक्ति वे ॥२४५॥

कहते संसार में जनमे।
तो यज्ञादि कर्म करें।
फिर स्वर्ग-सुख भोगें।
मनोहर ॥२४६॥

इस से अन्य कुछ, कहीं।
सर्वथा सुख है नहीं।
वचन कहते ऐसे ही।
दुर्बुद्धि वे ॥२४७॥

कामनाभिभूत रहते।
कर्म का आचरण करते।
भोग में ही चित्त देते।
केवल पार्थ ॥२४८॥

क्रियाविशेष बहुत।
करते सविधि नित्य।
करते धर्म का अनुष्ठान।
निपुणता से ॥२४९॥

बस एक ही भूल करते।
स्वर्गकाम मन में रखते।
यज्ञपुरुष को भूलते।
भोक्ता जो ॥२५०॥

ज्यों कपूर-राशि बनायें।
फिर अग्नि उस में लगादें।
या मिष्टान्न में मिलादें।
कालकूट ॥२५१॥

ज्यों दैवात् अमृत-घट मिले।
ठोकर से उसे उलट दें।
निष्पन्न धर्म को नष्ट करे।
वैसे फलकामना ॥२५२॥

सायास पुण्य अर्जन करें।
संसारेच्छा फिर क्यों रखें।
नहीं अविचारी समझे।
क्या उचित ॥२५३॥

महाप्रजिन रसोई राँधे।
फिर मूल्य से उसे बेचे।
भोग – हेतु अविवेकी वैसे।
गँवाते धर्म ॥२५४॥

अतएव अरे पार्थ।
दुर्मति हो सर्वत्र।
वेदवादरतों के मन।
बसती सदा ॥२५५॥

तीनों गुणों से आवृत।
वेद जानो सुनिश्चित।
उपनिषदादि समस्त।
सात्त्विक वहाँ ॥२५६॥

जो भाग रजतमात्मक।
जहाँ निरूपित कर्मादिक।
वह केवल स्वर्गसूचक।
धनुर्धर ॥२५७॥

इसलिये तू जान।
ये सुख-दुख के कारण।
न हो प्रवृत्त इन में मन।
पार्थ तेरा ॥२५८॥

कर गुणत्रय का अनादर।
'मैं'–'मेरा' तू न कर।
बस आत्मसुख को अन्तर।
भूले नहीं ॥२५९॥

यद्यपि वेदों ने कहा बहुत।
विविध मार्ग किये सूचित।
पर हम स्वीकारें अपना हित।
स्वयं चुन कर ॥२६०॥

जैसे गभस्ति प्रगटे।
तो सभी मार्ग हैं दिखते।
पर क्या हम सब पर चलते?
कहो भला! ॥२६१॥

अथवा उदकमय सकल।
हो जाय यदि महीतल।
तो हम लेते हैं केवल।
अपेक्षित ही ॥२६२॥

अत एव ज्ञानी पण्डित।
वेदार्थ करते विवृत।
फिर स्वीकारते अपेक्षित।
शाश्वत ही ॥२६३॥

इसलिये सुन पार्थ।
सब कुछ विचार देख।
तब तेरे लिये उचित।
स्वकर्म ही ॥२६४॥

मैंने सब कुछ विचारा।
तब यही मन में धारा।
न छोड़ो तुम तुम्हारा।
विहित कर्म ॥२६५॥

पर कर्म-फलाशा न रखो।
कुकर्म संगति न करो।
केवल सत्कर्म आचरो।
निष्काम ॥२६६॥

तुम योगयुक्त होवो।
फल का सङ्ग छोड़ो।
चित्त दे कर कर्म करो।
अर्जुन सखे! ॥२६७॥

आरब्ध कर्म यदि दैवसे।
पूर्णतया समाप्त होवे।
उस में विशेष हर्ष मानें।
ऐसा न हो! ॥२६८॥

अथवा किसी निमित्त से।
सिद्धिसे पहले अटके।
तब असन्तोष से।
न हो क्षुब्ध ॥२६९॥

हो जाय कार्य सिद्ध।
तो मानें हुआ उपयुक्त।
मानें न उसे अनिष्ट।
यदि असिद्ध ॥२७०॥

अर्जुन और एक।
सुनो कहता कौतुक।
नियम से जो साधक।
छोड़ते विषय ॥३०३॥
श्रोत्रादि करते निरुद्ध।
नहीं रसना नियन्त्रित।
वे सहस्रधा होते ग्रस्त।
विषयों से ॥३०४॥
ज्यों ऊपर से पल्लव तोड़ें।
पर मूल में जल सींचें।
उस वृक्ष का फिर कैसे?
हो नाश ॥३०५॥
उदक के बल से अधिक।
शाखा होतीं प्रस्फुटित।
मन में होते विषय पोषित।
रसना-द्वार से ॥३०६॥
अन्य इन्द्रियों के विषय छूटें।
पर हठ से जिह्वा रस न हटे।
क्योंकि जीवन न रहे।
इस के विना ॥३०७॥
पर उन की सहज ही।
रसना स्वाधीन होती।
जो अनुभव से ब्रह्म ही।
हुए अर्जुन ॥३०८॥
शरीर-भाव होता लुप्त।
इन्द्रियों को विषय विस्मृत।
जब सोऽहंभाव-प्रतीति।
होती प्रगट ॥३०९॥
यों तो इसे अर्जुन।
वश न करते साधन।
कितना भी करें यत्न।
निरन्तर ॥३१०॥

अभ्यास की बनायें झोंपड़ी।
यम-नियम की साँकल चढ़ी।
मन रखे वश मुट्ठी कड़ी।
जिन की सदा ॥३११॥
उन को भी करता व्याकुल।
इन इन्द्रियों का ऐसा बल।
ज्यों मान्त्रिक को करते विकल।
भूतप्रेत ॥३१२॥
देखो ये विषय ऐसे।
ऋद्धि-सिद्धि के व्याज से।
इन्द्रियों को स्पर्श करके।
करें व्याकुल ॥३१३॥
विषय खोजता मन जाये।
अभ्यास अवरुद्ध स्तब्ध रहे।
ऐसी प्रबलता अरे।
इन इन्द्रियों में ॥३१४॥
अतएव सुनो अर्जुन।
करो सर्वथा निर्दलन।
सर्व विषयों से दो त्याग।
आस्था अरे! ॥३१५॥
अतः समझ तू अर्जुन।
वहीं योगनिष्ठा का कारण।
विषय-सुख में अन्तःकरण।
जिसका न फँसे ॥३१६॥
जो आत्मबोध-युक्त।
हुआ रहता सतत।
हृदय से मुझे पलभर।
न विसारे ॥३१७॥
बाह्य विषय न हों उपस्थित।
किन्तु मन में यदि वासना स्थित।
तब तो वर्तमान ही साद्यन्त।
संसार वहाँ ॥३१८॥

जैसे लेश-भर भी विष।
तनु में होता प्रसृत।
करता नाश निश्चित।
जीवित का ॥३१९॥

विषय की इच्छा वैसे।
यदि कहीं मन में बसे।
तो विवेक को नष्ट करे।
सर्वथा ॥३२०॥

यदि हृदय में विषयस्मृति।
तो निसङ्ग भी पाये सङ्गति।
सङ्ग से प्रगटे मूर्ति।
अभिलाष की ॥३२१॥

जहाँ काम उत्पन्न।
वहां क्रोध आसन्न।
क्रोध में रहता छन्न।
सम्मोह भी ॥३२२॥

सम्मोह की हो अभिव्यक्ति।
तब नाश पाती स्मृति।
ज्यों प्रचण्ड वायु से ज्योति।
होती आहत ॥३२३॥

अस्तङ्गामी सूर्य का।
तेज ज्यों ग्रसती निशा।
स्मृतिभ्रंश से वैसी दशा।
प्राणियों की ॥३२४॥

अज्ञान प्रसारे तम केवल।
डूबता उसमें सकल।
बुद्धि होती विकल।
हृदय में ॥३२५॥

यदि जात्यन्ध को दौड़ना पड़े।
दीन हो ज्यों-त्यों दौड़े।
भ्रमित बुद्धि वैसी भटके।
धनुर्धर ॥३२६॥

स्मृति होती जब भ्रंशित।
बुद्धि सर्वथा कुण्ठित।
तब समूल होता नष्ट।
ज्ञानजात ॥३२७॥

चैतन्य के भ्रंश से।
शरीर की दशा जैसे।
बुद्धिनाश से पुरुष वैसे।
होता म्लान ॥३२८॥

अतएव सुनो अर्जुन।
स्फुलिङ्ग लगे तो इन्धन।
जला सकता त्रिभुवन।
धधक कर ॥३२९॥

वैसे विषयों का ध्यान।
करे यदि अन्तःकरण।
तो अवश्य ही घोर पतन।
होता प्राप्त ॥३३०॥

अतएव विषय सम्पूर्ण।
सर्वथा छोड़ दे मन।
तो राग-द्वेष स्वभावतः।
पाते नाश ॥३३१॥

सुन पार्थ और एक।
नष्ट हुए यदि राग-द्वेष।
पाकर भी विषयाश्लेष।
इन्द्रिय न फँसे ॥३३२॥

जैसे सूर्य आकाशगत।
रश्मियों से जग में व्याप्त।
नहीं सङ्गदोष से लिप्त।
फिर भी कभी ॥३३३॥

त्यों इन्द्रियार्थ में उदासीन।
आत्मरस में ही निमग्न।
जो काम-क्रोध से विहीन।
हुआ स्थित ॥३३४॥

उस के लिये विषय कोई।
अपनेपन से भिन्न नहीं।
फिर बाँधेंगे विषय कभी।
किस को कहाँ ? ॥३३५॥

यदि उदक में उदक डूबे।
अग्नि में अग्नि जले।
तो विषयसङ्ग से डूबे।
परिपूर्ण वह ॥३३६॥

ऐसे स्वयं ही केवल।
हो गया जो निखिल।
उस की प्रज्ञा अचल।
निश्चित मानो ॥३३७॥

प्रसन्न ही अखण्डित।
रहता जिसका चित्त।
वहाँ भवदुःख समस्त।
न पाते प्रवेश ॥३३८॥

अमृत का निर्झर।
बहाये जिस का उदर।
उसे तृषा का डर।
होता नहीं ॥३३९॥

हृदय यदि प्रसन्न।
रहे कहाँ फिर दुःख।
परमात्म-रूप में युक्त।
बुद्धि उस की ॥३४०॥

जैसे निर्वात में दीप।
सर्वथा न जाने कम्प।
वैसे स्थिरबुद्धि स्व–स्वरूप–।
–योगयुक्त ॥३४१॥

इस योगयुक्ति का चिन्तन।
न करे जिस का मन।
आता उस पर बन्धन।
विषयादि का ॥३४२॥

उस की बुद्धि पार्थ।
कभी न सर्वथा स्थिर।
स्थैर्य की आस्था भी वहाँ।
उपजे नहीं ॥३४३॥

इच्छा से भी निश्चलपन।
न देखे जिस का मन।
उसे शान्ति कैसे अर्जुन।
हो प्राप्त ? ॥३४४॥

जहाँ शान्ति का लेश नहीं।
भूले भी तहँ सुख नहीं।
मोक्ष न रहे जहाँ पापी।
जैसे पार्थ ॥३४५॥

यदि अग्नि में भर्जित।
बीज होते अङ्कुरित।
सुख पा सके अशान्त।
तभी पार्थ ॥३४६॥

मन का अनियमितपन।
सभी दुःखों का कारण।
अतएव इन्द्रिय-दमन।
आवश्यक ॥३४७॥

इन्द्रियाँ जो-जो कहें।
वही-वही सब नर करें।
अतः तर कर भी न तरें।
विषयसिन्धु ॥३४८॥

ज्यों नाव तट पाई न पाई।
हठात् आँधी चढ़ आई।
बीती विपत्ति फिर लौट आई।
मानो पार्थ ॥३४९॥

वैसे स्वरूप को प्राप्त।
करे यदि इन्द्रिय–कौतुक।
तो मानो आ पड़ा दुःख।
सांसारिक ॥३५०॥

अतः यदि इन्द्रिय अपने।
स्वयं ही वश में रहें।
सार्थकता अधिक इस से।
क्या धनञ्जय ॥३५१॥

देखो कूर्म जिस प्रकार।
करता निज-अवयव प्रसार।
समेट लेता इच्छानुसार।
जैसे पार्थ ॥३५२॥

इन्द्रिय जिस के स्वाधीन।
करें सब आज्ञा-पालन।
प्रज्ञा स्थिति पाई जान।
पार्थ उस की ॥३५३॥

अब और एक गहन।
पूर्णता का लक्षण।
कहता तुझे अर्जुन।
सुनो मित्र ॥३५४॥

जहां प्राणी सब निद्रित।
वहाँ रहे जो जाग्रत।
और जहाँ सब जाग्रत।
वहाँ निद्रित ॥३५५॥

वही है निरुपाधि।
अर्जुन सदा स्थिर-बुद्धि।
उसी को समझो निरवधि।
मुनीश्वर ॥३५६॥

पार्थ ! और एक प्रकार।
स्थितप्रज्ञ का निर्धार।
अक्षोभ्य जैसे सागर।
अखण्डित ॥३५७॥

सरिता-ओघ सम्पूर्ण।
मिलते हो कर परिपूर्ण।
न करता कभी उल्लङ्घन।
मर्यादा का ॥३५८॥

ग्रीष्म में नदियाँ-नद।
सूख जाते समस्त।
पर न्यून न होता पार्थ।
समुद्र जैसे ॥३५९॥

वैसे ऋद्धि-सिद्धि की प्राप्ति।
से क्षुब्ध न होती बुद्धि।
न बाधित करती अधृति।
कभी उसे ॥३६०॥

कहो क्या सूर्य के घर।
प्रकाश देता दीपक।
उस के बिना क्या अन्धकार।
घेरता उसे ? ॥३६१॥

ऋद्धि-सिद्धि का आवागमन।
न खींचे उस का ध्यान।
अन्तर सदा रहे निमग्न।
महासुख में ॥३६२॥

देख निज शोभित भवन।
जिसे तुच्छ हो इन्द्र-स्थान।
भीलकुटी से उसका रञ्जन।
होगा क्या ? ॥३६३॥

जो अमृत से भी मुंह फेरे।
वह काँजी क्योंकर पिये।
वैसे ऋद्धि नहीं भोगे।
स्वसुखानुभवी ॥३६४॥

नवल यह देखो पार्थ।
जिसे स्वर्ग-सुख भी तुच्छ।
वह ऋद्धि-सिद्धि की बात।
क्या पूछे ? ॥३६५॥

ऐसा आत्मबोध से तुष्ट।
परमानन्द से पुष्ट।
वही सच्चा स्थितप्रज्ञ।
जानो पार्थ ॥३६६॥

वह अहङ्कार को दूर कर।
सकल कामना छोड़कर।
जगदाकार ही हो कर।
विचरे विश्व में ॥३६७॥

यह ब्रह्मस्थिति निःसीम।
अनुभवते जो निष्काम।
पा चुके वे परब्रह्म।
अनायास ॥३६८॥

चिद् रूप में होते जब लीन।
तब देहान्त का व्याकुलपन।
विचलित न करे जिसका मन।
हे धनुर्धर ॥३६९॥

वैसी है यह स्थिति।
स्वमुख से श्रीपति।
कहते अर्जुन के प्रति।
वर्णे मञ्जय ॥३७०॥

ऐसा कृष्ण–वाक्य सुना।
तब अर्जुन ने मन में कहा।
इस युक्ति से तो काम बना।
सच ही मेरा ॥३७१॥

सम्पूर्ण ही कर्मजात।
देव ने किया निराकृत।
अतः छूटा अब युद्ध।
सोचे पार्थ ॥३७२॥

यह बोले जब अच्युत।
हर्षित उसका चित्त।
पुनः प्रश्न करता पार्थ।
आशङ्का से ॥३७३॥

वह प्रसङ्ग अब सुन्दर।
सकल धर्मों का आगर।
या विवेकामृत–सागर।
अमर्याद ॥३७४॥

जिस का स्वयं सर्वज्ञनाथ। निरूपण करते श्रीअनन्त।
ज्ञानदेव निवृत्तिदास। कहें अब ॥३७५॥

इति श्रीमद्ज्ञानेश्वरविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीता–‘ भावार्थ दीपिकायां’ साङ्ख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्याय: ॥

॥ हरि : ॐ तत् सत् ॥

॥ ॐ हरिः ॐ ॥

तृतीय अध्याय

तब पुनः बोला अर्जुन देव !
आपने जो कहे वचन।
सुनें होकर सावधान।
हे कमलापति ॥१॥

वहाँ कर्त्ता और कर्मजात।
विचारें तो सहज निःशेष।
यदि यही निश्चित मत।
श्रीअनन्त आपका ॥२॥

मुझे क्यों फिर करते नियुक्त।
कहते 'संग्राम कर पार्थ'।
इस महाघोर में करते प्रवृत्त।
न लज्जित ? ॥३॥

अजी आप ही ये कर्म अशेष।
करते निराकृत निःशेष।
फिर मुझ से क्यों हिंसक-विशेष।
करवा रहे ? ॥४॥

विचारें आप ही हृषीकेश।
न मान्य आपको कर्मलेश।
फिर भी मुझ से हिंसा विराट्।
करवाते हो प्रभु ! ॥५॥

देव यदि ऐसे बोलें।
तो हम अज्ञानी क्या करें ?
भर पाया सम्पूर्ण अरे।
विवेक यहाँ ॥६॥

इसे कहे यदि उपदेश।
फिर क्या कहलाये अपभ्रंश।
भली पूरी अभिलाष।
आत्मबोध को ! ॥७॥

वैद्य बताये पथ्य।
फिर ओषधि में घोले विष।
जिये रोगी कैसे तब।
कहो भला ! ॥८॥

अन्धे को बतायें कुपथ।
या मर्कट को दे दें मद्य।
वैसा उपदेश यह विचित्र।
पाया आप से ॥९॥

पहले ही मैं अज्ञ।
उस पर फिर मोहग्रस्त।
इसी से तो पूछा विवेक।
तुम्हें कृष्ण ॥१०॥

पर देखूँ एक-एक आश्चर्य।
उलझन भरा देते उपदेश।
क्या अनुगत के साथ उचित।
व्यवहार ऐसा ? ॥११॥

मैंने तनु-मन-श्वास।
सौंप तुम पर रखा विश्वास।
ऐसा करो तुम पथ-प्रकाश।
तो बनी बात ॥१२॥

यदि ऐसा ही दोगे बोध।
हुआ हित ! मिटा सब मोह।
ऐसे में ज्ञान की आस !
रखना व्यर्थ ॥१३॥

पुरी ज्ञान-अभिलाष।
हुआ और भी नाश।
मन था जितना सा शान्त।
हुआ वह भी भ्रान्त ॥१४॥

ऐसा तुम्हारा चरित्र।
न समझ सकूँ अतिविचित्र।
परखते क्या मेरा चित्त।
इस व्याज से ? ॥१५॥

फँसाते हो मुझे कृष्ण ?
या ध्वनि द्वारा कहते तत्त्व।
समझ न पाता स्पष्ट।
तव मनोगत ॥१६॥

अतः देव अब सुनिये।
ऐसा गूढार्थ न कहिये।
स्पष्ट विवेक बताइये।
मुझे अब ॥१७॥

मैं हूँ अत्यन्त जड।
सकूँ जैसे भी समझ।
वैसे ही कहें सरल।
एकनिष्ठ ॥१८॥

रोग मिटाना चाहें।
तो औषध अवश्य देवें।
पर मधुर उसे बनावें।
रुचिकर ॥१९॥

वैसे सकलार्थ-भरित।
तत्त्व कहिये उचित।
समझ सके मेरा चित्त।
जिस रीति से ॥२०॥

पाकर तुम सा सद्‌गुरु।
इच्छा पूरी क्यों न करूँ ?
अब क्यों कोई भय धरूँ।
तुम अम्ब मम ॥२१॥

कामधेनु का गोरस।
दैव से यदि हो करगत।
फिर कामना सङ्कुचित।
क्यों करें ? ॥२२॥

यदि चिन्तामणि लगे हाथ।
फिर वाञ्छा क्य हो सङ्कट।
मनभाता जो भी पदार्थ।
वह चाहे न क्यों ? ॥२३॥

आकर सुधासिन्धु समीप।
रहें यदि फिर भी तृषित।
तो आगमन का व्यर्थ।
किया श्रम ॥२४॥

जन्म-जन्मान्तर बहुत।
लक्ष्मीपति उपासित।
आज हुए प्रभु प्राप्त।
सुदैव से ॥२५॥

तो निज इच्छानुसार।
क्यों न माँग लूँ परमेश्वर।
मन ने पाया सुअवसर।
सुदिन आज ॥२६॥

इच्छामात्र आज सकल।
सब पुण्य फले यशफल।
हुए मनोरथ सकल।
विजयी मेरे ॥२७॥

अहो परम मङ्गलधाम।
सकल देवदेवोत्तम।
आप हुए स्वाधीन।
मेरे आज ॥२८॥

जैसे माँ के समीप।
अपत्य को नहीं अनवसर।
चाहे जब पिये स्तन्य।
यथेष्ट वह ॥२८॥

वैसे ही हे देव !
तुम से मैं लेता पूछ।
जब जो उठे सन्देह।
हे कृपानिधि ! ॥३०॥

परलोक में जो करे हित।
यहाँ जिसका आचरण उचित।
वह कहिये एक निश्चित।
कहे पार्थ ॥३१॥

इस वचन से श्री अच्युत।
बोले हो कर विस्मित।
अभिप्राय यहाँ जो प्रसङ्गवश।
सुनो अर्जुन ॥३२॥

कहते समय बुद्धियोग।
कहा गया जो प्रसङ्गवश।
प्रकट हुआ वह साङ्ख्यमत।
तेरे प्रति ॥३३॥

समझे न तुम उद्देश्य।
व्यर्थ हो उठे क्षुब्ध।
कहे हैं मैंने पथ उभय।
सुनो पार्थ ॥३४॥

अवधान दो वीर—श्रेष्ठ।
लोक में जो अनादिसिद्ध।
मुझ से ही वे हुई प्रगट।
दोनों निष्ठा ॥३५॥

कहलाता एक ज्ञानयोग।
जो साङ्ख्य पथ में अनुष्ठित।
जिस से होते ही ज्ञान।
मिले तद्‌रूपता ॥३६॥

दूसरा कर्मयोग जान।
जिस से साधक निपुण।
पाते हैं निर्वाण।
यथासमय ॥३७॥

दिखते हैं ये दो मार्ग।
पर अन्त में हैं एक।
देते साध्य, सिद्ध, भोजन।
तृप्ति एक ॥३८॥

पूर्व-पश्चिम-गामी सरिता।
दिखती हैं विपरीता।
पर सिन्धु-मिलन में एकता।
अन्ततः सिद्ध ॥३९॥

वैसे दोनों ही मत।
एक फल करते सूचित।
उपासना योग्यतानुगत।
किन्तु सब की ॥४०॥

पक्षी एक उड़ान भरे।
क्षण में फल को जा चखे।
पर मनुष्य कैसे पाये।
ऐसा वेग ॥४१॥

किन्तु वह धीरे-धीरे।
एक-एक शाखा चढ़ते।
पा लेता फल अन्त में।
अवश्य ही ॥४२॥

खग की भाँति ही पार्थ।
अधिष्ठान रखता ज्ञान पर।
पहुँचता साङ्ख्य सत्वर।
मोक्ष में ॥४३॥

इतर योगी ले कर्माधार।
करते निज विहिताकार।
पूर्णता वे यथावसर।
पा लेते ॥४४॥

छोड़ कर्मारम्भ उचित।
आचरते जो सिद्ध-सदृश।
नैष्कर्म्य नहीं पाते निश्चित।
कर्महीन ॥४५॥

छोड़ देना प्राप्त कर्म।
इस को कहना नैष्कर्म्य।
यह मूर्खतामय व्यर्थ।
वचन अर्जुन ॥४६॥

उस पार जाना हो निश्चित।
किन्तु प्रवाह का हो सङ्कट।
तब नौकात्याग का आग्रह।
कैसे उचित? ॥४७॥

चाहें यदि हम तृप्ति।
पर न करें अन्न-सिद्धि।
खायें न प्राप्त सिद्ध भी।
तो तृप्ति कैसे? ॥४८॥

निष्काम नहीं चित्त जबतक।
करने होंगे कर्म तब तक।
सन्तृप्त होते ही मानस।
थमते सहज ॥४९॥

अतएव सुनो पार्थ।
जिन्हें आस्था नैष्कर्म्य पर।
त्याज्य नहीं उचित कर्म।
सर्वथा उन्हें ॥५०॥

केवल अपनी इच्छा से।
कर्म करें या त्यागें।
तो वह बने या छूटे।
यह होता क्या? ॥५१॥

ऐसा बोलना व्यर्थ।
विचार कर देखो पार्थ।
त्यागने से न छूटे कर्म।
समझो निश्चित ॥५२॥

जब तक प्रकृति का अधिष्ठान।
त्याग – स्वीकार है अज्ञान।
सभी चेष्टा गुणाधीन।
तब तक ॥५३॥

विहित कर्म हैं जितने।
द्वेष से यदि छोड़ें उन्हें।
स्वभाव किन्तु नहीं मिटते।
इन्द्रियों के ॥५४॥

सुनना न छोड़ें कर्ण।
नेत्र न छोड़ें दर्शन।
बन्द न होते नासारन्ध्र।
न छूटे घ्राण ॥५५॥

रुकते हैं क्या प्राणापान।
क्या होता निर्विकल्प मन?
क्या क्षुधा-तृषा के आवेग।
होते कुण्ठित? ॥५६॥

थमें क्या स्वप्न जागरण।
चलना भूलें क्या चरण?
कभी रुके क्या जन्म-मरण।
कहो किसी के? ॥५७॥

ये सब कभी न अटके।
तो भला फिर क्या छूटे?
असम्भव अधीन प्रकृति के।
कर्मत्याग ॥५८॥

पराधीनता के कर्म।
प्रकृतिगुण से निष्पन्न।
अन्तःकरण से त्याग-ग्रहण।
व्यर्थ यत्न ॥५९॥

रथ पर हों आरूढ़।
तो भले बैठें हम निश्चल।
परवश होंगे गतिशील।
देखो पार्थ ॥६०॥

उड़ता होकर वायुवश।
आकाश में निश्चेष्ट।
जैसे शुष्क पत्र।
घूमा करता ॥६१॥

वैसे ले ले प्रकृति का आधार।
कर्मेन्द्रियों के विकार।
निष्कर्म से कराते व्यवहार।
निरन्तर ॥६२॥

जब तक है प्रकृति का सङ्ग।
तब तक असम्भव कर्मत्याग।
फिर भी त्याग का हठ।
व्यर्थ आग्रह ॥६३॥

जो त्यागते उचित कर्म।
चाहते पाना नैष्कर्म्य।
निरुद्ध करते कर्मेन्द्रिय।
बलपूर्वक ॥६४॥

सिद्ध न होगा कर्मत्याग।
मन में रहता कर्तव्यभाव।
कर्मत्याग का बाह्याडम्बर।
करें दरिद्र ॥६५॥

ऐसे जो हैं पार्थ।
सर्वथा विषयासक्त।
समझ उन्हें तू निश्चित।
निःसंशय ॥६६॥

अब दो जरा अवधान।
प्रसङ्गवश होगा कथन।
निष्काम व्यक्ति के लक्षण।
सुन अर्जुन ॥६७॥

जो अन्तर में दृढ़।
परमात्मरूप में गूढ़।
बाह्याचार में रूढ़।
लौकिक जैसा ॥६८॥

जो इन्द्रियों को आज्ञा न करे।
विषयों का भय न धरे।
प्राप्त कर्म न त्यागे।
जो भी उचित ॥६८॥

इन्द्रियाँ करें निज कर्म।
वह न करे उनका नियमन।
पर न होता आच्छन्न।
विकारों से ॥७०॥

किसी कामना से न ग्रस्त।
मोहमल से न लिप्त।
ज्यों भीगे न जल में स्थित।
पद्मपत्र ॥७१॥

वैसे संसर्ग में रहे स्थिर।
वह दिखे सब के सदृश।
जल में जैसे आभासित।
भानुबिम्ब ॥७२॥

सामान्य दृष्टि से देखें।
तो वह साधारण ही दिखे।
स्थिति की गहनता परखें।
तो अगम्य ॥७३॥

ऐसे चिह्नों से चिह्नित।
जो दिखे वही है मुक्त।
सब आशा-पाश-रहित।
जानो उसे ॥७४॥

वही योगी है पार्थ।
जग में जो सुविख्यात।
अतः वह स्थिति करो प्राप्त।
कहता तुझे ॥७५॥

तू मन का नियमन कर।
निश्चल कर ले अन्तर।
फिर कर्मेन्द्रिय–व्यवहार।
चलें सुख से ॥७६॥

यदि होना निष्कर्म।
जग में नहीं सम्भव।
तो करें क्यों निषिद्ध कर्म।
विचारो तो ॥७७॥

अतः जो-जो उचित।
समयानुसार प्राप्त।
वह कर्म हेतुरहित।
आचर तू ॥७८॥

पार्थ और भी एक।
न जाने तू कौतुक।
कि ऐसे कर्म बन्धमोचक।
होते स्वयम् ॥७९॥

वर्णाश्रम के अनुसार।
जो करे स्वधर्माचार।
निश्चित उस का व्यवहार।
मोक्षप्रद ॥८०॥

जिसका जो है स्वधर्म।
वही उस का नित्ययज्ञ।
अतएव सञ्चरे न पाप।
उस कर्म के ॥८१॥

यह निज धर्म जो छोड़े।
कुकर्मों से प्रीति जोड़े।
वही बन्धन में पड़े।
संसार के ॥८२॥

अत: स्वधर्मानुष्ठान।
अखण्ड यज्ञ–याजन।
जो करे उस को बन्धन।
सर्वथा नहीं ॥८३॥

ये लोक कर्म में बँध गये।
परतन्त्र के आधीन हुए।
क्योंकि वे चूक गये।
नित्ययज्ञ को ॥८४॥

इस प्रसङ्ग की एक यहाँ।
सुनो पार्थ में कहूँ कथा।
जब सृष्टि रचना–व्यवस्था।
की ब्रह्मा ने ॥८५॥

तब नित्य–यज्ञ–सहित।
सिरजे भूत समस्त।
पर वे न समझे सूक्ष्म रहस्य।
यज्ञादि का ॥८६॥

तब प्रजा ने किया विनय।
प्रभो हमारा क्या आश्रय।
बोले तब पद्मसम्भव।
जन के प्रति ॥८७॥

देख-कर तुम्हारे वर्णविशेष।
किये सब के स्वधर्म विहित।
इन की उपासना से परिपूर्ण।
होंगे सर्वकाम ॥८८॥

न करो तुम नियम-व्रत।
न हो तुम्हारा तनु पीड़ित।
चलो न कोई दुर्गम पथ।
तीर्थादि का ॥८९॥

योगादिक साधन।
साकांक्ष आराधन।
मन्त्र – यन्त्र – विधान।
न करो कभी ॥९०॥

अन्य देवता न भजो।
और कुछ भी मत करो।
स्वधर्मरूप ही यज्ञ करो।
अनायास ॥९१॥

रहे निष्काम चित्त।
स्वकर्म हों अनुष्ठित।
कुलीना को पतिव्रत।
सहज जैसे ॥९२॥

वैसे स्वधर्म-रूप मख।
सेव्य तुम्हारा यही एक।
ऐसा सत्यलोकनायक।
ब्रह्मा ने कहा ॥९३॥

यदि करो स्वधर्म का सेवन।
कामधेनु सम करेगा पालन।
तजेगा न तुम को प्रजाजन।
चिरकाल वह ॥९४॥

यह करने से समस्त।
देव होंगे परितुष्ट।
देंगे तुम्हें सभी ईप्सित।
अर्थजात ॥९५॥

स्वधर्माचरण से पूजित।
देवनरगण समस्त।
योग-क्षेम निश्चित।
करेंगे वहन ॥९६॥

तुम रहो देवों के भक्त।
वे करें तुम्हें सन्तुष्ट।
ऐसी प्रीति परस्पर।
बनी रहे ॥९७॥

जो करना चाहो तुम।
होगा स्वयं ही सिद्ध वह।
सब वाञ्छित होंगे पूर्ण।
मानस के ॥९८॥

पाओगे वाचा-सिद्धि।
खिलेगी आज्ञापक-शक्ति।
स्वयं तुम से महाऋद्धि।
करेगी विनय ॥९९॥

ऋतुपति के द्वार पर।
वनश्री जैसे निरन्तर।
लिये रहती फल-भार।
लावण्य सहित ॥१००॥

वैसे सब सुखों सहित।
सुदैव ही मूर्तिमन्त।
स्वयं आवेगा निकट।
खोजता तुम्हें ॥१०१॥

ऐसे समस्त भोगभरित।
होवोगे तुम अनार्त।
यदि स्वधर्म में निरत।
रहोगे सदा ॥१०२॥

पा कर सर्व सम्पद।
अनुसरता इन्द्रियमद।
विषयास्वाद पर लुब्ध।
होता जो ॥१०३॥

यज्ञ से सन्तुष्ट देवता।
दी जिन्होंने सम्पदा।
उन सर्वेश्वर को नहीं भजता।
स्वधर्म से ॥१०४॥

न अग्निमुख में हवन।
न करता देवता-पूजन।
न कराता ब्राह्मण-भोजन।
यथावसर ॥१०५॥

गुरुभक्ति से विमुख।
न करता अतिथि-आदर।
न ज्ञातिजन सन्तुष्ट।
रखता निज ॥१०६॥

ऐसा स्वधर्म-कर्मरहित।
ऐश्वर्य से प्रमत्त।
केवल भोगासक्त।
रहता जो ॥१०७॥

उस का होता बहुत अहित।
नष्ट होता सकल सञ्चित।
सकता न भोग जो प्राप्त।
अभागा वह ॥१०८॥

जैसे निष्प्राण शरीर में।
चैतन्य वास न करे।
वैसे निर्दैव के घर में।
न रहे लक्ष्मी ॥१०९॥

स्वधर्म हुआ यदि लुप्त।
होता सुखाश्रय नष्ट।
जैसे बुझने पर दीप।
जाता प्रकाश ॥११०॥

निजवृत्ति जहाँ छूटती।
वहाँ स्वतन्त्रता न रहती।
सुनो प्रजागण यह नियति।
कहें ब्रह्मा ॥१११॥

अतः जो त्यजेगा स्वधर्म।
काल उस का करेगा दण्डन।
उस का होगा सर्वस्वहरण।
चोर कहकर ॥११२॥

फिर उसे सभी दोष।
घेर लेते अनायास।
ज्यों रात्रि में मँडराते भूत।
श्मशान में ॥११३॥

वैसे त्रिभुवन के दुःख।
और नानाविध पातक।
दारिद्र्य दैन्य समस्त।
बसते वहाँ ॥११४॥

वह उन्मत्त यह दशा पावे।
फिर रुदन उस का न थमे।
कल्पान्त तक सर्वथा हे।
प्राणिगण! ॥११५॥

अतः निजवृत्ति न छोड़ें।
इन्द्रियाँ स्वैर न विचरें।
निज प्रजा को सिखाते।
चतुरानन ॥११६॥

यदि जलचर त्यागे जीवन।
तो तत्क्षण पाये मरण।
वैसे अत्याज्य स्वधर्म।
बिसरो नहीं ॥११७॥

अत एव तुम समस्त।
करो निज कर्म उचित।
वहाँ सदा रहो निरत।
मैं कहूँ यही ॥११८॥

करते विहित क्रियाविधि।
रखते निर्हेतुक बुद्धि।
करते विनियुक्त समृद्धि।
अपनी उसमें ॥११९॥

पूजते गुरु-अग्नि-गोत्र।
सन्मानते द्विज यथावसर।
नैमित्तिक कर्म से पितर।
सन्तुष्ट करते ॥१२०॥

करते उचित यजन।
यज्ञेश के प्रति हवन।
हुतशेष रहे जो सहज।
यज्ञ में से ॥१२१॥

उस का घर में सुखपूर्वक।
भोजन करे कुटुम्ब-सहित।
वह भोग्य बने निवारक।
कल्मष का ॥१२२॥

भोगते जो यज्ञावशिष्ट।
छोड़ते उन्हें अघ समस्त।
करती महारोग नष्ट।
अमृतसिद्धि ॥१२३॥

तत्त्वनिष्ठ को जैसे।
भ्रान्तिलेश भी न स्पर्शे।
हुतशेष भोगी को वैसे।
छुएँ न दोष ॥१२४॥

स्वधर्म से मिले जो धनभाग।
उसका का स्वधर्म में विनियोग।
करे शेष का उपभोग।
सन्तोष से ॥१२५॥

इस के अतिरिक्त।
अन्य न करो पार्थ।
कही मुरारि ने आद्य।
कथा यह ॥१२६॥

जो निज को मानें देहरूप।
और विषयों को भोग्य।
कुछ भी नहीं अन्य।
स्मरण उन को ॥१२७॥

ये सब यज्ञोपकरण।
नहीं समझते अज्ञान।
चाहते वे साभिमान।
भोगना सब कुछ ॥१२८॥

केवल इन्द्रियरोचक।
करते विविध पाक।
वे पापी केवल पातक।
आहार करते ॥१२९॥

प्राप्त सम्पदा सब।
मानें हवन-द्रव्य।
हो आदि-पुरुष-प्रीत्यर्थ।
स्वधर्म-अर्पण ॥१३०॥

यह छोड़ कर मूर्ख।
बस देखते निज स्वाद।
उसी हेतु करते पाक।
नानाविध ॥१३१॥

जिस से यज्ञ होता सिद्ध।
परमेश्वर सन्तुष्ट।
नहीं रहता सामान्य।
अन्न वह ॥१३२॥

उसे न मानो साधारण।
ब्रह्मरूप ही वह अन्न।
वह जीवन-हेतु तथा कारण।
इस विश्व का ॥१३३॥

अन्न से प्राणिजात।
प्ररोह पाते समस्त।
पर्जन्य ही सर्वत्र।
उपजाता अन्न ॥१३४॥

यज्ञ से पर्जन्य-जन्म।
यज्ञ का जनक कर्म।
कर्म का आदि ब्रह्म।
वेद-स्वरूप ॥१३५॥

इन वेदों को परात्पर।
प्रकट करता अक्षर।
अतः यह सचराचर।
ब्रह्मबद्ध ॥१३६॥

कर्म की ही मूर्ति।
यज्ञ में अधिष्ठित श्रुति।
सुनो हे सुभद्रा-पति।
अखण्ड यह ॥१३७॥

ऐसी आदि परम्परा यह।
संक्षेप से तुम्हें धनुर्धर।
कही, जो है अनिवार्य।
यज्ञ के लिये ॥१३८॥

अत एव मूलसहित।
स्वधर्म-क्रतु उचित।
न करे इसे यदि अनुष्ठित।
मदमत्त जो ॥१३९॥

वह राशीकृत पाप।
भूमि का है भार।
जो केवल करता व्यर्थ।
इन्द्रिय-लालन ॥१४०॥

उस के जन्म कर्म सकल।
अवश्य होते निष्फल।
असमय के अभ्रपटल।
जैसे पार्थ ॥१४१॥

अजा के गलस्तन।
जैसा उसका जीवन।
न करे जो अनुष्ठान।
स्वधर्म का ॥१४२॥

अत एव सुनो अर्जुन।
कभी न छोड़ो स्वधर्म।
सर्वभाव से करो भजन।
इसी एक का ॥१४३॥

जब हुआ तनु-संयोग।
आया साथ कर्तव्य-ओघ।
तब उचित कर्म का त्याग।
करें कैसे? ॥१४४॥

पा कर यह देह मूर्त।
कर्म से मानें खेद।
निश्चय वह निपट मूर्ख।
हे सव्यसाची ॥१४५॥

चलता नियत देहधर्म।
लिप्त न करते उसे कर्म।
जो रमता रहे अखण्डित।
निज रूप में ॥१४६॥

यदि हों आत्मबोध से सन्तुष्ट।
तो हो चुका वह कृतकृत्य।
उस का छूटता सहज।
कर्मसङ्ग ॥१४७॥

तृप्ति दे चुका भोजन।
तो स्वयं दूर होते साधन।
होने पर आत्मतर्पण।
समाप्त कर्म ॥१४८॥

जब तक हे अर्जुन।
वह बोध न पाये मन।
तब तक सब साधन।
करने योग्य ॥१४९॥

अत एव तुम नियत।
सकल – कामना –रहित।
करो अवश्य उचित।
स्वधर्म-पालन ॥१५०॥

रहते हुए निष्काम।
आचरे जो स्वधर्म।
कैवल्य पद पार्थ।
उसे प्राप्त ॥१५१॥

देखो तो जनकादिक।
कर्मजात अशेष।
न छोड़ कर भी, मोक्ष सुख।
पा ही चुके ॥१५२॥

इसलिये हे पार्थ।
रखो कर्म में विश्वास।
और भी उपकार।
होगा इस से ॥१५३॥

देख हमारा आचरण।
लोक करेगा अनुसरण।
न होगा उस का पतन।
सहज ही ॥१५४॥

जो हो चुके कृत-कृत्य।
निष्कामता सहज सिद्ध।
करते वे भी उचित कर्म।
लोक-हितार्थ ॥१५५॥

अन्ध को कराता पथ-दर्शन।
आगे चलता जैसे सुनयन।
अज्ञों के प्रति धर्म-प्रकटन।
स्वाचरण से ॥१५६॥

यदि ज्ञानी ऐसा न करें।
तो अज्ञ कैसे समझें?
उचित पथ वे कैसे जानें।
कहो सखे! ॥१५७॥

श्रेष्ठ के आचरित कर्म।
जग में कहलाते धर्म।
उसी का करते अनुष्ठान।
सामान्य सकल ॥१५८॥

यही लोक – स्वभाव।
अतः न करें कर्मत्याग।
सन्त करें धर्माचरण।
सविशेष ॥१५९॥

अन्यों की क्या बात।
कहूँ तुझ से पार्थ।
मैं स्वयं यही मार्ग।
अपनाता सदा ॥१६०॥

होगा मुझ पर कोई सङ्कट।
साधना होगा कोई स्वार्थ।
अतः करता धर्माचरण।
कहो यदि! १६१॥

तो पूर्णता जैसी मुझ में।
नहीं वैसी समस्त जग में।
सामर्थ्य भरा प्रतिअङ्ग में।
जानते तुम ॥१६२॥

मृत गुरुपुत्र का आनयन।
तुम ने देखा पराक्रम।
फिर भी आचरता मैं कर्म।
अहेतुक ॥१६३॥

कैसा मेरा धर्माचरण।
जैसा साकांक्ष का वर्तन।
रहता एक ही प्रयोजन।
मेरा पार्थ ॥१६४॥

जग के जीव सकल।
मेरे आधीन केवल।
ये न जावें कुपथ पर।
भटक कर ॥१६५॥

मैं निष्काम पूर्ण तृप्त।
रहूँ सदा यदि आत्मस्थ।
तो यह प्रजा समस्त।
तरे कैसे? ॥१६६॥

देखें ये मेरा वर्तन।
करें उसी का अनुसरण।
मेरे अकर्म से लोकविघटन।
होगा पार्थ ॥१६७॥

अतः यहाँ जो समर्थ।
हो चुके जो सर्वज्ञ।
विशेष रूप से वे कर्म।
त्यागें नहीं ॥१६८॥

रख कर फल की आशा।
आचरते सकाम जैसा।
कर्म अखण्डित हो वैसा।
निष्काम का ॥१६९॥

कहूँ बारंबार कौन्तेय।
सर्वथा हमारा कर्तव्य।
लोक-संस्था रक्षणीय।
निज कर्म से ॥१७०॥

विहित मार्ग से हम चलें।
विश्व को भी प्रवृत्त करें।
अपनी प्रदर्शित न करें।
अलौकिकता ॥१७१॥

जो स्तन्य भी सायास पिये?
पक्वान्न वह कैसे खाये?
अतः नहीं जाते दिये।
वे शिशु को ॥१७२॥

जो केवल कर्म के योग्य।
उन के प्रति नैष्कर्म्य।
खेल में भी सुज्ञ।
कहते नहीं ॥१७३॥

करायें उन से सत् क्रिया।
उसी की करें प्रशंसा।
स्वयं आचरें सर्वथा।
निष्काम धर्म ॥१७४॥

पूर्ण शक्ति से कर के श्रम।
करते सम्पत्ति–अर्जन।
स्वधर्म छोड़ देह–पोषण।
करें उस से? ॥२०७॥

यह पञ्चतत्त्व – समुदाय।
अन्त में पाये पञ्चत्व।
तब कहाँ खोजेंगे श्रमफल।
अपना हम? ॥२०८॥

यदि करे केवल देहभरण।
तो लुट जायेगा जीवन।
इस में निज अन्तःकरण।
न दो व्यर्थ ॥२०९॥

इन्द्रियेच्छा – अनुसरण।
से करें विषय-पोषण।
तो सन्तोष माने अन्तःकरण।
भले अर्जुन ॥२१०॥

पर गुप्त चोरों का साथ।
रहने देता तब तक स्वस्थ।
जब तक नगर का प्रान्त।
छोड़ें नहीं ॥२११॥

विष में जो मधुरता।
चित्त देखे उस में प्रियता।
पर करें विचार परिणाम का।
तो वह मारक ॥२१२॥

इन्द्रियों का काम ऐसा।
दिखाता विषय में सुखाशा।
आमिष से ढँका काँटा।
लुभाता मीन को ॥२१३॥

उस में ढँका कण्टक।
बनता प्राणहारक।
दिखता नहीं वह सङ्कट।
छिपा हुआ ॥२१४॥

विषय सुख को अभिलाषा।
उपजाती है आशा।
वह पूर्ण न हो तो भड़कता।
क्रोधानल ॥२१५॥

घेरा डाले पारधी।
रखे घात को अभिसन्धि।
बहका कर मृग की बुद्धि।
करे जालबद्ध ॥२१६॥

वही रीति अपनाते पार्थ।
ये दोनों काम-क्रोध।
अतः न करो इन का सङ्ग।
वे हैं घातक ॥२१७॥

अतः इन को आश्रय न दो।
मन में स्मरण भी न करो।
रस नष्ट न होने दो।
स्वधर्म का ॥२१८॥

भले अपना स्वधर्म।
जान पड़े कठिन।
पर उसी का अनुष्ठान।
हितकर ॥२१९॥

तथा पराया आचार।
भले दीखे सुन्दर।
हमें उचित व्यवहार।
स्वधर्म का ही ॥२२०॥

कहो शूद्र के घर।
पक्वान्न बने हों सुन्दर।
ब्राह्मण भले दरिद्र।
कैसे करे सेवन ॥२२१॥

यह अनुचित क्यों करें।
अप्राप्य की इच्छा धरें।
अथवा इच्छित का भी करें।
कैसे सेवन ॥२२२॥

दूसरों के धवल महल।
देख कर अति मनोहर।
क्या अपनी कुटिया—छप्पर।
तोड़ना उचित! ॥२२३॥

अथवा अपनी वनिता।
भले कितनी कुरूपा।
उसी से सुख भोगना।
होता हितकर ॥२२४॥

चाहे जितना दुष्कर।
आचरण में कठिनतर।
स्वधर्म ही है सुखकर।
परलोक में ॥२२५॥

शक्कर और दूध।
माधुर्य इन का प्रसिद्ध।
पर कृमिरोग में विरुद्ध।
कुपथ्य यह ॥२२६॥

फिर भी यदि करे सेवन।
होगा जिह्वा-लौल्य पूर्ण।
पर कुपथ्य का परिणाम।
अनिवार्य ॥२२७॥

अतः अन्यों को जो विहित।
पर अपने लिये अनुचित।
उस के अनाचरण में हित।
अपना समझो ॥२२८॥

करें स्वधर्मानुष्ठान।
भले व्यय हों उस में प्राण।
है इह-पर का कल्याण।
उस में अर्जुन ॥२२९॥

ऐसे समस्त सुर-शिरोमणि।
बोले जब शार्ङ्गपाणि।
बोला विनीत पाण्डव-मणि।
हे देव! ॥२३०॥

आपने जो कहे वचन।
मन सहित किये मैंने श्रवण।
फिर भी कुछ करता प्रश्न।
अपेक्षित ॥२३१॥

क्यों होता ऐसा देव।
ज्ञानी भी होते स्थिति-भ्रष्ट।
विचरते फिर मार्गच्युत।
चाहे जैसे? ॥२३२॥

जो हो चुके सर्वज्ञ।
जानते हेयोपादेय।
वे क्यों करते व्यभिचरण।
परधर्म में ॥२३३॥

पृथक् भूसा और धान्य।
कर न पाता अन्ध।
पर क्यों कभी सुनयन।
करता व्यत्यय? ॥२३४॥

जो स्वाभाविक सङ्ग छोड़ते।
फिर व्यर्थ संसर्ग से न अघाते।
वनवासी भी आ बसते।
जनपद में ॥२३५॥

स्वयं पृथक् रहते।
सदा पाप से बचते।
फिर क्यों भला विवश करते।
पापाचार? ॥२३६॥

जिन से मन पाता त्रास।
क्यों वही घेरते बरबस।
टालें तो भी आते फिर-फिर।
फँसता जीव ॥२३७॥

यह दिखता जो बलात्कार।
वह किस का साग्रह वार।
पूछता पाण्डुकुमार।
कहो कृष्ण! ॥२३८॥

तब हृदय-कमल-आराम।
योगियों के निष्काम काम्य।
कहने लगे पुरुषोत्तम।
सुनो अर्जुन ॥२३९॥
ये जो काम-क्रोध।
इन में नहीं कृपा लवमात्र।
मानो इन्हें कृतान्त।
साक्षात् ही ॥२४०॥
ये ज्ञाननिधि के नाग।
विषय-दरी के बाघ।
भजनपथ के जल्लाद।
समझो इन्हें ॥२४१॥
ये देहदुर्ग के पाषाण।
इन्द्रिय-ग्राम के कोट।
व्यामोह-रूप अधिकार।
इन का जग पर ॥२४२॥
राजस इनका मन।
समूल आसुरी गठन।
किया इन का धात्रीपन।
अविद्या ने ॥२४३॥
उत्पन्न ये रजोगुण से।
लाड़ले तमोगुण के।
मिला उस का सर्वस्व इन्हें।
प्रमाद-मोह ॥२४४॥
मृत्यु की नगरी।
सन्मान इन्हें देती।
ये जीवन के वैरी।
क्योंकि पार्थ ॥२४५॥
जब होते ये बुभुक्षित।
ग्रास भर न होता विश्व।
बढ़ती इन की निरन्तर।
भोगाशा ॥२४६॥

जो खेल में करे मुट्ठी बन्द।
तो कम पड़ते चौदह लोक।
वह भ्रान्ति प्यारी बहन।
छोटी इस की ॥२४७॥
जो खेले रसोई का खेल।
तो खा जाती लोकत्रय।
उसी की दासी हो कर।
जीती तृष्णा ॥२४८॥
मोह करता सन्मान।
अहङ्कार से लेन-देन।
नचाती जिस की मौज।
सब विश्व को ॥२४९॥
जिस ने सत्य का थैला लेकर।
अकृत्य का भूसा दिया भर।
वह दम्भ हुआ पालित पोषित।
यहीं पर ॥२५०॥
साध्वी शान्ति को लिया लूट।
माया कसाइन शृंगारित।
उस से कराया भ्रष्ट।
साधु-वृन्द ॥२५१॥
विवेक का घर उजाड़ा।
वैराग्य का चर्म उधेड़ा।
जीवित ही उपशम का।
घोंटा गला ॥२५२॥
सन्तोषवन कटवाया।
धैर्य – दुर्ग गिराया।
आनन्द का पौधा।
उखाड़ डाला ॥२५३॥
बोध की पौध उखाड़ी।
सुख की लिपि पोंछ डाली।
हृदय में आग लगाई।
तापत्रय की ॥२५४॥

शरीर जब उत्पन्न हुए।
तभी जीव से चिपटे ये।
खोजने पर भी न मिलते।
ब्रह्मादि को ॥२५५॥

चैतन्य के निकट।
ज्ञान-पङ्क्ति में प्रविष्ट।
करते महामारी प्रवृत्त।
रोकना अशक्य ॥२५६॥

जल बिना डुबाते।
अग्नि बिना जलाते।
बिना बोले ग्रास करते।
प्राणियों को ॥२५७॥

शस्त्र बिना ही वेधते।
डोरी बिना बाँधते।
ज्ञानियों का वध करते।
प्रण करके ॥२५८॥

दलदल बिना धँसाते।
पाश बिना फँसाते।
किसी के वश न आते।
निजबल से ॥२५९॥

जैसे चन्दन के मूल।
में लिपटे रहते व्याल।
अथवा उल्ब का खोल।
गर्भस्थ को ॥२६०॥

भानु प्रभा – विन।
हुताशन धूम्र – विन।
या दर्पण मलहीन।
होता नहीं ॥२६१॥

नहीं देखा वृत्तिज्ञान।
काम–क्रोध विहीन।
तुष-आच्छादित ही बीज।
निपजे सदा ॥२६२॥

ज्ञान स्वभावतः शुद्ध।
पर कामादि से प्ररुद्ध।
अतः होता अगाध।
जीव के लिये ॥२६३॥

प्रथम इन्हें करे विजित।
तब ज्ञान होगा प्राप्त।
पर पराभव न सम्भव।
रागद्वेष का ॥२६४॥

करने को इन्हें विजित।
जो लाते अङ्गों में बल।
वह मानो अग्नि में इन्धन।
सहायभूत ॥२६५॥

जो किये जाते उपाय।
वे बनते इन के सहाय।
हठयोगी को भी पराजय।
देते ये ॥२६६॥

ऐसा यह सङ्कट दुस्तर।
फिर भी है एक उपाय सुकर।
यदि हो तुम्हें रुचिकर।
तो कहूँ तुझे ॥२६७॥

इन्द्रिय इन का मूल स्थान।
वहीं से होता कर्म-प्रवर्तन।
अतः करो उन का निर्दलन।
सर्वथा तात ॥२६८॥

मन का वेग होगा कुण्ठित।
तब बुद्धि होगी मुक्त।
फिर आश्रय होगा नष्ट।
इन पापियों का २६९॥

जब अन्तर से हों ये नष्ट।
तभी जानों इन्हें विनष्ट।
जैसे रविरश्मि बिना दृष्ट।
मृगजल नहीं ॥२७०॥

जब रागद्वेष हों समाप्त।
तब पाया ब्रह्म–स्वराज्य।
अब अनुभवता आत्मसुख।
स्वयं जीव ॥२७१॥

वहीं गुरु-शिष्य की गोष्ठी।
एकता पद–पिण्ड की।
रहो स्थिर वहाँ, कभी।
हिलो नहीं ॥२७२॥

ऐसे सकल-सिद्ध-राज।
वे स्वयं लक्ष्मीनाथ।
बोले देवाधिदेव।
सुनो राजन् ॥२७३॥

पुनः वे श्रीअनन्त।
कहेंगे पुरातन बात।
जो सुन कर पाण्डुसुत।
करेगा प्रश्न ॥२७४॥

उस कथन की योग्यता।
रसवृत्ति की महत्ता।
सुकाल मानेंगे श्रोता।
श्रवणसुख का ॥२७५॥

निवृत्ति का ज्ञानदेव कहे।
बढ़ावें उन्मेष श्रवणों में।
फिर कृष्णार्जुन संवाद का लें।
आनन्द जोभर ॥२७६॥

इति श्रीमद्ज्ञानेश्वरविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीता – 'भावार्थ दीपिकायां' कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥

॥ हरिः ॐ तत् सत् ॥

॥ॐ हरिः ॐ॥

चतुर्थ अध्याय

श्रवणेन्द्रिय को हुआ सुकाल।
जो देखा गीता – निधान।
स्वप्न भी हुआ साकार।
सत्य–सदृश ॥१॥

विवेक है प्रतिपाद्य विषय।
प्रतिपादक कृष्ण जगज्ज्येष्ठ।
श्रोता भक्तराज पार्थ।
करे श्रवण ॥२॥

कोकिल–स्वर सहित सुगन्ध।
परिमल-सह सुस्वाद।
वैसा रुचिपूर्ण विनोद।
इस कथा में ॥३॥

कैसा सुदैव उदित।
हुई अमृत गङ्गा उपलब्ध।
अथवा श्रोताओं के जप–तप।
सुफलित हुए ॥४॥

अब सभी इन्द्रिय-गण।
श्रवण को बनायें घर।
फिर भोगें संवाद-सुख।
गीतारूप ॥५॥

अब अतिप्रसङ्ग रहने दो।
मूल कथा ही कहो।
जो कृष्ण–अर्जुन दोनों।
कह रहे ॥६॥

तब राजा से कहे सञ्जय।
अर्जुन पर सुदैव सदय।
जो अति स्नेह से नारायण।
बोले वचन ॥७॥

जो गुह्य न कहा वसुदेव से।
न कहा जो माँ देवकी से।
नहीं कहा बलभद्र से।
कह रहे वह अर्जुन से ॥८॥

देवी लक्ष्मी कितनी निकट।
न देखा पर यह प्रेमसुख।
कृष्ण–स्नेह का सार–रस।
मिला इसे ही ॥९॥

आशा-वेलि सनकादि की।
सच ही बहुत बढ़ी थी।
पर अर्जुन के समान यश।
मिला न उन को ॥१०॥

इन जगदीश्वर का प्रेम।
दिखता यहाँ निरुपम।
न जाने कैसे किये सर्वोत्तम।
पुण्य पार्थ ने ॥११॥

अथवा जिस की प्रीत।
करा सकी अमूर्त को मूर्त।
उस का यह अद्वैत।
भाता मुझे ॥१२॥

जहाँ योगी न पहुँचे।
वेदार्थ जिसे न समझे।
जहाँ नयन ध्यानादि के।
पहुँचे नहीं ॥१३॥

वह यह निज स्वरूप।
जो अनादि निष्कम्प।
कैसे इतना हुआ सकृप।
अर्जुन के प्रति ॥१४॥

यह तहाया त्रैलोक्य पट।
पर आकार से अतीत।
हुआ है अर्जुन के वश।
न जाने कैसे ? १५॥

अर्जुन को कहते देव।
विवस्वत को यह योग।
कहा था मैंने, वह बात।
बहुत दिनों की ॥१६॥

विवस्वत रवि ने फिर।
यह योग – स्थिति सब।
भली-भाँति की निरूपित।
मनु के प्रति ॥१७॥

मनु ने इसे अपनाया।
फिर इक्ष्वाकु को उपदेश किया।
विस्तीर्ण हुई यह परम्परा।
आद्य ऐसे ॥१८॥

इस योग से फिर और भी।
राजर्षि हुए ज्ञानी।
किन्तु इस को सम्प्रति।
जाने न कोई ॥१९॥

काम से भरे प्राणी।
आदर करें देह का ही।
भूला गया इस लिये हो।
आत्मबोध ॥२०॥

आत्म-निष्ठा हुई नष्ट।
विषयसुख ही चरम अभीष्ट।
संसारोपाधि प्राणसम।
प्रिय लोक को ॥२१॥

जो दिगम्बरों का ग्राम।
वहाँ वसन विविध क्या काम।
जात्यन्ध को क्या महत्त्व।
रवि का कहो ? ॥२२॥

अथवा बहरों के स्थान।
क्या होगा गीत का मान ?
सियारों को चाँदनी।
सुहाये कभी ? ॥२३॥

चन्द्रोदय से पूर्व।
जो लेते नयन मूँद।
उन कौओं को पहचान।
कैसे चन्द्र की ? ॥२४॥

वैसे, न देखी वैराग्य की सीमा।
न जाने विवेक की भाषा।
वे मूर्ख पायें कैसे भला।
मुझ ईश्वर को ? ॥२५॥

न जाने कैसे बढ़ा मोह।
बहुत सा काल गया व्यर्थ।
इसी से लुप्त हुआ योग।
इस लोक से ॥२६॥

वही योग यहाँ आज।
तेरे प्रति कुन्तिसुत।
कहा मैंने तत्त्व-सहित।
न रखो संशय ॥२७॥

यह मेरा परम गोप्य।
रखूं कैसे तुम से गुह्य।
जो तू परम आत्मीय।
लाडला मेरा ॥२८॥

तू प्रेम मूर्तिमन्त।
तू भक्ति-सुधा परम।
तू सख्य-कला सघन।
हे धनुर्धर ॥२९॥

तू अनुसङ्ग का अगर।
रखूं क्या तुझ से छिपाकर।
हुए सङ्ग्राम में आरूढ।
यहाँ हम ॥३०॥

पर रहे यह पृथक् पलभर।
न रहे संशय मन पर।
करूँ तेरा अज्ञान-हरण।
यही उचित ॥३१॥

हे श्रीहरि! बोला अर्जुन।
माँ करे शिशु पर स्नेह।
इस में भला क्या विस्मय।
कृपानिधे! ॥३२॥

तुम संसार-श्रान्त की छाया।
अनाथ जीवों की माता।
सचमुच हमें जन्म दिया।
तुम्हारी कृपा ने ॥३३॥

पङ्गु सुत को दे कर जन्म।
माँ सहे कष्ट आजीवन।
वैसी अपनी दशा, सम्मुख।
क्या कहूँ देव! ॥३४॥

अब पूछ रहा मैं जो प्रश्न।
कृपया उस पर दें ध्यान।
देव! न करें उससे कोप।
श्रीहरि! सुनें ॥३५॥

पहले कही जो बात।
अभी आप ने श्रीअनन्त!
न माने वह मेरा चित्त।
किसी प्रकार ॥३६॥

कौन थे वे विवस्वत।
नहीं जानते अपने गुरुजन।
फिर कैसे उन्हें उपदेश।
दिया आपने? ॥३७॥

सूर्य हुए बहुत पूर्व।
आप आये अभी कृष्ण।
लगता इसी से विसंवाद।
आप के कथन में ॥३८॥

किन्तु देव तुम्हारा चरित्र।
हमारे लिये सर्वथा अगम्य।
अतः कैसे कहें असत्य।
हठात् प्रभो! ॥३९॥

अत एव कथा समस्त।
कि आप से रवि उपदिष्ट।
समझ सकूं मैं ऐसा स्पष्ट।
कृपया कहें ॥४०॥

बोले कृष्ण हे पाण्डुसुत।
था वर्तमान जब विवस्वत।
हम न थे तब—यह प्रतीत।
होता तुझे ॥४१॥

अरे तू है अज्ञान।
मेरे—तेरे कितने जन्म।
बीत चुके, नहीं स्मरण।
तुझे पार्थ ॥४२॥

पर मैं जिस-जिस अवसर।
जिन रूपों में अवतरित।
है मुझे सब का स्मरण।
हे धनुर्धर ॥४३॥

अतएव मुझे समस्त।
आदि से ज्ञात-स्मृत।
अजन्मा भी मैं सम्भूत।
प्रकृतियोग से ॥४४॥

अव्ययता नहि व्याहत।
आवागमन आभासित।
प्रतिबिम्ब—सा मायावश।
मुझ में ही ॥४५॥

मेरी स्वतन्त्रता न क्षीण।
पर दिखता हूँ कर्माधीन।
यह भ्रान्ति-बुद्धि हीन।
सत्य नहीं ॥४६॥

एक हो दिखता द्वितीय।
इस में दर्पण है आधार।
करें यदि तत्त्वविचार।
दूजा है कहाँ? ।।४७।।
वैसे किरीटी में अमूर्त।
होकर प्रकृति पर अधिष्ठित।
साकारपन का करता नटन।
कार्य के लिये ।।४८।।
जितने भी हैं धर्म।
उन का युग-युग में रक्षण।
करता मैं यह अनादि क्रम।
स्वभाव मेरा ।।४९।।
रख एक ओर अजत्व।
बिसराता अव्यक्तत्व।
जब करता धर्म का अभिभव।
अधर्म यह ।।५०।।
तब स्वजनों का करने रक्षण।
होता साकार अवतीर्ण।
अज्ञान का अन्धकार।
निगल जाता ।।५१।।
अधर्म की अवधि तोड़ता।
दोषों की लिपि पोंछता।
सज्जन – हित फहराता।
सुख की ध्वजा ।।५२।।
करता असुरकुल का नाश।
बढ़ाता साधु-सम्मान।
धर्म और नीति का मिलन।
कराता शुभ ।।५३।।
हटाता अविवेक काजल।
करता विवेक दीप प्रोज्ज्वल।
तब देखते योगी निरन्तर।
दीपावली ।।५४।।
भरता सुख से जग समस्त।
विलसता धर्म साम्राज्य।
भक्त रहते ओत-प्रोत।
सात्त्विक भाव से ।।५५।।
पाप – पर्वत होता ध्वस्त।
उदित होता पुण्य-प्रभात।
जब मैं समूर्त होता प्रकट।
हे पाण्डुसुत ।।५६।।
ऐसे कार्य के निमित्त।
युग-युग में मैं अवतरित।
जो यह पहचाने, उसे विश्व।
कहता विवेकी ।।५७।।
मुझ अजन्मा का लेना जन्म।
अक्रिय का करना कर्म।
इसे जाने जो विकार–रहित।
वह परम मुक्त ।।५८।।
चलते हुए भी वे अचल।
देह में रहते भी विदेह।
पाने पर पञ्चत्व।
मिलते मुझमें ।।५९।।
पूर्वापर का शोक न करते।
कामना शून्य से रहते।
कभी पथ पर न जाते।
क्रोध के ।।६०।।
सदा मुझ में सम्पन्न।
सेवा ही उन का जीवन।
आत्मबोध में सुप्रसन्न।
वीतराग वे ।।६१।।
वे तप-तेज के निधान।
ज्ञान के एकायतन।
तीर्थों का पवित्रपन।
स्वयं तीर्थरूप ।।६२।।

वे मद्भावन में सहज प्राप्त।
सद्रूप हो कर जो स्थित।
उन में मुझ में अन्तराय।
रहता नहीं ॥६३॥

यदि पीतल का कस व कालिख।
दोनों हो जांय निःशेष।
फिर सुवर्णप्राप्ति का उद्यम।
करना क्यों? ॥६४॥

जो यम-नियम में पारङ्गत।
तपोज्ञान से प्रक्षालित।
वे साक्षात् हुए मद्रूप।
निःसंशय ॥६५॥

यों देखें तो अर्जुन।
जो जैसे करे मेरा भजन।
मैं भी उसे निरन्तर।
भजता वैसे ॥६६॥

यों तो मनुष्य सकल।
स्वभावतः भजनशील।
भक्ति इन की केवल।
मुझ में ही ॥६७॥

पर ज्ञान बिना हो कर नष्ट।
बुद्धि में भेद प्रविष्ट।
वे मुझ एक में करते कल्पित।
अनेकत्व ॥६८॥

अतः अभेद में देखते भेद।
अनामी को देते नाम।
कहते अनेक देवी-देव।
चर्चातीत को ॥६९॥

जो सर्वत्र सदा सम।
वहाँ विभाग अधमोत्तम।
निज भ्रान्त – बुद्धिवश।
करते कल्पित ॥७०॥

फिर नाना हेतुओं से।
यथोचित उपचार से।
विभिन्न देवों की करते।
उपासना ॥७१॥

वहाँ जो-जो अपेक्षित।
वैसे ही फल पाते समस्त।
किन्तु वह कर्मफल निश्चित।
समझो पार्थ ॥७२॥

कर्म बिना दाता—अदाता।
नहीं अन्य, यह यथार्थता।
कर्म ही फल-सूचक यहाँ।
मनुष्यलोक में ॥७३॥

खेत में बोया जो बीज।
उस से अन्य न होती उपज।
चाहें जो देखना दिखे वह।
दर्पणाधार से ॥७४॥

अथवा पर्वतकन्दरा में।
अपना हो शब्द जैसे।
प्रतिध्वनि होकर उठे।
निमित्तयोग से ॥७५॥

वैसे ये जितने भजन।
सब का साक्षी मैं हो अर्जुन।
प्रतिफल देती भावना केवल।
अपनी-अपनी ॥७६॥

इसी तरह तू जान।
ये जो हैं चारों वर्ण।
गुण-कर्मानुसार सब।
रचे मैं ने ॥७७॥

लेकर प्रकृति का आधार।
गुणों का देखकर स्तर।
इन्हें कर्म तदनुसार।
बाँटे मैंने ॥७८॥

हैं ये एक ही धनुर्धर।
बने हुए जो वर्ण चार।
ऐसा गुण-कर्म-विचार।
किया सहज ॥७९॥
अत एव सुनो पार्थ।
हुआ जो यह वर्ण-विभाग।
नहीं में कर्ता किसी प्रकार।
इन का कभी ॥८०॥
प्रकट हुए ये मुझ से।
पर किये नहीं मैं ने।
ऐसा जो कोई जाने।
वह मुक्त हुआ ॥८१॥
पहले जो हुए मुमुक्षुजन।
उन्होंने यह जानकर।
किये कर्म समस्त।
हे धनुर्धर ॥८२॥
किन्तु जैसे बीज दग्ध।
बोने पर न होते अङ्कुरित।
वैसे उन के कर्म विवेचन।
मोक्षहेतु ॥८३॥
और भी सुन अर्जुन।
यदि कर्माकर्म – विवेचन।
स्वेच्छा से करें सज्ञान।
तो योग्य नहीं ॥८४॥
क्या कहलाता कर्म।
या अकर्म का क्या लक्षण।
इस विचार में विचक्षण।
उलझ जाते ॥८५॥
जैसे कि सिक्के खोटे।
सच्चों के समान दिखते।
सुनयन की भी दृष्टि में।
होता संशय ॥८६॥

वैसे निष्कर्मता का भ्रम।
पालकर करते कर्म।
मानें कि रच सके मनोधर्म।
द्वितीय सृष्टि ॥८७॥
यहाँ मूर्खों की बात कैसी।
मोहित हुए जहाँ क्रान्तदर्शी।
अतएव सुनो तत्त्व वही।
कहूँ तुझे ॥८८॥
कहलाता कर्म वह स्वभाव।
जिस से विश्वाकार सम्भव।
सम्यक् जानना योग्य।
पहले उसे ॥८९॥
फिर वर्णाश्रम–प्रति उचित।
जो विशेष कर्म विहित।
पहचानें उसे निश्चित।
उपयोग सहित ॥९०॥
फिर जो कहलाया निषिद्ध।
उस का भी समझें स्वरूप।
तब न फँसाता कर्मबन्ध।
स्वयं ही ॥९१॥
इस प्रकार जग कर्माधीन।
ऐसी इस की व्याप्ति गहन।
रहने दो, अब सुनो चिह्न।
कृतार्थों के ॥९२॥
जो सब कर्मों में रहता हुआ।
देखे अपनी निष्कर्मता।
कर्म–सङ्ग में न देखे आशा।
फल के प्रति ॥९३॥
जिसे कर्तव्य के लिये।
जग में द्वितीय न दिखे।
निष्कर्मता के बोध से।
प्रबोधित ऐसा ॥९४॥

क्रिया-कलाप का सम्पूर्ण।
सम्यक् करता आचरण।
जानो पार्थ यही चिह्न।
ज्ञानियों के ॥९५॥

खड़ा कोई जल के समीप।
देखे स्वयं को जल के मध्य।
फिर भी समझता निज को भिन्न।
निःसंशय ॥९६॥

अथवा बैठा हुआ नाव में।
तट के वृक्ष देखे चलते।
विचार-पूर्वक देखे तो कहे।
वृक्ष अचल ॥९७॥

वैसे सभी कर्मों में रहता।
पर स्पष्ट मिथ्या मानता।
अपना स्वरूप समझता।
निष्कर्म ही ॥९८॥

और उदय—अस्त के निमित्त।
जैसे सूर्य पर चलत्व आरोपित।
जाने वैसे निज नैष्कर्म्य।
कर्म के मध्य ॥९९॥

प्रतीत होता मनुष्य—सदृश।
पर नहीं तत्त्वतः मनुष्य।
नहीं डूबता भानु-बिम्ब।
जैसे जल में ॥१००॥

उसने अनदेखे विश्व देखा।
कुछ न करते सब किया।
न भोगते भी भोग लिया।
भोग्यजात ॥१०१॥

भले बैठा एक स्थान पर।
किन्तु हो आया सर्वत्र।
किम्बहुना विश्व-रूप।
वह स्वयं हुआ ॥१०२॥

जिस पुरुष का चित्त।
कर्म में न माने खेद।
किन्तु कभी न अपेक्षित।
फल उसे ॥१०३॥

करूँगा मैं यह कर्म।
सिद्ध करूँगा आरब्ध।
न करें चित्त को स्पर्श।
सङ्कल्प ऐसे ॥१०४॥

ज्ञानाग्नि के मुख में।
दग्ध किये कर्म जिसने।
ब्रह्म ही मनुजरूप में।
वह, जान तू ॥१०५॥

जो शरीर के प्रति उदास।
फलभोग के प्रति निराश।
नित्य ही उल्लसित।
आनन्दरूप ॥१०६॥

बैठ सन्तोष के गर्भगृह में।
आत्मबोध का भोजन करे।
अघाता नहीं सेवन से।
जो धनुर्धर ॥१०७॥

कैसी अधिकाधिक प्रियता।
अनुभवे महासुख की मधुरता।
अहङ्कार-सहित आशा।
वारता उस पर ॥१०८॥

जब—जब जो-जो मिलता।
उसी से सुख मानता।
जिसे अपना — पराया।
दोनों नहीं ॥१०९॥

जो कुछ दृष्टि-गोचर।
वह दिखता उसे निजरूप।
जो भी सुनते श्रवण।
वह भी स्वयं ही ॥११०॥

चलें जहाँ भी चरण।
मुख बोले जो–जो वचन।
ऐसे जितने चेष्टागण।
सब निजस्वरूप ॥१११॥

किम्बहुना, जिसे कहीं।
विश्व स्वयं से भिन्न नहीं।
उसे कैसे कर्म कभी।
करें बाधित ॥११२॥

उपजे जहाँ मत्सर।
बचा नहीं जब वह द्वैत।
उस पुरुष को निर्मत्सर।
कैसे कहें? ॥११३॥

वह सब प्रकार से मुक्त।
सकर्म भी कर्मरहित।
सगुण किन्तु गुणातीत।
निःसंशय ॥११४॥

भले हो वह देहगत।
पर दिखता चैतन्य – सम।
पर ब्रह्म की कसौटी पर।
उतरे शुद्ध ॥११५॥

यदि वह भी कौतुक-वश।
कर्म करता यज्ञादिक।
वे लय होते निःशेष।
उस के स्वरूप में ॥११६॥

जैसे अकाल के अभ्र।
आकाश में ऊर्मि-बिन।
स्वयं ही होते विलीन।
उदित हो कर ॥११७॥

वैसे विधि–विधान से विहित।
आचरित भी कर्म समस्त।
उस के ऐक्यभाव में ऐक्य।
पाते पार्थ ॥११८॥

यह हवन, मैं होता।
या इस यज्ञ में यह भोक्ता।
ऐसी बुद्धिगत भिन्नता।
नहीं क्योंकि ॥११९॥

अतः करे जो इष्ट यज्ञ।
उस के सभी मन्त्र, हव्य।
रहे सब में अविनाश-भाव।
आत्मबुद्धि ॥१२०॥

अतः ब्रह्मरूप हो कर्म।
जिस में यह बोध हुआ सम।
उस का कर्तव्य भी नैष्कर्म्य।
हे धनुर्धर ॥१२१॥

बीता अविवेक – कौमार्य।
हुआ विरक्ति से पाणिग्रह।
आरम्भ हुआ उपासन।
योगाग्नि का ॥१२२॥

जो अहर्निश करते यजन।
मन सहित अविद्या का हवन।
गुरुवाक्य ही हुताशन।
पार्थ उन का ॥१२३॥

योगाग्नि में करते यजन।
कहलाता वह दैवयज्ञ।
काम्य जिस में आत्मसुख।
हे पाण्डुकुँवर! ॥१२४॥

अब सुनो कहूँ और एक।
जो ब्रह्माग्नि से साग्निक।
वे यज्ञ से ही करते यज्ञ।
उपासित ॥१२५॥

एक अग्निहोत्री संयम से।
युक्तित्रय के मन्त्र से।
पवित्र इन्द्रिय-द्रव्यों से।
करते यजन ॥१२६॥

होते ही वैराग्य रवि उदित।
संयम कुण्ड किये निर्मित।
जिन में हुआ अपावृत।
इन्द्रियानल ॥१२७॥

उसमें विरक्ति की प्रकटी ज्वाला।
विकारों का इन्धन चेत उठा।
तब आशा–धूम छोड़ चला।
पाँचों कुण्ड ॥१२८॥

फिर विधिवाक्य का ले आधार।
विषयाहुति देते प्रभूत।
इन्द्रियाग्नि के कुण्ड में नित्य।
करते हवन ॥१२९॥

ऐसे किसी ने पार्थ।
दोष सब किये प्रक्षालित।
हृदयारणी में विवेक।
मन्थन–दण्ड ॥१३०॥

उपशम रज्जु से बाँधकर।
धैर्य–भार से दाब कर।
गुरुवाक्य मन्त्र से बलपूर्वक।
मन्थन किया ॥१३१॥

ऐसे समरस से करें मन्थन।
तो शीघ्र ही कार्य सम्पन्न।
उसी से हुआ उज्जीवन।
ज्ञानाग्नि का ॥१३२॥

पहले ऋद्धि-सिद्धि का संभ्रम।
वह निकल गया धूम।
तब प्रगट हुआ सूक्ष्म।
विस्फुलिङ्ग ॥१३३॥

तब उन्मुक्त हुआ मन।
बनता वही इन्धन।
यम नियम से सूखापन।
आया जिसमें ॥१३४॥

उस सहाय से समृद्ध ज्वाला।
अन्य वासना हुई समिधा।
घृत-रूप नाना ममता।
हुईं भस्म ॥१३५॥

वहाँ 'सोऽहं' मन्त्र से दीक्षित।
करे इन्द्रिय – कर्म आहुत।
उस से ज्ञानाग्नि प्रदीप्त।
हो उठे ॥१३६॥

फिर प्राणक्रिया की स्रुवा से।
पूर्णाहुति पड़ी हुताश में।
तब अवभृथ स्नान समरस।
हुआ सहज ॥१३७॥

फिर आत्मबोध का सुख।
जो संयमाग्नि का हुतशेष।
वही देखो पुरोडाश।
लिया उस ने ॥१३८॥

ऐसे हो इस यजन से।
वह मुक्त हुआ त्रिभुवन से।
विहित हैं यज्ञ नाना विधिसे।
पर प्राप्य एक ॥१३९॥

कहाता एक द्रव्य-यज्ञ।
एक तपसामग्री से निष्पन्न।
और एक योगयज्ञ।
कहलाता पार्थ ॥१४०॥

एक में शब्द का यजन शब्द से।
वाग्यज्ञ कहते उसे।
जब ज्ञान से ज्ञेय को जानते।
वह ज्ञानयज्ञ ॥१४१॥

अर्जुन! ये हैं सब विकट।
अनुष्ठान में अति दुर्घट।
पर जितेन्द्रिय के लिये सुकर।
योग्यतावश ॥१४२॥

वे हैं इस में प्रवीण।
योग – समृद्धि से सम्पन्न।
अतः कर सके आत्महवन।
अपने में ही ॥१४३॥

अपानाग्नि के मुख में।
प्राण – द्रव्य को अपने।
कोई हवन करते।
अभ्यास-योग से ॥१४४॥

कोई प्राण को अपान में अर्पित।
करते कोई दोनों निरुद्ध।
वे प्राणायामी प्रसिद्ध।
पाण्डुकुंवर! ॥१४५॥

कोई वज्रयोग के क्रम से।
सर्वाहार के संयम से।
प्राणों में प्राण का त्वरा से।
करते हवन ॥१४६॥

ऐसे मोक्षकाम सकल।
समस्त ये यजन-शील।
जिन्होंने यज्ञ से मनोमल।
किये क्षालित ॥१४७॥

जल चुका अविद्याजात।
शेष रहा निज स्वभाव।
वहाँ होता और हुताशन।
भिन्न नहीं ॥१४८॥

याजक हुआ पूर्णकाम।
शेष नहीं तब यज्ञविधान।
हुए निःशेष क्रियाजात।
सभी पार्थ ॥१४९॥

जहाँ विचार का नहिं प्रवेश।
हेतु का नहीं स्पर्श।
द्वैतदोष के सङ्ग में लिप्त।
न होता जो ॥१५०॥

ऐसा अनादि – सिद्ध शुद्ध।
जो ज्ञानयज्ञावशिष्ट।
करते सेवन ब्रह्मनिष्ठ।
ब्रह्माहं मन्त्र से ॥१५१॥

ऐसे शेषामृत से अघाये।
या अमर्त्यभाव में आये।
अवश्य वे ब्रह्मरूप हुए।
अनायास ॥१५२॥

न मिले उन्हें विरक्ति की जयमाल।
जो न करें संयमाग्नि-सेवन।
न किया कभी योग-याग।
आजन्म जिन्होंने ॥१५३॥

जिन का इहलोक में नहीं ठिकाना।
उनका परलोक क्या पूछना।
अतएव पार्थ किम्बहुना।
इस बात से ॥१५४॥

बहुत से इसी प्रकार।
तुम से कहे जो यज्ञ याग।
कहे विस्तार से पार्थ।
वेद ने सब ॥१५५॥

पर यह विस्तार अप्रस्तुत।
सकल यज्ञ कर्म सिद्ध।
यह जानो तो कर्मबन्ध।
होगा नहीं ॥१५६॥

है वेद जिन का मूल।
जो क्रिया-विशेष में स्थूल।
अर्जुन जिन का अपूर्व फल।
स्वर्गसुख ॥१५७॥

हैं भले द्रव्यादि यज्ञ।
पर नहीं ज्ञानयाग के तुल्य।
जैसा ताराओं का तेज।
दिनकर-सन्निध ॥१५८॥

परमात्म-सुख-निधान ।
पाने के लिये योगीजन ।
छोड़ते न लगाना जो अञ्जन ।
उन्मेषनेत्र में ॥१५९॥

यों आरब्ध कर्मों का प्राप्य स्थान ।
जो नैष्कर्म्य-बोध की खान ।
भूखों का जो तृप्तिसाधन ।
भाण्डार जैसा ॥१६०॥

जहाँ पङ्गु होती प्रवृत्ति ।
लुप्त होती तर्कदृष्टि ।
इन्द्रियाँ भी भूल जातीं ।
विषयसङ्ग ॥१६१॥

मन का मनपना लुप्त ।
शब्द को वाचकता स्तब्ध ।
जिस में मानो हस्तगत ।
हुआ ज्ञेय ॥१६२॥

जहाँ वैराग्य की दीनता लुप्त ।
विवेक की लालसा कुण्ठित ।
आत्मरूप होता उपलब्ध ।
अनायास ॥१६३॥

वह ज्ञान लगे सर्वश्रेष्ठ ।
उसे पाना यदि हो अभीष्ट ।
तो सन्तों का भजन इष्ट ।
सर्वस्व से ॥१६४॥

सन्त ज्ञान के मन्दिर ।
सेवा ही वहाँ द्वार ।
उसे स्वाधीन करो सत्वर ।
विनम्र भाव से ॥१६५॥

तन–मन – प्राण – सहित ।
रहो उनके शरणागत ।
करो सर्वथा दर्परहित ।
दास्य सकल ॥१६६॥

तब अपना जो अपेक्षित ।
पूछने पर करेंगे विवेचित ।
जिस से चित्त होगा प्रबुद्ध ।
सङ्कल्परहित ॥१६७॥

जिन के वाक्य के प्रकाश से ।
चित्त निर्भय हो उठे ।
सर्वथा सदृश ब्रह्म के ।
होकर निःशङ्क ॥१६८॥

तब स्वयं अपने सहित ।
ये अशेष भूत ।
मेरे स्वरूप में अखण्डित ।
दिखेंगे तुझे ॥१६९॥

ऐसा उदित ज्ञान-प्रकाश ।
तब मोहान्धकार का नाश ।
जब होगी गुरुकृपा प्राप्त ।
अरे पार्थ ॥१७०॥

कल्मष का आगर ।
अथवा भ्रान्ति का सागर ।
व्यामोह का गिरिवर ।
भले हो तू ॥१७१॥

पर ज्ञानशक्ति के समक्ष ।
यह सभी कुछ तुच्छ ।
है ऐसा सामर्थ्य विशुद्ध ।
इस ज्ञान में ॥१७२॥

देखो यह विश्वभ्रम ।
जिस अमूर्त की छाया सम ।
उस प्रकाश के सम्मुख ।
यह टिके नहीं ॥१७३॥

वहाँ क्या टिके मनोमल ।
यह कहना भी अयोग्य केवल ।
उस के समान नहीं सबल ।
दूजा जग में ॥१७४॥

जलते त्रिलोक का धूम सकल।
फैला नभ में जो अविरल।
उड़ा सकता जो प्रलयानिल।
उसे बादल क्या ? ॥१७५॥

अथवा पवन के कोप से।
समस्त जल को जो सोखे।
वह प्रलयानल क्या दबे।
तृण-काष्ठ से ? ॥१७६॥

यह न होता घटित।
विचार में भी असङ्गत।
नहीं ज्ञान के सदृश।
अन्य पवित्र ॥१७७॥

ज्ञान एकमात्र उत्तम।
नहीं अन्य कुछ उस के सम।
जैसे कि आत्म-चैतन्य।
अद्वितीय ॥१७८॥

महातेज की तुलना में।
यदि प्रतिबिम्ब श्रेष्ठ उतरे।
या आलिङ्गन दे पायें।
आकाश को ॥१७९॥

अथवा पृथ्वी के समान।
तराजू में रख सकें भार।
तो ज्ञान को मिले उपमान।
पाण्डुकुँवर ॥१८०॥

अत: देखें बारम्बार।
पुन: पुन: करें विचार।
ज्ञान सम पवित्रता पार्थ।
ज्ञान में ही ॥१८१॥

कहना चाहें अमृत का स्वाद।
तो कहते वह अमृत के समान।
वैसे ज्ञान का उपमान।
है ज्ञान ही ॥१८२॥

अब और अधिक यहाँ बोलना।
है व्यर्थ ही समय बिताना।
है सत्य आप का कहना।
बोला पार्थ ॥१८३॥

कैसे पायें यह ज्ञान।
चाहे पूछना अर्जुन।
उस का मनोगत प्रश्न।
जाना देवने ॥१८४॥

तब देव बोले अरे पार्थ।
मेरे कथन पर दो चित्त।
ज्ञान पाने का उपाय।
कहूँ तुझे ॥१८५॥

जो आत्मसुख-माधुरी चाखे।
वह सभी विषयों से ऊबे।
इन्द्रियों के प्रति न रहे।
सन्मान उस में ॥१८६॥

जो मन से भी इच्छा न करे।
प्रकृति का कर्म स्वयं पर न ले।
जो श्रद्धा के ही सम्भोग से।
सुखी रहे ॥१८७॥

खोजता हुआ उसे।
निश्चित ही ज्ञान आवे।
जिस में अवश्य निवसे।
परम शान्ति ॥१८८॥

वह ज्ञान प्रतिष्ठित हो हृदय में।
और शान्ति का अङ्कुर फूटे।
फिर विस्तार बहुत प्रगटे।
आत्मबोध का ॥१८९॥

तब जिस ओर भी देखे।
उसे शान्ति ही शान्ति दिखे।
निज–पर ऐसा न जाने।
निर्धारण ॥१९०॥

ऐसा यह उत्तरोत्तर।
ज्ञान-बीज का विस्तार।
कहने में अपरम्पार।
किम्बहुना ॥१९१॥

सुनो जिस प्राणी को कभी।
इस ज्ञान की अभिलाषा न हुई।
उस का जीवन है व्यर्थ ही।
मरना भला ॥१९२॥

शून्य जैसे गृह।
या चैतन्य विना देह।
वैसे जीवन सम्मोह।
ज्ञान-हीन ॥१९३॥

अथवा ज्ञान न हो प्राप्त।
पर यदि हो उत्कट अभिलाष।
तो वहाँ है सम्भव।
ज्ञान-प्राप्ति ॥१९४॥

छोड़ दें ज्ञान की बात।
पर आस्था भी न धरे चित्त।
वह संशयाग्नि में निश्चित।
पड़ा जानो ॥१९५॥

जिसे अमृत में भी न रहे रुचि।
जिस मन में व्यापी अरुचि।
उस का मरण है निकट हो।
समझा जाता ॥१९६॥

जो विषय-सुख में राचे।
और ज्ञान को तुच्छ माने।
वह संशय से ग्रस्त रहे।
अवश्य ही ॥१९७॥

ऐसे जो संशयग्रस्त।
नष्ट हुआ वह निश्चित।
इह–परलोक का सुख।
खोया उसने ॥१९८॥

जो कालज्वर से पीडित।
वह जैसे न जाने उष्णशीत।
चन्द्रिका और अनल।
समान माने ॥१९९॥

वैसे सत्य और असत्य।
अनुकूल और विरुद्ध।
न पहचाने संशयशील।
हिताहित ॥२००॥

ये रात्रि और दिवस।
जान न सके जात्यन्ध।
वैसे ही संशयग्रस्त।
कुछ न जाने ॥२०१॥

अतः संशय से अन्य।
पाप नहीं कोई घोर।
यह है विनाश का पाश।
प्राणियों के लिये ॥२०२॥

अतएव इसी को त्यागें।
प्रथम इसी को जीतें।
जो ज्ञान के अभाव में।
बसे केवल ॥२०३॥

जहाँ अज्ञान का घनान्धकार।
वहीं संशय करता विस्तार।
सर्वथा पथ अवरुद्ध करता।
विश्वास का ॥२०४॥

हृदय में न समाता केवल।
करता अस्त बुद्धि सकल।
इसी से होता संशयात्मक।
लोकत्रय ॥२०५॥

जब यह ऐसा विस्तरे।
वश होता एक उपाय से।
यदि कर में सुतीक्ष्ण रहे।
ज्ञानखड्ग ॥२०६॥

उस ज्ञानशस्त्र से तीक्ष्ण।
होता समूल निःशेष।
तब शान्त होते सब क्लेश।
मानस के ॥२०७॥

इसलिये अरे पार्थ।
अब उठो तुम सत्वर।
नष्ट करो हृदयस्थ।
संशय सब ॥२०८॥

जो कृष्ण ज्ञान के जनक।
जो कृष्ण ज्ञान-दीपक।
बोले वे सकृप।
सुनो राजन् ॥२०९॥

तब इन पूर्वापर वचनों पर।
विचार कर के पाण्डुकुँवर।
पुनः प्रश्न यथावसर।
करेगा, सुनिये ॥२१०॥

उस कथा की सङ्गति।
भावों की सम्पत्ति।
रसों की वह उन्नति।
पुनः कहेंगे ॥२११॥

जिस की सरसता पर।
आठों रस न्योछावर।
वही जग में विश्रामस्थल।
सज्जन बुद्धि को ॥२१२॥

शान्त रस का अभिनवशील।
प्रगटाये जो मराठी बोल।
वह समुद्र से भी गहन।
अर्थभरित ॥२१३॥

जैसे नन्हासा दिखे रविबिम्ब।
पर त्रिलोक में न अमाये आलोक।
शब्द–व्याप्ति वैसी अनुभूत।
होगी यहाँ ॥२१४॥

या सकाम की जैसी इच्छा।
कल्पवृक्ष फले वैसा।
यह शब्द व्यापक वैसा।
अतः दें अवधान ॥२१५॥

अब और अधिक क्या कहूँ।
सर्वज्ञ जानें स्वभाव से।
अतः भलीभाँति चित्त दें।
यह विनति मेरी ॥२१६॥

जहाँ साहित्य और शान्ति।
दिखे यह भली पङ्क्ति।
जैसे लावण्य-गुण-कुलवती।
और पतिव्रता ॥२१७॥

यों ही मिश्री रुचे भली।
वह औषधि में हो मिली।
फिर आनन्द क्यों नहीं।
सेवन बारंबार ॥२१८॥

सहज मलयानिल मन्द सुगन्ध।
उस में हो अमृत का स्वाद।
मिल जाय उस में यदि सुनाद।
दवगति से ॥२१९॥

तो स्पर्श करे सर्वाङ्ग शान्त।
स्वाद से जिह्वा उठे नाच।
वैसे ही श्रवण बनें धन्य।
सुखातिशय से ॥२२०॥

वैसा इस कथा का श्रवण।
श्रवणों का होगा पारण।
और भवदुःख का उन्मूलन।
विकृति बिना ॥२२१॥

यदि मन्त्र से ही वैरी मरे।
तो व्यर्थ कटार क्यों बाँधें।
रोग जाय दूध-मिश्री से।
तो नीम क्यों पियें? ॥२२२॥

वैसे मन को न मार कर।
इन्द्रियों को न दुखाकर।
पायें यहाँ मोक्ष सहज।
श्रवण से ही ॥२२३॥

अतः प्रसन्नतापूर्वक।
यह सुन्दर गीतार्थ।
सुनिये कहे ज्ञानदेव।
निवृत्तिदास ॥२२४॥

इति श्रीमद्ज्ञानेश्वरविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीता – 'भावार्थ-दीपिकायां' ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥

॥ हरिः ॐ तत् सत् ॥

॥ ॐ हरिः ॐ ॥

पञ्चम अध्याय

कहे पार्थ हे श्रीकृष्ण !
यह भला कैसा तुम्हारा कथन।
कुछ एक कहें तो अन्तःकरण।
कर सके विचार ॥१॥

पहले सकल कर्मो का संन्यास।
किया निरूपित विविध प्रकार।
अब कर्मयोग में क्यों अतिरस।
करते पुष्ट ॥२॥

ऐसे वचन द्वयर्थ।
हम अज्ञानियों का चित्त।
अपने आप श्री अनन्त।
समक्ष न पाये ॥३॥

कराये एकत्व का बोध।
वह वचन कहें एक निश्चित।
कहना पड़े क्या यह।
आप से ॥४॥

इसी लिये पहले से।
विनय किया तुम समर्थ से।
कि न कहें केवल ध्वनि से।
परमार्थ यह ॥५॥

रहने दें पहली बात।
अब सुलझा कर प्रस्तुत।
कहें दोनों में श्रेयस्कर।
पथ कौन सा ? ॥६॥

परिणाम तक जो रहे साथ।
सफल हो सुनिश्चित।
अनुष्ठान में प्राञ्जल।
और सरल भी ॥७॥

जैसे निद्रासुख न टूटे।
सुदीर्घ मार्ग सहज कटे।
सुखद-वाहन-सदृश कहें।
मार्ग सुगम ॥८॥

सुन कर अर्जुन का कथन।
रीझे देव मन ही मन।
बोले मनोगत होगा पूर्ण।
सन्तोष से ॥९॥

कामधेनु-सम माँ, देखो।
मिली हो जिस भाग्यवन्त को।
पा सकता वह खेलने को।
कर में चन्द्र ॥१०॥

देखो शम्भु की प्रसन्नता।
समक्ष उपमन्यु की आर्त्तता।
दूधभात हित क्या न दिया।
क्षीराब्धि उसे ? ॥११॥

वैसे औदार्य के निधान।
प्राप्त जिस को स्वयं कृष्ण।
वह सर्व-सुखों का भवन।
क्यों न हो ? ॥१२॥

इस में कैसा चमत्कार।
जिसे स्वामी मिले श्रीधर।
क्यों न निज इच्छानुसार।
माँगे वह ! ॥१३॥

अतः अर्जुन ने जो-जो चाहा।
हँसकर वह हरि ने दिया।
अब कहूँगा क्या कहा।
श्रीकृष्ण ने ॥१४॥

वे बोले सुनो अर्जुन।
संन्यास और योग का करें चिन्तन।
तो तत्त्वतः मोक्ष के साधन।
उभय ही वे ॥१५॥

प्राज्ञ अज्ञ सब के लिये।
कर्मयोग ही सुलभ रहे।
स्त्री-बालकों को नाव जैसे।
तोयतरणी ॥१६॥

वैसे सारासार विचारें।
तो सरल इसी को पायें।
इसी से संन्यासफल मिले।
अनायास ॥१७॥

कहता हूँ अब इसलिये।
चिह्न तुम्हें संन्यासी के।
तब सहज ही अभिन्न इन्हें।
जानोगे तुम ॥१८॥

अतीत को स्मरण न करे।
अप्राप्त की इच्छा न धरे।
जो सुनिश्चल अन्तर में।
मेरु जैसा ॥१९॥

और 'मैं—मेरा' ऐसा स्मरण।
भूला जिस अन्तःकरण।
पार्थ वही संन्यासी जान।
निरन्तर ॥२०॥

जो मन में ऐसा हुआ।
सङ्ग उस का छूट गया।
अतः सुख से सुख पाया।
अखण्डित ॥२१॥

गृहादिक सब का तब।
करना न पड़ता त्याग।
क्यों कि मन का स्वभाव।
निःसङ्ग हुआ ॥२२॥

देखो अग्नि बुझ जाय जब।
राख रहती केवल तब।
कपास में रखना-संभव।
जैसे उसे ॥२३॥

वैसे उपाधि रहने पर भी।
उसे न बांधे कर्म कभी।
सङ्कल्प नहीं रहता जिसकी।
बुद्धि में ॥२४॥

अतएव कल्पना छूटे जब।
संन्यास घटित होता तब।
इसी लिये दोनों सदृश।
संन्यास, योग ॥२५॥

अन्यथा भी हे पार्थ।
होते जो सर्वथा मूर्ख।
साङ्ख्य और योग का स्वरूप।
वे जानें कैसे? ॥२६॥

सहज ही वे अज्ञान।
अतएव कहते भिन्न।
प्रत्येक दीप में क्या अन्य।
प्रकाश रहता? ॥२७॥

पर जिन को सम्यक् अनुभव।
देखा जिन्होंने सर्वतत्त्व।
वे दोनों में ऐक्य-भाव।
मानते सदा ॥२८॥

और जो साङ्ख्य में प्राप्त।
वही योग में अधिगत।
अतःदोनों में ऐक्य सहज।
इस दृष्टि से ॥२९॥

आकाश और अवकाश में।
भेद न जैसे यथार्थ में।
वैसा ऐक्य योग-संन्यास में।
पहचाने जो ॥३०॥

जग में उसी ने पाया ज्ञान।
हुआ उसे ही आत्मबोध।
जिसने जाना सांख्य-योग।
भेदरहित ॥३१॥

जो युक्तिपथ से पार्थ।
चढ़े मोक्ष – पर्वत।
वह महासुख का शिखर।
पाता शीघ्र ॥३२॥

इस योगस्थिति को जो त्यजे।
वह व्यर्थ बहु आयास करे।
पर होती न प्राप्ति उसे।
संन्यास की ॥३३॥

जिस ने भ्रान्ति से छुड़ाया।
गुरु-वाक्य में मन धोया।
फिर आत्मस्वरूप में किया।
सुस्थिर ॥३४॥

जैसे समुद्र में लवण न पड़े।
तभी तक वह अल्प दिखे।
फिर सिन्धु सम विशाल बने।
घुले जब ॥३५॥

सङ्कल्पों में से निकाला हुआ।
मन जिस का चैतन्य हुआ।
उस एकदेशीने व्याप लिया।
लोकत्रय वैसे ॥३६॥

अब कर्ता-कर्म-करण।
जिस के स्वभाव से निर्गत।
तब करते हुए भी सब।
अकर्ता वह ॥३७॥

देह में जिस को पार्थ।
न हो 'मैं हूँ' यह भाव।
उस में कैसे कर्तृत्व।
रहे शेष ॥३८॥

ऐसे तनुत्याग-बिन।
अमूर्त के सब गुण।
दिखते हैं सम्पूर्ण।
योगयुक्त में ॥३९॥

यों तो अन्यों की भाँति ही।
वह भी एक शरीरी।
और क्रिया-कलापों में सभी।
रहे कर्मरत ॥४०॥

वह भी नेत्रों से देखता।
श्रवणों से सब कुछ सुनता।
पर न वहाँ आसक्त सर्वथा।
देखो कौतुक ॥४१॥

रहता स्पर्श का संवेदन।
प्राण से परिमल – सेवन।
अवसरोचित वचन।
होते उस के ॥४२॥

आहार्य का करे स्वीकार।
त्याज्य का करे परिहार।
निद्रा समयानुसार।
लेता सुख से ॥४३॥

अपनी ही इच्छा से।
वह चलता हुआ दीखे।
नर सभी कर्मो का ऐसे।
करता आचरण ॥४४॥

तुझ से कहूँ क्या एक–एक।
देखो श्वासोच्छ्वासादिक।
और निमिषोन्मिष।
इत्यादि सब ॥४५॥

उस के जीवन में पार्थ।
यह सभी कुछ है व्याप्त।
किन्तु न अनुभवता वह।
कर्ताभाव ॥४६॥

जब भ्रान्तिसेज पर था सोया।
तभी स्वप्नसुख में था भूला।
फिर ज्ञानोदय से जागा।
अतः अकर्ता ॥४७॥

अधिष्ठान-सङ्गति से अब।
इन्द्रिय-वृत्तियाँ अशेष।
अर्थों में निज-निज।
रहतीं प्रवृत्त ॥४८॥

दीप-प्रकाश में चलते।
गृह के व्यापार जैसे।
देह में कर्मजात वैसे।
योगयुक्त के ॥४९॥

वह करता सकल कर्म।
पर न पाता फलबन्ध।
जैसे न भीगे पद्मपत्र।
जल में कभी ॥५०॥

बुद्धि का स्पर्श न जिस में।
जहाँ मन का अङ्कुर न फूटे।
ऐसे व्यापार को कहें।
शारीर पार्थ ॥५१॥

सरल भाषा में कहूँ पार्थ।
तो कर्म करे जैसे बालक।
योगियों के कर्म शारीरिक।
वैसे केवल ॥५२॥

यह पञ्चभूतों से निर्मित।
शरीर जब होता निद्रित।
तब मन ही केवल क्रियारत।
स्वप्न में जैसे ॥५३॥

सुनो आश्चर्य धनुर्धर।
कैसा वासना का संसार।
देह को न होने दे सजग।
पर भोगावे सुखदुःख ॥५४॥

इन्द्रियाँ जिसे न जानें।
ऐसा जो व्यापार निपजे।
उसे ही केवल कहें।
मानस-कार्य ॥५५॥

योगी वह भी करते।
पर कर्म से नहीं बँधते॥
क्योंकि सङ्ग ही छोड़ चुके।
अहङ्कार का ॥५६॥

अब, हो गया मर्माहत।
जैसे पिशाच का चित्त।
तब इन्द्रियों का चेष्टित।
दिखता विकल ॥५७॥

रूप वह देखता।
पुकार को सुनता।
मुख से शब्द बोलता।
पर ज्ञान नहीं ॥५८॥

किम्बहुना निष्कारण।
जो भी क्रिया उत्पन्न।
जानो उसे केवल कर्म।
इन्द्रियों का ॥५९॥

जो सर्वत्र ज्ञानपूर्वक।
वे कर्म बुद्धिकृत।
यह पहचान कुन्तीसुत।
कहें हरि ॥६०॥

वे बुद्धि को आगे रखते।
चित्त देकर कर्म करते।
पर नैष्कर्म्य भाव से भी वे।
दिखते मुक्त ॥६१॥

बुद्धि से देहपर्यन्त।
अहङ्कार नहीं साद्यन्त।
अतः करते हुए भी कर्म।
वे परिशुद्ध ॥६२॥

कर्तापन – विना कर्म।
वही तो है नैष्कर्म्य।
वे जानते गुरुगम्य।
मर्म यह ॥६३॥

यहाँ शान्तरस का पूर।
बह चला पात्र को भरकर।
जो कथन वाणी से पर।
निकला मुख से ॥६४॥

इन्द्रियों की अभिलाषा।
नष्ट जिन की सर्वथा।
उन्हीं को अधिकार यहाँ।
श्रवण का ॥६५॥

रहने दो यह अतिप्रसङ्ग।
छोड़ो नहीं कथासङ्ग।
क्योंकि श्लोकसङ्गति भङ्ग।
होगी अन्यथा ॥६६॥

कर न सके मन जहाँ गमन।
निरर्थक जहाँ बुद्धि का घर्षण।
वह दैवयोग से हुआ सुगम।
तेरे लिये ॥६७॥

जो स्वभाव से शब्दातीत।
उसे कह पायें यदि शब्द।
तब क्यों करें विषयान्तर।
अब कहो कथा ॥६८॥

सुन श्रोताओं को इच्छा उत्कट।
बोले श्री निवृत्तिदास।
दोनों का वह संवाद।
सुनें आगे ॥६९॥

श्रीकृष्ण कहते पार्थ से।
चिह्न सभी सिद्धों के।
कहूँगा अब यहाँ तुझे।
दो अवधान ॥७०॥

जो आत्मज्ञान से परिपूर्ण।
कर्मफल से उदासीन।
घर खोज कर करती वरण।
शान्ति उसे ॥७१॥

दूसरे सब कर्मबन्ध से।
अभिलाषा रूपी गाँठसे।
फलभोग की खूँटो से।
बाँधे जाते ॥७२॥

फलाभिलाषी के समान।
उत्साह से सब करता कर्म।
किन्तु सदा अकर्ताभाव।
रहता जिस में ॥७३॥

पड़ती जहाँ उस की दृष्टि।
होती जहाँ सुख की सृष्टि।
वह कहे जहाँ, रहता वहीं।
महाबोध ॥७४॥

नवद्वार-पुर में वह देही।
रहता हुआ भी रहे नहीं।
करता हुआ न करे कुछ भी।
वह फलत्यागी ॥७५॥

देखो जैसे सर्वेश्वर।
देखने में निर्व्यापार।
पर उसीने रचा विस्तार।
त्रिभुवन का ॥७६॥

भले कर्ता भी कहें उसे।
पर कर्म वहाँ नहीं स्पर्शे।
और सदा अखण्डित रहे।
उदासवृत्ति ॥७७॥

उस की योगनिद्रा न टूटे।
न ही अकर्तापन छूटे।
फिर महाभूतों के दल भले।
रचा करे ॥७८॥

अन्तर्यामी सर्व-जग का।
पर कभी न होता किसीका।
यह जग होता या जाता।
उसे न भान ॥७९॥

पाप-पुण्य जितने होते।
वह समीप रहता भी न देखे।
साक्षी भी बन कर न रहे।
अन्य तो क्या? ॥८०॥

मूर्ति धारण किये हुए।
वह मूर्त होकर खेले।
पर अमूर्तपन न विघटे।
प्रभु का कभी ॥८१॥

वह सृजे पाले संहारे।
कहते जग में जो ऐसे।
जानो, अज्ञानी वे।
पाण्डुकुँवर! ॥८२॥

वह अज्ञान जब समूल टूटे।
तब भ्रान्ति का काजल हटे।
फिर अकर्तृत्व प्रगटे।
मुझ ईश्वर का ॥८३॥

यहाँ ईश्वर का अकर्तृत्व।
स्पष्ट समझ ले जब चित्त।
तब उसका मेरा अभिन्नत्व।
है सदा से ॥८४॥

ऐसा विवेकोदय चित्त में।
फिर भेद कैसा त्रिजगत् में।
अपनी प्रतीति से देखे।
जग को मुक्त ॥८५॥

जैसे पूर्व दिशा का मन्दिर।
सूर्योदय से आलोकित।
तभी सब दिशाओं में लुप्त।
अन्धकार ॥८६॥

बुद्धि-निश्चय से आत्मज्ञान।
ब्रह्मरूप समझे निज चेतन।
ब्रह्मनिष्ठा रखे पूर्ण।
तत्परायण अहर्निश ॥८७॥

ऐसा व्यापक ज्ञान भला।
जिस के हृदय में उदित हुआ।
कहें उस दृष्टि की समता।
सविशेष क्या? ॥८८॥

जैसे स्वयं को स्वयं में।
वैसे विश्व को वे देखें।
भला ऐसा कहने में।
नवल क्या? ॥८९॥

कौतुक से भी सद्भाग्य।
देख न पाये कभी दैन्य।
अथवा न जाने विवेक।
भ्रान्ति को जैसे ॥९०॥

अथवा तम का स्वरूप।
स्वप्न में भी न देखे सूर्य।
न सुनें अमृत के श्रवण।
मृत्यु-वार्ता ॥९१॥

या किसे कहते सन्ताप।
जाने न जैसे चन्द्र।
वैसे भूतों का भेद।
ज्ञानी न जाने ॥९२॥

फिर यह मशक यह गज।
या यह श्वपच यह द्विज।
वह इतर यह आत्मज।
रहे क्यों शेष? ॥९३॥

अथवा यह धेनु यह श्वान।
एक गुरु एक हीन।
कैसे दिखे यह स्वप्न।
उस जागृत को ॥९४॥

तभी दिखे यहाँ भेद।
यदि अहंभाव रहे शेष।
होने पर 'अहं' शान्त।
फिर विषम क्या? ॥९५॥
अतः सर्वत्र सदा सम।
स्वयं ही वह अद्वय ब्रह्म।
यह जानो सम्पूर्ण मर्म।
समदृष्टि का ॥९६॥
न छोड़ते हुए विषयसङ्ग।
न देते इन्द्रियों को दण्ड।
किन्तु भोगा निस्सङ्गत्व।
काम बिना ॥९७॥
जो लोकों के आधार में।
रहते लौकिक व्यापार में।
पर लौकिक वे छोड़ चुके।
अज्ञान यह ॥९८॥
जैसे लोगों में रहता खेचर।
लोगों को न होता गोचर।
वैसे उस देही को संसार।
जानता नहीं ॥९९॥
अथवा पवन के हिल्लोल से।
जल पर ही जल डोले।
जल से पृथक् कल्लोल उसे।
कहते लोग ॥१००॥
वैसे उस के रूप-नाम।
वस्तुतः वह केवल ब्रह्म।
मन जिस का हो चुका सम।
सर्वत्र अरे ॥१०१॥
ऐसी जिस की दृष्टि सम।
उस पुरुष के लक्षण।
सुनो संक्षेप से अर्जुन।
अच्युत कहें ॥१०२॥
जैसे मृगजल के पूर में।
गिरिवर कभी न डोलते।
वैसे शुभाशुभ-प्राप्ति से।
होता न क्षुब्ध ॥१०३॥
तभी वस्तुतः वह जन।
तत्त्वतः समदर्शन।
हरि कहे सुन अर्जुन।
वही ब्रह्म ॥१०४॥
जो छोड़कर निज स्वरूप।
होता न इन्द्रियाधीन।
वह न करे विषयसेवन।
यह क्या विचित्र ॥१०५॥
सहज स्वसुख में अपार।
सन्तुष्ट जिस का अन्तर।
अतः न रखे बाहर।
चरण वह ॥१०६॥
कहो कुमुद-दलों के पात्र में।
आरोगीं चन्द्रकिरण जिसने।
वह चकोर क्या बालू चूसे।
जहाँ-तहाँ? ॥१०७॥
वैसे उत्तम आत्मसुख।
स्वयं ही जिस को प्राप्त।
छूटते उस के विषय सहज।
यह कहें क्या? ॥१०८॥
इसलिये जरा कौतुक से।
देख तू विचार कर के।
सुख में इन विषयों के।
फँसते कौन? ॥१०९॥
जिस ने स्वयं को नहि देखा।
वही इन्द्रियार्थों में रंगा।
जैसे रङ्क अतिभूखा।
चबाये तुष ॥११०॥

अथवा मृग तृषापीड़ित।
जल को मूल कर भ्रमित।
फिर मृगजल से आकर्षित।
दौड़े उस ओर ॥१११॥

वैसे न देखा जिसने आत्मरूप।
सदा अप्राप्य जिसे स्वसुख।
उसी को ये विषय सबल।
लगते प्रिय ॥११२॥

अतः विषयों में है सुख।
यह कहना ही असङ्गत।
फिर विद्युत्स्फुरण से क्यों न जग।
देखे सब ॥११३॥

कहो वात-वर्षा-आतप से।
यदि अभ्रच्छाया रक्षा करे।
तो प्रासाद तिमञ्जिले।
बनायें क्यों? ॥११४॥

अतः विषयों में कहना सुख।
है केवल व्यर्थ जल्प।
जैसे कहना मधुर।
विषकन्द को ॥११५॥

अथवा भौम का नाम मङ्गल।
मरीचिका को कहना जल।
वैसा सुख का प्रवाद प्रबल।
विषयों में ॥११६॥

रहने दो यह बात सभी।
कहो छाया सर्पफण की।
होगी भला शीतल कितनी?
मूषक के लिये ॥११७॥

जैसे काँटे का आमिष, पार्थ!
सुन्दर, जबतक न खाये मत्स्य।
वैसे ही विषयसङ्ग सकल।
निश्चित जानो ॥११८॥

जब विरक्तों की दृष्टि से।
पार्थ निरख कर देखें।
तब पाण्डु रोगी की पुष्टि जैसे।
दिखें वे सुख ॥११९॥

अतः विषयभोग में जो सुख।
उन्हें आद्यन्त जानो दुःख।
पर सेवन बिना न रहें मूर्ख।
करें क्या? ॥१२०॥

स्वसुख को न जानें बेचारे।
अतः विषय-सेवन करें।
कहो पूय-कृमि को उसमें।
आती घृणा? ॥१२१॥

दुःखियों को दुःख ही प्रियकर।
वे विषय-कर्दम के दर्दुर।
वे भोगजल के जलचर।
उसे कैसे त्यागें? ॥१२२॥

ये जितनी भी दुःखयोनि।
वे क्यों न निरर्थक होंगी।
यदि विषयों के प्रति विरक्ति।
धारे जीव! ॥१२३॥

अन्यथा गर्भवासादि सङ्कट।
अथवा जन्ममरण के कष्ट।
विश्रान्तिरहित भव-पन्थ।
कौन चले? ॥१२४॥

यदि विषयी विषय छोड़ दें।
तो महादोष कहाँ बसें?
फिर संसार शब्द जग में।
होगा निरर्थक ॥१२५॥

अतः अविद्याजात असत्य।
उन्होंने बनाया सत्य।
किये सुखबुद्धि से विषय-दुःख।
स्वीकृत जिन्होंने ॥१२६॥

इसी कारण हे सुभट।
विचार कर विषयों का कष्ट।
तू भूल कर भी इस बाट।
जाना नहीं ॥१२७॥
इसी लिये विरक्त पुरुष।
त्यजते इसे मानो विष।
देने पर भी ये विषय-दुःख।
न लगते भले ॥१२८॥
ज्ञानियों के समीप कहीं।
इस चर्चा का प्रवेश नहीं।
किया स्ववश देह में ही।
देहभाव जिन्होंने ॥१२९॥
बाह्य विषयों को बात।
जिन्हें सर्वथा अज्ञात।
अन्तर में आत्मसुख।
अनुभवें केवल ॥१३०॥
पृथक् रह कर भी होता भोग।
ज्यों पक्षी लेता फलास्वाद।
पर ये तो भूल चुके भोक्तृत्व।
अतः विलक्षण ॥१३१॥
यहाँ भोग की ऐसी अवस्था।
कि लुप्त गिरि अहङ्कार का।
आत्मसुख का आलिङ्गन होता।
प्रगाढ़पन से ॥१३२॥
उस आलिङ्गन-वेला में।
ऐक्य अपने आपमें।
जल मिलता जैसे जलमें।
भिन्न न दिखे ॥१३३॥
या आकाश में वायु समाये।
तब 'दो' की भाषा लोपे।
उस 'सुरत' स्थिति में शेष रहे।
बस सुखस्वरूप ॥१३४॥
ऐसे द्वैत की भाषा मिटे।
शेष एक भी कैसे कहें।
कैसे कौन साक्षी रहे।
उस ऐक्य का ॥१३५॥
पार्थ यह सब कथन रहे।
अशब्द को शब्द कैसे कहें?
वह मर्म जानें स्वभाव से।
आत्माराम ॥१३६॥
जो ऐसे सुख में हुए मत्त।
अपने में आप हुए रत।
उन्हें कहता मैं मूर्तिमन्त।
सामरस्य ॥१३७॥
वे आनन्द के अनुकार।
निज सुख के अङ्कुर।
या महाबोध में विहार।
किये हुए ॥१३८॥
वे हैं विवेक के गाँव।
या परब्रह्म के स्वभाव।
अथवा अलङ्कृत अवयव।
ब्रह्मविद्या के ॥१३९॥
वे सत्त्व के सात्त्विक।
या चैतन्य के आङ्गिक।
कहाँ तक एक-एक।
वर्णन करूँ? ॥१४०॥
"तुम सन्त-स्तवन में होते रत।
तब कथा हो जाती विस्मृत।
यद्यपि तुम्हारा विषयान्तर।
होता सुन्दर ॥१४१॥
पर समेटकर रस का पूर।
करो प्रज्ज्वलित ग्रन्थार्थदीप।
साधु-हृदयमन्दिर में उदित।
हो मङ्गल उषा" ॥१४२॥

श्रीगुरु का यह हृदुल्लास।
देख बोले निवृत्तिदास।
क्या कह रहे श्रीनिवास।
सुनिये वही ॥१४३॥

अनन्त सुख के गह्वर में।
किया सीधे तल-स्पर्श जिन्होंने।
वहीं स्थिर होकर वे।
हुए तद्रूप ॥१४५॥

अथवा शुद्ध आत्मप्रकाश में।
जो स्वयं में ही विश्व देखें।
देहस्थ परब्रह्म उन्हें।
मानो सुख से ॥१४५॥

जो वस्तुतः परम।
अथवा अक्षर निःसीम।
उस ग्राम के निष्काम।
अधिकारी ये ॥१४६॥

जो महर्षियों को मिला।
विरक्तों के भाग में आया।
निःसंशयों ने जिसे पाया।
निरन्तर ॥१४७॥

जिन्होंने विषयों से आवृत्त।
करके स्ववश किया चित्त।
वे सोये जहाँ निश्चित।
न जागते फिर ॥१४८॥

वह परब्रह्म निर्वाण।
जो आत्मविदों का प्रयोजन।
वही हुए वे पुरुष जान।
पाण्डुकुँवर ॥१४९॥

वे कैसे ऐसे बन गये।
देह में ब्रह्मत्व पा सके।
यदि तू पूछे यह मुझे।
कहूँ संक्षेप से ॥१५०॥

लिया वैराग्य का आधार।
दिया विषयों को बहिष्कार।
किया मन को एकाग्र।
शरीर में ही ॥१५१॥

तीनों को सहज सन्धि।
जहाँ मिलती उभय भृकुटी।
वहाँ स्थिर साधी दृष्टि।
उलटा कर ॥१५२॥

छोड़ कर दक्षिण-वाम।
किये प्राणापान सम।
फिर करते व्योम-गमन।
चित्त सहित ॥१५३॥

सब रथ्योदक ले कर जैसे।
गङ्गा समुद्र में जा मिले।
तब पृथक्-पृथक् वे।
होते नहीं ॥१५४॥

तब वासनाओं का चिन्तन।
स्वयं शान्त होता अर्जुन।
जब गगन में लय होता मन।
प्राणनिरोध से ॥१५५॥

अङ्कित जहाँ संसार-चित्र।
विदीर्ण वह मनोवस्त्र।
जैसे सूखने पर सरोवर।
न रहे प्रतिबिम्ब ॥१५६॥

वैसे मन ही जब हुआ लुप्त।
फिर अहंभावादिक कहाँ स्थिर?
अतः सशरीर ही ब्रह्मीभूत।
वह अनुभवी ॥१५७॥

हम ने पहले जो यह कहा।
कि देह में ही ब्रह्मत्व पाया।
उन्होंने प्रथम यही पथ लिया।
इसी लिये ॥१५८॥

यमनियमों के भूधर।
अभ्यास का सागर।
क्रमशः कर के पार।
पहुँचे वे ॥१५९॥
स्वयं को कर के निर्लेप।
प्रपञ्च को लिया माप।
फिर सत्यात्मक ब्रह्मरूप।
हो रहे वे ॥१६०॥
ऐसा योगयुक्ति का उद्देश।
बोले जब हृषीकेश।
तब मर्मज्ञ महेष्वास।
चमत्कृत ॥१६१॥
यह देख कृष्ण जान गये।
पर सस्मित बोले अर्जुन से।
क्यों भरा चित्त उल्लाससे।
ये वचन सुन ॥१६२॥
हे देव! बोला अर्जुन।
परचित्त-लक्षण–पारखी तुम।
भला समझा मनोगत।
भाव मेरा ॥१६३॥
पूछता जो मैं विचारकर।
वह पहले ही जान गये देव।
जो कहा वही पुनः विशद।
करें अब ॥१६४॥
सुनो प्रभु इस प्रकार।
आपने दिखाया जो मार्ग।
तैरने की अपेक्षा चलकर।
पार उतरने जैसा ॥१६५॥
यह सांख्य से है सरल।
मुझ जैसे जो निर्बल।
लगे भले अधिक काल।
पर सह सकते ॥१६६॥

अतः एक बार देव।
कहें वही विस्तार सहित।
पुनः सम्पूर्ण साद्यन्त।
बोला पार्थ ॥१६७॥
तब श्रीकृष्ण ने कहा।
यह मार्ग तुझे भला लगा।
तो सुनो सानन्द कहूँगा।
पुनः इसे ॥१६८॥
तू सुनेगा अर्जुन।
सुन कर करेगा अनुष्ठान।
फिर हम क्यों रखें न्यून।
निरूपण में ॥१६९॥
पहले ही माँ का चित्त।
फिर दुलरा का निमित्त।
जो स्नेह उमड़े अद्भुत।
वह कौन जाने ॥१७०॥
मानो कारुण्य रस की वृष्टि।
या नूतन स्नेह की सृष्टि।
क्या कहें! वह हरि की दृष्टि।
अवर्णनीय ॥१७१॥
मानो ढला हुआ अमृत।
या पार्थ प्रेम से प्रमत्त।
इसलिये मोहासक्त।
निकले नहीं ॥१७२॥
इस विषय का करूँ विस्तार।
तो होगा कथा में विषयान्तर।
पर रहेगा वह स्नेहरूप।
अवर्णित ॥१७३॥
शाब्दिक विचार निरर्थक।
कैसे समझायें ईश्वरतत्त्व।
जो स्वयं ही न जाने माप।
स्वयं अपना ॥१७४॥

पर पहले से ऐसा ध्वनित।
कि हुए अर्जुन पर मोहित।
कहते स्वयं बलपूर्वक।
सुनो सखे ॥१७५॥

जिस-जिस भाँति पार्थ।
तेरा चित्त पावे बोध।
वैसे ही सविनोद।
होगा निरूपण ॥१७६॥

किस का नाम है योग।
क्या है उस का उपयोग।
अथवा अधिकार-प्रसङ्ग।
क्या-क्या यहाँ ? ॥१७७॥

ऐसे जो-जो कुछ।
है यहाँ पर उक्त।
तुझ से वही सब।
कहूँगा अब ॥१७८॥

तू सुन दे कर चित्त।
ऐसा कह कर श्रीकान्त।
जो बोले वही प्रस्तुत।
कथाप्रसङ्ग ॥१७९॥

श्रीकृष्ण अर्जुन का सख्य।
न छोड़ कर जो कहेंगे योग।
करूँ व्यक्त वह प्रसङ्ग।
कहे निवृत्तिदास ॥१८०॥

इति श्रीमद्ज्ञानेश्वरविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीता – 'भावार्थ दीपिकायाम्' कर्मसंन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥

॥ हरिः ॐ तत् सत् ॥

॥ ॐ हरिः ॐ ॥

षष्ठ अध्याय

तब राजा से कहता सञ्जय।
सुनिये अब वही अभिप्राय।
कृष्ण कह रहे योगरूप।
अब जो वहाँ ॥१॥
सहज ब्रह्मरस से उद्यापन।
कराते अर्जुन को नारायण।
उसी अवसर पर अतिथि बन।
पहुँचे हम ॥२॥
दैव महिमा कैसे कहूँ।
ज्यों तृषित जल सेवन करे।
और चखते ही वह पाये।
कि अमृत वह ॥३॥
वैसा मेरा–आपका हुआ।
अनायास अमृत आ मिला।
तब धृतराष्ट्र ने कहा।
यह न पूछा तुझे! ॥४॥
सुन कर सञ्जय ने ये वचन।
समझ लिया राजा का मन।
कर रहा पुत्रों का चिन्तन।
इस समय ॥५॥
यह जान वह मन में हँसा।
पुत्र-मोह में वृद्ध फँसा।
अन्यथा उपदेश मिला यहाँ।
कितना सुन्दर? ॥६॥
किन्तु यह हो भी कैसे?।
जात्यन्ध भला कैसे देखे?।
राजा क्रुद्ध होगा इस से।
भीत सञ्जय ॥७॥
किन्तु हृदय में निज।
हुआ भलीविधि सन्तुष्ट।
जो कि सुन पाया संवाद।
कृष्णार्जुन का ॥८॥
उस आनन्द की सन्तृप्ति से।
साभिप्राय अन्तःकरण से।
अब बोलेगा धृतराष्ट्र से।
आदरसहित ॥९॥
गीता के षष्ठाध्याय का।
प्रसङ्ग अतिमहत्त्व का।
जैसे अमृत क्षीराब्धि का।
निष्कर्ष रूप ॥१०॥
वैसे गीतार्थ का सार।
जो विवेक-सिन्धु का पार।
नाना–योग विभव भाण्डार।
उद्घाटित ॥११॥
जहाँ आदि प्रकृति विश्रान्त।
जो शब्द ब्रह्म के अतीत।
जहाँ गीतावल्ली का बीज।
हुआ अङ्कुरित ॥१२॥
वही यह अध्याय षष्ठ।
साहित्य दृष्टि से सुश्रेष्ठ।
कहूँगा देकर चित्त।
सुनिये अब ॥१३॥
मेरे मराठी बोल सकौतुक।
करें अमृत को भी पराजित।
ऐसे अक्षर रसभरित।
करूँगा प्राप्त ॥१४॥

देख जिन की सुकोमलता।
नादब्रह्म पड़े फीका।
जिन के सौरभ से परिमलका।
वल पराजित ॥१५॥

रसार्द्रता पर होकर लुब्ध।
रसना बनेंगे श्रवणेन्द्रिय।
अन्य इन्द्रिय परस्पर।
करेंगे कलह ॥१६॥

सहज ही शब्द विषय श्रवण का।
रसना कहेगी रस तो मेरा।
परिमल पर भाव घ्राण का।
सब होंगे यहाँ ॥१७॥

नवल भाषाक्रम अद्‌भुत।
देख नयन होंगे सन्तृप्त।
कहेंगे यह खान उद्‌घाटित।
रूप की ही ॥१८॥

जब सम्पूर्ण पद उद्‌भवे।
तब मन ही बाहर धावे।
शब्दालिङ्गन के लिये।
फैलाये भुजा ॥१९॥

इन्द्रियाँ निज भाव से झपटें।
वह सब को सन्तुष्ट करे।
जैसे जग को अकेला उजाले।
सहस्रकर ॥२०॥

वैसे इन शब्दोंका व्यापकपन।
देखियेगा असाधारण।
भावज्ञ पायेंगे यहाँ गुण।
चिन्तामणि के ॥२१॥

यह शब्दोंका थाल उत्तम।
कैवल्य–रस से परिपूर्ण।
किया मैंने निवेदन।
निष्काम के प्रति ॥२२॥

आत्मप्रभा नित्य नई।
हुआ प्रदीप्त दीपक वही।
जो इन्द्रियास्पृष्ट कैवल्य की।
करे उपलब्धि ॥२३॥

जहाँ श्रवणों के सहाय बिन।
हो सम्यक् श्रोतापन।
मन के निजाङ्ग से सुख-सेवन।
होता केवल ॥२४॥

हटाकर शब्द का प्रावरण।
हों ब्रह्म–रूप में तल्लीन।
सुख में ही होकर निमग्न।
भोगें सुख ॥२५॥

ऐसा मृदुल होगा चित्त।
तभी होगा यहाँ कृतार्थ।
अन्यथा होगा वार्तालाप।
मूक-बधिरों का ॥२६॥

इस पर न कहना अब बहुत।
श्रोतृ-विवेचन नहिं अपेक्षित।
स्वभावत: श्रवण में अधिकृत।
निष्काम काम ॥२७॥

जिन्होंने आत्मबोध की प्रीतिपर।
इह-पर लोक डाले वार।
उन के सिवा यह माधुर्य।
जाने न कोई ॥२८॥

जैसे चन्द्रमहिमा न जाने वायस।
वैसे यह ग्रन्थ न समझें प्राकृत।
ज्यों शशि-रश्मि आहार केवल।
चकोरों का ॥२९॥

सज्ञानियों को यह निज धाम।
अज्ञानी को अपरिचित ग्राम।
अत: यहाँ कहने को विशेष।
विषय नहीं ॥३०॥

पर हुआ प्रसङ्गवश कथन।
सज्जन करेंगे सहन।
श्रीरङ्ग-वचनों का निरूपण।
होगा अब ॥३१॥

उसे बुद्धि से समझना कठिन।
दुष्कर है शब्द से आकलन।
पर निवृत्तिदोप से आलोकन।
होगा सम्भव ॥३२॥

दृष्टि जहाँ न पहुँचे।
दृष्टि बिना ही देखें उसे।
यदि अतोन्द्रिय पा सकें।
ज्ञानबल ॥३३॥

या रासायनिक को भो न मिले।
वह कुन्दन लोहे से निकले।
यदि दैवयोग से हाथ लगे।
स्पर्शमणि ॥३४॥

सद्गुरु कृपा यदि हो ऐसे।
तो क्या न सधे प्रयत्न से।
वह अपार मुझ पर, कहे।
ज्ञानदेव ॥३५॥

अतः करूँगा सम्भाषण।
अरूप का शब्द-रूपाङ्कन।
अतीन्द्रिय का कराऊँगा सेवन।
इन्द्रिय द्वारा ॥३६॥

सुनिये यश, श्री, औदार्य।
ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य।
ये छहों गुणवर्य।
बसते जहाँ ॥३७॥

वे ही श्रीभगवन्त।
निःसङ्गों के मित्र।
कहते, पार्थ दत्तचित्त।
सुनो अब ॥३८॥

योगी और संन्यासी जन।
इन्हें न मानो भिन्न-भिन्न।
यदि विचारो तो उभय अभिन्न।
है एक ही ॥३९॥

छोड़े नामद्वय का आभास।
तो जो योग वही संन्यास।
ब्रह्म दृष्टि से नहीं अवकाश।
दो का वहाँ ॥४०॥

दो विभिन्न नामों से।
एक पुरुष को बुलायें जैसे।
या जायें दो मार्गों से।
एक स्थान पर ॥४१॥

या एक ही जल से सहज।
भरें जैसे दो भिन्न घट।
जानो वैसा हो भिन्नत्व।
योग-संन्यास का ॥४२॥

सकल जग में सम्मत।
योगी वही है पार्थ।
जो करते हुए कर्म समस्त।
फलाशी नहीं ॥४३॥

मही उपजाती सहज।
अहंबुद्धि विना उद्भिज।
नहीं उसे अपेक्षित बीज।
उन वृक्षों के ॥४४॥

वैसे ले अन्वय का आधार।
जाति-वर्ण के अनुसार।
जहाँ जो जिस अवसर पर।
करणीय हो ॥४५॥

वह करे अवश्य यथोचित।
पर अहंभाव न रखे तनुहित।
बुद्धि न जाये फल की ओर।
जिसकी पार्थ ॥४६॥

वही है संन्यासी पार्थ।
सुनो, मानो विश्वास।
और वही योगीश्वर।
निश्चित जानो ॥४७॥

जो उचित कर्म प्रासङ्गिक।
छोड़ते कहकर बन्धक।
वे अन्य एक पर एक।
करते रहते ॥४८॥

जैसे धोकर पहला एक।
लगायें वहीं दूसरा लेप।
वैसे कर्माग्रही व्यर्थ।
करता श्रम ॥४९॥

गृहस्थाश्रम का बोझ।
है पहले मस्तक पर।
उसे टालकर संन्यास।
ढोना समान ॥५०॥

अत: अग्नि–सेवा न छोड़कर।
कर्म-रेखा न लाँघ कर।
रहे स्वभावत: योगसुख।
स्वयं में ही ॥५१॥

जो संन्यासी वही योगी।
एकवाक्यता जग में ऐसी।
ध्वजा शास्त्रों ने फहराई।
बहुधा पार्थ ॥५२॥

जहाँ संन्यस्त सङ्कल्प टूटे।
वहीं योग का सार भेंटे।
स्वानुभव से हो प्रगटे।
सत्य यह ॥५३॥

योगाचल के शिखर पर।
पहुँचना चाहो यदि सत्वर।
तो सोपान रूप यह कर्मपथ।
चूको नहीं ॥५४॥

यम–नियम की तलहटी में।
आसनादि की पगडण्डी से।
चल कर प्राणायाम टेकरी।
बढ़ो आगे ॥५५॥

फिर प्रत्याहार का खण्डित नग।
जहाँ फिसलते बुद्धि के पग।
हठी भी जहाँ छोड़ते हठ।
पतन भय से ॥५६

फिर भी अभ्यास के बल से।
निरालम्ब प्रत्याहार पथ में।
धीरे-धीरे नख धँसते।
वैराग्य के ॥५७॥

फिर बैठ पवन की पीठ पर।
चलते धारणा के प्रशस्त पथ पर।
क्रमश: ध्यान का शिखर।
होता प्राप्त ॥५८॥

तब थमती पथ की दौड़।
पुरती प्रवृत्ति की हौंस।
समा जाते साधन–साध्य।
सामरस्य में ॥५९॥

फिर आगे न बढ़ाते पग।
न रहता स्मरण अतीत।
ऐसी समान भूमिका पर।
समाधि स्थित ॥६०॥

इस उपाय से योगारूढ़।
जो निश्चय हो चुका प्रौढ़।
उस के चिह्न सुस्पष्ट।
कहूँ सुनो ॥६१॥

जिस को इन्द्रियों के घर।
न हो विषयों का आवागमन।
जो आत्मबोध की शय्या पर।
करे शयन ॥६२॥

सुख–दुःख द्वन्द्व से जिसका मन।
न हो कभी चलायमान।
भले विषय मूर्तिमन्त।
खड़े निकट ।।६३।।

कर्म में जिस के इन्द्रिय।
रहते हुए भी प्रवृत्त।
फलाशा न करे स्पर्श।
अन्तःकरण को ।।६४।।

रहते हुए भी देहस्थ।
जागृत भी वह दिखे निद्रित।
वही वस्तुतः योगारूढ।
पहचान तू ।।६५।।

तब अर्जुन बोला, अनन्त।
सुनते हुए मैं विस्मित।
कौन देता यह योगत्व।
कहिये उसे ।।६६।।

तब हँस कर बोले कृष्ण।
कैसा अदभुत तेरा कथन।
अरे देता किसे कौन?
अद्वैत में ।।६७।।

अरे व्यामोह की सेज पर।
अविद्या–बल से हुए निद्रित।
तभी भोगते दुःस्वप्न।
जन्म-मृत्यु के ।।६८।।

फिर अकस्मात् होता जागृत।
समझ लेता मिथ्या समस्त।
तब उपजता सद्भाव नित्य।
स्वयं में ही ।।६९।।

अतएव अपने ही आप।
करते घात अपना पार्थ।
अवर्तमान में दे कर चित्त।
देहाभिमान में ।।७०।।

यह विचार कर छोड़े अहङ्कार।
तो होवें वस्तु नित्य स्वभाव।
तब स्वयं अपना कल्याण।
करेंगे आप ।।७१।।

नहीं तो जैसे कोश-कीट।
होता निज का वैरी आप।
वैसे देह में आत्मभाव।
रमणीय में ।।७२।।

जैसे प्राप्ति की वेला में।
निर्दैव अन्धत्व चाहे।
या होते हुए भी ढँक ले।
नेत्र अपने ।।७३।।

अथवा कोई पड़े भ्रम में।
'मैं खो गया' ऐसा कहे।
ऐसा व्यर्थ आग्रह मन में।
लिये रहे ।।७४।।

'वह जो है वही है' यदि विचारें।
पर वह न समझे तो क्या करें।
स्वप्न के घावों से क्या मरे।
कोई सचमुच ।।७५।।

ज्यों शुक के ही अङ्ग-भारसे।
नलिका घूम कर उलट जावे।
पर गिर जाने की शङ्का से।
न उड़े शुक ।।७६।।

व्यर्थ ही ग्रीवा घुमाये।
चोंच वक्ष से नली को दबाये।
फिर पञ्जों से दृढ पकड़े।
नलिका को ।।७७।।

सच ही मैं बँध गया अरे।
इस भावना की बेड़ी में पड़े।
मुक्त भी पञ्जों से जकड़े।
नली को वह ।।७८।।

ऐसे जो अकारण बँधे।
उसे बँधा हुआ कौन कहे?
छुड़ाने पर भी वह नली न छोड़े।
भले स्वयं टूटे ॥७९॥

अतएव अपना ही रिपु आप।
जिसके मन में बढ़े सङ्कल्प।
नहीं जिस में मिथ्याभिमान।
वह स्वयंबुद्धि ॥८०॥

उस स्वान्तःकरण-जित् से।
सकलकामोपशान्त से।
परमात्मा नहीं दूर अरे।
कभी, कहीं ॥८१॥

निकल जाने पर खोट।
जैसे बनता स्वर्ण शुद्ध।
वैसे सङ्कल्प होते हो लुप्त।
जीव ही ब्रह्म ॥८२॥

जैसे घटाकाश को।
महावकाश में मिलना हो।
तो घट मिटते ही मिले अहो।
जाना न पड़े कहीं ॥८३॥

जिस का अहङ्कार देहस्थ।
समूल हो गया नष्ट।
वहाँ परमात्मा नित्य-सिद्ध।
सदा पूर्ण प्रकट ॥८४॥

न रहे वहाँ अब शीत,उष्ण।
या सुख-दुःख का विवेचन।
मानापमान की न सम्भव।
भाषा वहाँ ॥८५॥

जिस-जिस पथ से चले सूर्य।
बने वहाँ तेजोमय विश्व।
वैसें उसे जो कुछ प्राप्त।
सब स्वरूप ही ॥८६॥

देखो मेघ से धारा बरसती।
सागर को न कभी चुभती।
वैसे शुभाशुभ की नहीं प्रतीति।
योगीश्वर को ॥८७॥

ये दृश्य भाव सांसारिक।
विचारदृष्टि से मिथ्यात्मक।
पर तत्त्वतः ज्ञानात्मक।
यदि सूक्ष्म विचारें ॥८८॥

अब एकदेशी या व्यापक।
ऐसी सब ऊहापोह।
स्वयं हो होती शान्त।
द्वैत विना ॥८९॥

शरीर में ही सकौतुक।
हो गया जो जितेन्द्रिय।
वह परब्रह्म के तुल्य।
निःसंशय ॥९०॥

वह सहज जितेन्द्रिय।
वही कहाता योगयुक्त।
न जाने जो श्रेष्ठ-कनिष्ठ।
कभी पार्थ ॥९१॥

जिसे स्वर्णराशि विशुद्ध।
प्रमाण में मेरुतुल्य।
तथा छोटा मृत्-पिण्ड।
दिखे समान ॥९२॥

पृथ्वी से भी अधिक अमूल्य।
रत्न जिसे पाषाणतुल्य।
दिखे, वह ऐसा निरिच्छ।
अद्भुत पार्थ ॥९३॥

वहाँ शत्रु और सुहृद।
या उदासीन और मित्र।
यह भावभेद विचित्र।
उठे कैसे? ॥९४॥

वहाँ बन्धु कौन किसका ?।
द्वेषी कौन उसका ?।
'मैं ही विश्व' ऐसा जिस का।
बोध सहज ॥९५॥
फिर भला उस की दृष्टि।
अधमोत्तम देखे किरीटी ?।
क्या पारस पर स्वर्ण की कसौटी।
होंगी विभिन्न ? ॥९६॥
वह उत्तम ही स्वर्ण बनाये।
वैसे जिस को सचराचर में।
साम्यबुद्धि ही बनी रहे।
निरन्तर ॥९७॥
यह विश्व रूपी अलङ्कार।
जिस के अनन्त आकार।
सब का एक स्वर्णआधार।
परब्रह्म ॥९८॥
ऐसा ज्ञान प्रशस्त।
हुआ जहाँ पूर्ण उदित।
वह न होता कभी भ्रमित।
आकार-वैचित्र्य से ॥९९॥
पड़ती पट पर दृष्टि।
दिखती तन्तुओं की ही सृष्टि।
वैसे आत्मा से अन्य कुछ भी।
वह न देखे ॥१००॥
होती जिस को ऐसी प्रतीति।
पायी जिस ने यह अनुभूति।
वही है निश्चित समबुद्धि।
जानो पार्थ ॥१०१॥
उसी का नाम तीर्थराज।
दर्शन से समाधान सहज।
जिस के सङ्ग में हो ब्रह्मभाव।
भ्रान्त को भी ॥१०२॥
जिस की वाणी से धर्म जिये।
दृष्टि से महासिद्धि निपजे।
स्वर्गसुखों की प्राप्ति जिसे।
सहज क्रीडा ॥१०३॥
यदि कभी मन में स्मरण करें।
तो जो अपनी योग्यता दे दे।
जिस की प्रशंसा से भी सखे।
होता लाभ ॥१०४॥
न हो कभी जो अस्तमित।
जिसने देखा वह अद्वैत-दिवस।
वह रहे निज में अखण्डित।
स्वयं ही पार्थ ॥१०५॥
ऐसा जो दृष्टि में विवेकी।
पार्थ वही है एकाकी।
त्रिलोक में जो अपरिग्रही।
कहाता सहज ॥१०६॥
ऐसे असाधारण।
निष्पन्नों के लक्षण।
स्वयं ही सम्पूर्ण।
श्रीकृष्ण बोले ॥१०७॥
जो ज्ञानियों के बाप।
द्रष्टाओं के दृष्टि-दीप।
जिन समर्थ का सङ्कल्प।
रचता विश्व ॥१०८॥
प्रणव रूपी रेशम से।
शब्द-ब्रह्म-माञ्जिष्ठ से।
जिस के यश को ढक न सकें।
रहे अपूर्ण ॥१०९॥
जिस का आङ्गिक तेज।
रवि-शशि में भरता ओज।
जिस के बिना निस्तेज।
रहे विश्व ॥११०॥

जिस के नाम की तुलना में।
गगन भी अधूरा पड़े।
उस के गुण एक-एक अरे।
गिनेगा तू! ॥१११॥

अतः रहने दे यह वर्णन।
न कह सकेगा सब लक्षण।
लेकर यही निमित्त।
कुछ किया कथन ॥११२॥

जो द्वैतमूल करे उत्पाटित।
वह ब्रह्मविद्या यदि उद्घाटित।
तो अर्जुन-सख्य का माधुर्य।
होगा नष्ट ॥११३॥

अतः उन का वह कथन।
था झीना आवरण।
प्रेमसुख-हित अर्जुन का मन।
फेरा अन्यत्र ॥११४॥

जिन्हें सोऽहंभाव का प्रतिबन्ध।
मोक्ष-सुख के प्रति बनाता रङ्क।
न लगे उन की दृष्टि का कलङ्क।
तेरे प्रेम पर ॥११५॥

यदि जाये इसका अहंभाव।
सहज ही मुझ से होगा ऐक्य।
क्या करूँगा मैं तब।
अकेला यहाँ? ॥११६॥

होगी किसे देख दृष्टि शीतल।
बोलूँगा जिस से हृदय भर कर।
दूंगा आलिङ्गन जिसे उमंगभर।
ऐसा फिर कौन? ॥११७॥

आनन्द-कथा सब मनभाती।
जो हृदय में न समाती।
कहूँगा किस से यदि साथी।
मुझ में समाया ॥११८॥

इस व्याकुलता से जनार्दन।
अन्योपदेश के निमित्त।
कर मन ही मन आलिङ्गन।
बोले सरल ॥११९॥

सुनने में यह लगे विचित्र।
पर पार्थ को समझो मूर्तिमन्त।
श्रीकृष्णसुख ही सजीव।
मानव-रूप ॥१२०॥

प्रौढ़ वयस् के अन्त में।
वन्ध्या के यदि पुत्र जन्मे।
वह मोह की पुतली जैसे।
नाचने लगे ॥१२१॥

वैसे हुए श्री अनन्त।
कहता न मैं यह बात।
यदि देखता न अतिशय।
प्रेम का यहाँ ॥१२२॥

देखो अद्भुत आश्चर्य।
कहां युद्ध कहाँ उपदेश।
पर पा सम्मुख प्रियवर्य।
गद्गद कृष्ण ॥१२३॥

प्रियता और लाज।
व्यसन और अवसाद।
भ्रमरहित उन्माद।
(क्या) होता कभी? ॥१२४॥

अतः भावार्थ यहाँ ऐसा।
अर्जुन आश्रय मैत्री का।
या सुख से शृङ्गारित मानस का।
दर्पण वह ॥१२५॥

ऐसा जग में वह पुण्य-पवित्र।
भक्तिबीज के लिये सुक्षेत्र।
बना कृष्ण-कृपा का पात्र।
इसीलिये ॥१२६॥

आत्मनिवेदन के पूर्व की।
पीठिका जो सख्य की।
अधिष्ठात्री मातृका वहाँ की।
सुभागो पार्थ ॥१२७॥
न किया स्वामी का वर्णन।
करूँ सेवक का गुणगान।
ऐसा दुलारा अर्जुन।
स्वयं हरि को ॥१२८॥
जो सानुराग पति को भजे।
वह भी प्रियतमा माने जिसे।
फिर क्यों न प्रशंसित हो पति से।
अधिक पतिव्रता ॥१२९॥
अतः अर्जुन का विशेष स्तवन।
सप्रेम करता मेरा मन।
क्यों कि बना वह एकायतन।
त्रिभुवन-भाग्य का ॥१३०॥
जिसके प्रेमसुख के लिये।
अमूर्त भी मूर्त हुए।
पूर्ण को भी प्रिय लगे।
अवस्था जिस की ॥१३१॥
बोले श्रोता दैव धन्य।
वर्णन शैली कैसी सुरम्य।
जीत आई हो नादब्रह्म।
ऐसी मधुर ॥१३२॥
नहीं क्या नवीन आश्चर्य।
देशी मराठी में यह वैभव।
आकाश में उमड़े समृद्ध।
साहित्यरङ्ग ॥१३३॥
बिछी शुभ्र ज्ञान-चन्द्रिका।
उस में भावार्थ-सुशीतलता।
श्लोकार्थ-कुमुदिनी प्रफुल्लिता।
उस स्पर्श से ॥१३४॥

निस्पृह में जागे श्रवणेच्छा।
मनोरथ बढ़े यह विशेषता।
आनन्द-भरित अन्तर झूमा।
श्रोतागण का ॥१३५॥
निवृत्तिदास ने यह जाना।
'अवधान दें अब यहाँ' कहा।
पाण्डव-कुल में उदित हुआ।
श्रीकृष्ण-दिवस ॥१३६॥
देवकी ने उदर में धारा।
यशोदा ने स्नेह से पाला।
अन्त में उपयोगी हुआ।
पाण्डवों को ॥१३७॥
न बहुत दिन की सेवा।
न विनति का अवसर खोजा।
इन्हें नहीं कुछ श्रम पड़ा।
पुण्यबल से ॥१३८॥
'अब कथा कहो शीघ्र आगे।
बोला अर्जुन दुलार से।
ये सन्तचिह्न तो मुझ में।
नहीं देव ॥१३९॥
देखूं यदि लक्षणों का सार।
तो मैं अपूर्ण अपार।
सुनकर उपदेश बारम्बार।
बनूं योग्य ॥१४०॥
यदि आप लावें इस पर चित्त।
तो होऊँ मैं भी स्वयं ब्रह्म।
फिर जो कहें अभ्यासक्रम।
मैं करूँ वही ॥१४१॥
न जाने किस का किया निरूपण।
सुनते ही श्लाघामग्न यह मन।
वह पायें तो आनन्दित कण-कण।
कैसा होगा? ॥१४२॥

में वैसा हो पाऊँगा क्या ?
निज मान वही स्थिति देंगे क्या ?
हँस बोले कृष्ण 'अरे हाँ हाँ ।'
होगा यह ॥१४३॥

जब तक न मिले सन्तोष।
तब तक सुख का दुष्काल।
पर मिलने पर सन्तोष।
अपूर्णता नहीं ॥१४४॥

जो सर्वेश्वर का सेवक।
वह ब्रह्म हो तो क्या कौतुक ?
सुदैव फलभार से रहा झुक।
अर्जुन कैसा ? ॥१४५॥

सहस्रजन्म–पर्यन्त ।
इन्द्र को भी मिलना दुर्लभ।
वह कैसा अर्जुन के वश।
माँग भी न सहे ॥१४६॥

कहा था जो पाण्डव ने।
ब्रह्म होना है मुझे।
वह सुना सब देवने।
सुलक्ष्य-पूर्वक ॥१४७॥

तब प्रभुने यह विचारा।
यदि उठी ब्रह्मत्व की इच्छा।
तो बुद्धि में वैराग्य हुआ।
मानो अङ्कुरित ॥१४८॥

भले वयस् अभी अपूर्ण।
पर खिल उठा वैराग्य वसन्त।
अतः सोऽहंभाव के बौर।
भरपूर आये ॥१४९॥

अतः फलने में प्राप्ति-फल।
यहाँ न होगा विलम्ब।
यह है विरक्त, यह विश्वास।
श्रीअनन्त को ॥१५०॥

यह जो भी करेगा अनुष्ठित।
वह सत्वर होगा फलित।
न जायेगा उपदेशित।
अभ्यास, व्यर्थ ॥१५१॥

श्रीहरि ऐसा विचार कर।
बोले उस अवसर पर।
सुनो ध्यान से धनुर्धर।
यह पन्थराज ॥१५२॥

प्रवृत्ति-तरु के तने ही पर।
निवृत्तिफल लगते अपार।
उसी पथ के पथिक शङ्कर।
आज भी ॥१५३॥

योगी-वृन्द अन्य अनेक।
चले व्योम के दुर्गम पथ पर।
अनुभव पगडण्डी से राजपथ।
यह मिला उन्हें ॥१५४॥

तब आत्म-बोध के सरल।
पथ पर वे चले निकल।
छोड़ कर अन्य पथ सकल।
दुर्गम, कुटिल ॥१५५॥

फिर महर्षि आते रहे।
साधक में से सिद्ध हुए।
आत्मविद् भी इसी पथ से।
बने श्रेष्ठ ॥१५६॥

देखे जो यह मार्ग।
भूले वह भूख – प्यास।
वह न देखे रात्रि-दिवस।
चलता रहे ॥१५७॥

चलने में पाँव जहाँ पड़े।
वहाँ अपवर्ग की खान उघड़े।
मार्ग चूके तो भी मिले।
स्वर्गसुख ॥१५८॥

पूर्वदिशा से निकलना।
पश्चिम के घर आना।
वैसे निश्चय-पूर्वक चलना।
यहाँ धनुर्धर ॥१५९॥
इस पथ से पहुँचे जहाँ पाँव।
स्वयं ही बन जाते वह गाँव।
कहूँ क्या ! सहज यह अनुभव।
जाने ही तू ॥१६०॥
हे देव ! बोला पार्थ तब।
कहेंगे वह उपाय कब?
आर्त्ति-सागर में रहा डूब।
निकालोगे न क्या ? ॥१६१॥
तब श्रीकृष्ण बोले।
होते क्यों ऐसे उतावले ?
कहता ही मैं, इतने में।
तुम पूछ बैठे ॥१६२॥
विशेष जो कहूँगा अब।
उसे समझायेगा स्वानुभव।
खोजना होगा स्थान एक।
कथनानुसार ॥१६३॥
जहाँ रमणीयता के कारण।
बैठें तो उठना न चाहे मन।
सहज वैराग्य हो द्विगुण।
जिसे देख कर ॥१६४॥
जो सन्तों का वसति-स्थान।
सन्तोष का अधिष्ठान।
जहाँ उत्साहित हो मन।
धैर्यहेतु ॥१६५॥
स्वयं सधे योगाभ्यास।
हृदय में आवे अनुभव।
ऐसी रम्यता हो सघन।
अखण्ड जहाँ ॥१६६॥

जाते ही जिस के निकट।
तपस्या का हो मनोरथ।
पाखण्डी को भी आस्था दृढ़।
उपजे जहाँ ॥१६७॥
पथ चलता कोई पथिक।
पहुँचे यदि अचानक।
तो सकाम भी होकर मुग्ध।
भूले लौटना ॥१६८॥
न रहते को बसाये।
भटकते को ठहराये।
थपक कर जगाये।
विरक्ति को ॥१६९॥
राज्य भले छोड़ दें।
इस एकान्त में आबसें।
विलासी को भी यह लगे।
देखते ही ॥१७०॥
जो हो इतना सुरम्य।
वैसा ही विशुद्ध पुण्य।
कि देखें प्रत्यक्ष ब्रह्म।
जहाँ नयन ॥१७१॥
और भी देखें एक।
बसते हों वहाँ साधक।
तथा लोगों का पगरव।
न हो निकट ॥१७२॥
जहाँ अमृत-तुल्य।
मधुर फलों के वृक्ष।
सदा फले परिपूर्ण।
छाया सघन ॥१७३॥
जलस्थान हों निकट।
पावस में भी विशुद्ध।
विशेष रूप से निर्झर।
सुलभ जहाँ ॥१७४॥

जहाँ सूर्यताप हो कोमल।
प्रतीति सुखद शीतल।
पवन अतिनिश्चल।
मन्द बहे ॥१७५॥

हो प्रायः निःशब्द।
न आवें अधिक श्वापद।
शुक तथा षट्पद।
न हों वहाँ ॥१७६॥

जल में रहें हंस।
कभी दो चार सारस।
वृक्षों पर कभी कोकिल।
आवें भले ॥१७७॥

रहें नहीं निरन्तर।
करें कभी पदचार।
ऐसे आवें यदि मयूर।
तो ना नहीं ॥१७८॥

किन्तु पार्थ आवश्यक।
मिलना ऐसा स्थल एक।
हो कोई प्राचीन मठ।
या शिवालय ॥१७९॥

इन दोनों में जो प्रिय।
जहाँ प्रसन्न रहे हृदय।
एकान्त में अधिकतर।
बैठे वहाँ ॥१८०॥

खोज ले ऐसा स्थल।
जहाँ मन रहे शान्त स्थिर।
बनावे फिर वहाँ निज।
आसन ऐसे ॥१८१॥

ऊपर रहे मृगचर्म।
उस पर तह किया धौतवस्त्र।
नीचे बिछाये कुशाङ्कुर।
अखण्डित ॥१८२॥

चुने दर्भ समान कोमल।
परस्पर जो हों सुबद्ध।
बिछाये उन्हें व्यवस्थित।
वहाँ पार्थ ॥१८३॥

यदि आसन हो अति उच्च।
तो डोलेंगे अङ्ग।
न हो इतना अधिक नीचे।
कि लगे भूमिदोष ॥१८४॥

इसलिये ऐसा न करे।
समस्थल पर हो रखे।
यहाँ अधिक अब क्या कहें।
हो आसन ऐसा ॥१८५॥

तब वहाँ स्थिर निज तन।
एकाग्र करें अन्तःकरण।
कर के सद्गुरु-स्मरण।
लें अनुभव ॥१८६॥

करते ही स्मरण सादर।
सात्विकता भरे बाह्यान्तर।
तब पिघलता कठिनपन।
अहंभाव का ॥१८७॥

विस्मृत होते विषय।
इन्द्रिय रहते स्थिर।
मन जाता सिमट।
हृदय में ॥१८८॥

ऐसा ऐक्य हो सहज।
करें प्रतीक्षा तब तक।
बैठें आसन पर स्थिर।
इसी बोध में ॥१८९॥

तब देह को संभाले देह।
पवन को धारे पवन।
ऐसा स्पष्ट अनुभव।
होने लगे ॥१९०॥

तब प्रवृत्ति स्वयं जाती लौट।
समाधि होती सहज साध्य।
होने लगते सभी अभ्यास।
बैठते ही ॥१९१॥

अब कहूँगा मुद्रा योग्य।
सावधान सुनो पार्थ।
ऊरु को जघनों में दृढ़।
धारण करे ॥१९२॥

पलटा कर दोनों तलवे।
रखें आधार-द्रुम के मूल में।
फिर वहीं सुदृढ़ भाव से।
करें स्थिर ॥१९३॥

नीचे रखें दक्षिण पद।
सन्धिरेखा को करें पीडित।
उस पर बैठायें सहज।
वामचरण ॥१९४॥

गुद मेढ़ के मध्य।
स्थान चार अङ्गुल।
दोनों ओर सार्ध-सार्ध।
छोड़ कर ॥१९५॥

मध्य रहे एक अङ्गुल।
उस का जो ऊपरी भाग।
शरीर रख समतोल।
दबावें उसे ॥१९६॥

तब पृष्ठभाग उठायें ऐसे।
कि उठाने का आयास न दिखे।
उसी प्रकार धारण करें।
गुल्फद्वय ॥१९७॥

तब शरीर समस्त।
सर्वथा ही पार्थ।
टिकता पार्ष्णी पर।
स्वयंभू जैसा ॥१९८॥

यही जानो अर्जुन।
मूल-बन्ध का लक्षण।
इसी का नाम गौण।
वज्रासन ॥१९९॥

यह मुद्रा होने पर सिद्ध।
अधोमार्ग रहता बन्द।
तब अपान सिमटकर।
चढ़ता ऊपर ॥२००॥

तब स्वयं कर-कम्पुट।
बैठता वामचरण पर।
फिर दिखते बाहुमूल।
कुछ उठे हुए ॥२०१॥

तने स्कन्धों के मध्य।
घुसा दिखे शिर-कमल।
नेत्रों के पलक-कपाट।
लगते मुँदने ॥२०२॥

ऊपर की पलकें ढलतीं।
निचली कुछ फैल जातीं।
तब अर्धोन्मीलित स्थिति।
होती सहज ॥२०३॥

दृष्टि रहे भीतर ही भीतर।
यदि कभी निकले बाहर।
तो नासाग्र-पीठ पर।
रहे स्थिर ॥२०४॥

ऐसे भीतर हो कर स्थिर।
जाती कहीं न बाहर।
अतएव अर्धोन्मीलित।
रहती सदा ॥२०५॥

न चाहे दिशायें भेंटना।
न विविध रूप देखना।
होता इच्छाओं का मिटना।
अपने आप ॥२०६॥

तब कण्ठनली सिकुड़ती।
ठोड़ी कण्ठकूप में धँसती।
दृढ़ता से दबा लेती।
वक्षःस्थल को ॥२०७॥

कण्ठमणि होती लुप्त।
तब बनता जो बन्ध।
कहते उसे जालन्धर।
पाण्डुकुँवर ॥२०८॥

नाभि उठती ऊपर।
सपाट होता उदर।
विकसता भीतर।
हृदय-कोश ॥२०९॥

नीचे रहे स्वाधिष्ठान।
ऊपर रहे नाभिस्थान।
मध्यमुद्रा उड्डीयान।
—बन्ध अर्जुन ॥२१०॥

शरीर के बाह्याङ्ग।
करने लगते यह अभ्यास।
तब भीतर चञ्चल मनोधर्म।
मिटने लगता ॥२११॥

कल्पना थमे।
प्रवृत्तियाँ शमें।
तनु-मन विरमे।
सहज ही ॥२१२॥

क्या हुई क्षुधा?
कहाँ गई निद्रा?
स्मरण भी न रहता।
इन वेगों का ॥२१३॥

मूलबन्ध से रोका गया।
अपान वायु जब मुड़ता।
सब ओर से सङ्कुचित हुआ।
फूलता ऊपर ॥२१४॥

वह क्षुब्ध होकर मत्त होता।
अटक कर वहीं गरजता।
मणिपूर चक्र पर धक्का देता।
बार-बार ॥२१५॥

करता क्षुब्ध अपना बल।
उदर में आँधी-सी खल-बल।
शैशव से अवतक का मल।
निकाले बाहर ॥२१६॥

वहाँ भी न समाये।
तब कोष्ठों में घुस जाये।
सब आश्रय कफ़-पित्त के।
करे नष्ट ॥२१७॥

उलटाता धातुओं के समुद्र।
तोड़ता मेद के पर्वत।
मज्जा भीतरी अस्थिगत।
निकालता बाहर ॥२१८॥

फिर नाड़ी भी जाती छूट।
सब अङ्ग पड़ते शिथिल।
करता साधक को भयभीत।
पर डरें नहीं ॥२१९॥

करता व्याधि उत्पन्न।
पर उसे शान्त भी करता शीघ्र।
पृथ्वी-जल शरीर-गत।
करता एकत्र ॥२२०॥

दूसरी ओर अर्जुन।
आसनों का उष्णगुण।
करता शक्ति जागृत।
कुण्डलिनी की ॥२२१॥

नागिन-शिशु नन्हा-सा।
कुङ्कुम से नहाया सा।
कुण्डली मार कर बैठा।
सोया था ॥२२२॥

वैसे ही कुण्डलिनी।
साढ़े तीन फेर घूमी।
अधोमुख सर्पिणी।
सोई हुई ॥२२३॥

विद्युल्लता का कङ्कण।
वह्निरेखा सघन।
पासारूप कुन्दन।
जैसी अर्जुन ॥२२४॥

वह दबी हुई वैसे।
बैठी नाभिस्कन्द में।
वज्रासन के आघात से।
होती जागृत ॥२२५॥

तब मानो नक्षत्र टूटे।
या सूर्यका आसन छूटे।
तेज का बीज फूटे।
अङ्कुरित ॥२२६॥

वैसे छोड़कर कुण्डली।
कौतुक से ले अंगड़ाई।
नाभिकन्द पर शक्ति।
उठ खड़ी होती ॥२२७॥

सहज बहुत दिनों की भूख।
छिड़ जाने का हुआ निमित्त।
अतः फैलाती ऊर्ध्व मुख।
आवेश से ॥२२८॥

हृदयकोश के तल में।
जो पवन भरा उसे।
सवेग फैले मुख से।
करती ग्रास ॥२२९॥

फिर मुख की ज्वाला से।
सत्वर ऊपर नीचे।
जहां कहीं मांस दिखे।
करे भक्षण ॥२३०॥

जो-जो स्थान समांस।
करती सब सहज ग्रास।
फिर एक-दो कौर।
लेती हृदय के ॥२३१॥

हथेली-तलवों को शोधकर।
ऊर्ध्व खण्ड सब भेदकर।
तलाशती सब सन्धिस्थल।
अङ्ग-प्रत्यङ्ग ॥२३२॥

न छोड़ती आधार।
नख तक का खींचती सत्व।
मिलाती त्वचा को धोकर।
अस्थि-पञ्जर से ॥२३३॥

अस्थि-नलों को सोखे।
शिराओं का गर्भ चूसे।
बाहर के झुलस जाते।
रोमकूप ॥२३४॥

फिर सप्त धातु-सागर से।
अपनी प्यास बुझाये।
करे सर्वाङ्ग को तत्क्षण शुष्क।
सत्वहीन ॥२३५॥

नासापुट से पवन।
जो द्वादशाङ्गुल तक करे गमन।
उस की ग्रीवा पकड़ कर।
मोड़े भीतर ॥२३६॥

आकुञ्चित होता अपान।
खिंचता नीचे प्राण।
बस चक्रों का अन्तरपट।
रहता मध्य ॥२३७॥

यों मिलते दोनों परस्पर।
पर कुण्डलिनी चित्त में नहीं स्वस्थ।
अतः कहती उन से तुम कौन?
क्यों यहाँ? ॥२३८॥

पार्थिव सभी धातु पार्थ।
वह ग्रास कर करती समाप्त।
जलतत्त्व भी करती निःशेष।
पोंछ कर ॥२३९॥

ऐसे खा कर दोनों महाभूत।
होती वह सन्तृप्त।
फिर रहती सौम्य स्थित।
सुषुम्णा-समीप ॥२४०॥

वहाँ तृप्ति के सन्तोष से।
जो गरल उगलती मुख से।
उस गरल-रूप पीयूष से।
जीते प्राण ॥२४१॥

उस गरल से जो अग्नि प्रगटे।
वह बाह्यान्तर शीतल करे।
उसी से पुनः पुष्ट बने।
सूखी काया ॥२४२॥

नाड़ीपथ होते बन्द।
मिटता वायु नवविध।
शान्त होते धर्म विविध।
तब शरीर के ॥२४३॥

इड़ा-पिङ्गला होतीं एक।
तीनों की ग्रन्थि जाती छूट।
षट्-चक्रों का सम्बन्ध।
होता लुप्त ॥२४४॥

चन्द्र और दिनमान।
नामों से कल्पित पवन।
न मिलते खोजने पर।
नासाग्र पर ॥२४५॥

बुद्धि का स्फुरण विरत।
घ्राण में ही शान्त परिमल।
करता सञ्चार शक्ति सहित।
मध्यमा में ॥२४६॥

तब भृकुटी चक्र के मध्य स्थित।
जो चन्द्रामृत का घट।
वह झरे उलट कर।
शक्तिमुख में ॥२४७॥

तब कुण्डलिनी में रस भरे।
वह सर्वाङ्ग में सञ्चरे।
जहाँ का तहाँ शान्त रहे।
प्राण-पवन ॥२४८॥

तपे हुए साँचे में।
मोम गल जाता जैसे।
भरता वह पिघली धातु से।
भलीभाँति ॥२४९॥

वैसे पिण्ड के आकार में।
तेज ही मानो अवतरे।
त्वचा का वस्त्र ऊपर से।
ओढ़े हुए ॥२५०॥

जैसे अभ्रों का आवरण।
ओढ़ ले कभी तपन।
पटल हटते किन्तु तेज।
असीम उस का ॥२५१॥

वैसे सूखे हुए ऊपर से।
त्वचा के परत पतले।
झड़ जाते धान्य पर से।
तुष जैसे ॥२५२॥

तब मानो स्वयम्भू स्फटिक।
अथवा रत्नबीज का अङ्कुर।
अवयव-कान्ति का वैभव।
दिखे वैसा ॥२५३॥

अथवा सान्ध्यगगन के रङ्ग।
लेकर रचे हों अङ्ग-प्रत्यङ्ग।
या अन्तर्ज्योति का लिङ्ग।
स्वच्छ दिव्य ॥२५४॥

मानो कुङ्कुम से भरी।
सिद्धरस से ढली।
शान्ति हो मूर्तिमती।
दिखती मुझे ॥२५५॥

आनन्द-चित्र का लेप।
या महासुख का रूप।
या सन्तोष तरु-का रोप।
सुस्थिर मानो ॥२५६॥

स्वर्णचम्पक की कली।
या अमृत की पुतली।
पूर्ण विकसिता मृदुता ही।
मूर्तिमती ॥२५७॥

शारदी निशा से आर्द्र।
सुशोभित चन्द्रबिम्ब।
या तेज ही मूर्तिमन्त।
आसनस्थ ॥२५८॥

ऐसा होता शरीर।
जब कुण्डलिनी पीती सुधारस।
डरे देहाकृति से तब।
कृतान्त भी ॥२५९॥

लौट जाता वार्धक्य।
ग्रन्थि खोलता तारुण्य।
पुनः प्रकट होती लुप्त।
बालदशा ॥२६०॥

कितनी भी हो वयस।
बल होता बलवत्तर।
और धैर्य होता निरुपम।
श्रेष्ठ तब ॥२६१॥

कनक द्रुम के पल्लव।
या रत्नकणिका नवल।
नख ऐसे सुन्दर।
नये आते ॥२६२॥

उगती गई दन्तावली।
अति सुन्दर नन्ही-नन्ही।
मानो जटित हीरकपङ्क्ति।
दोनों ओर ॥२६३॥

माणिक्य की लघुकणिका।
—सदृश सूक्ष्म सर्वथा।
लाते सर्वाङ्ग में तेजस्विता।
नये रोमाङ्कुर ॥२६४॥

कर – चरण – तल।
दिखते जैसे रक्तोत्पल।
प्रक्षालित नयन विशाल।
कहूँ कैसे ? ॥२६५॥

परिपक्व हो कर भरा।
शुक्ति में न समाये मुक्ता।
तब जैसे शुक्ति का खुलता।
सन्धिपट ॥२६६॥

वैसे पलकों में न समाकर।
दृष्टि निकलती बाहर।
पुरानी, फिर भी सहज।
व्यापे गगन ॥२६७॥

बनता सुवर्णमय देह।
पर पवनसम होता लाघव।
जिस में पृथ्वी-जल अंश।
रहते नहीं ॥२६८॥

देख पाता समुद्रपार।
सुनता स्वर्ग-संवाद।
जान जाता मनोभाव।
चींटी के भी ॥२६९॥

पवन-अश्व पर आरूढ़।
जल में न भीगें पाँव।
होती बहुधा प्रसङ्गवश।
सिद्धियाँ प्रकट ॥२७०॥

सुनो, प्राण का हाथ पकड़।
गगन का चलन चलकर।
सुषुम्णा की सीढ़ी चढ़कर।
हृदय में आई ॥२७१॥

वह कुण्डलिनी जगदम्बा।
चैतन्य चक्रवर्ती की शोभा।
विश्व–बीजाङ्कुर पर छाया।
करती शीतल ॥२७२॥

जो शून्य लिङ्ग की पिण्डी।
परमात्म शिव की गुथली।
प्रणव की तेजस्विनी।
जन्मभूमि ॥२७३॥

जब बालिका कुण्डलिनी।
हृदय में आ पहुँचती।
तब अनाहतनाद की।
बोलती भाषा ॥२७४॥

पाकर शक्ति का अङ्ग-सङ्ग।
बुद्धि होती चैतन्यमय।
तब वह सुन पाती नाद।
अनाहत ॥२७५॥

मानो घोष के कुण्ड में।
रूप नाद-चित्रों के।
प्रणव की रेखाओं से।
होते अङ्कित ॥२७६॥

कल्पना करें तो जानें।
पर कल्पक कहाँ से लायें?
अतः न जानें कैसा गरजे।
नाद वहाँ ॥२७७॥

रह गया कहना अर्जुन।
कि जबतक नष्ट न होता पवन।
तब तक शब्दमय गगन।
करे निनाद ॥२७८॥

अनाहत-मेघ करता नाद।
गूंज उठता हृदयाकाश।
तब ब्रह्मस्थान का मार्ग।
खुलता सहज ॥२७९॥

सुनो कमलगर्भ के समान।
दूसरा जो महदाकाश।
वहाँ चैतन्य अर्धतृप्त।
प्रतीक्षातुर ॥२८०॥

गर्भगृह वह हृदयगुहा।
जहाँ कुण्डलिनी जगदम्बा।
नैवेद्य निज तेज का।
करती समर्पित ॥२८१॥

बुद्धि के शाक सहित।
सुन्दर नैवेद्य समर्पित।
ऐसा किया कि कहीं द्वैत।
दिखे नहीं ॥२८२॥

कर के समर्पित निजकान्ति।
प्राणरूप हो हो रही।
तब वह दिखती कैसी।
कहूँ तुझे ॥२८३॥

मानो पवन की पुतली।
पहने स्वर्णिम साड़ी।
उसे उतार कर हो खड़ी।
स्वरूप में ॥२८४॥

या होते ही पवन–स्पर्श।
दीपशिखा हुई अस्त।
अथवा चपला चमक कर।
लुप्त गगन में ॥२८५॥

हृदय-कमल-पर्यन्त।
आई स्वर्णशलाका सदृश।
अथवा प्रकाश जल का निर्झर।
बहता आया ॥२८६॥

फिर वह हृदय गुफ़ा में।
समा जाये पलार्ध में।
ऐसे शक्ति का शक्ति में।
होता विलय ॥२८७॥

तब भी शक्ति ही कहलाती।
यद्यपि प्राणरूप ही रहती।
अब नाद-बिन्दु या कला-ज्योति।
भिन्न नहीं ॥२८८॥

अब विजय पाना मन पर।
या लेना पवन का आधार।
ध्यानादि का स्वीकार।
निष्प्रयोजन ॥२८९॥

कल्पना का संग्रह-त्याग।
रहता नहीं यहाँ शक्य।
सब महाभूतों का विलय।
होता यहाँ ॥२९०॥

पिण्ड में पिण्डका ग्रास।
जो नाथ-सङ्केत का 'दंश'।
कहा इसे सोद्देश।
श्री महाविष्णु ने ॥२९१॥

वह गूढार्थ ग्रन्थि खोलकर।
यथार्थ पट को फाड़कर।
रखा सम्मुख, समझ कर।
ग्राहक श्रोता ॥२९२॥

जब विलीन होता शक्ति का तेज।
तब देह धरे वायुरूप।
अत: नयनों में करे निवास।
सकल विश्व के ॥२९३॥

पूर्ववत् रहता देह।
दिखता अवयव-सहित।
बना मानो बट कर।
पवन-तत्त्व ॥२९४॥

अथवा कदली-गर्भ।
खड़ा अवगुण्ठन रहित।
या नभ के अवयव।
हों उदित ॥२९५॥

हो ऐसा जब शरीर।
तब कहते उसे खेचर।
यह पद दिखता चमत्कार।
लोक में ॥२९६॥

चलता आगे यह साधक।
रहते पीछे पदचिह्न।
खड़ी रहतीं अणिमादिक।
सिद्धियाँ वहाँ ॥२९७॥

पर हमें उन से क्या काम।
सुनो तुम सावधान।
देह में ही होते विलीन।
भूतत्रय ॥२९८॥

पृथ्वी जल में विलीन।
तेज करता जल-शोषण।
पवन में तेज का हरण।
हृदय में ॥२९९॥

स्वयं एक रहता शेष।
लिये हुए शरीर-वेश।
फिर वह भी करता प्रवेश।
अन्तर्नभ में ॥३००॥

तब कुण्डलिनी नाम न रहे।
मारुती संज्ञा मिले।
शिवमिलन—पूर्व तक रहे।
शक्तिभाव ॥३०१॥

फिर जालन्धर बन्ध छोड़कर।
काकीमुख को फोड़कर।
मूर्धानभ के पहाड़ पर।
बैठती वह ॥३०२॥

फिर ॐकार की पीठ पर।
पाँव रख कर सत्वर।
पश्यन्ती सीढ़ी पार कर।
बढ़तीं आगे ॥३०३॥

तब अर्धमात्रा के परे।
आकाश में जा मिले।
मिलतीं सागर में जैसे।
सरिता सभी ॥३०४॥

ब्रह्मरन्ध्र में होकर स्थिर।
सोहंभाव के बाहू पसार।
परमात्मलिङ्ग को सत्वर।
देती आलिङ्गन ॥३०५॥

महाभूतों की जवनिका हटे।
उभय का ऐक्य विलसे।
गगनादि सभी समायें।
उस आनन्द में। ॥३०६॥

जैसे मेघ बन कर सागर।
बरसता धरती पर।
फिर नदियाँ बन कर आतुर।
मिलता स्वयं से ॥३०७॥

वैसे पिण्ड–निमित्त से।
पद में पद प्रवेशे।
यह एकत्व होता ऐसे।
पाण्डुकुँवर ॥३०८॥

था पहले कहीं द्वैत।
या यह ऐक्य स्वतः सिद्ध।
इस विचार को अवकाश।
रहता नहीं ॥३०९॥

गगन में हो गया गगन लय।
ऐसी हो स्थिति धनञ्जय।
पाता जो ऐसा अनुभव।
वह होता तद्‌रूप ॥३१०॥

अतः वहाँ की बात।
न चढ़े शब्द के हाथ।
जिससे कि संवादग्राम तक।
पहुँचे वह ॥३११॥

करें विचार तो अर्जुन।
जो करती संवाद का अभिमान।
वह वैखरी रही दूर।
कहीं पीछे ॥३१२॥

भ्रूलता के पीछे।
जहाँ मकार भी न पहुँचे।
चढ़ने में प्राण हाँफे।
गगनपथ में ॥३१३॥

वहाँ वायु भी होता तदाकार।
शब्द-दीप अस्तमान।
उस पर होता विलय।
आकाश का भी ॥३१४॥

महाशून्य के गह्वर में।
गगन भी जहाँ खो जाये।
वहाँ कैसे पहुँच पाये।
कहो शब्द? ॥३१५॥

उसे पकड़ पायें अक्षर।
या सुन पायें श्रवण।
कभी नहीं यह सम्भव।
त्रिवार सत्य ॥३१६॥

यदि कभी सौभाग्य से।
यह अनुभव आवे।
तो स्वयं तद्‌रूप हो रहे।
स्वयं में ॥३१७॥

अब नहीं कुछ ज्ञातव्य।
अतएव कथन ही निःशेष।
क्यों बोलें अब व्यर्थ।
हे धनुर्धर ॥३१८॥

जहाँ से शब्द परावृत्त।
सङ्कल्प की आयु समाप्त।
जिस को न सके भेद।
विचार-पवन ॥३१९॥

जो उन्मनी का लावण्य।
जो तुरीया का तारुण्य।
अनादि जो अगण्य।
परम तत्त्व ॥३२०॥

जो आकार का प्रान्त।
जो मोक्ष का एकान्त।
जहाँ आदि और अन्त।
हुए विलीन ॥३२१॥

जो विश्व का मूल।
योगद्रुम का फल।
जो आनन्द का केवल।
चैतन्य अहो ॥३२२॥

जो महाभूतों का बीज।
जो महातेज का तेज।
एवं पार्थ जो निज।
स्वरूप मेरा ॥३२३॥

यही चतुर्भुज आविर्भूत।
जिस की शोभा मूर्तिमन्त।
जब नास्तिक करते पीड़ित।
भक्त-वृन्द को ॥३२४॥

वह अनिर्वाच्य महासुख।
स्वयं ही हो गये पुरुष।
जिन का टिकता निष्कर्ष।
प्राप्ति-पर्यन्त ॥३२५॥

हम ने जो ये साधन कहे।
जो इन का तनु से अनुष्ठान करे।
वह होता हमारे तुल्य अरे।
शुद्ध हो कर ॥३२६॥

परब्रह्म के धातुरस से।
देहाकृति के साँचे में।
ढले हुए दिखते उस के।
अङ्ग-प्रत्यङ्ग ॥३२७॥

यदि यह प्रतीति पा ले चित्त।
तो विश्व यह सर्वथा लुप्त।
तब बोला अर्जुन सत्य।
कहते कृष्ण! ॥३२८॥

आपने यहाँ देव!
कहे जो-जो उपाय।
वे ब्रह्म-प्राप्ति के धाम।
निश्चय ही ॥३२९॥

इस अभ्यास में जो दृढ़।
वे अवश्य पाते ब्रह्मत्व।
आप के निरूपण से यह रहस्य।
समझा मैंने ॥३३०॥

देव! सुनते ही यह बात।
चित्त में उपजता बोध।
फिर अनुभव से तल्लीनत्व।
होगा न क्यों? ॥३३१॥

अतः इस में कहीं।
अन्यथा कुछ नहीं।
क्षणैक सुनिये फिर भी।
दत्तचित्त ॥३३२॥

कृष्ण! तुमने जो कहा योग।
समझा मन ने साङ्गोपाङ्ग।
पर पाता स्वयं को अयोग्य।
इस साधन में ॥३३३॥

मुझ से जितना हो सहज।
यदि मानें उसे पर्याप्त।
तो सहर्ष करूँगा अभ्यास।
इस मार्ग का ॥३३४॥

यदि जैसा कहते देव।
वैसा मुझ से न हो सम्भव।
तो जो हो सके योग्यता बिन।
पूछूं वही ॥३३५॥
चाहता यही अन्तःकरण।
वही बना प्रश्न-कारण।
अतः कृपया निज मन।
दीजिये इधर ॥३३६॥
किया सावधान श्रवण।
जो-जो तुम ने किया निरूपण।
जो चाहे वह यह साधन।
कर सकता क्या? ॥३३७॥
अथवा बिना योग्यता के।
यह प्राप्त नहीं हो सके।
तब कृष्ण बोले क्या कह रहे।
पार्थ तुम! ॥३३८॥
अरे यह तो निर्वाण-साधन।
क्या अन्य कुछ भी साधारण।
बिना अधिकार बिना उपकरण।
होता सिद्ध? ॥३३९॥
कहते योग्यता जिसे।
वह आधीन प्राप्ति के।
योग्य हो कर यदि करें।
भले आरम्भ में ही ॥३४०॥
वस्तुतः यहाँ कोई।
नहीं ऐसी कठिनाई।
और योग्यता की क्या कहीं।
होती खान? ॥३४१॥
जो थोड़ा भी विरक्त।
हुआ देहधर्म में नियत।
वही क्या नहीं व्यवस्थित।
अधिकारी? ॥३४२॥
इतनी सी युक्ति से।
योग्यता तुझ में भी अरे।
शङ्का मिटाई देवने।
ऐसा कह कर ॥३४३॥
फिर कहा पार्थ यहाँ।
है इतनी ही व्यवस्था।
कि अनियत को सर्वथा।
योग्यता यहीं ॥३४४॥
जो रसनेन्द्रिय के अधीन।
बिके निद्रा के हाथ।
वे ही यहाँ पर कथित।
अनधिकारी ॥३४५॥
अथवा जो दुराग्रहवश।
क्षुधा तृषा करे अवरुद्ध।
आहार का करता वध।
अनुचित ॥३४६॥
न जाता निद्रा के पथ पर।
बनता ऐसा निश्चयी दृढ।
नहीं उस के वश में शरीर।
तो योग कैसे? ॥३४७॥
अतः न करे अतिविषय सेवन।
न ही उस का नितान्त वर्जन।
कोई विरोध या निरोध।
अतिशय न हो ॥३४८॥
हो आहार नियमित।
पर युक्तिपूर्ण परिमित।
सब क्रिया हों आचरित।
उसी प्रकार ॥३४९॥
भाषण हो परिमित।
विचरण हो नियमित।
निद्रावधि हो निश्चित।
प्रतिदिन सेवित ॥३५०॥

जो जागरण अपेक्षित।
उस का परिमाण निश्चित।
ऐसे धातु-साम्य साधित।
होता सहज ॥३५१॥

ऐसे युक्तिरूप हाथों से।
यदि इन्द्रियों को विषयभोग दें।
तो इस से सन्तोष बढ़े।
मन का पार्थ ॥३५२॥

बाहर युक्ति की मुद्रा रहे।
भीतर स्वयं हो सुख बढ़े।
अनायास हो योग सधे।
पाण्डुकुँवर ॥३५३॥

जैसे होने पर भाग्योदय।
उद्यम को बना कर निमित्त।
घर आतीं समृद्धि सकल।
अपने आप ॥३५४॥

वैसे युक्तिमन्त यदि कौतुक से।
अभ्यास का पथ पकड़े।
तो आत्मसिद्धि निश्चित पावे।
स्वानुभव से ॥३५५॥

अतः यह युक्ति पाण्डव।
सिद्ध करे जो भाग्यशील।
उसे करती अलङ्कृत।
अपवर्गश्री ॥३५६॥

युक्ति हो योग से समृद्ध।
तो बनता सुन्दर प्रयागतीर्थ।
वहाँ लेता स्थिर क्षेत्रसंन्यास।
जिस का मानस ॥३५७॥

उस का 'योगयुक्त' अभिधान।
प्रसङ्गतः ले तू जान।
उस का सुन्दर उपमान।
निर्वातदोप ॥३५८॥

अब जान कर तेरा मनोगत।
करूँ तुझ से कुछ कथन।
सुनो उसे दे कर मन।
सावधान ॥३५९॥

तू प्राप्ति के लिये साआंक्ष।
पर नहीं अभ्यास में दक्ष।
कहो भला क्यों भयग्रस्त।
दुष्करता से? ३६०॥

कहो पार्थ मुझे सत्वर।
क्यों मानते अभ्यास दुष्कर।
उसे इन्द्रियाँ दिखातीं भयङ्कर।
जो स्वयं दुर्जन ॥३६१॥

जो करती अचल आयुष्य।
जाता जीवन लेती रोक।
उस औषध को 'वैरी' जीभ।
कहती न क्या? ॥३६२॥

जो कुछ भी सत्य हितकर।
उसे इन्द्रियाँ मानें दुःखकर।
वस्तुतः योग जैसा सुकर।
है कुछ अन्य? ॥३६३॥

अतः आसन-दृढ़ता-सहित।
कथित योग हो अनुष्ठित।
तभी हो सकते निरुद्ध।
ये इन्द्रिय ॥३६४॥

ऐसे योग से युक्त।
जब इन्द्रिय होते संयत।
तब स्वयं चाहने लगे चित्त।
आत्म-मिलन ॥३६५॥

जब होकर परावृत्त।
देखता स्वयं को चित्त।
तब 'मैं ही हूँ यह तत्त्व'।
लेता पहचान ॥३६६॥

होते ही यह पहचान।
सुख-साम्राज्य पर आसीन।
तब चित्तपन होता विलीन।
सामरस्य से ॥३६७॥

जिस से श्रेष्ठ न अन्य।
जो इन्द्रियों को अगम्य।
उस आत्मरूप में अनन्य।
हो रहता ॥३६८॥

फिर मेरु से भी विशाल।
देह-दुःख के पर्वत।
भले आयें, पर चित्त।
होता न विकल ॥३६९॥

चाहे शस्त्रों से छिदे।
या देह अग्नि में पड़े।
पर चित्त पौढ़ा महासुख में।
रहे अविचल ॥३७०॥

ऐसे आत्मसुख म होकर निमग्न।
न रहता देह का स्मरण।
स्वयं हुआ सुखायतन।
भूले सब ॥३७१॥

जिस सुख की माधुरी से।
मन आसक्ति को भूले।
जो रत था संसार के।
मिथ्या सुख में ॥३७२॥

जो योग का सौभाग्य।
सन्तोष का साम्राज्य।
ज्ञान है अनिवार्य।
जिस के लिये ॥३७३॥

होने पर अभ्यस्त योग।
दिखता वह साङ्गोपाङ्ग।
और दिखते ही तद्रूप।
होता द्रष्टा ॥३७४॥

अतः योग ही पार्थ।
सरल पथ एकमात्र।
सङ्कल्प पाये पुत्रशोक।
जब सर्वथा ॥३७५॥

सुने जब वह काम-वध।
देखे इन्द्रिय सुसंयत।
तब होकर अति व्याकुल।
त्यागे प्राण ॥३७६॥

जब हो ऐसा वैराग्य प्राप्त।
मिटे सङ्कल्प झञ्झावात।
तब धृति-प्रासाद में वास।
पाये बुद्धि ॥३७७॥

बुद्धि को धैर्य का आश्रय मिले।
मन अनुभव के पथ पर चले।
तब धीरे-धीरे आत्मभुवन में।
हो प्रतिष्ठित ॥३७८॥

यह है एक मार्ग।
जिस से प्राप्त होता ब्रह्म।
यदि कठिन तो अन्य।
सुनो सरल ॥३७९॥

करे यह नियम एक।
प्राणपण से रहे अडिग।
जैसे कृतनिश्चय के वचन।
टलें नहीं ॥३८०॥

इतने से यदि स्थिर हो चित्त।
तो हुआ कार्य सहज।
अन्यथा छोड़ दे मुक्त।
मन को पार्थ ॥३८१॥

मुक्त मन जहाँ भी जाये।
नियम वहाँ से लौटा लाये।
ऐसे वह स्थिरता पाये।
क्रमशः सहज ॥३८२॥

फिर किसी समय।
उस स्थैर्य का ले आश्रय।
आत्म-स्वरूप के निकट।
आयेगा सहज ॥३८३॥
देख उसे होगा तद्रूप।
अद्वैत में द्वैत विसर्जित।
ऐक्य–तेज से उद्घाटित।
त्रैलोक्य यह ॥३८४॥
नभ में नभ से भिन्न।
भासित अभ्र ज्यों विलीन।
त्यों गगन से आपूर्ण।
विश्व सकल ॥३८५॥
वैसे चित्त होता लय।
तब सब कुछ चैतन्यमय।
यह प्राप्ति का सुखोपाय।
जानो पार्थ ॥३८६॥
इस योगस्थिति से सरल।
बहुतों ने पाया लक्ष्य सहज।
सङ्कल्पों का वैभव।
छोड़ कर ॥३८७॥
वे सुख के सहित।
आये परब्रह्म के निकट।
जल में जैसे लवण।
न रहे विलग ॥३८८॥
होता वही इस मिलन में।
सामरस्य के मन्दिर में।
महासुख का दीपोत्सव दिखे।
जग सहित ॥३८९॥
चलें अपने पाँव।
अपनी ही पीठ पर।
यदि यह न लगे सुलभ।
तो सुनो अन्य ॥३९०॥
मैं बसूँ देहों में सकल।
नहीं यहाँ शङ्का को स्थल।
वैसे मुझ में ही सकल।
विश्व बसा ॥३९१॥
हैं ऐसे ही ओत-प्रोत।
परस्पर एकीभूत।
बुद्धि करे इसे ग्रहण।
अनिवार्य यह ॥३९२॥
इस रीति से अर्जुन।
करके ऐक्य–भावन।
सर्वभूतों में अभिन्न।
भजता मुझ को ॥३९३॥
जो भूतों का अनेकत्व।
न करे मुझ पर आरोपित।
मेरा केवल एकत्व।
जाने सर्वत्र ॥३९४॥
फिर वह और मैं एक।
यह कहना भी निरर्थक।
न कहें तो भी धनञ्जय।
मैं ही वह ॥३९५॥
दीप और आकाश में।
ऐक्य सर्वथा जैसे।
एक वह मुझ में वैसे।
मैं उस में ॥३९६॥
जैसे उदक में जीवित रस।
या गगन में समाया अवकाश।
वैसे रूपायित वह पुरुष।
मेरे रूप से ॥३९७॥
जिस की ऐक्यमयी दृष्टि।
सर्वत्र देखे मुझे किरीटी।
जैसे पट में दिखे सृष्टि।
तन्तु की ही ॥३९८॥

अथवा आकार होते बहुत।
पर स्वर्ण की एकता न खण्डित।
ऐसी ऐक्य दशा अचल।
पायी जिसने ॥३९९॥

अथवा वृक्ष में पत्ते जितने।
पौधे नहीं रोपे उतने।
बीती इस अद्वैत-बोध में।
निशा द्वैत की ॥४००॥

वह हो भले पञ्चात्मक।
कहो उसे कैसी अटक?
जो स्वानुभव से व्यापक।
मेरे तुल्य? ॥४०१॥

मेरी व्यापकता समस्त।
अनुभव से उसे उपलब्ध।
न कहें तो भी वह व्यापक।
स्वभावतः ॥४०२॥

अब हो वह भले शरीरी।
पर शरीर से बद्ध नहीं।
शब्दों में यह बात कही।
जाये कैसे? ॥४०३॥

रहने दें विशेष वर्णन।
जो अपने ही समान।
देखे सचराचर भुवन।
अखण्डित ॥४०४॥

सुख-दुःखादि मर्म।
या शुभाशुभ कर्म।
ये दोनों मनोधर्म।
जाने न जो ॥४०५॥

ये सम-विषम भाव।
और भी विचित्र सब।
जो माने इन्हें अवयव।
अपने ही ॥४०६॥

कहें क्या यह एक-एक।
जिसे समस्त त्रैलोक्य।
दिखता निज-स्वरूप।
अनुभव से ॥४०७॥

दिखता वह देहधारी।
कहते लोग उसे सुखी-दुःखी।
पर प्रतीति ऐसी हमारी।
परब्रह्म ही वह ॥४०८॥

अतः स्वयं में देखें विश्व।
स्वयं ही हो जायें विश्व।
यह साम्य ही हो उपास्य।
प्रिय पाण्डव ॥४०९॥

अनेक प्रसङ्गों में तुझे।
यह कहा मैंने इसीलिये।
क्योंकि साम्य से श्रेष्ठ जग में।
प्राप्ति नहीं ॥४१०॥

तब बोला अर्जुन हे देव!
सब कहते तुम कृपामय।
पर वश में न आता स्वभाव।
इस मन का ॥४११॥

कैसा कितना है यह मन।
देखें तो न होता दर्शन।
किन्तु करने को स्वैर भ्रमण।
त्रैलोक्य अपर्याप्त ॥४१२॥

अतः कैसे हो यह घटित।
कि धरे समाधि मर्कट।
या कहने से महावात।
रहे स्थिर ॥४१३॥

जो बुद्धि को छले।
निश्चय को टाले।
धैर्य के हाथ में से।
भागे निकल ॥४१४॥

जो विवेक को बहकाये।
सन्तोष में इच्छा उपजाये।
दसों दिशा में भटकाये।
बैठे-बैठे ॥४१५॥

निरोध से जो अधिक उभरे।
संयम जिस का सहाय बने।
वह क्या स्वभाव को अपने।
छोड़ेगा कभी ? ॥४१६॥

अतः मन रहे निश्चल।
और सधे हमारा साम्य अचल।
यही विशेष असम्भव।
मन के लिये ॥४१७॥

तब बोले कृष्ण हाँ पार्थ।
तू जो कहता वह सत्य।
स्वभाव से ही है चपल।
वस्तुतः मन ॥४१८॥

पर लें वैराग्य का आधार।
लगायें अभ्यास के पथ पर।
तो कभी किसी अवसर।
यह होगा स्थिर ॥४१९॥

मन का एक भला गुण।
जो भावे उस का व्यसन।
अतः कौतुक से आत्मसुख।
चखायें इसे ॥४२०॥

ऐसी विरक्ति नहीं जिसमें।
अभ्यास में जो कभी न लगे।
उस से योग न सध सके।
न मानूं क्या ? ॥४२१॥

न जायें यम-नियम के पथ पर।
न करें वैराग्य का स्मरण।
केवल विषय रस में रहें निमग्न।
डुबकी लगा कर ॥४२२॥

जन्म से ही मन को कभी।
युक्ति का स्पर्श हुआ नहीं।
तो कैसे निश्चल होगा कहीं।
कहो तुम ही ॥४२३॥

अतः जिस से मन का निग्रह।
हो सके वही उपाय।
करो आरम्भ देखो तब।
होता न कैसे ? ॥४२४॥

अन्यथा कहे जो योग-साधन।
क्या वे सब निरर्थक अर्जुन।
मुझ से न होता अभ्यास-जतन।
कहो यही ॥४२५॥

यदि देह में योग का बल।
तो मन कितना होगा चपल ?
करे न क्या महदादि सकल।
स्वाधीन वह ! ॥४२६॥

तब बोला अर्जुन, देव !
आप कहते सर्वथा सत्य।
नहीं योगबल से अधिक समर्थ।
मनोबल ॥४२७॥

पर योग क्या और कैसे ज्ञेय।
कभी न जाना यह विषय।
अतः कहता था अनावर।
मैं मन को ॥४२८॥

अब सम्पूर्ण जन्म में।
पुरुषोत्तम के प्रसाद से।
योग-परिचय हुआ मुझे।
आज ही ॥४२९॥

किन्तु प्रभो और एक।
उठता मन में संशय।
तुम से अन्य नहीं समर्थ।
छुड़ाने में ॥४३०॥

अतः कहिये, यदि, गोविन्द।
कोई पाने चले मोक्षपद।
लिये केवल श्रद्धाबल।
बिना साधन ॥४३१॥

इन्द्रियग्राम से निकला।
आस्थापथ पकड़ा।
नगर आत्मसिद्धि का।
पाने हेतु ॥४३२॥

तब न हुई आत्मसिद्धि।
न रही उस की पूर्व स्थिति।
अस्त हुआ यदि मध्य में ही।
आयुष्यभानु ॥४३३॥

जैसे अकाल का बादल।
जहाँ-तहाँ क्षीण विरल।
व्यर्थ ही आता केवल।
न रहे न बरसे ॥४३४॥

वैसे दोनों से वञ्चित।
आत्मप्राप्ति रही दूर।
अप्राप्य भी वह न लगे पर।
श्रद्धा के कारण ॥४३५॥

ऐसे सफलता से वञ्चित।
पर श्रद्धा हृदय में जीवित।
ले कर हुआ जो अस्तङ्गत।
उस को क्या गति ? ॥४३६॥

कहा कृष्ण ने पार्थ सखे।
आस्था जिस की मोक्ष सुख में।
उस की मोक्ष से अन्य अरे।
गति होगी कैसे ?॥४३७॥

इतना अन्तर होता केवल।
विश्राम लेता पथ-मध्य।
वह भी होता देव-दुर्लभ।
अतीव सुखद ॥४३८॥

यदि अभ्यास के नियत पथ से।
चला होता वेग से।
तो पा लेता आयु रहते।
सोहंसिद्धि ॥४३९॥

नहीं जिस में उतना वेग।
इसलिये विश्राम निश्चित।
और वैसा ही निश्चित मोक्ष।
पाता अन्त में ॥४४०॥

सुनो यह कैसा कौतुक।
शतमख से जो प्राप्य लोक।
पाता वह अनायास।
कैवल्य-कामी ॥४४१॥

फिर वहाँ के अमोघ।
अलौकिक दिव्य भोग।
थक जाता भोग-भोग।
मन उस का ॥४४२॥

यह अन्तराय अचानक।
क्यों आ पड़ा भगवन्त।
ऐसे भोगते हुए दिव्यभोग।
करे अनुताप ॥४४३॥

फिर लेता जन्म संसार में।
धर्मप्राण परिवार में।
विभवश्री के आगार में।
अङ्कुर जैसा ॥४४४॥

जो चलता नीतिपथ पर।
बोलता सत्य हितकर।
करता सब दर्शन-व्यवहार।
शास्त्रानुसार ॥४४५॥

वेद जहाँ जागृत ईश्वर।
'व्यवसाय' ही निजाचार।
सारासार विचार।
मन्त्री जहाँ ॥४४६॥

जिस कुल में चिन्ता।
हुई ईश्वर की पतिव्रता।
और जहाँ गृहदेवता।
आदि ऋद्धि ॥४४७॥
निज पुण्य के प्रताप से।
सर्व सुख जहाँ बरसे।
वहाँ वह सुभागी जन्मे।
योगच्युत ॥४४८॥
अथवा ज्ञानाग्निहोत्री।
जो परब्रह्मण्य 'श्रोत्री'।
तथा जो मूलनिवासी।
महासुखक्षेत्र के ॥४४९॥
सिद्धान्त सिंहासन पर आरूढ़।
राज्य करते त्रिभुवन पर।
सन्तोषवन में कोकिलरूप।
कूजते जो ॥४५०॥
जो विवेक द्रुम के मूल में।
बैठे नित्य फल चखते।
ऐसे योगियों के कुल में।
पाता जन्म ॥४५१॥
सुन्दर देहाकृति पाये।
निजज्ञान का प्रभात उगे।
सूर्योदय के पूर्व प्रगटे।
प्रकाश जैसे ॥४५२॥
प्रौढ़ता की राह न देखे।
वय:क्रम को अवलेखे।
सर्वज्ञता उस को वरे।
बाल्य में ही ॥४५३॥
उस सिद्धप्रज्ञा के लाभ से।
मन से सारस्वत क्षरे।
सकल शास्त्र मुख से निकलें।
सहज सिद्ध ॥४५४॥
पाने को ऐसा जन्म।
देव भी रहते सकाम।
स्वर्ग में भी जप-होम।
करते सदा ॥४५५॥
देवता भी भाट बनते।
मृत्युलोक को बखानते।
ऐसा सुन्दर जन्म पाते।
योगभ्रष्ट ॥४५६॥
पूर्वजन्म की सद्बुद्धि।
जब पूर्ण हुई आयु-अवधि।
वही पुनः निरवधि।
पाते नवीन ॥४५७॥
जैसे पगजन्मा भाग्यवन्त।
पाये नयनों में दिव्याञ्जन।
फिर देखे अनायास।
पातालधन ॥४५८॥
वैसे जो दुर्भेद अभिप्राय।
अथवा गुरुगम्य आशय।
वहाँ प्रवेशे बिनाप्रयास।
बुद्धि उसकी ॥४५९॥
इन्द्रिय प्रबल मन के अधीन।
पवन से एक हुआ मन।
गगन में फिर वह पवन।
समाने लगे ॥४६०॥
क्यों ऐसा होता न जाने।
स्वयं ही वह अभ्यास करे।
घर पूछती समाधि आवे।
मानस में ॥४६१॥
मानो योगपीठ का भैरव।
या आरम्भरम्भा का गौरव।
या वैराग्यसिद्धि का अनुभव।
रूपायित हुआ ॥४६२॥

यह संसार नापने को माप।
या अष्टाङ्ग सामग्री का दीप।
या परिमल ने धरा हो रूप।
चन्दन का ॥४६३॥

मानो सन्तोष से गढ़ा हुआ।
सिद्धिभाण्डार से निकला हुआ।
दिखता उतना हो रूढ़ हुआ।
साधकदशा में ॥४६४॥

क्योंकि शत-कोटि वर्ष।
जन्म सहस्र का प्रतिबन्ध।
लाँघकर आया समीप।
आत्मसिद्धि के ॥४६५॥

स्वभावत: सभी साधन।
करते उसका अनुसरण।
विवेक सिंहासन पर।
विराजे वह ॥४६६॥

फिर जब विचार का बढ़े वेग।
पीछे छूटे तब विवेक।
बढ़ कर आगे विचारातीत।
बने ब्रह्मरूप ॥४६७॥

वहाँ मनन के मेघ बिखरें।
पवन का पवनपन न रहे।
स्वयं अपने में आप रचे।
आकाश भी ॥४६८॥

प्रणव को अर्धमात्रा डूबे।
ऐसा अनिर्वाच्य सुख प्रगटे।
अत: शब्द वहाँ से लौटे।
मौन हो कर ॥४६९॥

ऐसी जो ब्राह्मी स्थिति।
सब गतियों की परागति।
वह अमूर्त दशा की मूर्ति।
होकर रहे ॥४७०॥

उस ने पूर्वजन्मों में अनेक।
झटक डाले मल – विक्षेप।
अत: जन्मते ही शुभलग्न।
ब्रह्मैक्य का ॥४७१॥

हुआ तद्‌रूपता से 'लग्न'।
हो रहा तत्क्षण अभिन्न।
ज्यों लुप्त होने पर अभ्ररूप।
गगन सिद्ध ॥४७२॥

विश्व जहाँ से उत्पन्न।
फिर होता जिस में विलीन।
देह में ही उपलब्ध।
वह ब्रह्म उसे ॥४७३॥

जिस लाभ की आशा करके।
धैर्य बाहु के भरोसे।
रहते षट्कर्म–प्रवाह में।
कर्मनिष्ठ ॥४७४॥

जो वस्तु पाने के लिये।
ज्ञानरूप कवच पहने।
जूझते भव–समर में।
ज्ञानी खड़े ॥४७५॥

अथवा दुर्गम फिसलती।
तपोदुर्ग की टेकरी।
चढ़ते साकांक्ष तपस्वी।
जिस के लिये ॥४७६॥

जो भक्तों का भज्य।
याज्ञिकों का याज्य।
एवं जो पूज्य।
सब का सदा ॥४७७॥

वही वह अपने आप।
बना अपना निर्वाण।
जो साधकों का कारण।
सिद्धतत्त्व ॥४७८॥

वह कर्मनिष्ठों का वन्द्य।
ज्ञानियों का वेद्य।
तापसों का आद्य।
तपोनाथ ॥४७९॥

जहाँ जीव–परमात्म–सङ्गम।
वहाँ पहुँचा जिसका मनोधर्म।
होता ऐसा महिमावन्त।
वह शरीरी ॥४८०॥

बस इसी कारण से।
कहता मैं सदा तुझे।
हो योगी अन्तःकरण से।
पाण्डुकुँवर ॥४८१॥

जो हुआ ऐसा योगी।
वह देव, देवों का भी।
सुख–सर्वस्व मेरा वही।
चैतन्यरूप ॥४८२॥

वहाँ भक्त–भक्ति भजन।
ये सभी भक्ति-साधन।
'मैं ही सब' यह अनुभव जान।
अखण्डित ॥४८३॥

फिर मुझ में उस में जो प्रेम।
शब्द कर सकें उस का वर्णन।
ऐसा नहीं वह सत्य।
हे सुभद्रापति! ॥४८४॥

उस ऐक्यमय प्रेम का।
वर्णन यदि चाहे उपमा।
तो मैं देह वह आत्मा।
यही सत्य ॥४८५॥

ऐसे भक्त-चकोर-चन्द्र।
त्रिभुवनैक — नरेन्द्र।
बोले वे गुण–समुद्र।
सञ्जय कहे ॥४८६॥

पार्थ में जो पहले ही।
श्रवण की आस्था थी।
जाना कि वह दुगुनी हुई।
यदुनाथ ने ॥४८७॥

सहज मन सन्तुष्ट हुआ।
कि शब्दों को दर्पण मिला।
करेंगे हर्ष – उमंग से भरा।
निरूपण ॥४८८॥

आगे है वही प्रसङ्ग।
जहाँ शान्तरस दिखेगा विशद।
जो पालेगा अङ्कुर।
प्रमेयबीज का ॥४८९॥

सात्त्विक गुण की वृष्टि हुई।
आध्यात्मिक शुष्कता गई।
ऊष्मा सहज परिपक्व हुई।
चतुर चित्त की ॥४९०॥

ऊष्मा समग्र अवधान की।
मिली यहाँ सुक्षेत्र जैसी।
अतः बोने की उमंग उठी।
श्री निवृत्ति में ॥४९१॥

कहें ज्ञानदेव करके दुलार।
मुझे बनाया बीजपात्र।
रखा जो मस्तक पर हाथ।
वह मानो बीज डाले ॥४९२॥

अतः जो-जो कहे यह मुख।
वह सन्तों को लगेगा सत्य।
अब कहता हूँ श्रीरङ्ग।
बोले जो ॥४९३॥

उसे मन के कानों से सुनें।
बुद्धिनयन से देखें।
ऊहापोह-पूर्वक ग्रहण करें।
चित्त देकर ॥४९४॥

अवधान के हाथों से।
धारें अन्तःकरण में।
तो चित्त को रिझाये।
सन्तों के ॥४९५॥

सिद्ध करे स्वहित।
बनाये जीवित ही मुक्त।
बरसाये आत्मसुख।
अखण्डित ॥४९६॥

श्रीमुकुन्द ने अर्जुन से। कहा जो नागर विनोद में।
मैं ओवीबद्ध प्रबन्ध में। कहूँगा वही ॥४९७॥

इति श्रीमद्ज्ञानेश्वरविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीता – 'भावार्थ दीपिकयाम्' आत्मसंयमयोगो नाम षष्ठोऽध्याय: ॥

॥ हरि: ॐ तत् सत् ॥

॥ ॐ हरि : ॐ ॥

सप्तम अध्याय

सुनिये फिर श्रीअनन्त।
बोले, सखे पार्थ!
तुम हुए योगयुक्त।
वस्तुतः अब ॥१॥

जानोगे मुझ समग्र को ऐसे।
हाथ में रखा रत्न जैसे।
अब कहूँगा ज्ञान तुझे।
विज्ञानसहित ॥२॥

यहाँ विज्ञान का क्या काम।
यदि तेरा यह मनोभाव।
तो समझो भलीप्रकार।
पहले यही ॥३॥

ज्ञान को सुवेला में।
बुद्धि कुण्ठित हो रहे।
तट से नाव न हिले जैसे।
लङ्गर में बँधी ॥४॥

वैसे जहाँ बुद्धि न प्रवेशे।
विचार उलटे पाँव लौटे।
तर्क-चातुरी भी न चले।
जिस तत्त्व में ॥५॥

अर्जुन उसी का नाम ज्ञान।
यह प्रपञ्च ही विज्ञान।
यहाँ सत्यत्वबुद्धि, अज्ञान।
जानो इसे ॥६॥

अब अज्ञान नष्ट समस्त।
विज्ञान निःशेष बाधित।
और ज्ञान हो स्वरूपगत।
तद्‌रूप ॥७॥

जिससे वक्ता की वाणी कुण्ठित।
श्रवण का व्यसन विसर्जित।
छोटे बड़े का मिटे भेद।
जहाँ सर्वथा ॥८॥

ऐसा जो मर्म गूढ़।
करूँगा उसे वाक्यारूढ़।
जिस से मन की साध।
हो पूरी ॥९॥

सहस्रों मनुष्यों में कोई।
होता इस का अभिलाषी।
उन बहुतों में भी विरला ही।
जानता इसे ॥१०॥

जैसे भरे त्रिभुवन में।
कोई एक ऐसा वीर निकले।
जो शौर्य बल से बनाये।
लक्ष-सेना ॥११॥

फिर कोई उन वीरों में से।
प्रत्यक्ष समर में शस्त्र सहे।
विजयासन पर बैठ सके।
कोई एक ॥१२॥

वैसे आस्था की महापुरी में।
करोड़ों जन प्रवेश करते।
पर प्राप्ति के तीर परले।
पहुँचे कोई ॥१३॥

अतः यह नहीं सामान्य।
कहने में भी बात कठिन।
फिर कहूँगा, अभी प्रस्तुत।
सुनो अर्जुन ॥१४॥

ध्यान दो कुन्तीसुत।
मेरी माया महदादिक।
जैसे छाया प्रतिबिम्बित।
निजाङ्ग की ॥१५॥

इस का प्रकृति-अभिधान।
जानो इसे अष्टधा भिन्न।
उत्पन्न होते लोकत्रय।
इस से ही ॥१६॥

यह अष्टधा भिन्न कैसी?
यदि मन में शङ्का ऐसी।
तो सुनो पार्थ इस की।
विवेचना ॥१७॥

आप, तेज, गगन।
मही, मारुत, मन।
बुद्धि अहङ्कार ये भिन्न।
आठ भाग ॥१८॥

इन आठों की जो साम्यावस्था।
वही मेरी प्रकृति परा।
उसी की नाम-व्यवस्था।
'जीव' रूप ॥१९॥

जो जड़ को जीवन देती।
चित् को चेतन करती।
शोक–मोह अनुभव कराती।
मन द्वारा ॥२०॥

बुद्धि कराती ज्ञान।
जिस की सन्निधि के कारण।
जो कराती जग को धारण।
'अहं' के कौशल से ॥२१॥

स्वेच्छा से जब सूक्ष्म प्रकृति।
धरती स्थूल आकृति।
तब खुलती भूतसृष्टि की।
टकसाल ॥२२॥

तब चतुर्विध सिक्के।
स्वयं बनने लगते।
एक समान ही मूल्य के।
पर जाति भिन्न ॥२३॥

चौरासी लाख प्रकार।
न जाने कितने अपार।
भरता आदि–शून्य–आकार।
इन सिक्कों से ॥२४॥

ऐसे समान पाञ्चभौतिक।
गढ़ती सिक्के अनेकानेक।
पर, उस समृद्धि का लेख।
प्रकृति ही जाने ॥२५॥

मुद्रा आँक करती विस्तार।
फिर स्वयं करती संहार।
मध्य में कर्माकर्म व्यवहार।
करती प्रवृत्त ॥२६॥

रहने दो यह रूपक।
सुनो कहता हूँ खोल कर।
यह नाम–रूप–विस्तार।
प्रकृति-कृत ॥२७॥

और यह प्रकृति मुझ में ही।
भासित अन्यथा नहीं।
अत: आदि-मध्य-अन्त में ही।
जगत् का ॥२८॥

यह है मरीचिका-जल।
यदि खोजें उस का मूल।
तो रश्मि नहीं केवल।
है भानु ही ॥२९॥

उसी प्रकार किरीटी।
यह प्रकृति गति-सृष्टि।
उपसंहृत हो जिसमें टिकी।
मैं वह तत्त्व ॥३०॥

अतएव दीखे या न दीखे।
पर यह सब मुझ में रहे।
मैं धारण करता विश्व जैसे।
सूत्र में मणि ॥३१॥

सुवर्ण के मणि घड़े।
स्वर्णसूत्र में पिरोये।
वैसे जग आवृत मुझ में।
सबाह्यान्तर ॥३२॥

अतः उदक में जो रस।
या पवन में स्पर्श।
शशि-सूर्य में प्रकाश।
मैं ही जानो ॥३३॥

वैसे नैसर्गिक शुद्ध।
मैं पृथ्वी में गन्ध।
गगन में मैं शब्द।
वेद में प्रणव ॥३४॥

नरों में मैं नरत्व।
जो अहंभाव का सत्त्व।
वह पौरुष मैं ही तत्त्व।
कहता तुझे ॥३५॥

जो अग्नि नाम से विख्यात।
तेज नामक जिसका कवच।
उस के भीतर का तत्त्व।
निज तेज मैं ही ॥३६॥

त्रिभुवन में नाना योनियों में।
जन्म लेते जीव जितने।
अपने-अपने आहार से।
जीवन चलाते ॥३७॥

कोई पवन पीते।
कोई तृणों पर जीते।
कोई अन्नाधार से रहते।
कोई जल पर ॥३८॥

ऐसे प्रतिभूतों में अन्य-अन्य।
दिखता जो प्रकृति वश जीवन।
उन सब में हूँ अभिन्न।
मैं ही एक ॥३९॥

जो आदि-सृष्टि के अवसर पर।
उगता होकर गगनाङ्कुर।
जो अन्त में निगलता अक्षर।
प्रणवपीठ के ॥४०॥

जब तक रहे विश्वाकार।
तब तक दिखे वह तदाकार।
महाप्रलय दशा में आकर।
कुछ भी नहीं ॥४१॥

यह जो अनादि सहज।
वह मैं ही हूँ विश्वबीज।
यह करतल में तत्त्व।
देता तुझे ॥४२॥

फिर विशद कर के पाण्डव।
इस पर करोगे विचार।
तब इस का उपयोग सुन्दर।
देख सकोगे ॥४३॥

पर यह आलाप अप्रासङ्गिक।
रहने दो, अब करूँ संक्षेप।
तपस्वियों में जो दिखता तप।
वह मेरा रूप ॥४४॥

बलवन्तों में बल।
मैं ही हूँ अचल।
बुद्धिमन्तों में केवल।
मैं ही बुद्धि ॥४५॥

भूतमात्र में स्थित काम।
मैं ही, कहें आत्माराम।
जिस के द्वारा अर्थ-धर्म।
उत्कर्ष पाते ॥४६॥

यदि विकारों के बल से।
इन्द्रिय स्वैर आचरण करें।
तो धर्म के विरुद्ध उन्हें।
जाने न दे ॥४७॥

जो अप्रवृत्ति का कुमार्ग।
छोड़ कर पकड़े विहित मार्ग।
और नियम की मशाल।
रखे हाथ में ॥४८॥

यदि काम चलाये यह व्यवस्था।
तो धर्म की परिपूर्तता।
मानो मोक्ष-तीर्थ के सुवक्ता।
ऐसे संसार भोगी ॥४९॥

श्रुति-गौरव के मण्डप पर।
चढ़ाये काम-सृष्टि की बेल।
छूते उस के कर्म-फल।
अपवर्ग को ॥५०॥

ऐसा नियन्त्रित कन्दर्प।
जो सब भूतों का बीजरूप।
वह मैं ही, कहते बाप।
योगियों के ॥५१॥

कहूँ कितना एक-एक।
यह सम्पूर्ण वस्तुजात।
मुझ से ही उत्पन्न विविध।
आकार में ॥५२॥

जो सात्त्विक आदि भाव।
या रज तम आदि गुण सब।
वे मम-रूप-से सम्भव।
पहचान तू ॥५३॥

ये सब हुए हैं मुझ में।
पर मैं नहीं हूँ इन में।
जैसे स्वप्न के गर्त में।
जागृति न डूबे ॥५४॥

जैसे रस से उत्पन्न।
बीजकणिका सघन।
उस से उत्पन्न काष्ठ कठिन।
अङ्कुर द्वारा ॥५५॥

उस काष्ठ के भीतर कभी।
क्या बीजपन रहता कहीं?
वैसे मैं विकारी नहीं।
भले दिखूं विकारगत ॥५६॥

गगन में उपजते बादल।
पर उन में गगन नहीं केवल।
मेघों में होता सलिल।
पर जल में न मेघ ॥५७॥

उस उदक के आवेश से।
जो चमचमाता तेज दिखे।
रहता क्या उस विद्युत् में।
सलिल कभी? ॥५८॥

अग्नि से धूम निकले।
पर धूम में क्या रहे?
वैसे विकार नहीं मुझ में।
दिखने पर भी ॥५९॥

काई जल में उपजती।
फिर जल को ही ढँक देती।
या व्यर्थ मेघों में ही।
आकाश लोपे ॥६०॥

होने पर भी स्वप्न असत्य।
निद्रावश होते अनुभूत।
तब होने देते क्या स्मरण।
अपने आप का ॥६१॥

और देखो स्वयं नयन।
रचते स्वयं पर पटल।
क्या न बही जाता निगल।
दृष्टि को ॥६२॥

वैसे मुझ से प्रतिभासिता।
मेरी छाया त्रिगुणात्मिका।
बनती मुझ पर जवनिका।
ढकती मुझ को ॥६३॥

अतः प्राणी मुझे न जानें।
उपजे मुझ से पर मुझ में न मिलें।
जल में उपजा मोती न घुले।
जल में जैसे ॥६४॥

जैसे घड़ा बना मिट्टी से।
कच्चा पुनः मिले मिट्टीमें।
किन्तु पकने पर अग्नि में।
रहता अलग ॥६५॥

वैसे भूतजात सब।
हैं मेरे ही अवयव।
पर मायायोग से प्राप्त।
जीव-दशा को ॥६६॥

अतः मेरे ही मुझ में न मिलें।
मेरे ही मुझे न पहचानें।
अहं-ममता भ्रान्ति से।
हुए विषयान्ध ॥६७॥

यह मेरी माया महदादिक।
पार कर के धनञ्जय।
होना मुझ में तन्मय।
कैसे शक्य? ॥६८॥

ब्रह्माचल की टेकरी से।
सङ्कल्प जल के झरने बहे।
उस जल में उपजे बुलबुले।
महाभूत ॥६८॥

सृष्टि-विस्तार की महानदी।
कालकलना के वेग में चढ़ी।
प्रवृत्ति-निवृत्ति के छोड़ चली।
तट उत्तुङ्ग ॥७०॥

जो त्रिगुणमेघों की वृष्टि से।
भरी मोह के महापूर से।
बहा ले जाती यम-नियमों के।
नगरादिक ॥७१॥

जिस में द्वैतादि आवर्त।
मत्सररूप गहरे गह्वर।
प्रमादादि महामीन।
उछलते रहते ॥७२॥

जहाँ प्रपञ्च के प्रवाह में।
कर्माकर्म की बाढ़ में।
सुखदुःख कचरा तिरता दिखे।
तट पर लगे ॥७३॥

विषय – सुख – द्वीप पर।
टकराती काम-लहर।
जहाँ जीवफेन एकत्र।
हुआ दिखता ॥७४॥

अहङ्कार के आन्दोल से।
मदत्रय सवेग बढ़ते।
विषयतरङ्ग ऊँचे-ऊँचे।
उछलते ॥७५॥

उदय-अस्त के घोर प्रवाह।
गिराते जन्म-मरण-पाषाण।
वहाँ बुलबुले पाञ्चभौतिक।
उठाते-मिटाते ॥७६॥

सम्मोह, विभ्रम मत्स्य।
निगलते धैर्य का आमिष।
वहाँ घूमते भयङ्कर भँवर।
अज्ञान के ॥७७॥

भ्रान्ति का गँदला जल।
आशा-गर्त में जाता भर।
करती रजोगुण की खलबल।
स्वर्ग का गर्जन ॥७८॥

तम का प्रवाह प्रबल।
उस में सत्त्व सघन स्थिर।
किंबहुना अतीव दुस्तर।
माया नदी ॥७९॥

पुनरावृत्ति के प्रवाह।
गिराते सत्यलोक के दुर्ग।
फोड़ते प्रचण्ड आघात।
ब्रह्मगोलक ॥८०॥

इस जल का प्रवाह।
इतना प्रचण्ड घोर।
कौन यह मायापूर।
तर सके? ॥८१॥

यहाँ और एक आश्चर्य।
कि जो करें तरणोपाय।
वही बन जाते अपाय।
सुनो यह ॥८२॥

कोई स्वयंबुद्धि के बल से।
उतरे तो खो ही गये।
कोई ज्ञान भँवर में फँसे।
गर्व ने निगले ॥८३॥

किसीने पकड़ी वेदत्रय की नाव।
उस पर रखा अहंभाव पाषाण।
मद–मीन–मुख में सम्पूर्ण।
समा गये वे ॥८४॥

कोई वयोबल से चले।
तो मन्मथ–फन्द में फँसे।
विषय-मगरों ने उन्हें।
चबा डाला ॥८५॥

कोई बहे वार्धक्य तरङ्गों में।
फँसे मतिभ्रंश – जाल में।
वे कस कर जकड़े जाते।
चारों ओर ॥८६॥

शोक–शिला से टकराते।
क्रोध–भँवर में चकराते।
सिर उठाते ही नोंचते।
आपद गीध ॥८७॥

फिर दुःख कीचड़ में लिपटे।
मरण-गर्त में धँसे।
ऐसे जो कामाधीन हुए।
मर मिटे व्यर्थ ॥८८॥

किसी ने यज्ञ-क्रिया की पेटी।
उदर में बाँध लगाई डुबकी।
वे गुफ़ा में स्वर्गसुख की।
जा अटके ॥८९॥

किसी ने लगाई मोक्ष की आशा।
किया बाह्य कर्म का भरोसा।
पर वह भी जा कर फँसा।
विधि–निषेध में ॥९०॥

जहाँ न चले वैराग्यकी नाव।
विवेक न पा सके थाह।
योग तारे किसी प्रकार।
क्वचित् ही ॥९१॥

तैरना माया नदी ऐसे।
असम्भव जीव के निजबल से।
इस कथन का सामर्थ्य आगे।
कहता सुनो ॥९२॥

यदि कुपथ्यशील को छोड़े व्याधि।
साधु समझे दुर्जन की बुद्धि।
या रागी छोड़ सके ऋद्धि।
हस्तगत ॥९३॥

यदि चोर से सभा डरे।
काँटे को मीन निगले।
या भीरु से पिशाच भागे।
भयभीत ॥९४॥

मृगशावक तोड़े जाल।
चींटी मेरु जाय लाँघ।
तभी मायानदी का पार।
देखे जीव ॥९५॥

अतएव जैसे पाण्डुसुत।
वनिता को कामी न सके जीत।
वैसे तैर न सके जीव।
माया सरिता ॥९६॥

यहां वही उत्तीर्ण होते।
जो सर्वभाव से भजते मुझे।
इस पार ही मायाजल सूखे।
उन के लिये ॥९७॥

मिला जिसे सद्गुरु नाविक।
जिसने अनुभव कच्छ बाँधा दृढ़।
आत्म-निवेदन-नाव पर।
चढ़ा जो ॥९८॥

अहंभाव का बोझ फेंककर।
विकल्प झञ्झा से बचकर।
अनुराग-प्रवाह से हट कर।
चला जो ॥९९॥

जिसे मिला ऐक्य का उतार घाट।
आत्मबोध का सुगम पथ।
तब निवृत्ति के परले पार।
पहुँचा जो ॥१००॥

उपरति-करों से पानो तोड़ते।
सोहंभाव के बल से बढ़ते।
ऐसे वे सहज पहुँचते।
निवृत्ति तट पर ॥१०१॥

ऐसे मुझे भजा जिन्होंने।
मेरी माया तर गये वे।
पर होते ऐसे भक्त विरले।
अधिक नहीं ॥१०२॥

अन्य जो अवान्तर।
होता उन में अहंभूत सञ्चार।
अतः होता विस्मरण।
आत्मबोध का ॥१०३॥

न पहनें नियम-परिधान।
न जानें अधोगति की लाज।
अकरणीय भी करें नाम।
वेद का ले कर ॥१०४॥

अरे शरीरग्राम में।
आये जिस हेतु से।
सब कार्यार्थ छोड़ते।
वे पाण्डव ॥१०५॥

इन्द्रियग्राम के राजपथ पर।
करते अहं-मम का जल्पवाद।
अन्य विकारों का समुदाय।
जुटाते वे ॥१०६॥

दुःख शोकादि के घाव।
खा कर भी न करते याद।
कहने का यही कारण।
कि वे मायाग्रस्त ॥१०७॥

अतः वे मुझ को न पा सके।
अब सुनो जो चतुर्विध भजते।
आत्महित बढ़ाया जिन्होंने।
वे अन्य ॥१०८॥

उन में प्रथम आर्त।
फिर जिज्ञासु द्वितीय।
अर्थार्थी हैं तृतीय।
चौथे ज्ञानी ॥१०९॥

आर्त भजें आर्ति-निमित्त से।
जिज्ञासु जानने के लिये।
तीसरा मुझ से चाहे।
अर्थसिद्धि ॥११०॥

पर चौथे के चित्त में।
हेतु कोई भी न रहे।
अतः वस्तुतः भक्त मेरे।
ज्ञानी ही ॥१११॥

जो ज्ञान के प्रकाश से।
भेदाभेद–तम नष्ट कर के।
समरस होकर भो मुझ में।
रहते वे भक्त ॥११२॥

पर अन्यों की दृष्टि में क्षण एक।
उदकवत् भासे स्फटिक।
वैसे ज्ञानी न दिखे मद्रूप।
सुन कौतुक ॥११३॥

जैसे पवन मिले गगन में।
तब पवन–पन भिन्न न रहे।
वैसे 'भक्त' की टेक न टले।
सायुज्य में भी ॥११४॥

पवन को हिला कर देखें।
तभी गगन से पृथक् देखे।
अन्यथा गगन-रूप रहे।
सहज पार्थ ॥११५॥

वैसे देहगत कर्मों से।
वह 'भक्त' ऐसा दिखे।
पर आन्तर प्रतीति धर्म से।
मद्रूप वह ॥११६॥

ज्ञानालोक में वह मुझे।
निज आत्मरूप पहचाने।
अतः मैं भी सन्तुष्ट हृदयसे।
कहता वहो ॥११७॥

जीवदशातीत रहस्य को।
पहचान जीना जाने जो।
देहभेद के कारण अहो!
क्या वह भिन्न? ॥११८॥

अतः स्वहित के लोभ से।
चाहे जो मेरा भक्त बने।
पर में कहूँ वल्लभ जिसे।
वह एक ज्ञानी ॥११९॥

दूध दुहने को सभी।
गाय को बांधते रस्सी।
पर बिना बँधे वह पिलाती।
प्रिय वत्स को ॥१२०॥

क्यों कि तन-मन-प्राण से।
वह मां के सिवा कुछ न जाने।
जो भी सामने दीखे।
उसे मां समझे ॥१२१॥

वह है ऐसा अनन्यगति।
अतः धेनु की वैसी प्रीति।
इसीलिये लक्ष्मीपति।
कहते सत्य ॥१२२॥

किम्बहुना जो कहे पहले।
भक्त तीन प्रकार के।
वे भी हैं बहुत दुलारे।
मुझे पार्थ ॥१२३॥

पर जान कर मेरा स्वरूप।
जो भूत-भावी गये भूल।
जैसे सरिता सागर में मिल।
लौटे न कभी ॥१२४॥

जिन के हृदय कुहर में जन्मी।
प्रतीतिगङ्गा मुझ में मिली।
क्या अधिक कहूँ 'वे मैं ही'।
सखे अर्जुन ॥१२५॥

अतः ज्ञानी कहाते जो।
वे मेरा ही चैतन्य समझो।
यह नहीं शब्दोंका विषय अहो।
पर कहता विवश ॥१२६॥

जो विषयों की सघन झाड़ी – ।
के काम क्रोधादि सङ्कट सभी ।
लाँघ कर चढ़ा पहाड़ी ।
सद्वासना की ॥१२७॥
फिर साधुसङ्ग से हे सुभट ।
पकड़ ऋजु सत्कर्म की वाट ।
अप्रवृत्ति का कुटिल पथ ।
छोड़कर ॥१२८॥
पथिक जन्मघातों के ।
आशा–पगही न पहनें ।
फिर फलहेतु का गणित गिने ।
वहाँ कौन ॥१२९॥
शरीर-संयोग की रात में ।
सङ्गरहित हो दौड़ते ।
तब कर्मक्षय का देखते ।
सुप्रभात ॥१३०॥
गुरुकृपा की उषा प्रगटे ।
फैलें सुन्दर ज्ञान–किरणें ।
तब साम्य की ऋद्धि उमड़े ।
उस की दृष्टि में ॥१३१॥
वह जहाँ–जहाँ दृष्टि डाले ।
वहाँ एक मुझे देखे ।
अथवा बैठे एकान्त में ।
तो वहाँ मैं ही ॥१३२॥
किम्बहुना मुझ से अन्य ।
दिखे नहीं उसे सर्वत्र ।
जैसे डूबा बाह्यान्तर ।
जल में घट ॥१३३॥
वैसे वह मेरे भीतर ।
मैं उसके भीतर–बाहर ।
पर नहीं यह विचार ।
शब्दगम्य ॥१३४॥

रहने दें यह विस्तार ।
वह देखे ज्ञान भाण्डार ।
संवृत होने पर सचराचर ।
स्वयं ही विश्व ॥१३५॥
यह समस्त श्रीवासुदेव ।
ऐसे प्रतीतिरस से भरा भाव ।
अतएव वह भक्तराज ।
वही ज्ञानी ॥१३६॥
जिस की प्रतीति का भाण्डार ।
समा ले निज में चराचर ।
वह महात्मा धनुर्धर ।
अति दुर्लभ ॥१३७॥
अन्य बहुत से जन ।
भोगार्थ करते भजन ।
पर दृष्टि उन की अतिमन्द ।
आशातिमिर से ॥१३८॥
और फल की इच्छा से ।
हृदय में काम प्रवेशे ।
बुझता उस के झोंके से ।
ज्ञानदीप ॥१३९॥
ऐसे तम घेरता उभय ओर ।
क्योंकि मुझ से होते दूर ।
सर्वभाव से देवतान्तर ।
भजते रहते ॥१४०॥
पहले ही प्रकृति के सेवक ।
फिर भोगार्थ बने रङ्क ।
वे लोलुप भला सकौतुक ।
क्यों करें भजन ॥१४१॥
कैसी उन में नियमबुद्धि ।
और कैसी उपचार समृद्धि ।
अथवा अर्पण यथाविधि ।
विहित कर्म का ! ॥१४२॥

पर जो जिस इच्छा से।
अन्य देवों को भजते।
उन की इच्छा उन रूपों में।
मैं करता पूर्ण ॥१४३॥

मैं ही हूँ देव-देवी।
यह निश्चय उन में नहीं।
वे रचते भाव विभिन्न ही।
सब देवों में ॥१४४॥

उसी श्रद्धा से युक्त।
वे जो आराधन करते उचित।
सिद्धि पाने तक समस्त।
आचरण करते ॥१४५॥

ऐसे जो जिस को भजे।
वह फल पाये उस से।
पर यह सकल निपजें।
मुझ से ही ॥१४६॥

पर वे भक्त मुझे न जानें।
जो कल्पना से बाहर न निकलें।
अतः कल्पित ही फल पावें।
अन्तवन्त ॥१४७॥

किम्बहुना ऐसा जो भजन।
वह संसार का ही साधन।
इन को फलभोग स्वप्न।
दिखता क्षणभर ॥१४८॥

रहने दो यह विवेचन।
जिस को भाते जो देवगण।
वे कर के उन का भजन।
पाते उन्हें ही ॥१४९॥

और जो तन-मन-प्राण से।
मेरे पथ का अनुसरण करते।
वे देह के अन्त में।
होते मद्रूप ॥१५०॥

पर ऐसा न करते प्राणी।
वे व्यर्थ करते अपनी हानि।
जो अञ्जलि में लेकर पानी।
चाहें तैरना ॥१५१॥

या अमृत सागर में डुबकी लें।
पर मुख को कस कर बन्द रखें।
और मन में स्मरण करें।
पल्वलोदक ॥१५२॥

अरे ऐसा क्यों करें?
कि अमृत में डूब कर मरें।
क्यों न अमृत-रूप बनें।
अमृत-सुख में ॥१५३॥

वैसे फलाशा का पिञ्जर।
छोड़कर धनुर्धर।
क्यों न बनें प्रतीतिपङ्खों पर।
चिदम्बर के स्वामी ॥१५४॥

जहाँ उच्च गगन में विहार।
अनुभवें सुख अपार।
चाहे जितना इच्छानुसार।
उड़ते रहें ॥१५५॥

अमाप को क्यों करें परिमित।
मुक्त अव्यक्त को क्यों मानें व्यक्त।
सिद्ध होकर क्यों हों श्रमित।
साधन द्वारा ॥१५६॥

यद्यपि यह कथन सब।
है विचारणीय पाण्डव।
किन्तु जीवों को सविशेष।
रुचे यह ॥१५७॥

योगमाया के पटल से।
अवश्य हो गये अन्ध से।
प्रकाश के भी बल से न पाते।
देख मुझे ॥१५८॥

अन्यथा मुझ से रहित।
है क्या कोई वस्तुजात।
क्या कभी रस से रहित।
होता जल। ॥१५९॥

किसे स्पर्श न करता पवन।
कहाँ न रहता भला गगन।
वैसे मुझ से ही भरा सघन।
विश्व यह ॥१६०॥

हो चुके जितने भूत।
सब थे मेरा ही स्वरूप।
और जितने हैं वर्तमान।
वे भी मैं ही ॥१६१॥

जो होंगे भविष्य में उत्पन्न।
वे भी मुझ से नहीं भिन्न।
है यह सब केवल कथन।
न कुछ होता न जाता ॥१६२॥

रज्जु में सर्प जो भासे।
वह काला या गेहुँअन–ऐसे।
निश्चय न किया जा सके।
वैसे भूत मिथ्या ॥१६३॥

ऐसे ही मैं पाण्डुसुत।
सदा सर्वत्र अनुस्यूत।
पर जीव देखें संसार।
कारण अन्य ॥१६४॥

इस पर सुन थोड़ी सी।
बात रहस्य खोलती।
कि अहङ्कार और तनु की।
हुई मैत्री ॥१६५॥

उन के जन्मी इच्छा कन्या।
कामरूप तारुण्य पाया।
तब उस ने विवाह किया।
द्वेष के साथ ॥१६६॥

उन के जन्मा पुत्र।
नाम उस का द्वन्द्व-मोह।
ननिहाल में किया पालन।
अहङ्कार ने ॥१६७॥

वह सदा धृति के प्रतिकूल।
नियम से न सँभले प्रबल।
आशा-रस पी–पी कर।
हुआ पुष्ट ॥१६८॥

असन्तुष्टि का मद पीकर।
मत्त होकर धनुर्धर।
रहता विषयों के घर।
विकृति के साथ ॥१६९॥

भाव-शुद्धि की वाट में।
फैलाये विकल्प के काँटे।
फिर कुटिल मार्ग निकाले।
अप्रवृत्ति के ॥१७०॥

इसी से जीव हुए भ्रान्त।
संसार अरण्य में गये भटक।
फिर महादुःख के दण्ड।
हाँकते उन्हें ॥१७१॥

ऐसे व्यर्थ विकल्प के।
देख कर तीक्ष्ण काँटे।
जो मतिभ्रम के पाश में।
फँसता नहीं ॥१७२॥

ऋजु एकनिष्ठा के कदमों से।
रौंदे विकल्पों के काँटे।
महापातक के छोड़ दिये।
अरण्य जिस ने ॥१७३॥

फिर पुण्यमार्ग पर दौड़ चले।
सवेग मेरे निकट पहुँचे।
उसे न रोकें पथ के लुटेरे।
यह कहना क्या? ॥१७४॥

अन्यथा भी हे अर्जुन।
जो मिटाये जन्म-मरण।
करने में ऐसे साधन।
आस्था जिन की ।।१७५।।

उन के एक ही प्रयत्न से।
समग्र परब्रह्म फले।
जिस में से परिपक्व रस चुए।
पूर्णता का ।।१७६।।

तब कृतकृत्यता से जग भरे।
अध्यात्म की हौंस पुरे।
कर्म का प्रयोजन सरे।
विरमे मन ।।१७७।।

ऐसा अध्यात्म – लाभ।
होता उस को धनञ्जय।
जिस ने बनाया मुझे मूल।
उद्यम में ।।१७८।।

मिलता साम्य – व्याज।
बढ़ता ऐक्य – व्यापार।
अतः भेद का दारिद्र्य।
वह जाने नहीं ।।१७९।।

जिन्होंने साधिभूत मुझे।
प्रतीति के हाथों से।
अधिदैवत तक स्पर्श करके।
जान लिया ।।१८०।।

जिन्होंने ज्ञान के बल से।
अधियज्ञ भी जाना मुझे।
वे तनु–वियोग के पल में।
होते न विह्वल ।।१८१।।

जब टूटता आयुष्य सूत्र।
तब जैसे घबराते भूतमात्र।
क्या अन्यों को न लगे युगान्त।
देख कर उसे ! ।।१८२।।

किन्तु न जाने कैसे !
जो सर्वथा मद्‌रूप हो चुके।
प्रयाण के क्षण में भी मुझे।
छोड़ते नहीं ।।१८३।।

इस प्रकार अर्जुन।
ऐसे जो निपुण।
वे ही अन्तःकरण – युक्त।
योगी जानो ।।१८४।।

इस शब्दकुप्पी के तले।
न रखी अवधानाञ्जलि पार्थने।
क्यों कि वह उन क्षणों में।
था अन्यमनस्क ।।१८५।।

वहाँ था ब्रह्मवाक्य-फल।
नाना अर्थरस से रसाल।
महक रहा था परिमल।
भावों का ।।१८६।।

सहज–कृपा–मन्दानिल से।
श्रीकृष्णद्रुम के वचन फल वे।
अर्जुन के कर्ण–कुहरमें।
अचानक पड़े ।।१८७।।

मानो प्रमेय से सिद्ध हुए।
ब्रह्म रसाब्धि में डुबाये हुए।
या परमानन्द में घोले हुए।
वे शब्द थे ।।१८८।।

उन की शुद्ध निर्मलता से।
झूमा अर्जुन उल्लास से।
फिर लगा घूंट भरने।
विस्मयामृत के ।।१८९।।

वह सुख–सम्पत्ति मिलने से।
लगा स्वर्ग भी तुच्छ उसे।
हुआ हृदय आनन्द से।
गद्‌गद पुलकित ।।१९०।।

बाहर से ही इतना सुन्दर।
देख उछला सुखसागर।
चाहने लगी इच्छा सत्वर।
रसास्वाद ॥१९१॥

झटपट अनुमान-कर से।
वाक्य-फल ले ही लिये।
प्रतीतिरूप मुख में।
लगा डालने ॥१९२॥

विचार-रसना न चख सके।
हेतु-दशन न चबा सकें।
यह जान सुभद्रापति ने।
मुख न लगाया ॥१९३॥

तब बोला वह विस्मित।
अरे ये जल के तारागण।
ठगा कैसा मैं समझ सुलभ।
अक्षर इन्हें ॥१९४॥

वस्तुतः ये पद नहीं।
हैं गगन की परतें ही।
बुद्धि डुबाऊँ कितनी भी।
पर थाह न पाऊँ ॥१९५॥

अतः ज्ञान की बात जाने दें।
ऐसा विचार कर मन में।
दृष्टि घुमाई अर्जुन ने।
श्री कृष्ण- प्रति ॥१९६॥

तब विनय से बोला सुभट।
देव! कहे जो सात पद।
एकत्र यहाँ अनुच्छिष्ट।
ऐसे अद्‌भुत ॥१९७॥

अवधान के बल से केवल।
नाना प्रमेयों का तात्पर्य।
या श्रवणबल से मात्र।
समझना सम्भव! ॥१९८॥

पर वैसा भी नहीं यहाँ देव।
जो देखा अक्षर-समुदाय।
उस से विस्मय को भी विस्मय।
हुआ मन में ॥१९९॥

कर्ण-गवाक्ष – द्वार से।
शब्दरश्मि को देख आते।
स्तम्भित हुआ चमत्कार से।
अवधान मेरा ॥२००॥

मन चाहे समझना अर्थ।
न सहता कहने का भी विलम्ब।
अतः निरूपण तत्काल।
कीजिये देव! ॥२०१॥

ऐसे जोड़ा पिछला सन्दर्भ।
दृष्टि ठहरी अगले अभिप्राय पर।
आर्त्ति अपनी मिलाई मध्य।
चतुर पार्थ ने ॥२०२॥

कैसा परिप्रश्न का ज्ञान।
न किया मर्यादा का उल्लङ्घन।
श्रीकृष्ण-हृदय को आलिङ्गन।
दिया सरल ॥२०३॥

श्रीगुरु से कैसे करना प्रश्न।
और कैसे रहना सावधान।
अहो जानता सम्पूर्ण।
सव्यसाची ॥२०४॥

अब उस का वह प्रश्न करना।
सर्वज्ञ श्रीहरि का बोलना।
उस का सप्रेम वर्णित होना।
सञ्जय द्वारा ॥२०५॥

इस कथा पर अब ध्यान दें।
कहेंगे जो मराठी में।
जैसे दृष्टि कानों से पहले।
प्रवेश करे ॥२०६॥

जहाँ बुद्धि की जीभ।
न चख पाये शब्द-गर्भ।
जीत ले अक्षरों का सौन्दर्य।
इन्द्रियों को ॥२०७॥

देखो मालती-सुमन।
देता घ्राण को परिमल।
सुख न पाते क्या नयन।
सुरूप से ॥२०८॥

वैसे देशी के लावण्य से।
इन्द्रियाँ विलसें सुख से।
फिर प्रमेय के ग्राम में।
जातीं सत्वर ॥२०९॥

ऐसा सुनागर कथन।
जहाँ शब्द का होगा शमन।
सुनिये कहें ज्ञानदेव।
निवृत्तिदास ॥२१०॥

इति श्रीमद्ज्ञानेश्वरविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीता–'भावार्थ दीपिकायां' ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥

॥ हरिः ॐ तत् सत् ॥

॥ॐ हरिः ॐ॥

अष्टम अध्याय

तब पुनः अर्जुन ने कहा।
देव ! क्या आप ने सुना !
मैंने जो पूछा, कृपया।
कीजिये निरूपण ॥१॥

कहिये कौन ब्रह्म।
किस का नाम कर्म।
अथवा अध्यात्म।
कहते किसे ॥२॥

कैसा वह अधिभूत।
कौन है अधिदेव।
कहिये ऐसा स्पष्ट।
में समझ सकूं ॥३॥

देव ! अधियज्ञ है क्या ?
इस देह में रहता कहाँ ?
अनुमान से न दिखता।
कुछ भी मुझे ॥४॥

नियत अन्तःकरण से।
देहान्त समय जानें तुम्हें।
यह कैसे हो कृपया कहें।
हे शार्ङ्गपाणि ॥५॥

देखिये चिन्तामणि-प्रासाद में।
यदि कोई सुभागी सोये।
तो स्वप्न के शब्द भी उस के।
जाते न व्यर्थ ॥६॥

वैसे अर्जुन के प्रश्न पर।
देव देने लगे उत्तर।
सुनो अब पूरा चित्त देकर।
जो पूछा तुमने ॥७॥

किरीटी कामधेनु का वत्सक।
सिर पर कल्पतरु का मण्डप।
अतः सिद्ध उस के मनोरथ।
आश्चर्य नहीं ॥८॥

जिसे मारते कृष्ण सकोप।
वह पाता ब्रह्मसाक्षात्कार।
जिसे उपदेश करें सकृप।
वह क्यों न पाये ? ॥९॥

यदि कृष्ण के हो जावें हम।
तो कृष्ण अपना अन्तःकरण।
तब खोजतीं सिद्धियाँ प्राङ्गण।
सङ्कल्पों का ॥१०॥

पर ऐसा जो प्रेम।
वह अर्जुन में है निस्सीम।
अतएव उस के काम।
सदा सफल ॥११॥

इसी लिये श्री अनन्त।
समझ उस का मनोगत।
रखते परोस पक्वान्न।
पहले ही ॥१२॥

अपत्य जब तक स्तनपायी।
उस की भूख को माँ समझती।
क्या शिशु के कहने पर ही।
देती स्तन्य उसे ॥१३॥

अतः कृपालु गुरु के समीप।
नहीं यह कुछ नवीन।
अब सुनिये वे श्रीकृष्ण।
क्या कहते ॥१४॥

तब कहा सर्वेश्वर ने।
इस छिद्रमय आकार में।
भरा हुआ भी जो न गिरे।
किसी समय ॥१५॥
भले वह है अतिसूक्ष्म।
पर नहीं स्वभाव से शून्य।
निकला आँचल से छन कर।
गगन के भी ॥१६॥
है इतना सूक्ष्म भले।
पर प्रपञ्चज्ञान की झोली में से।
कितना हिलाने पर भी न निकले।
वह परब्रह्म ॥१७॥
भले आकार धारण करे।
पर जन्मधर्म न जाने।
और जब आकार लोपे।
वह नष्ट नहीं ॥१८॥
ऐसी स्वरूप में सहज स्थिति।
जिस ब्रह्म में नित्य रहती।
उस का नाम सुभद्रापति।
अध्यात्म रे! ॥१९॥
फिर जैसे निर्मल नभ में।
न जाने किस एक पल में।
सघन मेघदल उमड़ आते।
नाना वर्ण के ॥२०॥
वैसे उस विशुद्ध अमूर्त में।
महदादि भूत-भेद से।
विविध आकार ब्रह्माण्ड के।
बनने लगते ॥२१॥
निर्विकल्प की भूमि में।
आदि सङ्कल्प का अङ्कुर फूटे।
वही बढ़ कर विविध आकार में।
बनता ब्रह्मगोलक ॥२२॥
एक-एक ब्रह्माण्ड में देखें।
तो बीज ही भरा हुआ दिखे।
प्रत्येक में उत्पन्न-नष्ट होते।
असंख्य जीव ॥२३॥
फिर उन ब्रह्माण्डों के अंशांश।
उपजाते असंख्य आदि सङ्कल्प।
ऐसे ही यह अनन्त।
सृष्टि बढ़ती ॥२४॥
द्वितीय बिना अकेले।
परब्रह्म स्वरूप विलसे।
वहीं अनेकत्व का जैसे।
आया पूर ॥२५॥
सम-विषमत्व न जाने कैसे।
व्यर्थ ही सचराचर रचे।
देखते भर में उत्पन्न होते।
लक्षविध प्राणिजात ॥२६॥
ऐसा जीव-भाव पल्लवित।
अपरिमित अमर्यादित।
यदि विचारें मूल निश्चित।
मिले शून्य ॥२७॥
अतः न मूल कर्ता दिखे।
न कारण ही हाथ आवे।
विस्तीर्ण दिखे बस मध्य में।
कार्यमात्र ॥२८॥
ऐसे कर्ता बिना गोचर।
अव्यक्त में यह आकार।
निपजे जो व्यापार।
उस का नाम कर्म ॥२९॥
अब अधिभूत कहते जिसे।
कहता वही संक्षेप से।
जैसे गगन में आते-जाते।
अभ्र पार्थ ॥३०॥

भासे जिनका अस्तित्व।
पर नहीं जिन में वस्तुत्व।
जिन्हें रूप देते पञ्चभूत।
परस्पर मिलकर ।।३१।।
पञ्चभूतों से अधिष्ठित।
भूतसंयोग से अभिव्यक्त।
भूतवियोग से होता भ्रंश।
नामरूपादि का ।।३२।।
उसे कहते अधिभूत।
अब सुनो अधिदैव पुरुष।
जो भोगता उपार्जित।
प्रकृति का सब ।।३३।।
जो चेतना का चक्षुरूप।
इन्द्रियदेश का अध्यक्ष।
देहान्त समय वृक्ष।
सङ्कल्प खग का ।।३४।।
जो मानो ईश्वर द्वितीय।
अहं-निद्रा में निद्रित।
स्वप्न में ही सन्तोष-विषाद।
अनुभव करता ।।३५।।
जिसे जीव नाम से।
स्वभावतः पहचानते।
अधिदैवत जानो उसे।
पञ्चायतन का ।।३६।।
अब इसी शरीरग्राम में।
यदि शरीरभाव उपशमे।
तो अधियज्ञ वहाँ मैं।
जानो पार्थ ।।३७।।
अन्य अधिदैव अधिभूत।
वस्तुतः मैं ही समस्त।
पर सुवर्ण में मिले यदि खोट।
क्या होगा न मलिन ?। ।।३८।।

यद्यपि सुवर्ण न होता मलिन।
न ही खोट में उसका मिश्रण।
पर जब तक रहे खोट सहित।
कहाता अशुद्ध ।।३९।।
अधिभूतादि सब वैसे।
अविद्या आँचल से ढँके।
जब तक, तभी तक दिखते।
भिन्न अर्जुन ।।४०।।
जब अविद्या की जवनिका हटे।
और भेदभाव की अवधि टूटे।
तब यदि एकत्व प्रगटे।
तो क्या द्वैत था कभी ? ।।४१।।
किन्तु केश-गुच्छ पर।
रखा हो यदि स्फटिक।
तो वह दिखता खण्डित।
नेत्रों को ।।४२।।
फिर केश हटा दें दूर कहीं।
तब खण्डितपन दिखता नहीं।
तो क्या वह शिला जोड़ी गई।
रसायन से ? ।।४३।।
वह तो थी अखण्ड ही।
केशसङ्ग से खण्डित दिखी।
हटते ही केश वह फिर हुई।
यथापूर्व ।।४४।।
वैसे जाते ही अहंभाव।
वास्तविक प्रगटे ऐक्य।
जहाँ प्रतीत होता यह सत्य।
वह मैं अधियज्ञ ।।४५।।
सुनो पार्थ मैंने तुझे।
सकल कर्मज यज्ञ कहे।
जो हेतु रखकर मन में।
वह यही ।।४६।।

यह सकल जीवों का विश्राम।
नैष्कर्म्य सुख का निधान।
करूँ उद्‌घाटित पार्थ।
तेरे लिये ॥४७॥

परिपूर्त वैराग्य इन्धन से।
प्रदीप्त इन्द्रियानल में।
विषय–द्रव्यों की देवे।
आहुति पहले ॥४८॥

वज्रासन–उर्वी शोधकर।
करके आधारमुद्रा स्थिर।
रचे वहीं वेदिका सुन्दर।
तनुमण्डप में ॥४९॥

वहाँ संयमाग्नि के कुण्ड में।
इन्द्रिय–द्रव्य–सामग्री से।
युक्तिघोष सहित करें।
योग–यजन ॥५०॥

फिर मन–प्राण–संयम।
यही हवन संपदा–संभ्रम।
इस से प्रगटायें निर्धूम।
ज्ञानानल ॥५१॥

सब कुछ समर्पे ज्ञान में।
फिर ज्ञान लीन हो ज्ञेय में।
फिर ज्ञेय ही स्वरूप में।
निखिल शेष ॥५२॥

इसी का नाम अधियज्ञ।
ऐसे बोले जब सर्वज्ञ।
तब अर्जुन अति प्राज्ञ।
समझा इसे ॥५३॥

यह जान कहा देव ने।
क्या सुना सम्यक् तुम ने!
श्रीकृष्ण के इस वचन से।
वह आनन्दित ॥५४॥

शिशु की तृप्ति से सन्तृप्त।
शिष्य की धन्यता से तुष्ट।
होना जाने माता एक।
अथवा सद्‌गुरु ॥५५॥

अतः सात्त्विक भाव समूह उमड़े।
कृष्णाङ्ग में अर्जुन से पहले।
न समाते हुए भी सँभाले।
बुद्धि से, देव ने ॥५६॥

सुपक्व सुख का परिमल।
या सुशीतल अमृत-कल्लोल।
वैसे सुकोमल सरल।
बोले वचन ॥५७॥

सुनो जी श्रोतृराज।
धनञ्जय इसी प्रकार।
होने पर मायादग्ध।
मिटे दाहक ज्ञान ॥५८॥

अभी जिस का किया निरूपण।
जिसे नाम दिया अधियज्ञ।
उस मुझे पहले से जान अन्त में।
करें स्मरण ॥५९॥

देह को मिथ्या मान कर।
रहे निज में निज होकर।
जैसे गगन से भरा मठ।
रहता गगन में ॥६०॥

इसी प्रतीति के मध्यगृह में।
रहे निश्चय के एकान्त में।
अतः बाहर न निकले।
वह आत्मरत ॥६१॥

ऐसा बाह्यान्तर ऐक्य विलसे।
जो मद्‌रूप हो कर विराजे।
फिर पञ्च महाभूत भर जाते।
अपने आप ॥६२॥

जो खड़े का खड़ापन न जाने।
वह देहपात का क्या दुःख माने।
अतः प्रतीति के उदर में।
पानी भी न हिले ।।६३।।

वह ऐक्य से ही बसी हुई।
नित्यता के हृदय में पली हुई।
मानो समरस-समुद्र में घुली हुई।
होती न मलिन ।।६४।।

डूबा हुआ गहन जल में।
भीतर-बाहर भरा जल से।
घट यदि दैवात् फूटे।
तो क्या फूटे जल? ।।६५।।

अथवा सर्प केंचुली उतारे।
या गरमी से वस्त्र फेंके।
क्या अन्तर आता इस से।
अवयवों में ।।६६।।

वैसे बाह्य आकार का भ्रंश।
आन्तर्वस्तु रहे यथापूर्व।
तब बुद्धि क्यों होगी भ्रान्त।
धनुर्धर ।।६७।।

ऐसे जान कर अन्त में मुझे।
स्मरण पूर्वक जो देह त्यागे।
वे निश्चित मद्रूप होते।
धनञ्जय ।।६८।।

नियम यह साधारण।
कि जब आवे मरण।
तब चित्त जो करता स्मरण।
तद्रूप होता ।।६९।।

मानो कोई भयभीत।
पवन गति से पलायित।
दोनों पावों से अचानक।
गिरा कूप में ।।७०।।

अब गिरने से पहले।
यदि गिरना रोकना चाहे।
तब यह असम्भव रहे।
गिरे अवश्य ।।७१।।

वैसे मृत्यु के अवसर पर।
जो आवे चित्त के समक्ष।
वही गति होगी निश्चित।
कुछ भी करे ।।७२।।

और जब जागृत रहे।
तब भावना जो ध्यान करे।
नेत्र मूंदने पर देखे।
वही स्वप्न में ।।७३।।

उसी प्रकार जीवन में।
जहाँ भी प्रियता रहे।
मरण-समय और बढ़े।
उस का स्मरण ।।७४।।

और मरणसमय जैसी स्मृति।
जीव वही फिर पाता गति।
अतः मुझ में ही रति–मति।
रख तू सदा ।।७५।।

नयनों से जो देखे।
अथवा कानों से सुने।
मन में जो भावना करे।
बोले वचन ।।७६।।

वह भीतर-बाहर समस्त।
मद्रूप करे सर्वत्र।
तब स्वभावतः सब समय।
रहूँ मैं ही ।।७७।।

ऐसा होने पर अर्जुन।
देहान्त से भी न होता मरण।
फिर करने में सङ्ग्राम।
भय क्या तुझे? ।।७८।।

वस्तुतः बुद्धि और मन।
करो यदि मदर्पण।
तो पाओगे सायुज्य।
प्रतिज्ञा मेरी ॥७९॥

कैसे प्राप्ति होगी यह।
यदि हो तुझे सन्देह।
कर अभ्यास, न हो तो कोप।
करना फिर ॥८०॥

ऐसे अभ्यास के योग से।
यदि चित्त को एकाग्र कर लें।
तो पङ्गु भी उपाय बल से।
चढ़े पर्वत ॥८१॥

इसी सदभ्यास से निरन्तर।
चित्त में परम पुरुष मुद्रित।
हो जाय, तब यह शरीर।
रहे या न रहे ॥८२॥

जो कराता नाना गति प्राप्त।
यदि आत्मा को वरे वह चित्त।
फिर देह जीवित या मृत।
कौन रखे स्मरण ॥८३॥

जब सरिता करती कलकल।
समुद्र में सवेग जाती मिल।
फिर देखने पीछे का हलचल।
वह लौटती क्या? ॥८४॥

वह हो रहती समुद्र।
वैसे चित्त हुआ चैतन्यरूप।
जहाँ यातायात विलीन।
घनानन्द में ॥८५॥

जो आकार विना ही रहे।
जो न जन्मे न ही मरे।
जो सर्व को सम्पूर्णता से।
देखे सदा ॥८६॥

जो गगन से पुरातन।
परमाणु से भी सूक्ष्मतम।
पा जिस का सन्निधान।
चलता विश्व ॥८७॥

यह सब जिस से उद्भूत।
जगत् जिस से जीवित।
तर्क जिस से भयभीत।
अचिन्त्य जो ॥८८॥

अग्नि को न लगे दीमक।
तेज को न स्पर्शे तिमिर।
वह स्वरूप–दिवस तमोमय।
चर्मचक्षु को ॥८९॥

सूर्यकिरणों की राशि सुभग।
ज्ञानियों के प्रति नित्य उदित।
न जाने होना अस्त।
कभी भी जो ॥९०॥

वह अव्यङ्ग पूर्ण ब्रह्म।
प्रयाण काल में होता प्राप्त।
यदि स्थिर चित्त करें स्मरण।
ज्ञानपूर्वक ॥९१॥

देह से रचे पद्मासन।
बैठे उत्तराभिमुख।
चित्त में माने आनन्द।
क्रमयोग का ॥९२॥

भीतर एकाग्र हो मनोधर्म।
उमड़े स्वरूप-प्राप्ति का प्रेम।
आत्ममिलन का संभ्रम।
आवे उभर ॥९३॥

सम्पादित योग से।
मध्यमा–मध्यमार्ग से।
निकले अग्निस्थान से।
ब्रह्मरन्ध्र की ओर ॥९४॥

वहाँ चित्–अचित् का सम्बन्ध।
दिखता केवल आभास।
जब प्राण गगन के मध्य।
करे सञ्चार ॥९५॥
पर मन के स्थैर्य से गृहीत।
भक्तिभाव से भरित।
योगबल से नियन्त्रित।
सज्ज होकर ॥९६॥
जड़–अजड़ को मिटाये।
भ्रूलता में सञ्चरे।
जैसे घण्टानाद लय पाये।
घण्टे में ॥९७॥
जैसे घट से ढँका दीप।
न जाने कब पाता लोप।
पाण्डव जो इस प्रकार।
त्यागे देह ॥९८॥
वह केवल परब्रह्म।
जिस का परम–पुरुष नाम।
वह मेरा निज धाम।
हो रहता ॥९९॥
सकल ज्ञान की अवधि चरम।
जो स्वयं ज्ञान को खान।
ऐसे बुद्धिसम्पन्न ज्ञानीजन।
जिसे कहते अक्षर ॥१००॥
जो चण्डवात से न विघटित।
वही गगन निश्चित।
यदि मेघ आते सम्मुख।
क्या रहते शेष? ॥१०१॥
जो ज्ञान से आकलित।
वह ज्ञान से ही परिमित।
ज्ञान का अविषय कथित।
अक्षर सहज ॥१०२॥
अतएव वेदज्ञ नर।
कहते जिस को अक्षर।
जो प्रकृति के पर।
परमात्मारूप ॥१०३॥
त्याग कर विषयों का विष।
इन्द्रियों से कर चुका प्रायश्चित्त।
देह-वृक्ष के तले सहज।
आ बैठा ॥१०४॥
इस रीति से विरक्त।
निरन्तर जिस की देखते बाट।
निष्कामों का अभिप्रेत।
सर्वदा जो ॥१०५॥
जिस की प्रीति का बल।
न माने ब्रह्मचर्य को सङ्कट।
निष्ठुरता से करे दोन।
इन्द्रियों को ॥१०६॥
ऐसा जो पद।
दुर्लभ और अगाध।
जिस के तट पर वेद।
स्तिमित कुण्ठित ॥१०७॥
उसे पाते वे पुरुष।
जो ऐसे करते देहविलय।
पुनः वह स्थिति पार्थ।
कहूँ एकबार ॥१०८॥
स्वामिन्! बोला अर्जुन।
करने को था मैं यही निवेदन।
प्रगटे तभी सहज कृपायतन।
कीजिये निरूपण ॥१०९॥
कृपया कहिये अतिसरल।
तब बोले त्रिभुवनदीपक।
न जानूँ क्या तुझे? सुनो अब।
संक्षेप में ॥११०॥

मन जो भटकता बाहर।
यह प्रवृत्ति संयत कर।
हृदयदह में निमग्न स्थिर।
करो उसे ॥१११॥

यह तभी होगा घटित।
जब संयम के अखण्डित।
सब द्वारों पर कपाट।
बन्द रहें ॥११२॥

फिर बन्द हुआ मन सहज।
हृदय में ही रहेगा स्वस्थ।
जैसे कर–चरण टूटने पर।
छूटे न घर ॥११३॥

वैसे चित्त स्थिर हो तो पाण्डव।
प्राणों में सधता प्रणव।
फिर आवे अनुवृत्ति-पथ पकड़।
ब्रह्मरन्ध्र में ॥११४॥

वहाँ आकाश में मिले कि न मिले।
ऐसा धारे धारणाबल से।
जब तक न मात्रा-त्रय समायें।
अर्धबिम्ब में ॥११५॥

तब तक वह समीर।
गगन में रखें स्थिर।
फिर जैसे सँलग्न ॐकार।
विलसे बिम्ब में ॥११६॥

तब थमता प्रणवस्मरण।
विश्राम पाता प्राण।
रहता शेष पूर्णघन।
प्रणवातीत ॥११७॥

अतः प्रणवैकनाम।
यह एकाक्षर ब्रह्म।
जो मेरा स्वरूप परम।
स्मरते हुए ॥११८॥

इस प्रकार देह त्यागे।
तो अवश्य मुझे पावे।
बढ़ कर जिस प्राप्ति से।
नहीं अन्य ॥११९॥

यदि कहीं तू अर्जुन।
यह सोच कर हो उद्‌विग्न।
कि कैसे हो ऐसा स्मरण।
अन्तसमय ॥१२०॥

इन्द्रियाँ हुईं कुण्ठित।
नष्ट हुआ जीवन-सुख।
भीतर-बाहर हुए प्रकट।
मृत्यु चिह्न ॥१२१॥

तब बैठ सकेगा कौन?
इन्द्रिय-निरोध करे कौन?
किस अन्तःकरण से स्मरण।
हो प्रणव का ॥१२२॥

अरे ऐसे संशय को।
मन में मत अवसर दो।
नित्य–भक्त का सेवक मैं।
अन्तिम क्षण में ॥१२३॥

जो विषयों को तिलाञ्जलि देकर।
प्रवृत्ति पर निगड लगा कर।
मुझे ही हृदय में बसा कर।
सुख भोगते ॥१२४॥

उस भोग में रहते मग्न।
क्षुधादि का न होता स्मरण।
फिर चक्षु आदि की कौन।
बिसात वहाँ? ॥१२५॥

ऐसे निरन्तर .एकनिष्ठ।
अन्तःकरण से मुझी में लिप्त।
करते उपासना मद्‌रूप।
हो कर सदा ॥१२६॥

देहावसान के पल में।
यदि मेरा स्मरण करें वे।
तभी दौड़कर आऊँ मैं।
तो उपासन व्यर्थ ॥१२७॥
कोई रङ्क भी सङ्कट में।
आओ सत्वर प्रभो! कहे।
न जाता क्या मैं कष्ट मिटाने।
उसके समीप ॥१२८॥
यदि भक्ति की भी वही दशा।
तो भक्ति की फिर महिमा क्या?
अतः न रखो संशय ऐसा।
हृदय में ॥१२९॥
वे जब भी करें मेरा स्मरण।
पहुँचता मैं अवश्य तत्क्षण।
न करें उतना आभार सहन।
मेरे प्राण ॥१३०॥
देख मुझ पर उनका ऋण।
उस से होने को उत्तीर्ण।
करूँ परिचर्या जब त्यागें तन।
मेरे भक्त ॥१३१॥
देह–वैकल्य का पवन कष्ट।
न पावें ये सुकुमार भक्त।
आत्मबोध का पिंजरा बना कर।
सुलाता उन्हें ॥१३२॥
मेरे स्मरण की आल्हादक।
करता छाया शीतल सुखद।
मुझ में बुद्धि नित्यरत।
करूँ स्वरूपस्थ ॥१३३॥
अतः देहान्त का सङ्कट।
मेरे भक्त को न विकट।
लाता स्वजन को सन्निकट।
सुखपूर्वक ॥१३४॥
देहावरण उतार कर।
अहङ्कार–रज झाड़कर।
शुद्धि-वासना भी मिटाकर।
मिलाता मुझ में ॥१३५॥
भक्त को भी देह में।
विशेष ऐक्यभाव न रहे।
अतः तनु-त्याग की घड़ी में।
न लगे वियोग ॥१३६॥
या, मैं आऊँ देहान्त समय।
फिर ले जाऊँ मेरे निकट।
नहीं इस का प्रयोजन।
पहले ही मद्रूप वे ॥१३७॥
इस शरीरसलिल में।
अस्तित्व की छाया भासे।
अन्यथा चन्द्रिका तो चन्द्र में।
नित्य स्थित ॥१३८॥
ऐसे जो नित्य–युक्त।
उन को मैं सुलभ सतत।
अतः देहान्त में वे निश्चित।
होते मद्रूप ॥१३९॥
फिर क्लेशतरु की बाड़ी।
जो तापत्रय की सिगड़ी।
मृत्युकाक की बलि जैसी।
छोड़ चुका वह ॥१४०॥
जो दैन्य को उपजावे।
महाभय को बढ़ावे।
जो सभी दुःखों का अरे।
मूलधन ॥१४१॥
जो दुर्गति का मूल।
जो कुकर्मों का फल।
जो व्यामोह का केवल।
स्वरूप ही ॥१४२॥

जो संसार का वसतिस्थान।
जो विकारों का उद्यान।
जो सकल रोगों का थाल।
परोसा हुआ ॥१४३॥

जो काल की खिचड़ी उच्छिष्ट।
जो आशा का ही स्वरूप।
जन्म-मरण का चलता मार्ग।
स्वभाव से॥१४४॥

जो भ्रान्ति से पूरित।
विकल्पों से भरित।
अथवा जो बिल—सदृश।
बिच्छुओं का ॥१४५॥

जो व्याघ्र का क्षेत्र।
जो पण्याङ्गना का मित्र।
जो विषय—विज्ञान—यन्त्र।
सुपूजित ॥१४६॥

जो यक्षिणी का प्रेम।
विषोदक का घूंट।
जो दिखावटी विश्वास।
छिपे ठग का ॥१४७॥

जो कोढ़ी का आश्लेष।
जो कालसर्प का मार्दव।
जो पारधी का गायन।
मनमोहक ॥१४८॥

जो वैरी—कृत सत्कार।
जो दुर्जन कृत आदर।
किंबहुना जो सागर।
अनर्थों का ॥१४९॥

जो स्वप्न में देखा स्वप्न।
मृगजल में भासित वन।
धूम्रराज से गगन।
छाया हुआ ॥१५०॥

ऐसा जो शरीर।
उसे पुनः न पाते नर।
जो हो चुके अपार।
मेरा स्वरूप ॥१५१॥

भले हो प्राप्त ब्रह्मपद।
पर न छूटता पुनर्जन्म।
किन्तु जैसे मृत का पेट।
दुखे नहीं ॥१५२॥

अथवा जागने के अनन्तर।
न डुबाये स्वप्न का महापूर।
वैसे मुझे पाने पर संसार।
न करे लिप्त ॥१५३॥

ऐसे जगदाकार का मस्तक।
चिरस्थायियों में अग्रगण्य।
लोकाचलों का जो शिखर।
ब्रह्मभुवन ॥१५४॥

जिस ग्राम के एक प्रहर तक।
न टिके अमरेन्द्र का आयुष्य।
बीतते दिवस में चौदहों इन्द्र।
एक पर एक ॥१५५॥

बीतें सहस्र चतुर्युग।
तो वहाँ का एक दिवस।
वैसे ही बीतें और सहस्र।
तो रजनी एक ॥१५६॥

जहाँ ऐसे अहोरात्र।
वहाँ न मरते जो सभाग्य।
वे कहलाते चिरञ्जीव।
स्वर्ग के ॥१५७॥

अन्य सुरगणों की बात।
कहें क्या यहाँ विशेष।
जब इन्द्र ही होते चतुर्दश।
दिवस में ॥१५८॥

उस ब्रह्मदेव के आठ प्रहर।
देखते जिनके नेत्र।
वे ही अहोरात्रविद।
कहलाते ॥१५९॥

उस ब्रह्मभुवन का जब उगे दिवस।
तब जिस की गणना अशक्य।
ऐसे अव्यक्त में से व्यक्त।
होता विश्व ॥१६०॥

बीतने पर चार प्रहर।
सूखता आकार–सागर।
पुनः प्रभात होने पर।
भर जाता ॥१६१॥

जैसे शरद् के प्रारम्भ में।
विलय पाते अभ्र नभ में।
फिर ग्रीष्म के अन्त में।
उमड़ते जैसे ॥१६२॥

वैसे आरम्भ होते ही ब्रह्मदिवस।
ये भूतसृष्टि के समुदाय।
सहस्रयुग निमित्त पर्यन्त।
उदित होते ॥१६३॥

पुनः रात्रि आने पर।
विश्व अव्यक्त में पाता लय।
बीतते वैसे सहस्रयुग।
फिर होता उदित ॥१६४॥

यह कहने का उद्देश्य यही।
कि जगत् का प्रलय और सम्भूति।
इस ब्रह्म भुवन के होती।
अहोरात्र में ॥१६५॥

कितनी उस की महत्ता विशाल।
वह सृष्टिबीज का भाण्डार।
पर पुनरावृत्ति का माप।
पहुँचा वहाँ भी ॥१६६॥

ऐसे त्रैलोक्य धनुर्धर।
उसी गाँव का विस्तार।
दिनोदय पर उत्तरोत्तर।
होता प्रसृत ॥१६७॥

पुनः रात्रि के समय।
स्वयं हो पाता विलय।
समा जाता सहज।
जहाँ का तहाँ ॥१६८॥

जैसे वृक्षत्व बीज में आया।
या मेघ गगनरूप हुआ।
वैसे अनेकत्व जहाँ समाया।
वही साम्य ॥१६९॥

वहाँ नहीं कुछ सम–विषम।
अतः न संभव 'भूत' नाम।
जैसे दही होने पर दूध।
जाता नाम-रूप ॥१७०॥

उस आकार–लोप के सदृश।
जग का जगपन भ्रंशित।
पर मूल अव्यक्त यथाऽवस्थित।
बना रहता ॥१७१॥

तब उस का नाम सहज अव्यक्त।
आकार के समय वही व्यक्त।
ये हैं परस्पर सूचित।
यों दोनों नहीं ॥१७२॥

जैसे कोई रजत – घन।
बनने पर आभूषण।
मिटता पूर्व घनाकार।
मानो मिथ्या ॥१७३॥

दोनों होते जैसे।
साक्षीभूत सुवर्ण में।
व्यक्त–अव्यक्त–विचार वैसे।
परवस्तु में ॥१७४॥

वह न व्यक्त न अव्यक्त।
न नित्य न नाशवन्त।
इन दोनों भावों से अतीत।
अनादिसिद्ध ॥१७५॥

वह विश्वरूप में विलसित।
पर विश्वनाश से न नष्ट।
जैसे पोंछे जाने पर अक्षर।
मिटे न अर्थ ॥१७६॥

अथवा उठते-मिटते तरङ्ग।
पर उदक वहाँ रहता अखण्ड।
वैसे भूतभाव से न होता नष्ट।
जो अविनाशी ॥१७७॥

अथवा गलाने पर आभूषण।
गलता नहीं जैसे स्वर्ण।
वैसे वह सदा अमर।
जीवाकार मर्त्य ॥१७८॥

कौतुक से उसे कहें अव्यक्त।
पर यह भी स्तुति नहीं उचित।
क्योंकि मन बुद्धि से अतीत।
वह तत्त्व ॥१७९॥

और आकार में आने पर।
निराकारता नहीं नष्ट।
वैसे होने पर आकार-लोप।
नित्यता अखण्ड ॥१८०॥

अतएव जिसे कहते अक्षर।
जिस उच्चारण से उपजे बोध।
जिस से परे न अवकाश।
वही परमगति ॥१८१॥

वह देहनगरी में व्याप्त।
पर रहता स्वरूप में निद्रित।
न करे न करावे कार्यजात।
अतएव ॥१८२॥

शरीर-चेष्टा इस प्रकार।
रुकती नहीं है धनुर्धर।
दसों इन्द्रियाँ अपने पथ पर।
चलती रहतीं ॥१८३॥

खुलता विषय-बाजार।
वहाँ मन के चौराहे पर।
सुख-दुःख का राजमाग।
पाता जीव ॥१८४॥

राजा सोया हो सुख से।
पर देश के कार्य नहीं रुकते।
प्रजा निज-निज अभिलाष से।
चलती रहती ॥१८५॥

वैसे बुद्धि का ज्ञान।
मन का लेन-देन।
इन्द्रियों का हलन-चलन।
वायु का स्फुरण ॥१८६॥

सभी शरीर-व्यापार।
न करने पर भी चलते सुन्दर।
जैसे न चलाता दिनकर।
पर चलता लोक ॥१८७॥

वैसे ही कुन्तीसुत।
शरीरी है निद्रित।
अतएव कहलाता पुरुष।
सुनो सखे ॥१८८॥

पतिव्रता प्रकृति के प्रति।
यह एक-पत्नीव्रती।
अत एव संज्ञा उसे मिली।
'पुरुष'-रूप ॥१८९॥

वेदों के भी प्रयत्न।
देख न सके जिस का आँगन।
जो गगन का भी आवरण।
हो कर स्थित ॥१९०॥

ऐसे जान कर योगीश्वर।
कहते उसे परम पर।
वही अनन्यगति का घर।
खोजता पहुँचे ॥१९१॥
तो तनुवाणी और चित्त से।
दूसरी बात भी न सुनते।
एकनिष्ठा फसल के लिये।
सुक्षेत्र जो ॥१९२॥
यह त्रैलोक्य ही पुरुषोत्तम।
ऐसा सत्य जिस का मनोधर्म।
उस आस्तिक्य का विश्राम।
पाण्डव जो ॥१९३॥
जो निगर्व का गौरव।
जो निर्गुण का ज्ञान।
जो सुख का साम्राज्य।
निस्पृह के प्रति ॥१९४॥
जो सन्तोष का परोसा थाल।
जो अनाथ को माँ की गोद।
भक्ति ऋजु पन्थ।
जिस गाँव के लिये ॥१९५॥
एक–एक क्या कहूँ व्यर्थ।
विस्तार तुम से पार्थ।
जहाँ जाने से होते तद्रूप।
वह ऐसा स्थान ॥१९६॥
हिम पवन के झोंके से।
उष्णोदक शीतल पड़े जैसे।
अथवा रवि के सामने।
तम होता प्रकाश ॥१९७॥
वैसे जिस गाँव में संसार।
पहुँचने पर पाण्डव।
होकर रहे समस्त।
मोक्षरूप ॥१९८॥

जैसे पड़ने पर अग्नि में।
इन्धन अग्नि हो बने।
फिर काष्ठत्व अलग न दिखे।
कुछ भी करें ॥१९९॥
अथवा शक्कर को जैसे।
बुद्धिमान् भी प्रयत्न से।
पुनः ईख न बना सके।
पाण्डुसुत ॥२००॥
लोहा बन गया कनक।
जब पाया पारस-परस।
लोहत्व पुनः लाना अब।
असम्भव ॥२०१॥
जब हो गया घृत सिद्ध।
फिर हो न सकता दुग्ध।
वैसे होने पर जो प्राप्त।
नहीं पुनरावृत्ति ॥२०२॥
वही मेरा परम।
वस्तुतः निज धाम।
यह आन्तरिक मर्म।
देता तुझे ॥२०३॥
और भी एक प्रकार।
जानना जिस से सरल।
कि देह त्याग के अवसर।
जहाँ मिलते योगी ॥२०४॥
या अकस्मात् कुछ ऐसा घटे।
कि अनवसर देह छूटे।
तो पुनः उसे आना पड़े।
देह में ही ॥२०५॥
यदि उचित काल में छूटे देह।
तो तत्क्षण होता ब्रह्मस्वरूप।
अकाल में हो तनु त्याग।
तो पुनः संसार ॥२०६॥

ऐसे सायुज्य और पुनरावर्तन।
ये दोनों अवसराधीन।
वह अवसर प्रसङ्गवश।
कहूँ तुझे ॥२०७॥

तो सुनो हे सुभट।
मरण आने पर निकट।
निज-निज पथ से पञ्चभूत।
निकल पड़ते ॥२०८॥

आने पर प्रयाणकाल।
बुद्धि न होती भ्रमित।
स्मृति न होती अन्ध।
न मरे मन ॥२०९॥

यह चेतन वर्ग समस्त।
मरण समय रहे उल्लसित।
जागृत होता पूर्वानुभूत।
ब्रह्मभाव ॥२१०॥

इस सावधान समुदाय का।
निर्वाण तक निर्वाह होता।
यदि करे सहायता।
अग्नि तत्त्व ॥२११॥

देखो वायु या उदक से।
यदि दीपक की शिखा बुझे।
तो दीप रहे पर क्या देखे।
दृष्टि अपनी? ॥२१२॥

वैसे अन्त समय के विषय वात से।
कफ़ सर्वाङ्ग में व्यापे।
तेज बुझ जाता उस से।
अग्नि का ॥२१३॥

जब प्राण न रहें।
तब बुद्धि रहकर भी क्या करे?
अतः अग्नि बिना देह में।
चेतना न रहे ॥२१४॥

देह का अग्नि शान्त पड़े।
तब देह कीचड़–भर रहे।
जीवन अँधेरे में व्यर्थ गँवाये।
अपना समय ॥२१५॥

और पहला अभ्यास सम्पूर्ण।
यदि आ सके तब स्मरण।
तभी देह त्याग कर मिलन।
सम्भव स्वरूप में ॥२१६॥

पर देह-श्लेष्म के कीचड़ में।
चेतना डूबी रहे।
अतः अगली–पिछली मिटे।
स्मृति सब ॥२१७॥

अतः पहले जो अभ्यास किया।
वह मरण से पूर्व ही नष्ट हुआ।
निधि देखने से पहले बुझा।
मानो दीप ॥२१८॥

रहने दो यह सकल।
जानो अग्नि ज्ञान का मूल।
उस अग्नि का हो रहे बल।
प्रयाण–क्षण में ॥२१९॥

भीतर हो अग्नि का प्रकाश।
बाहर शुक्ल पक्ष और दिवस।
छह मासों मे कोई मास।
उत्तरायण का ॥२२०॥

ऐसे सब संयोग सधें।
तब जो देह त्यागें।
ब्रह्मरूप ही होते वे।
ब्रह्मविद ॥२२१॥

सुनो धनुर्धर सखे।
इतना सामर्थ्य इस काल में।
यही ऋजु मार्ग स्वपुर में।
आने के लिये ॥२२२॥

यहाँ अग्नि है सीढ़ी पहली।
ज्योतिर्मयता दूसरी।
दिवस समझो तीसरी।
चौथी शुक्लपक्ष ॥२२३॥

फिर षण्मास उत्तरायण।
यही अन्तिम सोपान।
इस से सायुज्यसिद्धि–सदन।
पाते योगी ॥२२४॥

यही जानो उत्तम काल।
इसे कहते अर्चिरा मार्ग।
कहूँ तुझे अकाल के लक्षण।
सुनो पार्थ ॥२२५॥

प्रयाण के जिस अवसर पर।
वात श्लेष्म होते प्रबल।
अन्तःकरण में अन्धकार।
छाता सघन ॥२२६॥

सर्वेन्द्रिय होते काष्ठ।
स्मृति भ्रम में निमग्न।
मन हो जाता उन्मत्त।
रुंधते प्राण ॥२२७॥

अग्नि का अग्निपन जाता।
सर्वत्र धूम हो धूम छाता।
होती आच्छादित चेतना।
शरीर की ॥२२८॥

जैसे चन्द्र–सम्मुख बादल।
छायें सघन सजल।
तब न अँधेरा न प्रकाश।
बस धुँधलापन ॥२२९॥

वैसे न मरण न चैतन्य।
स्तब्ध रहता जीवन।
देखता राह आयुष्य।
मरणवेला की ॥२३०॥

मन–बुद्धि–करणों में सर्वत्र।
भर जाता ऐसा धूम्र।
जन्म भर का अभ्यस्त पन्थ।
डूब जाता ॥२३१॥

अरे जब हाथ की वस्तु जाये।
तब अन्य लाभ कौन विचारे?
अतएव होती प्रयाण में।
ऐसी दशा ॥२३२॥

ऐसी स्थिति हो देह–भीतर।
कृष्ण पक्ष की रात बाहर।
और षण्मास हों प्राप्त।
दक्षिणायन के ॥२३३॥

पुनरावृत्ति का योग सब।
जिसके प्रयाण में हो एकत्र।
वह स्वरूप सिद्धि की बात।
सुने कैसे? ॥२३४॥

ऐसे में जिस का देह पड़े।
वह योगी जाये चन्द्रलोक में।
फिर वहाँ से लौट आवे।
संसार में ॥२३५॥

मैंने जो कहा था अकाल।
वह इसी को जानो पाण्डव।
पुनरावृत्ति–गाँव का यह।
धूम्रमार्ग ॥२३६॥

अन्य जो अर्चिरादि मार्ग।
वह सरल राजमार्ग।
स्वस्तिमयी निवृत्ति तक।
पहुँचाता सुखपूर्वक ॥२३७॥

ऐसे अनादि ये दो पथ।
एक सरल एक कुटिल।
अतः दिखाये तुझे सुभट।
बुद्धिपूर्वक ॥२३८॥

क्यों कि मार्गामार्ग जानें। सरल–कुटिल पहचानें।
हिताहित में से चुनें। हितकर पथ ॥२३९॥

यदि सुलभ हो सुन्दर नाव।
अथाह में क्यों लगायें छलांग।
क्यों जानकर भी सुपन्थ।
प्रवेशें अटवी में ॥२४०॥

जो विष-अमृत को पहचाने।
वह क्या अमृत छोड़ सके?
वैसे जो ऋजु पन्थ देखे।
वह कुपथ न चुने ॥२४१॥

अतः पहले सुस्पष्ट।
समझें सत्य–झूठ।
परख ले तो सङ्कट।
न पाये कोई ॥२४२॥

ऐसे देहान्त अतिविषम।
उभयमार्ग का होता संभ्रम।
जन्म भर का अभ्यास विफल।
होता तब ॥२४३॥

यदि अर्चिरा पथ जायें चूक।
पड़ें धूम्रपथ में अचानक।
तो संसारचक्र में बारम्बार।
घूमना पड़े ॥२४४॥

यह देख कर आयास विकट।
जैसे छूटे यह सङ्कट।
वैसे खोजें, दोनों सुभट।
योगमार्ग ॥२४५॥

एक से पाते ब्रह्मत्व।
और एक से पुनरावर्तन।
देहान्त में जो हो प्राप्त।
प्रारब्धवश ॥२४६॥

तब कहाँ रहें ये मार्ग।
जाने क्या हो उस क्षण प्राप्त।
देह जा कर होना वस्तुरूप।
अनिश्चित ॥२४७॥

यह देह रहे या जाये।
हम तो वस्तु ही हैं रे।
जैसे रज्जुत्व की दृष्टि में।
मिथ्या सर्प ॥२४८॥

मुझ में तरङ्ग उठे या मिटे।
यह भान क्या जल को रहे?
चाहे जब देखें उसे।
वह उदक ही ॥२४९॥

तरङ्ग में न जल का जन्म।
न तरङ्ग लोप से जल लुप्त।
वैसे देह में ही ब्रह्मरूप।
रहते जो देही ॥२५०॥

अब शरीर का उन में कहीं।
उपनाम-सम्बन्ध भी नहीं।
तब कौन कब मिटा यही।
भान किसे? ॥२५१॥

फिर मार्ग खोजें किसलिये?
कौन कहाँ से कहाँ जाये।
जब देश-कालादि सब अरे।
स्वयं हम ॥२५२॥

अरे क्या फूटने पर ही घट।
आकाश पाता सही पथ।
बाह्य गगन में मिलता तब।
अन्यथा नहीं? ॥२५३॥

वस्तु स्थिति तो यह अर्जुन।
कि आकार ही होता विलीन।
गगन तो है ही गगन।
घटत्व से पहले ॥२५४॥

इस बोध के सहाय से।
सङ्कट मार्गामार्ग के।
सोऽहंसिद्धों पर न पड़े।
योगियों पर ॥२५५॥

इस कारण पाण्डुसुत। तुम बनो योगयुक्त।
इस से सर्वकाल में समत्व। स्वयं आता ॥२५६॥

फिर चाहे जहाँ चाहे जब।
रहे या छूटे देहबन्ध।
पर अबन्ध नित्य ब्रह्मभाव।
होता न खण्डित ॥२५७॥

कल्पादि में न पाता जन्म।
कल्पान्त में न उसका मरण।
स्वर्ग-संसार के प्रलोभन।
फँसाते न उसे ॥२५८॥

इस बोध से जो योगी युक्त।
उसी में यह बोध कृतार्थ।
क्योंकि भोगों को परखकर।
स्वीकारा निजरूप ॥२५९॥

इन्द्रादि देवों का साम्राज्य।
प्रसिद्ध सुख ऐश्वर्य।
उसे त्यागता मान नगण्य।
पाण्डव वह ॥२६०॥

वेदाध्ययन का निष्पन्न फल।
या यज्ञों की पकी फसल।
या तपोदान का पुण्य सकल।
मिले भले ॥२६१॥

इन सब पुण्यों के सुमेल-।
से जो प्राप्य सुफल।
उस से अतुलनीय निर्मल।
परब्रह्म ॥२६२॥

जो नित्यानन्द की तुलना में।
उपमा-तुला पर न्यून न दिखे।
अरे वेदयज्ञादि साधन कहे।
जिस सुख के लिये ॥२६३॥

जो अक्षय सुख सदा रुचे।
भोगेच्छा को तृप्त करे।
भावी महासुख का जो दिखे।
सगोत्र बन्धु ॥२६४॥

ऐसे देखने में सुखकर।
पर मिलता मरणान्तर।
जिस के साधन में शतमख।
अपर्याप्त ॥२६५॥

उसे योगीश्वर अलौकिक।
-दृष्टि से तोलते सकौतुक।
उस में न्यूनता देख कर।
त्यागते सहज ॥२६६॥

तब उस सुख को अर्जुन।
बना कर निज सोपान।
परब्रह्म पीठ पर।
होते आरूढ़ ॥२६७॥

ऐसे सचराचर के एक सुभाग्य।
ब्रह्मेशों के आराधन-योग्य।
योगियों के भोग्य।
भोगधन जो ॥२६८॥

सकल कलाओं के कलारूप।
जो परमानन्द सदेह मूर्त्त।
जो जीवों के जीवन भूत।
निखिल विश्व में ॥१६९॥

जो सर्वज्ञता के जीवनधन।
जो यादवकुल के कुलदीपन।
पाण्डव के प्रति वे कृष्ण।
ऐसे बोले ॥२७०॥

वृतान्त वह कुरुक्षेत्र का। संजय राजा से कह रहा।
सुनिये वह आगे की कथा। कहे ज्ञानदेव ॥२७१॥

इति श्रीमद्‌ज्ञानेश्वरविरचितायां श्रीमद्‌भगवद्‌गीता - 'भावार्थ-दीपिकायां' अक्षरब्रह्मयोगो नाम अष्टमोऽध्यायः ॥

॥ हरिः ॐ तत् सत् ॥

॥ ॐ हरिः ॐ ॥

नवम अध्याय

यदि दे अवधान एकाग्र।
होंगे सर्वसुखों के पात्र।
यह मेरा प्रतिज्ञोत्तर।
सुनिये स्पष्ट ॥१॥

कहता नहीं कुछ गर्व से।
आप सर्वज्ञों के समाज में।
दुलारभरी विनती सब से।
दें अवधान ॥२॥

लाड़लों के लाड़ सरते।
मनोरथों के मनोरथ पुरते।
यदि आप जैसे श्रीमन्त होते।
माता–पिता ॥३॥

आपकी दृष्टि की आर्द्रता से।
प्रसन्नता का उपवन खिले।
मैं श्रान्त उस शीतल छाया में।
पाऊँ विश्राम ॥४॥

आप सुखामृत के सरोवर।
अतः पाऊँ शीतलता जी भर।
यदि यहाँ लाड़ में रखूँ डर।
तो कहाँ मिटे ताप ॥५॥

बालक तुतला कर बोले।
या आड़े-टेढ़े कदम भरे।
वह देख माता दुलार से।
रीझे जैसी ॥६॥

वैसे आप सन्तों का दुलार।
कैसे भी हो जाय मुझ पर।
इसी अभिलाषा से भर कर।
लड़ाऊँ लाड़ ॥७॥

अन्यथा नहीं मुझ में वचन योग्यता।
यहाँ आप जैसे सर्वज्ञ श्रोता।
शारदासुतों को क्या पढ़ना पड़ता।
पाठ रट कर? ॥८॥

हो कितना भी बड़ा खद्योत।
महातेज में नहीं गुणगर्वित।
लायें अमृतथाल के योग्य।
कौन सा रस? ॥९॥

अजी हिमकर को करना व्यजन।
या नाद के सम्मुख गायन।
अलङ्कार को और अलङ्कृत।
करें कैसे? ॥१०॥

परिमल क्या ले भला घ्राण।
सागर कहाँ करे स्नान।
किस में जा समाये गगन।
सम्पूर्ण ॥११॥

वैसे आप दें अवधान।
प्रशंसापूर्वक करें श्रवण।
कौन ऐसा वक्तृत्व-निपुण।
कि रीझें आप ॥१२॥

विश्व आलोकित करता गभस्ति।
करते न क्या उस की आरती?
क्या अन्जलि से सागर के प्रति।
देते न अर्घ्य? ॥१३॥

प्रभो आप महेश मूर्तिमन्त।
करूँ अर्चना में दीन भक्त।
अतः शब्दरूपी बिल्वपत्र।
करें स्वीकार ॥१४॥

बालक पिता के थाल में बैठ।
पिता के ही मुख में देता ग्रास।
पिता वह लेने को प्रेमवश।
बढ़ाता मुख ॥१५॥
वैसे में आप के प्रति।
वाचाल बना हूँ बालमति।
तो भी आप हों तुष्ट यह रीति।
है प्रेमकी ॥१६॥
मुझे अपनेपन के मोह से।
बहुधा स्वीकारा आप सन्तों ने।
अत: न होगा भार मेरे।
लाड़–दुलार का ॥१७॥
अहो प्यासा बछड़ा जब सिर मारे।
तब गोमाता अधिक पिन्हाये।
वैसे लाडलों के रोष से।
बढ़ता प्रेम ॥१८॥
सुन मुझ बालक के बोल तुतले।
निद्रित कृपालुता ने नयन खोले।
यह जान बढ़े साहस से।
बोला मैं ॥१९॥
अन्यथा पाल में चाँदनी को पकाना।
पवन को बहने की गति देना।
अरे गगन को खोल चढ़ाना।
कैसे सम्भव ॥२०॥
पिघलाना न पड़े जल।
न मथना पड़े नवनीत।
वैसे लजा गया व्याख्यान।
जिन्हें देख कर ॥२१॥
अरे शब्दब्रह्म जिस शय्या पर।
समेट शब्द विश्रान्त निद्रित।
कहूँ मराठी में उस का अर्थ।
क्या अधिकार मेरा? ॥२२॥

तब भी कर रहा साहस।
क्यों कि आशा से भरा हृदय।
कि ढिठाई से भी पाऊँ स्नेह।
आप सब का। ॥२३॥
अत: चन्द्र से भी शीतल।
अमृत से भी सञ्जीवक।
निज अवधान से मनोरथ।
करें पूर्ण ॥२४॥
यदि आप की कृपादृष्टि बरसे।
तो मति में सकलार्थ-सिद्धि पनपे।
अन्यथा अङ्कुरित भी ज्ञान सूखे।
यदि आप उदास ॥२५॥
अतः सुनिये सहज।
अवधान का चारा पाये वक्तृत्व।
तो सुपुष्ट हों अक्षर।
प्रमेय के ॥२६॥
अर्थ शब्दों की राह देखें।
अर्थ पर अर्थ निकलते चलें।
भावपुष्प खिलते चलें।
बुद्धि में ॥२७॥
अत: जब संवाद का सुवायु चले।
हृदयनम में सारस्वत उमड़े।
पर श्रोता जो दुश्चित्त रहें।
तो रस–विरस ॥२८॥
अहो चन्द्रकान्त होता द्रवित।
वह चन्द्र का ही कौशल।
अतः वक्ता नहीं वक्ता जब तक।
श्रोता न हो ॥२९॥
हमें मान लीजिये मधुर।
क्या विनती करते तण्डुल?
क्या कठपुतली करती विनय।
सूत्रधार से? ॥३०॥

वह क्या पुतली के लिये उसे नचाता?
या निज कलाकौशल दिखाता?
अतः मैं भी यह विविध प्रार्थना।
करूँ क्यों? ॥३१॥

तब श्रीगुरु बोले हुआ विदित।
तेरा अभिप्राय समस्त।
अब कहो जो निरूपित।
नारायण द्वारा ॥३२॥

यह सुन कर श्रीनिवृत्तिदास।
बोले जी! जी! सोल्लास।
सुनिये ऐसे श्रीनिवास।
कहने लगे ॥३३॥

सुनो यह बीजरहस्य अर्जुन!
पुनः तेरे प्रति करूं निरूपण।
अन्तःकरण का गुह्य ज्ञान।
प्राणसम ॥३४॥

भला क्यों प्राण- प्रिय गुह्य।
कहते मुझ से वह रहस्य!
यदि तू मन में ·स्वभाववश।
सोचे यह ॥३५॥

तो सुनो प्राज्ञ सखा।
तुम हो मूर्तिमन्त आस्था।
कही बात की अवज्ञा।
करना न जानो ॥३६॥

गुह्य की गूढ़ता छूटे भले।
अकथ्य भी कहना पड़े।
पर हृदय का मर्म पहुँचे।
तेरे हृदय में ॥३७॥

अरे दूध छिपा रहता स्तन में।
पर माधुर्य क्या स्तन जाने?
भले हो व्यय अनन्य के लिये।
जो आस्वादनपटु ॥३८॥

कोठी में से बीज निकाले।
फिर तैयार खेत में डाले।
तब वे व्यर्थ बिखेरे गये।
कहलाते क्या? ॥३९॥

अत एव सुमन और शुद्धमति।
जो अनिन्दक अनन्यगति।
गोप्य रहस्य भी उस के प्रति।
सानन्द कहे ॥४०॥

प्रस्तुत इन गुणों से सम्पन्न।
तेरे सिवा नहीं अन्य।
अतएव तुझ से गोप्य।
न रखूं गुह्य ॥४१॥

पुनः पुनः सुनकर इसे गुह्य।
प्रतीत होगा दुष्प्राप्य।
अतः कहूँगा अब ज्ञानरहस्य।
विज्ञानसहित ॥४२॥

ऐसे कहूँगा विवेचित।
जैसे खरे-खोटे मिश्रित।
सिक्के किये हों पृथक् स्पष्ट।
परख कर ॥४३॥

राजहंस चोंच की चिमटी से।
दूध-जल पृथक् करे जैसे।
तुझे ज्ञान-विज्ञान वैसे।
दूँगा विवेचित ॥४४॥

वायुवेग के सम्मुख जैसे।
अल्प भी भूसा टिक न सके।
और धान्य की राशि बने।
अपने आप ॥४५॥

वैसे पाने से जो ज्ञान।
संसार छूटता यथास्थान।
साधक को मिलता आसन।
मोक्षश्री का ॥४६॥

जो सभी विद्याओं में मुख्य।
आचार्य कहलाने योग्य।
सब गुह्यों का स्वामी–तुल्य।
पवित्रराज ॥४७॥
जो धर्मों का निज धाम।
वैसे ही उत्तमों में उत्तम।
जो मिलने पर न रहता काम।
जन्मान्तरों का ॥४८॥
महान् गुरुमुख से दिखता उदित।
हृदय में स्वयंभू प्रतिष्ठित।
प्रत्यक्ष ही होता अनुभूत।
अपने आप ॥४९॥
चढ़ने पर सुख –सोपान।
होता जिस से मिलन।
मिलते ही भोक्तापन।
विसर्जित जहाँ ॥५०॥
उस भोग के इसी तट पर।
स्थित चित्त जाता सुख से भर।
ऐसा सुलभ सहज सरल।
और परब्रह्म ॥५१॥
और उस का गुण विशिष्ट।
मिलने पर फिर न होता नष्ट।
आस्वाद से न होता न्यून।
न विकृत कभी ॥५२॥
तार्किक तुम यहां यदि।
उठाओ शङ्का ऐसी।
क्यों न पाते यह वस्तु भली।
लोक सब ? ॥५३॥
सौ में एक बढ़ाने को।
जलती वह्नि में कूदते जो।
वे अनायास निज माधुर्य को।
छोड़ते क्यों ? ५४॥

तो पवित्र और रम्य।
तथा सुखोपाय से गम्य।
यह स्वसुख परम धर्म्य।
प्राप्य स्वयं में ॥५५॥
सभी प्रकार से उत्तम सुखकर।
इसे क्यों न पाते लोग जीभर।
है इस शङ्का को अवसर।
पर करो न तुम ॥५६॥
देखो दूध पवित्र मधुर।
निकट बस त्वचा के भीतर।
पर किलनी उसे उपेक्षित कर।
चूसे न रक्त ? ॥५७॥
या कमलकन्द और दर्दुर।
बसते दोनों एक घर।
पर पराग लेता भ्रमर।
दूसरा कर्दम ॥५८॥
अथवा अभागे के घर में।
दबी हों हजारों मुहरें।
उन्हीं पर बैठ भूखा मरे।
दरिद्र जैसे ॥५९॥
वैसे हृदय में में राम।
रहता सर्व–सुख–आराम।
पर भ्रान्त को उपजे काम।
विषयों का ॥६०॥
देख कर बहुत मृगजल।
जो निगला अमृत करे वमन।
तोड़ दे गले का पारस।
सीपी पा कर ॥६१॥
अहं-ममता फन्द में फँसे।
त्यों पाते न बेचारे मुझे।
जन्म-मरण के तटों में।
भटका करते ॥६२॥

अन्यथा में हूँ कैसा ?
मुख के प्रति भानु जैसा।
पर कहीं दिखे, न दिखे, ऐसा।
नहीं मैं पार्थ ॥६३॥

क्या नहीं विस्तार मेरा।
यह जगत् ही सारा।
जैसे दूध ही जमा हुआ।
होता दही ॥६४॥

बीज ही हुआ तरुवर।
अथवा स्वर्ण ही अलङ्कार।
वैसे मुझ एक का हो विस्तार।
विश्व यह ॥६५॥

यह अव्यक्त ही घनीभूत।
विश्वाकार से भासित।
अमूर्तरूप मुझ से विस्तृत।
त्रैलोक्य जानो ॥६६॥

महदादि से देह-पर्यन्त।
ये अशेष भूतजात।
मुझ में ही प्रतिबिम्बित।
जल में फेन सम ॥६७॥

देखें यदि फेन के भीतर।
तो वहाँ न मिलता जल।
वैसे स्वप्न का नानात्व।
जागने पर नहीं ॥६८॥

वैसे ये भूत मुझ में।
प्रतिबिम्बित मैं नहीं उन में।
यह उपपत्ति बहुधा तुझे।
बताई पहले ॥६८॥

कथित को कहना अतिचार।
अतः न करें इस का विस्तार।
पर मुझ में करे प्रवेश सत्वर।
दृष्टि तुम्हारी ॥७०॥

मेरा प्रकृति से अतीत स्वरूप।
देखो यदि हो कल्पना-रहित।
तो मुझ में भूत, यह भी व्यर्थ।
क्योंकि मैं हूँ सर्वमय ॥७१॥

सङ्कल्परूप सन्ध्या में।
क्षणैक बुद्धि पर तिमिर छाये।
अतः अखण्डित धुंधला पड़े।
दिखे भूतभेद ॥७२॥

जब सङ्कल्प साँझ हो लुप्त।
तब अखण्डित ही है स्वरूप।
जैसे भ्रान्ति मिटते ही सर्पत्व।
नहीं माला में ॥७३॥

नहीं तो धरती में से स्वयंभूत।
क्या घड़े मटके होते अङ्कुरित ?
वे तो कुम्हार मति के गर्भरूप।
प्रकट होते ॥७४॥

अथवा सागर के जल में।
तरङ्गों की क्या खान रहे ?
अवान्तर कर्म नहीं क्या वे।
पवन के ? ॥७५॥

क्या कपास के पेट में।
वस्त्रों की पेटी रहे ?
पहनने वाले की दृष्टि से।
बने वस्त्र ॥७६॥

स्वर्ण से आभूषण गढ़ें।
पर स्वर्णत्व इस से न बिगड़े।
नाना अलङ्कार बनें।
भोक्ता की दृष्टि से ॥७७॥

कहो ध्वनि के प्रतिनाद।
या दर्पण में प्रतिबिम्ब।
हमारे निर्मित या सचमुच।
थे थे वहाँ ? ॥७८॥

वैसे मेरे निर्मल स्वरूप में।
जो भूत भावना आरोपे।
उसे उसी के सङ्कल्प से।
होता भूताभास ॥७९॥

जब कल्पक प्रकृति होती समाप्त।
तभी भूताभास लुप्त।
तब मेरा शुद्ध स्वरूप।
रहता शेष ॥८०॥

मस्तक में जब चक्कर चढ़े।
चहुँ ओर सब घूमता दिखे।
वैसे अखण्ड में कल्पना से।
दिखते भूत ॥८१॥

यदि कल्पना छोड़कर देखें।
तो मैं भूतों में, भूत मुझ में।
ऐसा न स्वप्न में भी अरे।
कल्पनीय ॥८२॥

अब भूत मुझ से धारित।
या भूतों में मैं ही स्थित।
ये सङ्कल्प-सन्निपात के शब्द।
मूर्च्छाजन्य ॥८३॥

अत एव सुनो हे प्रियोत्तम।
ऐसे में विश्व का विश्वात्म।
जो है एक आश्रय परम।
मिथ्या भूतों का ॥८४॥

रश्मि के आधार से जैसे।
मृगजल असत् भी आभासे।
मुझ में भूतजात वैसे।
मुझ से भाव्य ॥८५॥

इस प्रकार मैं भूतभावन।
तो भी सब भूतों से अभिन्न।
जैसे प्रभा और भास्कर।
एकरूप ॥८६॥

यह मेरा ऐश्वर्य – योग।
देखा तुमने भली प्रकार!
कहो अब कहाँ प्रसङ्ग।
भूतभेद का! ॥८७॥

अत एव मुझ से भूत।
न थे भिन्न यह निश्चित।
न ही मुझे उन से भिन्न।
समझो कभी ॥८८॥

गगन जितना विशाल।
पवन का उतना विस्तार।
हलचल से दिखे भिन्न।
अन्यथा गगनरूप ॥८९॥

वैसे मुझ में भूतजात।
यह कल्पनाजनित आभास।
निर्विकल्प स्थिति में पार्थ।
मैं एकमात्र ॥९०॥

अतएव 'अस्ति' 'नास्ति' यह।
कल्पना से आभासित।
जो कल्पना लोप से भ्रंशित।
उदित कल्पना से॥९१॥

वह कल्पना जाये समूल।
तब 'है' 'नहीं' को कहाँ अवसर।
अतः पुनः तू समझ देख।
यह ऐश्वर्य योग ॥९२॥

ऐसे प्रतीति–बोध–सागर में।
तू स्वयं को कल्लोल बना दे।
फिर देख सचराचर में।
तू ही तू स्थित ॥९३॥

इस ज्ञान की जागृति।
आई तुझ में? बोले श्रीपति।
अब द्वैत – स्वप्न – प्रतीति।
व्यर्थ हुई या नहीं? ॥९४॥

फिर कभी यदि प्रारब्धवश।
बुद्धि हो कल्पना से निद्रित।
तो अभेद बोध होकर लुप्त।
दिखे भेद–स्वप्न ॥९५॥

अतः निद्रा का पन्थ छूटे।
निखिल उद्‌बोध स्वयं प्रगटे।
ऐसा रहस्य स्पष्ट तुझे।
कहूँ पार्थ ॥९६॥

अतः धैर्यशील धनुर्धर।
दो अवधान एकाग्र।
माया ही ये भूतमात्र।
बनाती मिटाती ॥९७॥

जिस का नाम प्रकृति।
जो कही द्विविधा तेरे प्रति।
एक अष्टधा भेद – वाली।
दूसरी बीजरूपा ॥९८॥

यह प्रकृति–विषय समस्त।
पहले बता चुका तुझे पार्थ।
अतः क्या कहूँ बार-बार।
वही अब ॥९९॥

या इसी प्रकृति में।
महाकल्प के अन्त में।
सभी भूत अव्यक्त में।
पाते ऐक्य ॥१००॥

ग्रीष्म के प्रखर ताप में।
तृण बीज-सहित जैसे।
भूमि में सुलीन होते।
लौट कर ॥१०१॥

अथवा वर्षा का घटाटोप मिटे।
शारदीय निरभ्रता में।
तब घनजात लीन होते।
गगन के ॥१०२॥

अथवा आकाशरूप में।
पवन चैन से सोये।
या तरङ्गता खो जाये।
जल में जैसे ॥१०३॥

अथवा जागृति के समय।
मन में ही स्वप्नविलय।
वैसे आने पर कल्पक्षय।
प्रकृतिलय ॥१०४॥

पुनः होने पर कल्पारम्भ।
मैं करता सृजन यह प्रसिद्ध।
इस विषय में सुस्पष्ट।
उपपत्ति सुनो ॥१०५॥

यही स्वकीय प्रकृति पार्थ।
जब मैं करूँ अङ्गीकृत।
जैसे पट में तन्तु–समवाय।
दिखाता बुनावट ॥१०६॥

फिर उस बुनाई के आधार से।
नन्ही चौकड़ियों से पट बने।
वैसे पञ्चात्मक आकार में।
प्रकृति व्यक्त ॥१०७॥

जैसे जामन के सङ्ग से।
दूध सब जमने लगे।
वैसे प्रकृति ही परिणमे।
सृष्टिरूप ॥१०८॥

बीज जल का सङ्ग पाये।
शाखोपशाखा में फैलता जाये।
मेरी सन्निधि से वैसे।
उत्पन्न भूत ॥१०९॥

राजा ने बसाया नगर।
प्रसिद्ध होता कथन।
पर हुए क्या वहाँ श्रमित।
राजा के हाथ? ॥११०॥

में प्रकृति का अधिष्ठान कैसा।
स्वप्न का द्रष्टा जैसा।
वही पुनः प्रवेश करता।
जागृति में ॥१११॥
स्वप्न से जागृति में आते जब।
क्या पाँव दुखते पार्थ तब?
या स्वप्न में रहते समय।
होता प्रवास? ॥११२॥
इस सब का अभिप्राय यही।
कि होती भूतसृष्टि जो भी।
उस में मेरा कर्तृत्व नहीं।
किसी प्रकार ॥११३॥
जैसे राजा के आश्रित प्रजा।
करे व्यापार अपना-अपना।
वैसा प्रकृतिसङ्ग मेरा।
कर्तृत्व उस का ॥११४॥
देख कर पूर्ण चन्द्र।
ज्वार से उछलता समुद्र।
तब चन्द्र को क्या पार्थ।
होता श्रम! ॥११५॥
जड़ भी यदि समीप।
चुम्बक के खिचता लोह।
तो क्या चुम्बक होता श्रान्त।
सान्निध्य से? ॥११६॥
किंबहुना इसी प्रकार।
मैं करता प्रकृति को अङ्गीकार।
तब स्वयं होता विस्तार।
भूतसृष्टि का ॥११७॥
यह जो भूतग्राम सम्पूर्ण।
हैं प्रकृति के आधीन।
जैसे बीज में से बेलपल्लव।
उपजावे भूमि ॥११८॥

अथवा बाल्यादि वयस् का।
देहसङ्ग कारण जैसा।
या आकाश में घनावली का।
वर्षाऋतु ॥११९॥
या स्वप्न का कारण नींद।
वैसे प्रकृति है नरेन्द्र।
जिस से अशेष भूतसमुद्र।
उद्भूत ॥१२०॥
स्थावर और जङ्गम।
स्थूल अथवा सूक्ष्म।
सभी ये भूतग्राम।
प्रकृतिमूलक ॥१२१॥
अतः भूतों का सर्जन।
फिर उन का प्रतिपालन।
इन सब कर्मों का सम्बन्ध।
मुझ में नहीं ॥१२२॥
जल पर चन्द्रिका प्रसृत।
उस का कर्ता नहीं चन्द्र।
वैसे मुझ से उत्पन्न कर्म।
दूर मुझ से ॥१२३॥
सिन्धु-जल की आवे बाढ़।
तब रोक न सके लवण का बाँध।
वैसे मुझ में ही विलीन कर्म।
क्या बाँधें मुझे? ॥१२४॥
धूम्ररज के पिञ्जर से।
क्या वायु का वेग रुके?
अथवा स्वयं सूर्यबिम्ब में।
तम प्रवेशे? ॥१२५॥
पर्वत की कन्दरा में जैसे।
पर्जन्यधारा न पहुँचे।
वैसे कर्मजात प्रकृति के।
स्पर्शे न मुझे ॥१२६॥

तब भी जितने प्रकृति–विकार।
सब का मैं ही एक आधार।
किन्तु उदासीन के समान।
न करूँ न कराऊँ? ॥१२७॥
जैसे घर में दीप प्रदीप्त।
किसी को न करे प्रवृत्त–निवृत्त।
कौन किस कार्य में रत।
न जाने वह! ॥१२८॥
वह जैसा साक्षिभूत।
गृह–व्यापार का प्रवृत्ति–निमित्त?
वैसा भूतकर्मों में अनासक्त।
मैं भूतों में स्थित ॥१२९॥
यही अभिप्राय बारम्बार।
कितना कहूँ सविस्तार।
समझो इतना ही भली प्रकार।
सुभद्रापति! ॥१३०॥
समस्त लोक–चेष्टा में।
निमित्तमात्र सविता जैसे।
वैसे पाण्डव जगत्प्रभव में।
हेतु मुझे जान ॥१३१॥
क्योंकि मुझ से अधिष्ठित प्रकृति।
उस से सचराचर की संभूति।
अतः मैं ही हेतु यह उपपत्ति।
होती घटित ॥१३२॥
अब वस्तुतः इस प्रकाश में।
ऐश्वर्य योग को देखो अरे।
तो सभी भूत स्थित मुझ में।
मैं भूतों में नहीं ॥१३३॥
अथवा भूत मुझ में नहीं।
और मैं भूतों में नहीं।
इस रहस्य को तुम कहीं।
चूको नहीं ॥१३४॥

यह मेरा सर्वस्व गूढ़।
कहा तुम से खोलकर।
अब बन्द कर इन्द्रिय किवाड़।
भोगो हृदय में ॥१३५॥
यह रहस्य न समझें जब तक।
मेरा सच्चा स्वरूप तबतक।
सर्वथा न मिलता कुन्तीसुत।
जैसे तुष में कण ॥१३६॥
यों अनुमान के बल से।
समझा तत्त्व ऐसा लगे।
किन्तु मृगजल की आर्द्रता से।
क्या भीगे भूमि? ॥१३७॥
जल में डाले जाल।
फँसा दिखे चन्द्र–बिम्ब।
पर स्थल पर झाड़ने पर।
बिम्ब कहाँ कहो! ॥१३८॥
वैसे केवल शब्दों का बल।
व्यर्थ प्रतीति का आडम्बर।
किन्तु बोध के अवसर पर।
न है, न होगा ॥१३९॥
किम्बहुना यदि हो भवभय।
और सद्रूप प्राप्ति का प्रेम।
तो करो तुम सर्वथा जतन।
इस उपपत्ति का ॥१४०॥
अन्यथा दृष्टि कामला से ग्रस्त।
चन्द्रिका को भी देखे पीत।
वैसे मेरा निर्मल स्वरूप।
दिखे सदोष ॥१४१॥
अथवा ज्वर से दूषित मुख।
दूध को कहे कटु विष।
वैसे अमानुष को मानुष।
मानोगे मुझे ॥१४२॥

अत: बारम्बार कहूँ धनञ्जय।
भूलो नहीं यह अभिप्राय।
नहीं तो स्थूलदृष्टि से व्यर्थ।
घिरती मति ॥१४३॥

स्थूल दृष्टि से देखना मुझे।
वह देखना ही नहीं अरे।
जैसे स्वप्न के अमृतपान से।
होते न अमर ॥१४४॥

यों तो स्थूलदृष्टि मूढ़।
जानते मुझे सुदृढ़।
किन्तु वह ज्ञान होता प्रतिबन्ध।
यथार्थ ज्ञान में ॥१४५॥

जैसे आभासित नक्षत्र।
उसे रत्न समझ कर हंस।
करे डूब कर जलमध्य।
आत्मघात ॥१४६॥

बुद्धि कहे गङ्गा जहाँ मृगजल।
पर उस मानने का क्या फल?
क्या सुरतरु कहने से बबूल।
देगा फल? ॥१४७॥

नीलमहार समझ दुलड़ा।
उठा लें सर्प विषैला।
या रत्न समझ कर ओला।
लें हाथ में ॥१४८॥

अथवा निधान हुआ प्रगट।
जान अंगारों से भरे आँचल।
या कूदे प्रतिबिम्ब को देख।
कूप में सिंह ॥१४९॥

ऐसे मुझे मान प्रपञ्चमय।
जो हो जाते कृतनिश्चय।
वे चन्द्र समझ पकड़ते जलमय।
प्रतिबिम्ब ही ॥१५०॥

तब कृतनिश्चय होता निष्फल।
जैसे कोई काँजी पीकर।
चाहे परिणाम सुखकर।
अमृत का ॥१५१॥

वैसे स्थूलाकार नाशवन्त में।
विश्वास रखकर चित्त में।
जो मुझ अविनाशी को खोजते।
उन्हें कैसे दिखूँ? ॥१५२॥

क्या पश्चिमसागर के तट पर।
निकलेंगे पूर्वी पथ चलकर।
अथवा क्या भूसा कूटकर।
मिलता धान्य? ॥१५३॥

वैसे क्या यह विस्तृत स्थूल।
जानने से ज्ञात मैं 'केवल'?
क्या फेन पीने से जल।
पिया जाता? ॥१५४॥

अतः मोहित मनोधर्म से।
'यही मैं' मान कर संभ्रम से।
तब जन्म–कर्म यहाँ के।
मानता मेरे ॥१५५॥

इसी से अनामी पर नाम।
मुझ अक्रिय पर कर्म।
विदेह पर देह-धर्म।
आरोपित ॥१५६॥

आकार-शून्य को साकार।
निरुपाधिक-प्रति उपचार।
विधिवर्जित पर व्यवहार।
आचारादि का ॥१५७॥

मुझ वर्णहीन में वर्ण।
गुणातीत में गुण।
मानते अचरण में चरण।
अपाणि के पाणि ॥१५८॥

मुझ अमेय का मान।
सर्वगत का स्थान।
देखे शय्या में वन।
निद्रित जैसे ॥१५९॥

वैसे अश्रवण के श्रोत्र।
अचक्षु के नेत्र।
अगोत्र का गोत्र।
रूप अरूप का ॥१६०॥

मुझ अव्यक्त में व्यक्ति।
अनार्त में आर्ति।
स्वयं तृप्त में तृप्ति।
करते कल्पित ॥१६१॥

मुझ अनावरण का आवरण।
भूषणातीत के भूषण।
अखिल कारण का भी कारण।
देखते वे ॥१६२॥

मुझ सहज को बनाते।
स्वयंभू की प्रतिष्ठा करते।
नित्य-निरन्तर का करते।
आह्वान-विसर्जन ॥१६३॥

मैं सर्वदा स्वतःसिद्ध।
पर बाल–तरुण–वृद्ध।
एक रूप में ये सम्बन्ध।
मानते वे ॥१६४॥

मुझ अद्वैत में द्वितीय।
अकर्ता के कार्य।
अभोक्ता का भोग।
करते वर्णित ॥१६५॥

मुझ अकुल का करते कुल-वर्णन।
नित्य के निधन पर शोकमग्न।
सर्वान्तर्यामी के शत्रु-स्वजन।
करते कल्पित ॥१६६॥

मैं हूँ स्वानन्दाभिराम।
मुझे कहते अनेक सुख-काम।
मैं सर्वत्र सदा सम।
वे मानें एकदेशी ॥१६७॥

मैं चराचर का आत्मा एक।
पर लेता किसी का पक्ष।
किसी को करता कोपसे नष्ट।
यह करते प्रचार ॥१६८॥

किम्बहुना ऐसे ही समस्त।
जो मानुष धर्म प्राकृत।
वे मुझ में–ऐसा विपरीत।
ज्ञान उन का ॥१६९॥

जब सम्मुख आकार देखें।
देवभाव से उसे भजें।
टूटने पर उसे फेंक दें।
खण्डित कह कर ॥१७०॥

मुझे इस–इस प्रकार से।
जानते मनुष्य आकार से।
यह विपरीत ज्ञान ही बने।
प्रतिबन्ध ज्ञान में ॥१७१॥

जन्म ही उन का मोघ।
जैसे अकाल के मेघ।
अथवा मृगजल के तरङ्ग।
दूर से ही दृश्य ॥१७२॥

मिट्टी का घुड़सवार।
या मान्त्रिक के अलङ्कार।
या गन्धर्वनगरी के घर-द्वार।
भासते जैसे ॥१७३॥

सेंहुड़ बढ़ता जाता सरल।
पर भीतर पोल तथा निष्फल।
अथवा जैसे गलस्तन।
अजा के ॥१७४॥

वैसे ही मूर्खों का जीवन।
व्यर्थ उन से निपजे कर्म।
जैसे सेहुड़ के फल।
न लेने न देने के ॥१७५॥
फिर जो भी हो अध्ययन उनका।
वह मानो मर्कट ने श्रीफल-तोड़ा।
अथवा अन्ध के हाथ में पड़ा।
मुक्ताफल ॥१७६॥
किम्बहुना उन के शास्त्र।
जैसे कुमारी के हाथ में दिये शस्त्र।
अथवा अशुचि के प्रति बीज-मन्त्र।
कहा हुआ ॥१७७॥
वैसे उस का ज्ञान-जात।
और जो कुछ भी आचरित।
वह सभी गया व्यर्थ।
जो चित्तहीन ॥१७८॥
तमोगुण की राक्षसी।
जो सद्‌बुद्धि को ग्रास करती।
विवेक का स्थान मिटाती।
निशाचरी ॥१७९॥
जो इस प्रकृति से आक्रान्त।
वे होते चिन्ता से ग्रस्त।
फिर तामसी के मुख में पतित।
होते पार्थ ॥१८०॥
जहाँ आशा की लार में।
भीतर हिंसाजीभ डोले।
अखण्ड चबाती सन्तोष के।
मांसपिण्ड ॥१८१॥
जो अनर्थ के कान तक।
ओठ चाटती निकले बाहर।
वह प्रमाद पर्वत की गुफ़ारूप।
सदा अँधेरी ॥१८२॥
जहाँ द्वेष की दाढ़।
ज्ञान को करती चूर-चूर।
त्वग् अस्थि का आवरण मूढ़।
बनाती स्थूलबुद्धि ॥१८३॥
ऐसी आसुरी प्रकृति के मुख में।
बलि बन कर जो जा पड़े।
वे डूबे मानो कुण्ड में।
व्यामोह के ॥१८४॥
वे गिरते तमोगुण के गर्त में।
न आते विचार के हाथ में।
वे गये कहाँ यह भी अरे।
पता न मिलता ॥१८५॥
अतः रहने दें यह व्यर्थ कथन।
मूर्खों का क्या करें वर्णन।
व्यर्थ बकने में यह निरूपण।
थके वाणी ॥१८६॥
ऐसे बोले जब देव।
कहने लगा जी! जी! पाण्डव।
सुनिये जहाँ वाचा को आनन्द।
वह साधुकथा ॥१८७॥
जिन के विशुद्ध मानस में।
मैं रहता क्षेत्रसंन्यास लिये।
निद्रा में भी उपासना करे।
वैराग्य जिस की ॥१८८॥
जिन की आस्था के सद्भाव।
में रहे धर्म का साम्राज्य।
जिन का मन सदा आर्द्र।
विवेक से ॥१८९॥
जो ज्ञानगङ्गा में स्नात।
पूर्णता से सन्तृप्त।
जो शान्तिवेल के पल्लव।
नवोदित ॥१९०॥

जो परिणाम मानो अङ्कुरित।
जो धैर्यमण्डप के स्तम्भ।
आनन्द-समुद्र में कुम्भ।
छलकते हुए ॥१९१॥

जिन्हें भक्ति ऐसी प्राप्त।
कि कैवल्य को कहते दूर हट।
जिन की लीला में ही जीवित।
धर्मनीति ॥१९२॥

जिन के करण समस्त।
शान्ति से विभूषित।
दिये रहता आलिङ्गन चित्त।
मुझ व्यापक को ॥१९३॥

ऐसे जो महानुभाव।
दैवी प्रकृति के दैव।
जो जानते यह सर्व।
स्वरूप मेरा ॥१९४॥

बढ़ते हुए प्रेम से।
वे महात्मा भजते मुझे।
पर द्वैत का उनके चित्त में।
नहीं स्पर्श ॥१९५॥

ऐसे मद्‌रूप होकर अर्जुन।
वे करते मेरा सेवन।
पर उस में अद्‌भुत सुन।
एक कहूँ ॥१९६॥

उन के कीर्तन–नृत्य से।
प्रायश्चित का व्यापार थमे।
क्यों कि नाम को भी न रहें।
पापलेश ॥१९७॥

यम-दम हुए व्यर्थ।
तीर्थ हुए पदभ्रष्ट।
यमलोक का कुण्ठित।
आवागमन ॥१९८॥

किसे रोकूं? कहता यम।
किसे जीतूं? कहता दम।
औषध भर भी न बचे दोष।
क्या खायें तीर्थ ॥१९९॥

ऐसे मेरे नामघोष से।
नष्ट करते दुःख विश्व के।
सकल जग महासुख से।
सघन भरता ॥२००॥

वे उषा बिना करते प्रभात।
अमृत बिना करते जीवित।
योग बिना दिखाते कैवल्य।
नयनों से ॥२०१॥

न जानते वे राजा रङ्क।
न देखते योग्यताभेद।
भरते समान आनन्द।
जग भर में ॥२०२॥

कोई एकाध जाता वैकुण्ठ।
वे विश्व को बनाते वैकुण्ठ।
ऐसे नामघोष से किया विश्व।
धवल उन्होंने ॥२०३॥

यों तेज से सूर्य सोज्ज्वल।
पर कभी तो होता अस्तमित।
पूर्ण कभी हो दिखता चन्द्र।
वे नित्यपूर्ण ॥२०४॥

मेघ उदार, पर होता रिक्त।
अतः यह उपमा भी अनुचित।
ये हैं दयालू निश्चित।
पञ्चानन ॥२०५॥

जिन की वाचा में सकौतुक।
मेरा नाम करता नृत्य।
जिस के एक उच्चार में युगसहस्र।
तप अपेक्षित ॥२०६॥

वह में वैकुण्ठ में भले न होऊँ।
कभी भानु में भले न दिखूं।
भले योगी के मन से जाऊँ।
दूर कभी ॥२०७॥

पर उन के समीप पाण्डव।
मुझ खोये को सकते पकड़।
जहाँ वे नामघोष सुन्दर।
करते मेरा ॥२०८॥

वे मेरे गुणगान से सन्तृप्त।
देश-काल उन्हें विस्मृत।
कीर्तन से सुख में मग्न।
स्वयं रहते ॥२०९॥

कृष्ण–विष्णु–हरि–गोविन्द।
इन नामों के निखिल प्रबन्ध।
जिन में आत्मचर्चा विशद।
गाते अपार ॥२१०॥

इसी प्रकार कितने।
मेरा कीर्तन–गान करते।
चराचर में विचरते।
पाण्डुकुंवर ॥२११॥

फिर और भी अर्जुन।
सर्वथा करते बहु यत्न।
जिस से पञ्च प्राण और मन।
करें सहाय ॥२१२॥

बाहर यम- नियम की कँटीलीबाड़।
भीतर वज्रासन का प्राकार।
उस पर निरन्तर प्राणायाम।
यन्त्र सज्जित ॥२१३॥

ऊर्ध्व शक्ति के प्रकाश में।
मन–पवन के सहाय से।
सत्रहवीं कला का कुण्ड करते।
उपलब्ध ॥२१४॥

वहाँ प्रत्याहार के बल से।
विकारों की बोली बन्द करते।
सब इन्द्रियों को बाँध लाते।
हृदय-मध्य ॥२१५॥

तब धारणा के घुड़सवार।
पञ्चभूतों को करते एकत्र।
फिर सङ्कल्प का चतुरङ्गसैन्य।
करते नष्ट ॥२१६॥

यह होने पर ध्यान।
बजाता 'विजय' का निशान।
तन्मयता का एकछत्र।
झलकता तब ॥२१७॥

तब समाधिश्री का समस्त।
आत्मानुभव-राज्य-सुख पर।
समरसता से पट्टाभिषेक।
उत्सव होता ॥२१८॥

ऐसा यह गहन।
अर्जुन मेरा भजन।
अब कहूँगा सुन।
और एक ॥२१९॥

वस्त्र के दोनों छोरों पर।
जैसे तन्तु रहता एक।
वैसे सचराचर में मुझ से भिन्न।
न जानते वे ॥२२०॥

आदिब्रह्मा से ले कर।
लघुतम मशक तक।
समझते सब नामरूप।
मेरा स्वरूप ॥२२१॥

फिर न कहते लघु या विशाल।
न जानते सजीव निर्जीव।
वस्तु देखते ही करते प्रणाम।
मद्रूप देख कर ॥२२२॥

स्मरण न करते निज उत्तमत्व।
न देखते किसी का योग्यायोग्य।
व्यक्तिमात्र को करते प्रणाम।
समान भाव से ॥२२३॥
जैसे ऊँचे से गिरे उदक।
तो नीचे ही आवे सहज।
वैसे भूतमात्र-प्रति प्रणत।
स्वभाव उन का ॥२२४॥
शाखा तरु की फल-भरित।
सहज भूमि पर अवनत।
जीवमात्र के प्रति प्रणत।
वैसे ही वह ॥२२५॥
अखण्ड अगर्वता मूर्तिमन्त।
विनय ही उन की सम्पद सञ्चित।
जय-जय मन्त्र से समर्पित।
करते मेरे प्रति ॥२२६॥
नमन से मानापमान गले।
अनायास मद्रूप हुए।
ऐसे निरन्तर ऐक्य भाव से।
भजते मुझे ॥२२७॥
अर्जुन यह श्रेष्ठ भक्ति।
कही मैंने तेरे प्रति।
जिन की ज्ञानयज्ञ रीति।
सुनो उन्हें ॥२२८॥
पर भजन करने की पद्धति।
जानते ही हो किरीटी।
यह बात मैंने पहले भी।
कही थी तुम से ॥२२९॥
तब 'जीहाँ' बोला अर्जुन।
यह आप का प्रसाद-दान।
पर करते हुए अमृत-पान।
'बस' कहे कौन? ॥२३०॥
इस कथन से श्री अनन्त ने।
श्रवणातुर देखा उसे।
तब सुख से भरे चित्त से।
लगे झूमने ॥२३१॥
बोले पार्थ भला किया।
यद्यपि अनवसर सर्वथा।
पर बुलवाती तेरी आस्था।
मुझे आज ॥२३२॥
यह क्या? अर्जुन ने कहा।
चन्द्रिका नहीं क्या चकोर विना।
निखिल विश्व को शीतल करना।
स्वभाव शशी का ॥२३३॥
चकोर तो निज प्रीति-वश।
चोंच पसारे चन्द्र की ओर।
वैसे मेरी विनति अल्प।
देव कृपासिन्धु ॥२३४॥
जी मेघ अपनी उदारता से।
सन्तप्त जगत् को तृप्त करे।
चातक की प्यास कितनी कहिये॥
वर्षा को तुलना में! ॥२३५।
पर अञ्जलि की भी इच्छा से।
गङ्गा भू पर उतरीं जैसे।
वैसे आर्त्ति हो अल्प भले।
पर कहें देव! ॥२३६॥
तब देव बोले अहो बस-बस।
हुआ मुझे जो सन्तोष।
उस पर भी करूँ स्तुति महन।
यह न शेष ॥२३७॥
तू करता जैसा श्रेष्ठ श्रवण।
उस से वक्तृत्व होता धन्य।
ऐसी प्रशंसा-पूर्वक।
बोले श्रीहरि ॥२३८॥

सुन ज्ञानयज्ञ का रूप।
आदि-सङ्कल्प वहाँ यूप।
महाभूतों का मण्डप।
भेद ही पशु ॥२३९॥

उन पाँचों के जो विशेष गुण।
अथवा इन्द्रिय और प्राण।
ये ही यज्ञोपचार-भरण।
अज्ञान घृत ॥२४०॥

मन–बुद्धि ही कुण्ड।
जिन में ज्ञानाग्नि प्रदीप्त।
साम्य ही सुदृढ़।
वेदिका जानो ॥२४१॥

सविवेक मतिपाटव।
वही मन्त्र–विद्या–गौरव।
शान्ति ही स्रुक्–स्रुवा।
जीव यज्वा ॥२४२॥

प्रतीति के पात्र में।
विवेक महामन्त्र से।
ज्ञानरूप अग्निहोत्र में।
नष्ट होता भेद ॥२४३॥

मिट जाता अज्ञान।
एक होते यज्ञ – यजमान।
आत्मरस में अवभृथ-स्नान।
होता तब ॥२४४॥

तब भूत, विषय, करण।
कहता इन्हें भिन्न।
जाने एकरूप सम्पूर्ण।
आत्मबुद्धि ॥२४५॥

जैसे जागने पर अर्जुन।
कहते स्वप्न में विचित्र सैन्य।
क्या नहीं बने थे स्वयं हम।
निद्रावश ॥२४६॥

अब सेना वह सेना नहीं।
सब बना था एक मैं ही।
ऐसे वह विश्व में भी।
देखें ऐक्य ॥२४७॥

फिर 'जीव' नाम न रहे।
आब्रह्म परमात्म–बोध भरे।
होता भजन ज्ञानयज्ञ में।
इस एकत्व से ॥२४८॥

अथवा अनादि ये अनेक।
समान परस्पर एक–एक।
केवल नामरूपादिक।
दिखते विषम ॥२४९॥

अतएव विश्व भिन्न।
पर न खण्डित उन का ज्ञान।
जैसे अवयव होते विभिन्न।
एक देह में ॥२५०॥

अथवा शाखायें छोटी बड़ी।
होतीं एक तरुवर की।
या एक ही दिनकर की।
रश्मियाँ बहुत ॥२५१॥

वैसे व्यक्ति नाना प्रकार।
विभिन्न नाम और स्वभाव।
भेदित भूतों में अभेदरूप।
जानते मुझे ॥२५२॥

ऐसे भेदप्रतीति से पाण्डव।
करते ज्ञानयज्ञ सुन्दर।
भेदज्ञान से न भेदितचित्त।
क्यों कि आत्मज्ञानी ॥२५३॥

अथवा जब जहाँ कहीं।
देखते वे जो कुछ भी।
वह सब मुझ से भिन्न नहीं।
यही बोध दृढ़ ॥२५४॥

अरे बुलबुला जहाँ भी जाये।
जल ही उस के साथ रहे।
फिर वह रहे या मिटे।
सब जल में ही ॥२५५॥

या पवन से परमाणु उड़े।
पर पृथक् न हुए पृथ्वीपन से।
और पुनः जब भी वे गिरे।
रहे पृथ्वी पर ॥२५६॥

ऐसे चाहे जहाँ जिस रूप में।
कुछ भी वस्तु रहे या न रहे।
पर मैं ही सदा सब में।
रहता तद्रूप ॥२५७॥

अरे जितनी मेरी व्याप्ति।
उतनी उस की प्रतीति।
ऐसे बहुरूप हो रहती।
बहुधा वही ॥२५८॥

यह भानुबिम्ब चाहे जिस के।
सम्मुख रहे धनञ्जय जैसे।
वैसे ही वह समस्त विश्व के।
सम्मुख सदा ॥२५९॥

अरे उस के ज्ञान के।
पीठ–पेट नहीं होते।
वायु जैसे गगन के।
सर्वाङ्ग में ॥२६०॥

वैसे मैं जितना विशाल।
उतना ही उन का सद्भाव।
अतः न करते हुए भी पाण्डव।
होता भजन ॥२६१॥

जब मैं ही हूँ समस्त।
तब किस से हुआ उपासित।
पर रहता सदा अप्राप्त।
अज्ञानी को ॥२६२॥

किम्बहुना जो उचित पथ से।
ज्ञानयज्ञ के अनुष्ठान से।
मेरी उपासना करते।
वे कहे तुझे ॥२६३॥

सदा सब के कर्म सब।
मुझे ही होते अर्पित।
यह न जानने से ही मूर्ख।
पाते न मुझे ॥२६४॥

जब ज्ञान का होता उदय।
तब मैं ही मूल वेद।
वह करता जिस का विधान।
वह ऋतु मैं ही ॥२६५॥

उस कर्म से जो अव्यङ्ग।
पूर्ण साङ्गोपाङ्ग।
पाण्डव! प्रकट हो यज्ञ।
वह भी मैं ही ॥२६६॥

मैं स्वाहा और स्वधा।
सोमादि ओषधी द्विविधा।
मैं ही आज्य–समिधा।
मैं हवि और मन्त्र ॥२६७॥

मैं होता करता हवन।
मेरा ही स्वरूप अनल।
और जो-जो वस्तु हुतक।
मैं ही वह ॥२६८॥

अरे जिस के अङ्ग-सङ्ग से।
प्रकृति के अष्टाङ्ग से।
जगत् यह जन्म पाये।
वह पिता मैं ॥२६९॥

जैसे अर्धनारीनटेश्वर।
जो नारी वह नर।
वैसे चराचर की पार्थ।
मैं ही माता ॥२७०॥

उत्पन्न जग जहाँ रहे।
जिस से जीवन वृद्धि पाये।
वह मुझ से अन्य नहीं रे।
कुछ भी कहों ॥२७१॥

प्रकृति-पुरुष दोनों ये।
जिस अमन मन से उपजे।
वह पितामह त्रिभुवन में।
विश्व का मैं ॥२७२॥

और ज्ञान के सभी पन्थ।
पहुँचाते जिस गाँव पार्थ।
वेदों ने जिसे कहा वेद्य।
चौराहे पर ॥२७३॥

जहाँ नाना मतों का मिटता विवाद।
परस्पर शास्त्रों में होता संवाद।
भ्रमित ज्ञान जहाँ पहुँचते एकत्र।
जो कहाता पवित्र ॥२७४॥

वह ब्रह्मबीज में निकला अङ्कुर।
घोष — ध्वनि – नादाकार।
उस का भुवन जो ॐङ्कार।
वह मैं ही ॥२७५॥

जिस ॐङ्कार की कुक्षि से।
'अ उ म' अक्षर उपजते।
साथ ही वेदत्रय प्रगटे।
जिन के पार्थ ॥२७६॥

अतः ऋग् यजुः साम।
तीनों में ही कहे आत्माराम।
ऐसे में हो कुल क्रम।
शब्दब्रह्म का ॥२७७॥

यह समस्त चराचर।
समाता जिस प्रकृति के भीतर।
वह विश्राम पाती जहाँ पर।
मैं वह परमगति ॥२७८॥

प्रकृति जिये जिस आश्रय से।
जहाँ अधिष्ठित विश्व सिरजे।
जो प्रविष्ट होकर प्रकृति में।
भोगे त्रिगुण ॥२७९॥

उस विश्वश्री का भर्ता।
मैं ही, हे अर्जुन सखा।
मैं स्वामी त्रैलोक्य का।
एकमात्र ॥२८०॥

आकाश रहे सर्वत्र।
वायु क्षणभर न रहे स्थिर।
दहन करे पावक।
बरसे जल ॥२८१॥

पर्वत न छोड़ें आसन।
न लाँघे सीमा सागर।
पृथ्वी सब को करे वहन।
यह आज्ञा मेरी ॥२८२॥

मैं बुलाऊँ तो बोलें वेद।
मैं चलाऊँ तो चले सूर्य।
मैं हिलाऊँ तो हिलें प्राण।
जो जग को चलाते ॥२८३॥

मेरे द्वारा नियंजित।
काल भूतों को करता ग्रास।
ये सब जिस के पाण्डुसुत।
आज्ञाधारक ॥२८४॥

जो ऐसा समर्थ।
वही में जग का नाथ।
और गगन जैसा साक्षिभूत।
वह भी मैं ॥२८५॥

इन नामरूपों में सब।
जो भरा हुआ, पाण्डव।
नाम रूपों का आधार स्थल।
स्वयं ही जो ॥२८६॥

जैसे जल के कल्लोल।
और कल्लोल में जल।
वैसे जो बसाता सकल।
वह निवास मैं ॥२८७॥

जो मेरे अनन्य शरण।
उन का मिटाता मैं जन्म मरण।
अतः शरणागतों का शरण्य।
मैं ही एक ॥२८८॥

मैं एक ही अनेकपन से।
विभिन्न प्रकृति–गुणों से।
जीवित विभिन्न प्राणों में।
रहता प्रवृत्त ॥२८९॥

जैसे पोखर हो या समुद्र।
रवि प्रतिबिम्बित सर्वत्र।
वैसे मैं ब्रह्मादि कीट पर्यन्त।
सब का सुहृद ॥२९०॥

मैं हो सखे अर्जुन।
इस त्रिभुवन का जीवन।
सृष्टि–प्रभव–क्षय – कारण।
मूल मैं ही ॥२९१॥

शाखाओं को प्रसवे बीज।
फिर बीज में समाये वृक्षपन।
वैसे सङ्कल्प से उत्पन्न सब।
सङ्कल्प में लीन ॥२९२॥

ऐसे जग का बीज जो सङ्कल्प।
अव्यक्त – वासना – रूप ।
वह कल्पान्त में जहाँ निक्षिप्त।
वह स्थान में ॥२९३॥

नष्ट होते ये नामरूप।
वर्ण-व्यक्ति होते विलुप्त।
जहाँ जाति का मिटता भेद।
न रहे आकार ॥२९४॥

ये सङ्कल्प–वासना–संस्कार।
पुनः रचने को चराचर।
जहाँ स्थित रहते अमर।
वह निधान मैं ॥२९५॥

मैं सूर्य का वेष धर कर।
तपूँ तो सूखे सकल।
फिर बरसता इन्द्र हो कर।
तो भरता सब ॥२९६॥

अग्नि काष्ठ को खाता।
फिर काष्ठ ही अग्नि होता।
वैसे मरने–मारने वाला।
मेरा ही स्वरूप ॥२९७॥

अतः जो-जो मृत्यु का ग्रास।
वह मेरा ही स्वरूप।
और न मरनेवाला सहज।
हूँ मैं ही ॥२९८॥

अब कहूँ क्या बहुत।
एक बार में समझो सब।
कहलाते जो सत् रूप।
वह मैं हो अरे ॥२९९॥

अतः जहाँ मैं नहीं अर्जुन।
है कोई ऐसा स्थान ?
पर कैसे प्राणी भाग्यहीन।
जो मुझे न देखें ! ॥३००॥

पानी बिना तरङ्ग सूखे।
ज्योति बिना रश्मि न देखे।
वैसे मद्रूप भी मुझे न जानें।
कैसा विस्मय ॥३०१॥

भीतर-बाहर में व्याप्त।
निखिल जग मुझ से ओतप्रोत।
पर कैसे आड़े आये कर्म।
न मानें मुझे ॥३०२॥

अमृत कूप में अचानक पड़े।
और प्रयत्न कर के बाहर निकले।
उस अभागे को फिर क्या कहें।
कहो पार्थ! ॥३०३॥
पाने को ग्रासभर अन्न।
दस दिशा में भटके अन्ध।
ठुकराता चिन्तामणि पथ पर।
अन्धता-वश ॥३०४॥
ऐसे जो ज्ञान को त्यागता।
उस की होती यही दशा।
होता व्यर्थ किया-कराया।
ज्ञान-विना ॥३०५॥
अन्धे गरुड़ के भले हों पङ्ख।
पर उन का क्या उपयोग।
वैसे सत्कर्म हैं श्रममात्र।
ज्ञानविना ॥३०६॥
देखो सखे अर्जुन।
आश्रमधर्म-गत जिन का वर्तन।
विधिमार्ग की कसौटी रूप।
स्वयं जो होते ॥३०७॥
जिन के यजन में सकौतुक।
तीनों वेद झुकाते मस्तक।
खड़े रहते क्रियाफल।
सम्मुख जिन के ॥३०८॥
ऐसे दीक्षित जो सोमप।
जो स्वयं ही यज्ञस्वरूप।
वे भी पुण्य नाम से पाप।
कमाते अरे ॥३०९॥
जो जान कर श्रुतित्रय।
कर चुके शतवार यज्ञ।
पर यजित मुझ को छोड़ कर।
चाहते स्वर्ग ॥३१०॥
जैसे कल्पतरु के नीचे बैठ।
देवे फटी झोली में गाँठ।
फिर निकले माँगने भीख।
अभागा कोई ॥३११॥
वैसे शतक्रतुओं से मेरा यजन।
कर के चाहते स्वर्ग-सुख-सेवन।
क्या वस्तुतः वह पुण्य कर्म।
पाप नहीं? ॥३१२॥
मुझ से रहित जो पाते स्वर्ग।
वह अज्ञान का ही पुण्य मार्ग।
ज्ञानी उसे कहते उपसर्ग।
हानिप्रद ॥३१३॥
पाकर नरक के दुःख।
स्वर्ग को कहते सुख।
अन्यथा नित्यानन्द निर्दोष।
स्वरूप मेरा ॥३१४॥
मेरे समीप आने में सुभट।
भटकाते ये दोनों कुपथ।
स्वर्ग या नरक — ये पथ।
चोरों के ही ॥३१५॥
पुण्यात्मक पाप से मिलता स्वर्ग।
पापात्मक पापसे मिलता नरक।
जो मुझ से कराता मिलन।
वह शुद्ध पुण्य ॥३१६॥
अरे मुझ में रहते हुए।
जो मुझ से दूर करे।
उसे पुण्य कहने में।
क्यों जीभ न टूटे ॥३१७॥
पर रहने दो यह प्रस्तुत।
सुनो जो ऐसे दीक्षित।
मुझ से वे लेते माँगकर।
स्वर्गभोग ॥३१८॥

जो मुझे न कराते प्राप्त।
ऐसे पापरूप पुण्य।
पाने की उमङ्ग से भर।
जाते स्वर्ग ॥३१९॥

जहाँ अमरत्व ही सिंहासन।
ऐरावत जैसा वाहन।
राजधानी भुवन।
अमरावती ॥३२०॥

जहाँ महासिद्धि के भण्डार।
अमृत के कोठार।
जिस गाँव में प्रभूत गोधन।
कामधेनुओं का ॥३२१॥

जहाँ देव करते सेवा।
चिन्तामणि की भूमि जहाँ।
विनोद-वन वाटिका।
सुरतरुओं की ॥३२२॥

जहाँ गन्धर्व गायन करें।
रम्भा का नर्तन चले।
उर्वशी हो अन्तः पुर में।
मुख्य विलासिनी ॥३२३॥

शयनकक्ष में सेवक मदन।
चन्द्र करे शीतसंमार्जन।
किङ्कर बना पवन।
दौड़े जहाँ ॥३२४॥

स्वयं बृहस्पति मुख्य ब्राह्मण।
करते नित्य स्वस्तिवाचन।
स्तुतिपाठ करें सुरगण।
अनेक जहाँ ॥३२५॥

लोकपाल अधीन बने।
सामन्त पदवी में रहते।
उच्चैःश्रवा सामने चले।
शोभा बन ॥३२६॥

किम्बहुना ऐसे बहुत।
भोग इन्द्रसुख–सदृश।
भोगता रहता जब तक।
पुण्यलेश ॥३२७॥

जब पुण्यपूंजी होती क्षय।
तब छूट जाता इन्द्रपद।
आना पड़ता पुनः लौट कर।
मृत्युलोक में ॥३२८॥

जैसे धन खर्च करे वेश्याभोगी।
फिर छू न सके वह द्वार भी।
वैसी लज्जास्पद स्थिति होती।
दीक्षितों की ॥३२९॥

ऐसे सन्निहित मुझ को चूकें।
जो पुण्य से स्वर्ग चाहें।
अमरत्व खो कर लौटें।
मृत्युलोक में ॥३३०॥

फिर माता के उदर कुहर में।
पक कर विष्ठा की धानी में।
नौ मास उबल कर जन्म पाते।
पुनः मरण ॥३३१॥

अरे स्वप्न में मिला निधान।
जागने पर खोता सम्पूर्ण।
वैसा ही स्वर्ग-सुख अर्जुन।
वेदज्ञों का ॥३३२॥

अर्जुन ! यदि हुए भी वेदविद।
पर मुझे न जाना तो व्यर्थ।
कण छोड़ कर फटका तुष।
मानो उस ने ॥३३३॥

अतः एक मुझ से रहित।
यह त्रयी-धर्म है व्यर्थ।
मुझे जान, न जान अन्य।
तू होगा सुखी ॥३३४॥

जिन्हों ने सर्वभाव से चित्त।
किया मुझे समर्पित।
जैसे न करता गर्भस्थ।
कोई उद्यम ॥३३५॥

मुझ से अन्य कुछ भी।
प्रिय–प्राप्य जिन को नहीं।
मेरे नाम पर ही।
अर्पित जीवन ॥३३६॥

ऐसे अनन्यगति चित्त से।
जो मेरा चिन्तन करते।
मेरे उपासक वे।
मैं उन का सेवक ॥३३७॥

एक निष्ठा से जिस क्षण।
किया मेरा अनुसरण।
तब से उन का क्षेम चिन्तन।
कर्तव्य मेरा ॥३३८॥

फिर उन का जो भी करणीय।
मैं स्वयं करता सब वह।
जैसे अजातपक्ष का जीवन-पालन।
पक्षिणी करे ॥३३९॥

जो अपनी भूख-प्यास न जाने।
उस शिशु को माँ ही सँभाले।
प्राणपण से जो अनुसरते मुझे।
न लजाऊँ उन की सेवा में ॥३४०॥

यदि वे चाहते सायुज्य।
तो देता उन्हें वही यथेच्छ।
यदि रखते सेवाभिलाष।
तो उपजाऊँ प्रेम ॥३४१॥

ऐसे मन में रखते जो-जो भाव।
वह पूर्ण करता बारंबार।
उन्हें प्रदत्त का क्षेम-निर्वाह।
करता मैं ही ॥३४२॥

उन का योगक्षेम समस्त।
मुझ पर ही आता पाण्डुसुत।
जो सर्वभाव से आश्रित।
मुझ पर ही ॥३४३॥

अन्य सम्प्रदाय अनेक।
जो न जानते मुझे व्यापक।
जो अग्नि इन्द्र सूर्य–सोम।
आदि का करते यजन ॥३४४॥

वह भी मेरा ही होता यजन।
क्यों कि मैं ही विश्व अखिल।
पर वह पद्धति पड़ती विषम।
भजन की ॥३४५॥

देखो शाखा–पल्लव वृक्ष के।
उपजे नहीं क्या एक बीज से।
पर मूल में ही लाभप्रद।
जलसिञ्चन ॥३४६॥

दस इन्द्रियाँ विभिन्न।
हैं एक देह के अवयव।
और वे जो करतीं विषयसेवन।
पहुँचे एक ही स्थान ॥३४७॥

किन्तु बना कर स्वादु पकवान।
भरते न उन से कान।
बाँधते क्या सुरभि-सुमन।
नेत्र पर कभी? ॥३४८॥

मुख से ही होता रस-सेवन।
परिमल का रसिक घ्राण।
वैसे करें मेरा यजन।
सद्भाव से ॥३४९॥

मुझे न जान कर मेरा भजन।
होता केवल व्यर्थ प्रयत्न।
अतः कर्म का चक्षुरूप ज्ञान।
हो निर्दोष ॥३५०।

अन्यथा देखो पाण्डुसुत।
जितने यज्ञोपहार समस्त।
कौन इन का भोक्ता पार्थ।
मुझ से अन्य? ॥३५१॥
मैं सभी यज्ञों का आदि।
यजन कर्म की मैं ही अवधि।
क्यों मुझे भूलकर दुर्बुद्धि।
भजते अन्य देव? ॥३५२॥
जैसे गङ्गोदक अर्पण गङ्गा में।
करते देव–पितरों के लिये।
वैसे मेरे ही मुझे देते।
पर अन्य भाव से ॥३५३॥
अतएव वे पार्थ।
करते न मुझ को प्राप्त।
फिर अपनी आस्थानुसार।
पाते लोक ॥३५४॥
मन–वाणी–करणों से।
जो देवों को भजते।
वे देहपात के क्षण में।
होते देवरूप ॥३५५॥
अथवा पितरों के व्रत में।
जिनका चित्त टिके।
जीवन बीतने पर वे।
पाते पितृलोक ॥३५६॥
या क्षुद्र देवतादि भूत।
जिन के लिये परम दैवत।
वे अभिचार–पूर्वक उपासित।
जिन के द्वारा ॥३५७॥
उन का छूटे जब देह।
तब पाते वही भूतत्व।
सङ्कल्पानुसार फलित।
कर्म उनके ॥३५८॥

पर मुझे ही नयनों से देखा।
जिन्होंने मुझे ही केवल सुना।
मन से की मेरी भावना।
वाणी से वर्णन ॥३५९॥
जिन्होंने सर्वाङ्ग से सर्वत्र।
किया मुझे ही नमस्कार।
किया दान-पुण्यादि सब।
मेरे लिये ॥३६०॥
जिन्होंने किया मेरा ही अध्ययन।
मैं ही जिन का भोजन–पान।
जिन का सम्पूर्ण जीवन।
मेरे ही लिये ॥३६१॥
जो सर्वाङ्ग में वहें अहङ्कार।
कि पहन सकें भक्ति-अलङ्कार।
जग में जिन को एक लोभ।
केवल मेरा ॥३६२॥
जो मेरे काम से सकाम।
मेरे प्रेम से सप्रेम।
मुझ में मुग्ध हो कर सभ्रम।
न जानें लोक को ॥३६३॥
जो समझते मुझे ही शास्त्र।
मेरा ही जपते मन्त्र।
ऐसे जिनकी चेष्टामात्र।
मेरा भजन ॥३६४॥
वे मृत्यु से पूर्व ही।
मिल जाते मुझ में ही।
फिर मृत्यु–समय अन्य कहीं।
जायें कैसे? ॥३६५॥
अतः मद्याजी हुए जो मुझ।
वे पा चुके मुझ में सायुज्य।
जिन्होंने उपचारमिष किया समर्पित।
निज को मुझे ॥३६६॥

मुझे पाने को अर्जुन।
एक ही पथ आत्मसमर्पण।
अन्य किसी उपचारसे मिलन।
होता न मुझ से ॥३६७॥
यहाँ ज्ञानाभिमान ही अज्ञान।
सम्पन्नता-भान ही न्यूनपन।
जो माने स्वयं को कृतार्थजन।
वे कुछ भी नहीं ॥३६८॥
अथवा यज्ञ–दानादि पार्थ।
या तप आदि का गर्व प्रबल।
नहीं उन का तृणाधिक।
महत्त्व यहाँ ॥३६९॥
कहो ज्ञान के बल में।
वेद से कौन आगे?
अथवा बढ़ कर शेष से।
वाचाल कौन? ॥३७०॥
पर एक छिपा शय्या के नीचे।
दूसरा नेति-नेति कह रुके।
जहाँ सनकादि उन्मत्त बने।
कुछ कह न पाते ॥३७१॥
तपस्वियों की श्रेष्ठता में।
कौन शम्भु की पङ्क्ति में।
वे गर्व छोड़ धारण करें।
चरणोदक शीश पर ॥३७२॥
अथवा ऐश्वर्य की समता में।
लक्ष्मी तुल्य कौन जग में?
'श्री' जैसी दासी रहें।
जिन के घर में ॥३७३॥
जो खेल में बनाये घरोंदा।
नाम रखे अमरावती उसका।
तो बनते नहीं क्या गुड्डा-गुड़िया।
इन्द्रादिक उस में? ॥३७४॥
न रुचने पर वह घर तोड़े।
तो महेन्द्र भी रङ्क होते।
जिस वृक्ष की ओर वह देखे।
वही बने कल्पतरु ॥३७५॥
जिस की निकटवर्तिनी।
दासी समर्थ ऐसी।
वह लक्ष्मी मुख्य स्वामिनी।
नगण्य जहाँ ॥३७६॥
वह कर के सर्वस्व समर्पण।
छोड़ कर सब अभिमान।
पद प्रक्षालन का पात्र अर्जुन।
बनी भाग्य से ॥३७७॥
अतः जो महत्त्व दूर फेंककर।
शास्त्राभिमान त्याग कर।
रहें जग में नगण्य बन कर।
वे मेरे समीप ॥३७८॥
सहस्र किरण की दृष्टि-सम्मुख।
चन्द्र भी होता लुप्त।
वहाँ क्या दिखलाये खद्योत।
अपना तेज ॥३७९॥
जहाँ न चलता लक्ष्मी का महत्त्व।
पूरा न पड़ता शम्भु का तप।
वहाँ अन्य प्राकृत मूढ़ जन।
कैसे जानें? ॥३८०॥
अतः देह-ममता छोड़कर।
सभी गुण डाले वार कर।
सम्पत्तिमद करे न्यौछावर।
स्वात्मसहित ॥३८१॥
तब निस्सीम भाव-उल्लास से।
मुझे अर्पण के निमित्त से।
एक फल कोई भी अरे।
कहीं से भी ॥३८२॥

देता जब भक्त मुझे वह।
मैं लेता कर पसार उभय।
पा लेता डण्ठल सहित।
सादर तत्क्षण ।।३८३।।

अरे भक्तिके नाम से।
कोई फूल भी यदि दे मुझे।
न सूँघता केवल उसे।
लेता मुख में ।।३८४।।

अरे भक्ति के नाम से।
कोई भी एक पत्ता।
ताजा हो सूखा।
चाहे जैसा ।।३८५।।

पर भरा हो सर्वभाव से।
तो अमृत से तृप्त हो भूखा जैसे।
वैसे उसे बड़े सुख से।
आरोगूं पार्थ ।।३८६।।

अथवा यदि ऐसा ही योग हो।
कि पत्ता भी न जुटे किसी को।
पर जल का कहीं अकाल तो।
पड़ता नहीं ।।३८७।।

वह तो बिना मोल चाहे जहाँ।
मिल सकता श्रम के बिना।
वही सर्वस्वभाव से अर्पण किया।
जिस ने मुझे ।।३८८।।

उस ने वैकुण्ठ से भी विशाल।
बनाया मानो महल।
या कौस्तुभ से भी निर्मल।
दिये भूषण ।।३८९।।

या दुग्ध शय्या–सम्भार।
क्षीराब्धि से भी मनोहर।
मेरे लिये अपार।
रचा उस ने ।।३९०।।

कर्पूर चन्दन–अगर।
ऐसे सुगन्धों का महामेरु।
आरती में सजाया दिनकर।
दीपमाला सा ।।३९१।।

गरुड़ जैसा वाहन।
सुरतरु के उद्यान।
कामधेनु सा गोधन।
किया अर्पण ।।३९२।।

अमृत से भी अधिक सुरस।
पक्वान्न विविध दिये हों परोस।
ऐसा भक्त का उदकलेश।
देता परितोष ।।३९३।।

कहाँ तक कहूँ पार्थ तुझे।
देखा तूने निजदृष्टि से।
सुदामा की पोटली खोली मैंने।
तन्दुल के लिए ।।३९४।।

मैं जानता बस भक्ति एक।
न देखता फिर न्यूनाधिक।
मैं भाव का ही अतिथि रङ्क।
किसी के भी ।।३९५।।

जो भी पत्र–पुष्प–फल।
ये भजन के निमित्त केवल।
अन्यथा मुझे प्रिय निष्फल।
भक्तितत्त्व ।।३९६।।

अतएव सुनो पाण्डव।
तू बुद्धि को कर स्ववश सरल।
निज मनमन्दिर में सहज।
न भूल मुझे ।।३९७।।

फिर जो कुछ भी कर्म करे।
या कोई भोग भोगे।
या नानाविध यज्ञ करे।
वेद-विहित ।।३९८।

या पात्रविशेष को दे दान।
सेवकों को दे मानधन।
अथवा तप आदि व्रत–साधन।
स्वयं करे ॥३९९॥
वे क्रियाजात सम्पूर्ण।
हों स्वभावतः निष्पन्न।
पर भावना से सम्पन्न।
हों मेरे लिये ॥४००॥
और सर्वथा चित्त में।
कर्तृत्व का भाव न रहे।
परिशुद्ध कर्म ऐसे।
समर्पे मुझे ॥४०१॥
अग्नि कुण्ड में डाले बीज।
न होते जैसे अङ्कुरित।
वैसे न फलते मुझे अर्पित।
शुभाशुभ ॥४०२॥
यदि कर्म रहते शेष।
तो फलते सुख–दुःखरूप।
करने को वह भोग।
मिलता देह ॥४०३॥
यदि मुझे हों अर्पित कर्म।
तो मिटता मरण–जन्म।
जन्माधारित श्रम।
छूटता सब ॥४०४॥
अतः अर्जुन इस प्रकार।
प्रतीक्षा में न गँवाओ काल।
यह संन्यास-युक्ति सरल।
दे दी तुझे ॥४०५॥
इस देह–कारा में न पड़ो।
सुख-दुःखसागर में न गिरो।
सुख से सुखरूप हो रहो।
मेरे स्वरूप में ॥४०६॥

तुम पूछो यदि मैं कैसा?
तो सब भूतों में समान सदा।
जहाँ 'अपना' 'पराया' ऐसा।
भेद नहीं ॥४०७॥
यों जान कर मुझे ऐसा।
अहङ्कार का तोड़ घरौंदा।
प्राणपण से कर्म करते सदा।
भजते मुझे ॥४०८॥
वे वर्तमान दिखते देह में।
पर वस्तुतः रहते मुझ में।
और मैं उन के हृदय में।
रहता समग्र ॥४०९॥
सविस्तर वटत्व जैसे।
बीज-कणिका में रहे।
और बीज-कण बसे।
वट में जैसे ॥४१०॥
वैसे मैं और वह परस्पर।
बाहर नाम का ही अन्तर।
अन्यथा करें यदि वस्तुविचार।
तो मैं ही वह ॥४११॥
जैसे उधार आभूषण।
करे कोई धारण।
वैसा उन का देह–धारण।
उदास-भाव से ॥४१२॥
पवन-सङ्ग चला परिमल।
डण्ठल पर रहा फूल।
वैसे आयुष्य की मुट्ठी में केवल।
रहे देह ॥४१३॥
शेष सभी व्यापार।
मेरे भाव में आरूढ़।
मेरे स्वरूप में नित्य।
वह प्रतिष्ठित ॥४१४॥

ऐसे भजते जो प्रेमभाव से।
वे फिर शरीर नहीं पाते।
किसी भी जाति में हों भले।
उत्पन्न वे ॥४१५॥

आचार देखने से सुभट।
भले हों वे दुराचारी-मुकुट।
पर भक्ति के चौराहे पर समर्पित।
जीवन यदि ॥४१६॥

करे अन्तसमय जैसी मति।
वैसी आगे होती गति।
अतः भक्ति को दिया जीवन यदि।
अन्त में ॥४१७॥

तो भले हो दुराचारी पहले।
पर श्रेष्ठ ही समझो उसे।
जैसे महापूर में डूब निकले।
जीवित कोई ॥४१८॥

वह तट पर पहुँचे जीवित।
अतः 'डूबा' कहना हुआ व्यर्थ।
वैसे न रहते पाप शेष।
यदि अन्त में भक्ति ॥४१९॥

अतः भले हो दुष्कृती पहले।
पर अनुताप-तीर्थ में नहा ले।
फिर मेरी ही शरण ले रहे।
सर्व भाव से ॥४२०॥

तो हुआ पवित्र उस का कुल।
आभिजात्य वही निर्मल।
जन्म पाने का फल।
मिला उसे ॥४२१॥

उस ने किया अध्ययन सब।
उस ने किया सम्पूर्ण तप।
किया सम्यक् योगाभ्यास।
अष्टाङ्ग उसने ॥४२२॥

अहो पार्थ किम्बहुना।
वह कर्म से पार हुआ सर्वथा।
जिस की अखण्ड आस्था।
मेरे प्रति ॥४२३॥

सभी व्यापार मनोबुद्धि के।
एकनिष्ठा पेटी में भरे।
फिर मुझ को ही सौंप दिये।
जिसने पार्थ ॥४२४॥

वह होगा मम-सदृश यथाकाल।
यदि तेरे चित्त में हो यह भाव।
पर अमृत में ही जिसका निवास।
उस के मरण कैसे? ॥४२५॥

उदित नहीं जब सूर्य।
कहलाता रात्रि वह समय।
वैसे भक्ति से रहित कर्म।
महापाप नहीं क्या? ॥४२६॥

अतएव जिस का चित्त।
रहता मेरे सन्निकट।
तत्त्वतः वह पाण्डुसुत।
मेरा स्वरूप ॥४२७॥

जैसे दीप से जलायें दीप।
न पहचान रहती कौन प्रथम।
वैसे जो भजे सर्वस्व सहित।
वह हुआ मद्रूप ॥४२८॥

फिर मेरी जो नित्य शान्ति।
वही दशा और वही कान्ति।
किम्बहुना जीवनरीति।
मेरी ही वहाँ ॥४२९॥

अतः बारम्बार पार्थ।
कहूँ तुझ से कहाँ तक।
यदि हो मेरी अभिलाष।
भूलो न भक्ति ॥४३०॥

नहीं अपेक्षित उत्तम कुल।
नहीं प्रशंसित आभिजात्य।
विद्वत्ता का गौरव व्यर्थ।
चाहें क्यों? ॥४३१॥
अथवा रूप वयस् का मान।
सम्पन्नता का अभिमान।
यदि नहीं हो मेरा भाव।
तो व्यर्थ सब ॥४३२॥
कण-रहित बाल।
लगी हों वृक्ष पर सघन।
या हो कोई सुशोभित।
निर्जन नगर ॥४३३॥
या सरोवर सूख जाये।
दु:खी को दु:खी मिले वन में।
अथवा वन्ध्य पौधे में फूलें।
भरपूर फूल ॥४३४॥
वैसा वह सकल वैभव।
अथवा कुलजाति-गौरव।
जैसे शरीर हो सावयव।
पर प्राण नहीं ॥४३५॥
वैसे मेरी भक्ति से हीन।
जलने योग्य ही जीवन।
अरे पृथ्वी पर पाषाण।
होते न क्या? ॥४३६॥
थूहर की छाया सघन।
स्वीकारते नहीं सज्जन।
वैसे पुण्य न करता स्पर्श।
अभक्तों को ॥४३७॥
नीम निंबोलियों से भरा।
तो कौओं को सुकाल हुआ।
वैसे भक्ति से हीन जीया।
पाप के लिये ॥४३८॥
या षड्रस खप्पर में परोसे।
फिर चौराहे पर जा रखे।
तो श्वान का ही भोग बने।
जिस प्रकार ॥४३९॥
वैसा जो भक्तिहीन जीवन।
स्वप्न में भी न जाने पुण्याचरण।
मानो परोसा हुआ भोजन।
संसार दु:ख के लिये ॥४४०॥
अतः कुल उत्तम न हो भले।
अन्त्यज की ही जाति अरे।
अथवा पशु का ही मिले।
देह पार्थ ॥४४१॥
अरे गजेन्द्र को पकड़ा ग्राहने।
व्याकुल हो पुकारा उसने।
उस का पशुत्व न आया आड़े।
पाया मुझे ॥४४२॥
जिस का अनुचित लेना नाम।
जो अधमों से भी अधम।
ऐसी पापयोनि में जन्म।
पाया जिस ने ॥४४३॥
वे पापयोनि मूढ़।
मूर्ख मानो पत्थर।
पर मुझ में हो दृढ़।
सर्वभाव से ॥४४४॥
जिस की वाणी में मेरा आलाप।
दृष्टि भोगती मेरा रूप।
जिस के मन के सङ्कल्प।
चलते मेरे प्रति ॥४४५॥
मेरी कीर्ति से शून्य।
रहते नहीं जिनके श्रवण।
जिन के सर्वाङ्ग में भूषण।
मेरी सेवा ॥४४६॥

विषय न जाने जिस का ज्ञान।
जिसे रहता मेरा ही मान।
यह स्थिति ही जिस का जीवन।
अन्यथा मरण ॥४४७॥

इस प्रकार से पाण्डव।
जिस ने अपने सर्वभाव।
जीने का एकाधार।
बनाया मुझे ॥४४८॥

वे भले हों पापजाति में उत्पन्न।
भले न हो शास्त्राध्ययन।
पर तुलना में वे मुझ समान।
नहीं न्यून ॥४४९॥

जिस को भक्ति-सम्पन्नता से।
देव दैत्यों से न्यून हुए।
लेना पड़ा नृसिंहत्व मुझे।
जिसकी महिमा से ॥४५०॥

उस प्रह्लाद का मुझे छोड़।
किया स्मरण बहुतों ने पार्थ।
क्यों कि जो मैं देता मिले वह।
उस के स्मरण से ॥४५१॥

उसका सचमुच दैत्यकुल।
पर उस से न इन्द्रपद श्रेष्ठ।
अतः भक्ति ही यहाँ समर्थ।
जाति अप्रमाण ॥४५२॥

जैसे राजाज्ञा के अक्षर।
अङ्कित हों चर्मखण्ड पर।
तो उस से हो होती प्राप्त।
सकलवस्तु ॥४५३॥

अन्यथा सोना-रूपा नहीं प्रमाण।
बस राजाज्ञा ही समर्थ साधन।
तदङ्कित चमड़ा भी मूल्यवान।
क्रययोग्य ॥४५४॥

वही उत्तमत्व उपयोगी।
सर्वज्ञता सार्थक तभी।
भरें जब मनोबुद्धि।
मेरे प्रेम से ॥४५५॥

अतः कुल, जाति, वर्ण।
सभी ये हैं अकारण।
यहाँ मेरापन ही अर्जुन।
सार्थक एक ॥४५६॥

फिर चाहे जिस भाव से।
मन समाये मुझ में।
तब जाति-जीवन पहले।
होते व्यर्थ ॥४५७॥

'नाला' नाम तब तक रहे।
जब तक न गङ्गा में मिले।
फिर तो केवल हो रहे।
गङ्गारूप ॥४५८॥

अथवा खैर या चन्दन काष्ठ।
यह विभेद रहता तब तक।
जब तक न पड़ते एकत्र।
अग्नि में ॥४५९॥

वैसे स्त्री-वैश्य क्षत्रिय।
अथवा शूद्र अन्त्यजादि सब।
रहें जातियाँ पृथक् जब तक।
मिलें न मुझ में ॥४६०॥

फिर जाति व्यक्ति विलीन होते।
जब सर्व भाव से मुझ में मिलते।
लवण-कण घुलता जैसे।
सागर में ॥४६१॥

तब तक नद नदी नाम से।
पूर्व पश्चिमादि से आते रहते।
जब तक न आ समाते।
समुद्र में ॥४६२॥

किसी भी मिस से ऐसे।
चित्त मुझ में प्रवेशे।
हो इतना तब निश्चित रहे।
मद्रूप होना ॥४६३॥
अरे चाहे फोड़ने के लिये।
लोहा यदि पारस पर पड़े।
उसी मिलन-प्रसङ्ग में।
वह बनता स्वर्ण ॥४६४॥
देखो वल्लभ – भाव से।
व्रजाङ्गनाओं के चित्त मुझ में।
समाये तो क्या न हुए।
मत्स्वरूप ॥४६५॥
अथवा भय के व्याज से।
न पाया मुझे क्या कंस ने?
या अखण्ड वैरवश से।
चैद्यादि ने? ॥४६६॥
अरे सगे-सम्बन्धी होने से।
पाण्डव-यादव सभी ने।
और वसुदेवादि ने ममत्व से।
पाया सायुज्य ॥४६७॥
नारद, ध्रुव, अक्रूर।
शुक और सनत्कुमार।
इन की भक्ति से धनुर्धर।
मैं प्राप्य जैसा ॥४६८॥
वैसा हो गोपियों को काम से।
उस कंस को भय-संभ्रम से।
अन्य घातक मनोधर्म से।
शिशुपालादि को ॥४६९॥
अरे मैं एकमात्र प्राप्य।
पकड़ो चाहे कोई मार्ग।
भक्ति अथवा विषय विराग।
अथवा वैर ॥४७०॥

अतएव देखो पार्थ।
मुझ में पाने को प्रवेश।
उपायों का नहीं अभाव।
या न्यूनता ॥४७१॥
चाहे जिस जाति में ले जन्म।
भजन करे या विरोध।
पर बने वैरी या भक्त।
मेरा ही ॥४७२॥
हो कोई भी निमित्त।
मेरा हो गया यदि चित्त।
तो मद्रूप होना निश्चित।
हाथ आया ॥४७३॥
अतः पापयोनि भी, अर्जुन!
वैश्य, शूद्र या रमणीजन।
मुझे भजें तो पाते सदन।
मेरा ही ॥४७४॥
फिर वर्णों में जो छत्र चामर।
स्वर्ग जिन का अग्रहार।
मन्त्र विद्या के मातृगृह।
जो ब्राह्मण ॥४७५॥
जो पृथ्वीतल के देव।
जो तपोवतार सावयव।
सभी तीर्थों के दैव।
उदित जो ॥४७६॥
यज्ञ यहाँ अखण्ड बसते।
जो कवचरूप वेदों के।
जिनको दृष्टि के उत्सङ्ग में।
बढ़ता मङ्गल ॥४७७॥
जिन की आस्था की आर्द्रता से।
सत्कर्म सदा फूलें फलें।
जिये सत्य सङ्कल्प से।
जिनके पार्थ ॥४७८॥

जिन के शब्द-मात्र से।
आयुष्य पाया अग्नि ने।
निज जल दिया समुद्र ने।
सप्रेम ॥४७९॥

मैंने लक्ष्मी को किया दूर।
कौस्तुभ दिया उतार।
तब वक्षः स्थल को बनाया स्थान।
चरणरज का ॥४८०॥

अब भी जिन के चरणचिह्न।
हृदय में धरता मैं अर्जुन।
अपने सुभाग्य का रक्षण।
करने के लिये॥४८१॥

हे सुभट जिन का कोप।
कालाग्नि रुद्र का निवास।
जिन के प्रसाद से अनायास।
मिलती सिद्धि ॥४८२॥

ऐसे पुण्य-पूज्य जो ब्राह्मण।
मेरे प्रति जो अतिनिपुण।
वे पाते मुझे इस का समर्थन।
क्या करणीय? ॥४८३॥

अरे चन्दन के अङ्गानिल से।
स्पृष्ट नीम भी समीप के।
देवमस्तक पर स्थान पाते।
निर्जीव भी ॥४८४॥

फिर चन्दन वहाँ न चढ़े।
यह मन में कैसे धरें।
या चढ़ने पर समर्थन करें।
क्या उचित यह? ॥४८५॥

शान्ति की आशा से जब।
अर्धचन्द्र को भी शिव।
धारण करते निरन्तर।
मस्तक पर ॥४८६॥

तो सम्पूर्ण और शान्तिप्रद।
परिमल द्वारा चन्द्र से अधिक।
वह चन्दन सर्वाङ्ग में चर्चित।
हो न क्यों? ॥४८७॥

रथ्योदक जिस के आश्रय से।
अनायास समुद्र में मिले।
उस गङ्गा का क्या होगा अरे।
गत्यन्तर ॥४८८॥

अतएव राजर्षि या ब्राह्मण।
जिन का मैं हो गति-मति-शरण्य।
उन का निश्चित मैं निर्वाण।
मैं ही स्थिति ॥४८९॥

अतः शतजर्जर नाव में।
बैठे कैसे निश्चिन्त रहें।
या खुले देह से कैसे सहें।
शस्त्रवर्षा ॥४९०॥

देह पर गिरते हों पाषाण।
तो क्यों न स्वीकारें आच्छादन।
रोगी को कैसा उदासपन।
औषध से ॥४९१॥

चारों ओर हो दावानल।
वहाँ से क्यों न निकलें पाण्डव।
वैसे पा कर लोक सोपद्रव।
क्यों न भजें मुझे ॥४९२॥

यदि मेरा भजन न करे।
तो कौन सा बल उस के तन में।
घर या भोग में कौन उसे।
करे निश्चिन्त? ॥४९३॥

विद्या या वयस् में से।
कौन सा बल प्राणियों में।
मुझे न भज कर जिस के भरोसे।
मिले सुख! ॥४९४॥

जितने हैं भोग्य पदार्थ।
सभी निर्मित देह–सुखार्थ।
वह देह तो बनता ग्रास।
कालमुख में ।।४९५।।

यहाँ दुःख–माल के गट्ठर खुले।
मरण का ही माप चले।
उस मृत्युलोक की हाट में।
पहुँचे अन्त में ।।४९६।।

खरीदने को सुखमय जीवन।
ग्राहक बने यहाँ अर्जुन।
तो राख फूंकते जले दीपक।
क्या सम्भव ? ।।४९७।।

जैसे विषकन्द पीस कर।
निकालें रस निचोड़ कर।
उसी का नाम अमृत रखकर।
अमर होना ।।४९८।।

वैसा हो विषयों का सुख।
जो है केवल परमदुःख।
पर करें क्या, न रहते मूर्ख।
सेवन बिना ।।४९९।।

या अपना शीश काट कर।
बाँधें पाँव के घाव पर।
वैसे ही हैं सुख सकल।
मृत्युलोक के ।।५००।।

अतः मृत्युलोक में कथा सुख की।
सुनने को न मिले कभी।
अङ्गार–शय्या पर कैसी ?
सुखनिद्रा ? ।।५०१।।

जिस लोक में चन्द्र को रोग क्षय।
जहाँ अस्त के लिये होता उदय।
जहाँ सुख का कवच पहने दुःख।
छलता जग को ।।५०२।।

जहाँ मङ्गल के अङ्कुर ही में।
अमङ्गल की छाया पड़े।
उदर में मृत्यु झपटे।
गर्भ पर ।।५०३।।

जहाँ मिथ्या का चिन्तन करें।
तभी यमदूत ले चलें।
पहुँचायें किस गाँव में।
न मिले खोज ।।५०४।।

अरे सभी पथ खोजने से।
न दिखें पद-चिह्न किसी के।
पर गये हुओं की कथा कहते।
जितने पुराण ।।५०५।।

जहाँ अनित्यता न नापी जा सके।
ब्रह्मा की भी आयु से।
कैसा विनाश व्यापक अरे।
सर्वत्र यहाँ ।।५०६।।

ऐसा जो लोक प्रसिद्ध।
वहाँ जो पाते जन्म।
उन को निश्चिन्तता देख कर।
होता कौतुक ।।५०७।।

पर पाने को दृष्टादृष्ट फल।
धन न छुटता कौड़ीभर।
सर्वस्व-हानि के काम पर।
कोटि व्यय ।।५०८।।

जो विषय-विलास में ग्रस्त।
उन्हें मानते सुखी स्वस्थ।
जो अभिलाषभार से दबे त्रस्त।
उन्हें सज्ञान मानें ।।५०९।।

जिन की आयु अल्प शेष।
बल और प्रज्ञा पड़े मन्द।
उन्हें करते नमस्कार।
बड़े कह कर ।।५१०।।

ज्यों-ज्यों बालक बड़े होते।
माँ-बाप हर्ष से नाचते।
ग्लानि नहीं कि आयु घटे।
वृद्धि के साथ ॥५११॥
प्रतिदिवस जन्म के बाद।
निकट आ रहा काल।
मनाते जन्मदिन सोल्लास।
करते उत्सव ॥५१२॥
अरे 'मर' यह शब्द न सहते।
कोई मरे तो खूब रोते।
पर निज आयु जाती न दिखे।
मूर्खता से ॥५१३॥
सर्प मेंढक को रहा निगल।
वह फैलाये जीभ मक्खी पर।
वैसे प्राणी किस लोभ पर।
बढ़ाते तृष्णा? ॥५१४॥
अरे अरे कितनी बुरी।
उलट रीति इस लोक की।
यहाँ अर्जुन दैवात् ही।
जन्मे तुम ॥५१५॥
तब निकलो बाहर झटपट।
पकड़ो भक्ति की बाट।
जिस से पाओगे अव्यङ्ग।
निजधाम मेरा ॥५१६॥
तू मन मुझ में ही रख कर।
रख प्रेम मेरे भजन पर।
करो सर्वत्र नमस्कार।
मुझ एक को ॥५१७॥
मेरे अनुसन्धान से देख।
सङ्कल्प मिटा दे निःशेष।
मद्याजी यह नाम शुद्ध।
इसी का पार्थ ॥५१८॥
ऐसे होगा मुझ से युक्त।
पायेगा मेरा स्वरूप।
यह चित्त का रहस्य गुह्य।
कहता तुझे ॥५१९॥
अतः सब से चुरा-छिपाकर।
रखा था मैं ने जो सर्वस्व।
वह पा कर रहोगे सुख-निमग्न।
तुम पार्थ ॥५२०॥
ऐसे श्यामल परब्रह्म।
भक्त-काम-कल्पद्रुम ।
बोले स्वयं आत्माराम।
कहे सञ्जय ॥५२१॥
'सुना आप ने ध्यान सहित!'।
इस पर भी बूढ़ा रहा स्तब्ध।
जैसे बाढ़ से भी घिर कर।
उठे न भैंसा ॥५२२॥
तब सञ्जय ने हिलाया मस्तक।
कहा अरे! बरसा अमृत।
यहाँ रह कर भी दूसरे गाँव।
गया यह क्या? ॥५२३॥
पर यह तो हमारा स्वामी।
होगी इस वचन से दूषित वाणी।
करें क्या इस का सदा ही।
स्वभाव ऐसा ॥५२४॥
पर मेरा तो है सुभाग्य।
कि कहने को कहा यह वृत्तान्त।
कैसा बचाया मुनिराज।
श्रीव्यासदेव ने! ॥५२५॥
बस इतना बोला सायास।
रख कर अति दृढ़ मानस।
फिर न रह सका स्ववश।
सात्त्विक भाव से ॥५२६॥

चित्त हुआ चकित मुग्ध।
वाचा जहां की तहाँ स्तब्ध।
हुआ नख–शिख–पर्यन्त।
रोमाञ्चित ॥५२७॥

अर्धोन्मीलित लोचन।
बरसाते आनन्दाश्रुकण।
आन्तरिक सुखोर्मि से कम्पित।
काया बाह्य ॥५२८॥

फिर सभी रोम–मूलों में।
भरी निर्मल स्वेद-कणिकायें।
मानों मुक्ता–जाल पहने।
सुशोभित ॥५२९॥

ऐसे महासुख के अतिरस में।
जीवदशा लुप्त होना चाहे।
तब व्यास के आदेश ने।
रोका उसे ॥५३०॥

और श्रीकृष्ण के वचन।
सुने मानो करते गर्जन।
तब लौटा देह-स्मरण।
सञ्जय में ॥५३१॥

तब पोंछ कर नेत्रजल।
सर्वाङ्ग का स्वेद हटा कर।
बोला 'सुनिये ध्यान दे कर!'
धृतराष्ट्र से ॥५३२॥

श्री कृष्ण वाक्य उत्तम बीज।
सञ्जय सात्त्विक का खेत।
अतः श्रोता होंगे सुकालरूप।
प्रमेय–फसल के ॥५३३॥

अहो दीजिये किञ्चित् अवधान।
आनन्दराशि पर डालें आसन।
श्रवणेन्द्रिय को माल्यार्पण।
किया दैव ने ॥५३४॥

अब विभूति के स्थान। अर्जुन को कहेंगे सिद्धराज।
वह सुनिये कहे ज्ञानदेव। निवृत्तिसुत ॥५३५॥

इति श्रीमद्ज्ञानेश्वरविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीता – 'भावार्थ दीपिकायाम्' राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्याय: ॥

॥ हरि: ॐ तत् सत् ॥

॥ हरिः ॐ ॥

दशम अध्याय

नमो विशद–बोध–विदग्ध।
विद्यारविन्द – प्रबोधक।
परा – प्रमेय – प्रमदावर, – ।
– विलासी प्रभो! ॥१॥

नमो संसार-तम के सूर्य।
अप्रतिम परमवीर्य।
तरुणतर तुर्या के प्रिय।
लालन-लीलामय ॥२॥

नमो जगदखिल-पालन।
मङ्गल – मणि – निधान।
सज्जन-वन के चन्दन।
आराध्यलिङ्ग! ॥३॥

नमो चतुरचित्तचकोर-चन्द्र!
आत्मानुभव – नरेन्द्र!
श्रुतिसार – समुद्र!
मन्मथमन्मथ! ॥४॥

नमो सुभावभजनभाजन।
भवेभ-कुम्भ-भञ्जन।
विश्वोद्भव – भुवन।
श्रीगुरुराज ॥५॥

आप का अनुग्रह-रूप गणेश।
यदि दे अपना "सौरस"।
तभी सारस्वत में प्रवेश।
पाये बालक ॥६॥

अहो दैविकी उदार वाचा।
यदि दे सङ्केत अभय का।
तो नवरस-सुधाब्धि का।
मिलता पार ॥७॥

यदि आप की स्नेह-शारदा।
करे स्वीकार मूक का।
तो वह वाचस्पति से स्पर्धा।
करता सहज ॥८॥

आप की दृष्टि पड़े जिस पर।
या माथे पर हो पद्मकर।
वह जीव भी होता समस्तर।
महेश के ॥९॥

ऐसा जिन की महिमा का गौरव।
करूँ कैसे वाचाबल से वर्णन।
क्या सूर्य के अङ्ग में उबटन।
लगाया जाता? ॥१०॥

कल्पतरु को कैसा पुष्पमण्डप।
क्षीरनिधि का किस से आतिथ्य।
कर्पूर को कौन सा परिमल।
करे सुवासित? ॥११॥

किस से चर्चित करें चन्दन।
अमृत का किस में हो रन्धन।
गगन के ऊपर मण्डप।
बाँधें कैसे! ॥१२॥

वैसे श्रीगुरुमहिमा का मान।
करने को क्या हो साधन।
यह जान कर मौन नमन।
किया मैं ने ॥१३॥

यदि प्रज्ञा सम्पत्ति के बल से।
श्रीगुरुसामर्थ्य का वर्णन करें।
तो मोती पर पानी चढ़ाने –।
जैसा होगा ॥१४॥

या कनक पर रजतलेपन।
वैसा शब्दों से गुरुस्तवन।
अतः रखें श्रीचरण पर मस्तक।
यही उचित ॥१५॥

फिर कहा हे गुरुनाथ।
देखा आप ने ममत्व-भर।
अतएव बना मैं प्रयागवट।
कृष्णार्जुन-सङ्गम का ॥१६॥

पहले 'दूध दो' कहने पर।
क्षीरसागर की कटोरी भर।
रखी उपमन्यु के सम्मुख।
शिव ने जैसे ॥१७॥

या वैकुण्ठ-पीठ-नायक ने।
रूठे ध्रुव को कौतुक से।
ध्रुवपद-रूप मिठाई से।
मनाया जैसे ॥१८॥

वैसे जो ब्रह्म-विद्या-वरिष्ठ।
सभी शास्त्रों का विश्राम श्रेष्ठ।
वह भगवद्गीता ओवीबद्ध।
गवाई मुझ से ॥१९॥

जिस शब्दवन में भटकने पर।
न मिलते कोई शब्द सफल।
उस वाणी को बनाया कल्पवेल।
विवेक की ॥२०॥

जो थी देह-बुद्धि अखण्डित।
उसे बनाया आनन्द-भाण्डारगृह।
और मन का बना जल-शयन।
गीतार्थसागर में ॥२१॥

ऐसे जो देव के लीलाविहार।
कहूँ कैसे मैं वे अपार।
पर करूँ ढिठाई से अनुवाद।
कीजिये सहन ॥२२॥

अब आप के कृपाप्रसाद से।
भगवद्गीता का ओवी छन्द में।
पूर्व खण्ड पूर्ण आनन्द से।
किया वर्णित ॥२३॥

पहले में अर्जुन का विषाद।
द्वितीय में कहा योग विशद।
पर सांख्यबुद्धि से भेद।
दिखाते हुए ॥२४॥

तृतीय में केवल कर्म प्रतिष्ठित।
चतुर्थ में प्रगट ज्ञान सहित।
पञ्चम में सुव्याख्यात।
योगतत्त्व ॥२५॥

वही षष्ठ में प्रगट।
आसनादि तक स्पष्ट।
जीवात्मभाव एकनिष्ठ।
होता जिस से ॥२६॥

वैसी ही वह योगस्थिति।
और योगभ्रष्टों की जो गति।
वह समस्त उपपत्ति।
कही षष्ठ में ॥२७॥

तदनन्तर सप्तम में।
प्रकृति–परिहार उपक्रम से।
जो पुरुषोत्तम को भजते।
वे कहे चार ॥२८॥

फिर सप्त प्रश्नविधि।
कही प्रयाण-समय-सिद्धि।
ऐसे सकल-वाक्यावधि।
अष्टमाध्याय में ॥२९॥

शब्दब्रह्म में असंख्य।
निपजते जो अभिप्राय।
उतने महाभारत में प्राप्त।
एकलक्ष में ॥३०॥

जितना समस्त महाभारत में।
वह मिले कृष्णार्जुन संवाद में।
और जो अभिप्राय सप्तशत में।
वह अकेले नवम में ॥३१॥
उस नवम के अभिप्राय में।
सहसा मुद्रा लगाने में।
भयभीत हुआ मैं व्यर्थ कैसे।
गर्व करूँ? ॥३२॥
अरे गुड़, मिश्री और राब।
हैं एक ही रस के भेद।
पर मधुरता का स्वाद।
जैसे विभिन्न ॥३३॥
एक जान कर बोलते।
एक उस का स्थान बताते।
कोई जानने में खो जाते।
ज्ञान–गुण–सहित ॥३४॥
ऐसे ये अध्याय गीता के।
पर अनिर्वाच्यता नवम में।
किये अनूदित तव सामर्थ्य से।
प्रभो मैं ने ॥३५॥
अहो किसी का वस्त्र बना तपन।
किसी ने किया नव सृष्टि–सर्जन।
एक उतरे तैरा कर पाषाण।
समुद्रपार ॥३६॥
एक ने सूर्य पकड़ा आकाश में।
एक ने सागर भरा घूँट में।
मुझ मूक से बुलवाया तुमने।
अनिर्वाच्य वैसे ॥३७॥
पर रहने दें यह कथन ऐसा।
कि राम–रावण–युद्ध कैसा?
राम–रावण का हुआ जैसा।
समर–मिलन ॥३८॥

वैसे नवम में श्रीकृष्ण वचन।
कहे मैंने नवम के समान।
निर्णय यह जाने तत्वज्ञ जन।
जिन्हें गीतार्थ करगत ॥३९॥
इस प्रकार पहले नौ अध्याय।
मुझ से यथामति व्याख्यात।
अब उत्तरखण्ड प्रस्तुत।
सुनें ग्रन्थ का ॥४०॥
जहाँ विभूति प्रति–विभूति।
कहेंगे अर्जुन के प्रति।
वह विदग्ध–रसवृत्ति भरी।
होगी कथा ॥४१॥
देशी की नागरता से।
शान्त शृङ्गार को जीते।
तब ओवी आभूषण बने।
साहित्य का ॥४२॥
मूल ग्रन्थ की संस्कृत।
फिर मराठी सम्यग् अधीत।
अभिप्राय समझें उचित।
तो न पहचानें मूल कौन? ॥४३॥
जैसे सुन्दर काया पर।
सुशोभित हों अलङ्कार।
तो किस से कौन अलङ्कृत।
न कह सकें ॥४४॥
वैसे देशी भाषा और संस्कृत।
एक भावार्थ के सुखासन पर।
कितनी सुरम्य सुशोभित।
सुहृदय सुनिये ॥४५॥
उदित भावों को देते रूप।
तब रसवृत्ति की होती पावस।
चातुर्य कहे मैं सुशोभित।
हुआ यहाँ ॥४६॥

वैसे देशी का लावण्य।
रसों में लाया तारुण्य।
उसी से रचे अगण्य।
गीतातत्व ॥४७॥

जो चराचर के परम गुरुवर।
चतुरचित्त के चमत्कार।
सुनिये वे यादवेश्वर।
कहने लगे ॥४८॥

निवृत्ति का ज्ञानदेव कहे।
श्रीहरि ऐसे बोले उस से।
अर्जुन! सब बात चित्त से।
सुन रहा तू? ॥४९॥

पहले मैंने जो किया निरूपण।
उस से देखा तेरा अवधान।
वह तो न था अपूर्ण।
दिखा समग्र ॥५०॥

घट में थोड़ा जल डालें पहले।
न टपके तो पूरा भरें।
तेरे श्रवण को देखकर होता ऐसे।
कि सुनाऊँ और ॥५१॥

मानो अनजान को सर्वस्व सौंपकर।
बनाते भण्डारी सचाई परखकर।
वैसा तू हुआ सुभद्रावर।
निधान मेरा ॥५२॥

अर्जुन को देख सर्वेश्वर।
बोले अतीव आदर से भर।
जैसे देखकर गिरिवर।
उमड़े मेघ ॥५३॥

वैसे वे कृपालु राज।
बोले सुनोजी महाभट!
पूर्वोक्त ही अभिप्राय।
पुनः कहता ॥५४॥

प्रतिवर्ष खेत जोतें।
ज्यों-ज्यों फसल बढ़ती देखें।
कभी श्रम से न ऊबें।
इसीलिये ॥५५॥

बार-बार पुट चढ़े।
इस से सोने का कस बढ़े।
अतः शोधन प्रिय लगे।
स्वर्ण का पार्थ ॥५६॥

वैसे ही यहाँ पार्थ।
नहीं तुझ पर आभार।
मैं अपने ही स्वार्थवश।
पुनः कहता ॥५७॥

जैसे आभूषणों से शिशु को सजायें।
उस शृङ्गार को शिशु क्या जाने!
पर उस शोभा का सुख पायें।
माँ की दृष्टि ॥५८॥

वैसे तेरा हित समस्त।
ज्यों-ज्यों समझे तेरा चित्त।
त्यों-त्यों होता द्विगुणित।
मेरा सुख ॥५९॥

अब रहने दूँ यह अलङ्कृति।
तुझ पर जो मेरी प्रीति।
उसी से न होती तृप्ति।
बोलने से ॥६०॥

पार्थ! मैं इसी कारण से।
बारबार वही कहता तुझे।
अस्तु, अब अन्तः करण से।
दो अवधान ॥६१॥

सुनो-सुनो जी सुमर्म।
ये वाक्य मेरे परम।
अक्षरकाया में परब्रह्म।
करे आलिङ्गन तुझे ॥६२॥

पर किरीटी तू मुझे।
जाने नहीं यथार्थ में।
यह जो में सम्मुख तेरे।
यही विश्वरूप ॥६३॥

यहाँ मूक हुए वेद।
पङ्गु हुए मन-प्राण।
रात्रि बिना अस्तङ्गत।
रवि-रश्मि ॥६४॥

अरे उदर का गर्भ जैसे।
माँ का वयस् न देख सके।
सब देवों के प्रति में वैसे।
अज्ञात ही ॥६५॥

जलचर न जानें उदधि का मान।
मशक न लाँघ सके गगन।
वैसे महर्षियों का ज्ञान।
मुझे न देखे ॥६६॥

में कितना और कौन।
हुआ कहाँ से उत्पन्न।
इस के निर्णय में अर्जुन।
कल्प बीते ॥६७॥

क्योंकि जितने महर्षि और देव।
अन्य भी भूतजात सर्व।
सब का में मूल पाण्डव।
अतः दुर्ज्ञेय ॥६८॥

उतरा उदक यदि पर्वत चढ़े।
या बढ़ कर वृक्ष मूल में लगे।
तो मुझ से उत्पन्न जग मुझे।
सके जान ॥६९॥

यदि बीज में वटवृक्ष दिखे।
या तरङ्ग में सागर समाये।
किंवा परमाणु में सिमटे।
भूगोल यह ॥७०॥

तो मुझ से उत्पन्न जीव।
महर्षि अथवा देव।
जानें मुझे यह सम्भव।
हो पाण्डव ॥७१॥

तब भी कदाचित् कोई पार्थ !
सब प्रवृत्ति से होकर निवृत्त।
सर्वेन्द्रियों से परावृत्त।
होवे यदि ॥७२॥

प्रवृत्त भी पीछे लौटे।
देहभाव को छोड़ सके।
और महाभूतों के चढ़े।
मस्तक पर ॥७३॥

वहाँ पर जो स्थिर रहे।
फिर निर्मल स्वप्रकाश में।
मेरा अजत्व देखे।
निजनयन से ॥७४॥

में हूँ आदि से पर।
सकल – लोक – महेश्वर।
ऐसे मुझ को जो नर।
जाने इस प्रकार ॥७५॥

वह पाषाणों में पारस।
रसों में वह सिद्धरस।
मनुष्याकृति में उसे अंश।
जानो मेरा ॥७६॥

वह ज्ञान का सचल बिम्ब।
उस के अवयव सुखगर्भ।
उसकी मनुष्यता केवल।
लौकिक भ्रम ॥७७॥

अरे कपूर में कभी अचानक।
मिल जाय कोई हीरक।
उस पर पड़े यदि उदक।
गले न वह ॥७८॥

वैसे मनुष्यलोक में।
भले वह प्राकृत दिखे।
किन्तु उसे न स्पर्शे।
प्रकृतिदोष ॥७९॥

उसे छोड़ जाते स्वयं पाप।
जैसे जलते चन्दन को सर्प।
जो मुझे जाने उसे सङ्कल्प।
त्यागते वैसे ॥८०॥

उस मुझ को जाने कैसे ?
यदि यह तेरे चित्त में उठे।
तो क्या मैं, क्या मुझ उत्पन्न से।
वह सुनो अब ॥८१॥

जो विविध भूतों में।
सदृश हो कर प्रकृति के।
प्रसृत हुआ त्रिलोक में।
सर्वत्र पार्थ ॥८२॥

वहाँ प्रथम जानो बुद्धि।
फिर ज्ञान को निरवधि।
असम्मोह, सहन, – सिद्धि।
क्षमा सत्य ॥८३॥

शम–दम–उभय पार्थ।
सुख–दुःख लोकगत।
भाव और अभाव निहित।
मुझ भाव में ही ॥८४॥

भय और निर्भयता।
अहिंसा और समता।
तुष्टि, तप, दान सदा।
पाण्डुसुत ॥८५॥

अपकीर्ति और यश।
जो भाव दिखते सर्वत्र।
वे मुझ से उत्पन्न हो कर।
भूतों में स्थित ॥८६॥

जैसे प्राणी भिन्न – भिन्न।
वैसे इन्हें भी जानो विभिन्न।
कोई मेरे ज्ञान से उत्पन्न।
कोई अज्ञान से ॥८७॥

प्रकाश और तिमिर।
दोनों सूर्य से जनित।
उदय से दिखता प्रकाश।
अस्त से तम ॥८८॥

फिर मुझे जानना न जानना।
भूतों के भाग्य पर निर्भर सदा।
अतएव भूतों में रहती विषमता।
भावों की ॥८९॥

ऐसे मेरे भावों में।
जीवसृष्टि यह सब अरे।
उलझी हुई सी दिखे।
पाण्डुकुँवर ॥९०॥

अब इस सृष्टि के पालक।
जिन के आधीन रहते लोक।
वे ग्यारह भाव प्रमुख।
कहूँ तुझे ॥९१॥

सभी गुणों में वृद्ध।
जो महर्षियों में प्रबुद्ध।
कश्यप आदि प्रसिद्ध।
सप्त ऋषि ॥९२॥

और जो कथित।
चतुर्दश में प्रमुख।
स्वयम्भू आदि मुख्य।
चार मनु ॥९३॥

ऐसे ये एकादश।
मेरी सृष्टि मानस।
इन का हेतु पाण्डव।
सृष्टि व्यापार ॥९४॥

न थी जब लोक-व्यवस्था।
न हुई त्रैलोक्य रचना।
तब समुदाय महाभूतों का।
था अक्रिय ॥९५॥
तब ये एकादश उदित।
इन्हीं से लोक निर्मित।
वहाँ अध्यक्ष किये नियोजित।
इन्होंने ही ॥९६॥
अतः ये एकादश राजा।
अन्य जगत् इन की प्रजा।
ऐसा विश्व-विस्तार मेरा।
हुआ जानो ॥९७॥
देखो आरम्भ में एक बीज।
उस में से फूटा अङ्कुर।
उस के बढ़ने से प्रारम्भ।
तने का ॥९८॥
तने में से फिर अनेक।
फूट आते शाखादिक।
फिर शाखाओं से पल्लव।
निकलते देखो ॥९९॥
फिर पल्लवों से फूलफल।
ऐसे वृक्षत्व हुआ सकल।
निर्धारण करें तो केवल।
बीज ही सब ॥१००॥
वैसे पहले मैं एक।
मुझ से हो मन उद्भूत।
उस में से हुए ऋषि सप्त।
चार मनु ॥१०१॥
इन्होंने बनाये लोकपाल।
लोकपालों ने सृजे विविध लोक।
लोकों में फिर प्रजाजात।
निष्पन्न सकल ॥१०२॥

इस प्रकार इस विश्व में।
मैं ही हुआ प्रसृत, सखे।
जिसे विश्वास इस वचन में।
वह जाने मुझे ॥१०३॥
इसलिये सुभद्रापति।
ये भाव हैं मेरी विभूति।
और इसी की व्याप्ति।
व्याप्त जग में ॥१०४॥
इसीलिये यहाँ पर।
ब्रह्मा से पिपीलिका तक।
मुझ से भिन्न दूसरा कुछ।
है ही नहीं ॥१०५॥
वस्तुतः जो जाने यह।
हुआ ज्ञान में जागृत वह।
अतः न देखे उत्तमाधम।
भेद-दुःस्वप्न ॥१०६॥
मैं और मेरी विभूति।
विभूति में अधिष्ठित व्यक्ति।
इन सकल का ऐक्य जाने।
योगप्रतीति से ॥१०७॥
अतः निःशङ्क इस महायोग से।
वह मुझ में समाया मन-प्राण से।
अनावश्यक संशय न लेश इस में।
कहूँ त्रिवार ॥१०८॥
अथवा जो करे अर्जुन।
अभेद दृष्टि से मेरा भजन।
उस के भजन में साद्यन्त।
मैं होता बद्ध ॥१०९॥
अतः अभेदमय जो भक्तियोग।
निःसंशय और अखण्ड।
अपूर्ण रहे तो भी सदुपयोग।
कहा षष्ठ में ॥११०॥

वह अभेद होता कैसा ?
यदि जानने की अभिलाषा।
तो सुनो विवरण उसका।
कहूँ तुझे ॥१११॥

मैं ही एक अर्जुन।
सब जग का जन्मस्थान।
मुझ से होता सम्पूर्ण।
निर्वाह इस का ॥११२॥

कल्लोल-माला अनेक।
जल में ही सब का जन्म।
जल ही उन का आश्रयस्थल।
जल ही जीवन ॥११३॥

ऐसे उन में सर्वत्र।
जल ही जल व्याप्त।
वैसे न मुझ से अन्य।
इस विश्व में ॥११४॥

ऐसे व्यापक मुझे।
जान कर कहीं भी भजें।
किन्तु उदित हुआ रहे।
प्रेमभाव ॥११५॥

देश काल वर्तमान।
सब मुझ से कर के अभिन्न।
जैसे वायु होकर गगन।
गगन में विचरे ॥११६॥

जो निजज्ञानी ऐसे।
त्रिभुवन में सुख से खेलते।
जगद्रूप मुझ में समाये।
अन्तःकरण से ॥११७॥

जो-जो मिलते भूत।
उन्हें मानते भगवन्त।
यह भक्तियोग निश्चित।
जानो मेरा ॥११८॥

चित्त से हुए मद्रूप।
प्राण मुझ से ही सन्तृप्त।
जीवन–मरण विस्मृत।
बोधानन्द-मग्न ॥११९॥

उस बोध के आनन्द में।
संवाद सुख के तरङ्ग में।
परस्पर वे लेते-देते।
आत्मबोध ही ॥१२०॥

जैसे निकटस्थ दो सरोवर।
अधिक बढ़ें तो मिलें परस्पर।
तब तरङ्ग ही तरङ्गों का घर।
बनता पार्थ ॥१२१॥

वैसे परस्पर मिलन में।
आनन्द–कल्लोल की वेणी गुँथे।
वहाँ बोध के आभूषण पहने।
सुशोभित बोध ॥१२२॥

जैसे सूर्य सूर्य की आरती उतारे।
चन्द्र चन्द्र को आलिङ्गन करे।
अथवा समान जलप्रवाह मिलें।
परस्पर ॥१२३॥

ऐसे सामरस्य का बनता प्रयाग।
फेन से तिरते सात्त्विक भाव।
वे सँवाद-चौक के गणेश।
बनते पार्थ ॥१२४॥

वे महासुख की उमंग में भरे।
देहग्राम के बाहर दौड़े आते।
मुझ से संतृप्त उद्गारों में।
करते गर्जन ॥१२५॥

गुरु-शिष्य के एकान्त में।
जिस एकाक्षर की चर्चा चले।
उसे मेघगर्जन सस्वर कहते।
त्रिजगत् में ॥१२६॥

जैसे कमल-कलिका विकसित।
न जाने छिपाना मकरन्द।
राय रङ्क को कराती पारण।
आमोद का ॥१२७॥

ऐसे विश्व में करते मेरा मान।
कथनानन्द में भूलते कथन।
उस भूल में होता विलीन।
देहभान ॥१२८॥

इस प्रेम की असीमता में।
रात्रि-दिवस जाते न जानें।
मेरे सुख में निमग्न हुए।
सम्पूर्ण जो ॥१२९॥

उन्हें मैं जो कुछ अर्जुन।
देना चाहूँ प्रसन्न मन।
पा चुके वे उसका उत्तम।
भाग पहले ही ॥१३०॥

अथवा वे जिस वाट।
निकल चले हे सुभट।
उस की सुखदता के सम्मुख।
स्वर्गापवर्ग तुच्छ ॥१३१॥

उन्होंने जो किया प्रेम धारण।
वे कर चुके मेरा उत्तम ग्रहण।
पर कहते उसे मेरी देन।
वे ही अर्जुन ॥१३२॥

अब यही रहता मेरा कार्य।
कि उनका सुख बढ़े निरन्तर।
काल की दृष्टि न पड़े उस पर।
कभी पार्थ ॥१३३॥

लाड़ले बालक की माँ अर्जुन।
स्नेह-दृष्टि का लिये वेष्टन।
खेलते हुए के पीछे रक्षण।
करती धावे ॥१३४॥

वह जो भी खिलौना माँगे।
वह सोने का बना कर रखे।
उपासना-पथ को मैं वैसे।
करता पोषित ॥१३५॥

जिस मार्ग की सुपुष्टि से।
सुखपूर्वक वे पावें मुझे।
उस पथ का पोषण करूँ सखे।
मैं प्रेमवश ॥१३६॥

भक्तों का मुझ पर प्रेमभाव।
मुझे भी अनन्यगति का चाव।
क्यों कि प्रेमियों का ही भाव।
मेरे घर में ॥१३७॥

देखो बनाये स्वर्गापवर्ग।
सकामों को दिये दोनों मार्ग।
शेष को दिया निज सर्वाङ्ग।
लक्ष्मी सहित ॥१३८॥

पर 'मैं'पन से रहित एक।
जो प्रेम का उत्कृष्ट सुख।
वह प्रेमियों के लिये देख।
रखा जतन से ॥१३९॥

यहाँ तक कि हे अर्जुन।
निज को देकर स्वीकारूँ प्रेमीजन।
उचित नहीं यह कथन।
शब्दों में ॥१४०॥

अतः मुझ में ही आत्मभाव।
जिन के जीवन का आधार।
मेरे बिना सकल व्यर्थ।
जिन के लिये ॥१४१॥

उन शुद्ध तत्त्वज्ञों के लिये।
कर्पूर को मशाल धरे।
मैं चलता आगे-आगे।
बन मशालची ॥१४२॥

अज्ञान को रात्रि में।
जो तम का प्रसार बढ़े।
उसे नष्ट कर उन के लिये।
करता नित्योदय ॥१४३॥
ऐसे प्रेमियों के प्रियोत्तम।
बोले जब पुरुषोत्तम।
कहा अर्जुन ने मनोधर्म।
सन्तुष्ट मेरे ॥१४४॥
बोला सुनिये प्रभो।
संसार-कचरा हटा अहो।
जननी-जठरानल से सदा को।
हुआ मुक्त ॥१४५॥
देखा मैंने निज जन्म।
अपने नयनों से आज।
जोवन-मर्म आया हाथ।
प्रतीति ऐसी ॥१४६॥
आज उज्ज्वल आयुष्य।
उदित हुआ सौभाग्य।
जो वाक्य-कृपा पायी जीभर।
प्रभु-मुख से ॥१४७॥
इन वचनों के प्रकाश में।
भीतर-बाहर तम मिटे।
अतः सच्चा स्वरूप दिखे।
तुम्हारा मुझे ॥१४८॥
तुम्हीं हो परब्रह्म।
महाभूतों का विश्रामधाम।
तुम ही पवित्र परम।
जगन्नाथ ॥१४९॥
त्रिदेवों में तुम परमदेव।
तुम्हीं पच्चीसवें पुरुष।
प्रकृति – भाव से अतीत।
दिव्यतत्त्व ॥१५०॥
स्वामी तुम अनादि-सिद्ध।
जन्मधर्म से अनाकलित।
तुम्हीं हो यह समस्त।
जाना आज ॥१५१॥
तुम कालयन्त्र के सूत्रधार।
जीवकला के आधार।
धारा तुम ने ब्रह्मकटाह।
यह हुआ स्पष्ट ॥१५२॥
और एक प्रकार से।
इस प्रतीति को सत्यता दिखे।
कि पहले ऋषीश्वरों ने।
ऐसा ही कहा ॥१५३॥
सत्यता उन कथनों की।
अन्तःकरण ने आज देखी।
क्योंकि आपने कृपा की।
मुझ पर देव ॥१५४॥
नारद जो नित्य निकट।
गाते रहते ऐसे वचन।
पर उन का अर्थ न समझ कर।
पाया गीतसुख ही ॥१५५॥
अहो अन्धों के गाँव में।
स्वयं ही जब सूर्य प्रगटें।
केवल ऊष्मा उन को मिले।
प्रकाश नहीं ॥१५६॥
देवर्षि अध्यात्म गायें।
तो राग–माधुरी जो प्रगटे।
चित्त उसी का आनन्द ले।
न समझे अन्य ॥१५७॥
असित-देवल आदि के मुख से।
आप के वर्णन सुने ऐसे।
पर बुद्धि तब विषय–विष में।
थी व्याप्त ॥१५८॥

विषय–विष का यह प्रताप।
कि कटु लगे मधुर परमार्थ।
और कटु विषय लगते मधुर।
जीवों को ॥१५९॥
औरों की क्या बात कहूँ।
स्वयं आकर प्रासाद में।
आप का पूर्ण स्वरूप व्यास ने।
सर्वदा कहा ॥१६०॥
अंधेरे में चिन्तामणि प्राप्त।
जैसे बुद्धि से होता उपेक्षित।
फिर दिन होने पर अवगत।
होता वह ॥१६१॥
वैसे व्यासादि के वचन।
थे चिद्रत्नों की खान।
तुम्हारे बिना हे सूर्य!
वे हुए उपेक्षित ॥१६२॥
उगे तुम्हारे वचन सूर्यकर।
और ऋषिसूचित सब मार्ग।
मिटा अब सब पर का तिमिर।
अज्ञान का ॥१६३॥
वे वचन थे ज्ञानबीज।
पड़े हृदयभूमि में सतेज।
बरसा तुम्हारा कृपाजल।
फला संवाद ॥१६४॥
अहो नारदादि के शब्द सकल।
बने विविध सरिताजल।
और मैं महोदधि विशाल।
संवाद–सुख का ॥१६५॥
प्रभो समस्त जन्मों में।
जो उत्तम पुण्य किये मैंने।
तुम जैसा सद्गुरु दे कर वे।
हुए सफल ॥१६६॥
ऐसे बड़ेबड़ों के मुख से।
तुम्हारा वर्णन सुना मैंने।
पर जबतक कृपा न की तुम ने।
समझा न कुछ ॥१६७॥
भाग्य होता जब सानुकूल।
तभी होते उद्यम सफल।
वैसे श्रुत–अधीत सकल।
गुरु-कृपाधीन ॥१६८॥
प्राणपन से माली सींचे।
वृक्षों पर अथक श्रम करे।
पर फूल–फल उन में लगें।
वसन्तऋतु में ॥१६९॥
अहो विषमज्वर उतरे जब।
तभी मधुर लगता मधुर।
तभी रसायन होता सफल।
जब देह स्वस्थ ॥१७०॥
अथवा इन्द्रिय–वाणी–प्राण।
सब का तभी सार्थकपन।
जब स्वयं चैतन्य।
तनु में विराजे ॥१७१॥
वैसे शब्दजात आलोडित।
या अभ्यस्त योगादिक।
होते आत्मसात् जब।
सानुकूल श्रीगुरु ॥१७२॥
ऐसे प्रतीति पाने के मद में।
नाचा अर्जुन आनन्द में।
बोला देव! समझे मैं ने।
वाक्य तुम्हारे ॥१७३॥
सत्य ही हे कैवल्यपति!
सचमुच हुई मुझे प्रतीति।
कि देव दानवों की मति।
जाने न तुम्हें ॥१७४॥

यदि आप के वचन न समझें।
निज बुद्धि से जानना चाहें।
तो न कभी भी समझ पायें।
यह सम्यक् जाना ॥१७५॥
अपना विस्तार जैसे।
आकाश स्वयं ही जाने।
या निज सघनता जाने।
पृथ्वी केवल ॥१७६॥
वैसे अपनी सर्वशक्ति।
जानते तुम्हीं लक्ष्मीपति।
अन्य वेदादि की मति।
व्यर्थ गर्वित ॥१७७॥
मन को कैसे पीछे छोड़ें?
पवन को कैसे नापें?
आदिशून्य को तैर पावें।
किस बाहुबल से? ॥१७८॥
वैसे जानना तुम्हें।
नहीं सम्भव कभी किसी से।
अतः तुम्हारा ज्ञान रहे।
तुम में केवल ॥१७९॥
स्वयं को तुम ही जानते।
समर्थ भी उसे कहने में।
अतः इच्छा के भाल से।
पोंछिये स्वेद ॥१८०॥
यह सुना क्या भूतभावन।
त्रिभुवन–गज–पञ्चानन।
सकल – देव – देवतार्चन।
जगन्नायक! ॥१८१॥
यदि देखूं आप का माहात्म्य।
तो नहीं समीप ठहरने योग्य।
पर यदि विनति में रखूं भय।
तो उपाय न अन्य ॥१८२॥
चहुँ ओर भरे हों नदी-सागर।
पर सूखे ही देखता चातक।
मेघ से पड़े जब स्वाति बूंद।
वही जल उसे ॥१८३॥
वैसे भले हों गुरु सर्वत्र।
पर हमारी गति तो तुम ही कृष्ण।
किम्बहुना, मेरे प्रति कथन।
कीजिये विभूति का ॥१८४॥
आप की विभूतियाँ सब।
जिन में व्यापक शक्ति दिव्य।
वे आप ही कहिये देव।
मेरे प्रति ॥१८५॥
जिन विभूतियों से समस्त।
लोकों में व्यापे हो अनन्त।
वे प्रधान नामाङ्कित।
कीजिये प्रकट ॥१८६॥
जो कैसे मैं आप को जानूं।
किन रूपों में सदा चिन्तन करूँ?
यदि तुम्हें सर्वरूप देखूं।
तो न संभव चिन्तन ॥१८७॥
अतः जो भाव पहले।
कहे तुम ने संक्षेप से।
अब विस्तार से कहो उन्हें।
फिर एक बार ॥१८८॥
प्रभो! जिन-जिन भावों पर।
आप का चिन्तन सुलभ।
उन्हें बता कर विशद।
दीजिये योग निज ॥१८९॥
जो पूछीं मैं ने विभूति।
कहिये विवृत भूतपति।
पुनः पुनः क्यों कहता वही।
यदि आप पूछें ॥१९०॥

तो यह भाव मन में।
जनार्दन कृपया न लायें।
क्योंकि प्राकृत सुधापान में।
होता न तृप्त ॥१९१॥
जो कालकूट का सहोदर।
मृत्यु भय से पीकर हुए अमर।
फिर भी दिन में पुरन्दर।
चौदह होते ॥१९२॥
ऐसा कोई क्षीराब्धि का रस।
जिसमें व्यर्थ ही अमृत का आभास।
फिर भी जिस की मिठास।
न कहने देती 'बस' ॥१९३॥
जब पदार्थ इतना क्षुद्र।
माना गया मधुर श्रेष्ठ।
फिर यह तो सच्चा अमृत।
सुनिये देव! ॥१९४॥
न हिलाकर मन्दराचल।
न मथ कर क्षीरसागर।
अनादि स्वभावसिद्ध।
सदा प्राप्त ॥१९५॥
जो नहीं द्रव न ही बद्ध।
नहीं जहाँ पर रस-गन्ध।
जो सदा सर्वत्र सिद्ध।
स्मरण से लब्ध ॥१९६॥
सुनते ही जिस को बात।
सब संसार लगता व्यर्थ।
स्वयं ही नित्यता धर्म।
चला आता ॥१९७॥
जन्म-मृत्यु की भाषा।
हारती निःशेष जहाँ।
भीतर बाहर बढ़ने लगता।
महासुख ॥१९८॥
फिर दैवयोग से मिले सेवन।
तो तद्रूप होते जीव-तन-मन।
वह देते आप, कैसे 'बस-बस'।
कहूँ प्रभो ॥१९९॥
नाम ही तुम्हारा मुझे भाये।
फिर जब दर्शन सान्निध्य मिले।
उस पर हों प्रेमभरी बातें।
आनन्द की ॥२००॥
यह सुख किस के समान कहूँ।
परितृप्त हुआ कुछ कह न सकूँ।
तव मुख से रुचे, इतना जानूँ।
पुनरुक्त भी ॥२०१॥
क्या बासी होता सूर्य?
अग्नि होता क्या दूषित?
क्या नित्य बहता गङ्गाजल।
अपवित्र होता? ॥२०२॥
वैसे आप मुख से जो बोलें।
उसी में नादब्रह्म दिखे।
सूँघने को मिले चन्दनतरु के।
पुष्प आज ॥२०३॥
पार्थ के इस कथन से।
श्रीकृष्ण सर्वाङ्ग में डोल उठे।
कहा भक्तिज्ञान के लिये।
यह आगार ॥२०४॥
यों भक्त के आनन्द से।
प्रेमावेग से भरे।
तब सँभाल कर सायास उसे।
बोले अनन्त ॥२०५॥
मैं पितामह का भी पिता।
भूल गया यह चित्त उन का।
कहा तुम ने भला किया।
तात! पाण्डव ॥२०६॥

मनुष्यों में राजा।
विभूति – विशेष मेरा।
जिस को हो कर प्रजा।
सेवक सब लोक ॥२३९॥
सभी शस्त्रों में धनुर्धर।
मैं हूँ सुदृढ़ वज्र।
जिसे धारण करता इन्द्र।
निज कर में ॥२४०॥
धेनुओं में कामधेनु।
मैं हूँ कहते विष्वक्सेन।
प्रजनकों में मदन।
जानो मुझे ॥२४१॥
सर्पकुल का अधिष्ठातृ रूप।
वासुकि मैं हूँ कुन्तीसुत।
और नागों में समस्त।
अनन्त मैं ॥२४२॥
अरे यादवों के मध्य।
जो पश्चिम-प्रमदाकान्त।
वह वरुण मैं यह अनन्त।
कह रहे ॥२४३॥
और समस्त पितृगणों में।
पितृदेवता अर्यमा मुझे।
जानो यह तत्वतः तुझे।
कह रहा ॥२४४॥
जो लिखता जगत् का शुभाशुभ।
प्राणिमन का निरीक्षक।
फिर करता भोग-नियमन।
कर्मानुसार ॥२४५॥
उन नियामकों में यम।
जो कर्म-साक्षी धर्म।
वह मैं कहें आत्माराम।
रमापति ॥२४६॥

अरे दैत्यों के कुल में।
प्रह्लाद जानो मुझे।
इसीलिये वह दैत्यभाव से।
होता न लिप्त ॥२४७॥
नाशकों में महाकाल।
मैं हूँ कहते गोपाल।
श्वापदों में शार्दूल।
जानो मुझे ॥२४८॥
जितने हैं पक्षिगण।
उन में मुझे गरुड जान।
इसीलिये करता वहन।
मुझे वह ॥२४९॥
पृथ्वी का विस्तार।
क्षण में लाँघे जो धनुर्धर।
एक उड़ान में सप्तसागर।
की प्रदक्षिणा करे ॥२५०॥
उन वेग-गतिशीलों में।
पवन तुम जानो मुझे।
और समस्त शस्त्रधरों में।
श्रीराम मैं ॥२५१॥
जो धर्म के सङ्कट-समय।
बन कर धनुष रूप द्वितीय।
बने विजयश्री का आश्रय।
त्रेता में ॥२५२॥
फिर सुवेल पर रह कर।
लङ्केश्वर के मस्तक-गण।
जयकारी भूतों को उपहार।
दिये गगन में ॥२५३॥
देवों को दिलाया सन्मान।
किया धर्म का पुनरुत्थान।
सूर्यवंश में उदित दिवाकर।
द्वितीय जो ॥२५४॥

उन शस्त्रधरों में रामचन्द्र।
मैं ही हूँ जानकी-कान्त।
जलचरों में पुच्छवन्त।
मकर में ॥२५५॥
सभी पुण्य प्रवाहों में।
गङ्गा जो उतारी भगीरथ ने।
जङ्घा फाड़ कर जह्नु मुनि ने।
बहायी जो ॥२५६॥
वह त्रिभुवनैक-सरिता।
जाह्नवी परम पुनीता।
सब जलप्रवाहों में रूप मेरा।
पाण्डुसुत ॥२५७॥
ऐसे विभिन्न सृष्टियों में।
गिनूं जो नाम विभूतियों के।
तो नहीं जन्मसहस्त्रों में।
आधे भी होंगे ॥२५८॥
जैसे सभी नक्षत्र बीन लें।
किसी चित्त में यह चाह उठे।
तो गगन को बाँधना पड़े।
गठरी जैसा ॥२५९॥
या पृथ्वी के परमाणु गिनना।
भूगोल को गोद में उठाना।
वैसे मेरा विस्तार देखना।
मुझे जानने को ॥२६०॥
जैसे शाखा सहित फल-फूल।
उठाना चाहें एकत्र सकल।
तो पड़े उखाड़ कर मूल।
हाथ में लेना ॥२६१॥
वैसे मेरे विभूति-विशेष।
यदि जानना चाहें अशेष।
तो स्वरूप एक निर्दोष।
जान लो मेरा ॥२६२॥

ऐसी भिन्न-भिन्न विभूति।
एक-एक सुनोगे कितनी।
अतः एक बार जानो महामति।
मैं ही सब ॥२६३॥
मैं समस्त सृष्टि के।
आदि-मध्य-अन्त में।
ओत-प्रोत पट में जैसे।
तन्तु पार्थ ॥२६४॥
ऐसे व्यापक मुझ को जो जाने।
वह विभूतिभेद में क्यों पड़े।
पर वह योग्यता नहीं तुझ में।
रहने दो ॥२६५॥
अतः तूने जो पूछीं विभूति।
वही सुनो सुभद्रापति।
विद्याओं में मैं सुमति।
अध्यात्मविद्या ॥२६६॥
अरे वक्ताओं का हृदयस्थ।
मैं हूँ वह वाद।
जो सकल शास्त्रसम्मत।
अबाधित ॥२६७॥
जो निर्वचन करने में बढ़े।
सुन कर-उत्प्रेक्षा की उमंग उठे।
चलते भाषण वादियों के।
मधुर जिस में ॥२६८॥
प्रतिपादनों में वह वाद।
मैं हूँ कहते गोविन्द।
और अक्षरों में विशद।
अकार मैं ॥२६९॥
और सुनो समास-मध्य।
मेरा रूप है द्वन्द्व।
मशक से ब्रह्मापर्यन्त।
सर्वग्रासक मैं ॥२७०॥

मेरु-मन्दरादि सब को।
पृथ्वी सहित संहारता जो।
एकार्णव को सोखता जो।
जहाँ का तहाँ ॥२७१॥

जो प्रलय-तेज को करता ग्रास।
समस्त पवन को निगलता पार्थ।
जिस के उदर में आकाश।
समा जाता ॥२७२॥

ऐसा अपार काल।
वह मैं कहते लक्ष्मीलील।
पुनःपुनः सर्जनशील।
सृष्टि का मैं ॥२७३॥

सृष्ट भूतों को करता धारण।
सुनो मैं ही सब का जीवन।
अन्त में जो करता संहरण।
वह मृत्यु मैं ही ॥२७४॥

अब स्त्री-गणों में सुनो।
सात मेरी विभूतियाँ जो।
कौतुक से कहता अहो।
तुझ से पार्थ ॥२७५॥

जो नित्य नवीन कीर्ति।
अर्जुन वह मेरी मूर्ति।
औदार्य-युक्त सम्पत्ति।
जानो मुझे ॥२७६॥

समझो मुझे वाचा वह।
जो न्याय के सुखासन पर।
आरूढ हो विवेकपथ पर।
चले सदा ॥२७७॥

देखते ही पदार्थ सब।
कराये जो मेरा स्मरण।
वह स्मृति हूँ यहाँ पर।
मैं ही निश्चित ॥२७८॥

स्वहित के जो अनुगत।
मैं हूँ वह मेघा पार्थ।
त्रिभुवन में मैं धृतिरूप।
क्षमा भी मैं ॥२७९॥

इस प्रकार नारियों में।
ये सात शक्तिरूप मेरे।
संसार-गज-केसरी ऐसे।
बोले वहाँ ॥२८०॥

सामवेद में बृहत् साम।
मुझे जानो प्रियोत्तम।
बोले ऐसा सुखधाम।
रमापति ॥२८१॥

जो कहलाता गायत्री छन्द।
छन्दों में वह मेरा रूप।
यह जानो तुम निश्चित।
तथ्य पार्थ ॥ ॥२८२॥

मासों में हूँ मार्गशीर्ष।
बोले श्रीवैकुण्ठेश।
ऋतुओं में कुसुमाकर।
वसन्त मैं ॥२८३॥

छलने के प्रकारों में।
द्यूत मैं हूँ जानो सखे।
जो चोरी चौराहे पर भी रे।
रोकी न जावे ॥२८४॥

तेजस्वियों का अन्तःस्थ।
तेज मैं हूँ निश्चित।
सब कार्यों में विजयरूप।
जानो मुझे ॥२८५॥

जो सर्वथा दिखे न्याय।
व्यवसायों में वह व्यवसाय।
मेरा स्वरूप वह सुरराय।
बोले यह ॥२८६॥

सत्त्ववतों में सत्त्व।
मैं हूँ बोले अनन्त।
यादवों में श्रीमन्त।
मैं हूँ वही ॥२८७॥

जो देवकी–वसुदेव–सुत।
कन्या के बदले गया गोकुल।
जिस में ने पिया प्राणसहित।
पूतनापय ॥२८८॥

बालपन बीतने से पहले।
सृष्टि की दानवशून्य मैंने।
तोड़ी गिरिधारण करके।
महेन्द्रमहिमा ॥२८९॥

यमुना का हृदय-शल्य मिटाया।
दावानल से गोकुल बचाया।
स्वयं बछड़े बन कर बनाया।
ब्रह्मा को पागल ॥२९०॥

प्रथमदशा के प्रभात में।
महाबली कंस जैसे।
खेल में ही समाप्त किये।
अनायास ॥२९१॥

कहूँ ऐसी बातें कितनी।
तेरी तो सब जानी-सुनी।
बस जानो यादवों में यही।
स्वरूप मेरा ॥२९२॥

सोमवंशी पाण्डवों में।
अर्जुन ही तू जान मुझे।
अतएव परस्पर प्रेमभाव में।
आवे न अन्तर ॥२९३॥

संन्यासी वेश में तूने।
चुरायी मेरी बहन अरे।
तो भी विकल्प न उठा चित्त में।
हम–तुम एकरूप ॥२९४॥

मुनियों में व्यासदेव।
मैं कहे यादवराज।
कवीश्वरों में धैर्य स्वभाव।
उशनाचार्य मैं ॥२९५॥

अरे दमनकर्ताओं में।
अनिवार दण्ड जानो मुझे।
जो चींटी से ब्रह्मा तक रहे।
नियमित ॥२९६॥

सारासार निर्धारण में।
जो धर्मज्ञान का पक्ष ले।
मैं उन सकल शास्त्रों में।
नीतिशास्त्र ॥२९७॥

और समस्त गूढ़ों में।
मौन तुम समझो मुझे।
स्रष्टा भी अज्ञानी रहे।
मौनी के सम्मुख ॥२९८॥

अरे ज्ञानियों का अन्तःस्थ।
ज्ञान में ही पार्थ।
किम्बहुना इस का पार।
न देख पाता ॥२९९॥

अरे पर्जन्य की धारायें।
भले कभी गिनी जावें।
अथवा तृणाङ्कुर पृथ्वी के।
सकें गिन ॥३००॥

महोदधि के तरङ्गों में।
न हो सके व्यवस्थित जैसे।
मेरे विभूतिविशेष वैसे।
अमेय पार्थ ॥३०१॥

ऐसे ही पाँच–सात प्रधान।
कहे तुझ से अर्जुन।
कि इस उद्देश से तू धारण।
कर सके मन में ॥३०२॥

उस विभूति–विस्तार का नहीं।
यहाँ सर्वथा लेख नहीं।
अतः तू सुनेगा कितनी।
कहूँ भी कहाँ तक ॥३०३॥
इस लिये एक ही बार।
कह दूँ तुझ से मर्म निज।
कि सर्व भूताङ्कुरों का बीज।
मैं ही पार्थ ॥३०४॥
अतः छोटा बड़ा न कहें।
उच्च–नीच भाव न रहे।
एक मैं ही हूँ यही समझे।
सब वस्तुजात को ॥३०५॥
फिर भी एक साधारण।
सुन लो विशेष लक्षण।
वह देखते ही समझो अर्जुन।
विभूति मेरी ॥३०६॥
जहां दया और सम्पत्ति।
दोनों मिल निवास करतीं।
जानो वहाँ सुभद्रापति।
विभूति मेरी ॥३०७॥
एक ही सूर्यबिम्ब गगन में।
पर प्रभा फैलती त्रिभुवन में।
वैसे सभी जन पालते।
आज्ञा उस एकको ॥३०८॥
उसे न कहो एकाकी।
न कहो उसे निर्धन कभी।
क्या कामधेनु के साथ सभी।
सर्वस्व चलता? ॥३०९॥
उस से जब जो माँगा जाता।
तभी वह सब उत्पन्न होता।
वैसे विश्वविभव बनता।
स्वयं ही वह ॥३१०॥
उसकी यही पहचान।
कि सब करते आज्ञापालन।
जानो उसे तुम अर्जुन।
अवतार मेरा ॥३११॥
और कुछ सामान्य–विशेष।
देखना वहाँ महादोष।
क्योंकि मैं ही तो हूँ अशेष।
विश्व यह ॥३१२॥
अतः यहाँ सामान्य–विशिष्ट।
न करो ऐसा विभाग कल्पित।
न लगाओ भेद का कलङ्क व्यर्थ।
निज मति को ॥३१३॥
घृत को भला फिर क्यों मथें।
अमृत को राँध कर आधा करें।
वायु के क्या दाहिने बायें।
होते अवयव? ॥३१४॥
सूर्यबिम्ब के पेट–पीठ।
देखें तो अपनी ही दृष्टि नष्ट।
वैसे मम स्वरूप में न पार्थ।
सामान्य विशेष ॥३१५॥
और ये विभूतियाँ विविध।
मुझ अपार को गिनोगे कहाँ तक।
अतः किम्बहुना कुन्तीसुत।
अब रहने दो ॥३१६॥
मेरे एक ही अंश से।
विश्व सारा व्याप्त अरे।
अतएव भेद सब त्याग दे।
भजो साम्य ॥३१७॥
ऐसे विबुध–वन–वसन्त।
जो विरक्तों के एकान्त।
बोले जब श्रीमन्त।
श्रीकृष्णदेव ॥३१८॥

स्वामी ! तब बोला पार्थ।
क्या अविचार से बोल गये आप ?
मानो भेद हो सत्य और हम।
त्यागें उसे ! ॥३१९॥

अजी क्या जग को कहता सूर्य।
कि तम को करो दूर।
पर आप को कहना अविचार।
होगा अनुचित ॥३२०॥

कभी एक बार आपका नाम।
कहे मुख या सुने कान।
उस के मन से करता पलायन।
भेद सच ही ॥३२१॥

वह आप पूर्ण परब्रह्म।
सौभाग्य से हुए हस्तगत।
अब कहाँ और कैसा भेद।
देखे कौन ? ॥३२२॥

अजी चन्द्र के गर्भगृह में।
प्रवेश करें तो उष्णता लगे ?
पर शार्ङ्गधर प्रभुपन से।
कहो कुछ भी ! ॥३२३॥

तब परम सन्तोष से देव ने।
दिया आलिङ्गन प्रेम से।
फिर कहा रोष न करो सखे।
मेरे कथन पर ॥३२४॥

मैंने जो भेद-दशा की।
बातें कहीं विभूति की।
वे अभेद से उतरीं या नहीं।
अन्तःकरण में ! ॥३२५॥

यही देखने के लिये।
कहा वह सब बाह्यभाव से।
दिखता विभूतियोग तेरे मन में।
बोध बना ॥३२६॥

तब अर्जुन बोला देव !
यह जानें स्वयं ही आप।
पर देखता हूँ समस्त विश्व।
व्याप्त आप से ॥३२७॥

हे राजन् तब पाण्डुसुत।
उस प्रतीति से ओतप्रोत।
पर सञ्जय-कथन से निस्तब्ध।
रहा धृतराष्ट्र ॥३२८॥

तब दुःखित हृदय बोला सञ्जय।
सौभाग्य को भी धकेलता यह।
समझा था अन्तःचक्षुमय।
पर वहाँ भी अन्ध ॥३२९॥

रहे यह, उधर अर्जुन।
बढ़ाता स्वहित का मान।
क्यों कि अब उस में अन्य।
अभिलाषा उपजी ॥३३०॥

बोला अब हृदय की यह प्रतीति।
अवतरे बाहर नेत्रों के प्रति।
इसी आर्ति से भरी सुमति।
उमड़ने लगी ॥३३१॥

इन्हीं नयनों से अब।
देख पाऊँ सब विश्वरूप।
भाग्यवन्त के मन में यह।
उठी अभिलाष ॥३३२॥

कल्पतरु की छाया पार्थ।
न लगते उस में बाँझ पुष्प।
उस के मुख से निकले जो कुछ।
वह होता सफल ॥३३३॥

जो प्रह्लाद के कारण।
विषरूप भी स्वयं करते धारण।
वे सद्गुरु मिले कृष्ण।
किरीटी को ॥३३४॥

अब देखने को विश्वरूप! अर्जुन कैसा करेगा प्रश्न।
कहूँगा आगे वही प्रसङ्ग। कहे निवृत्ति का ज्ञानदेव ॥३३५॥

इति श्रीमद्ज्ञानेश्वरविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीता – 'भावार्थ-दीपिकायाम्' विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥

॥ हरिः ॐ तत् सत् ॥

॥ ॐ हरिः ॐ ॥

एकादश अध्याय

अब यहाँ एकादश में।
उभय रस भरे कथा में।
जहाँ पार्थ की विश्वरूप से।
होगी भेंट ॥१॥

जहाँ शान्तरस के घर।
अद्भुत आया अतिथिवर।
अन्य रसों को मिला सत्कार।
पङ्क्तिघरोंका ॥२॥

जैसे वरवधू के मिलन पर।
बराती पाते वस्त्रादिक।
वैसे देशी भाषा के सुखासन पर।
विलसे सब रस ॥३॥

पर शान्त और अद्भुत।
हों नयनाञ्जलि से सेवित।
जैसे प्रेम-भावसे मिलित।
हरिहर ॥४॥

अथवा जैसे अमावस के दिन।
भेंटते परस्पर दोनों बिम्ब।
वैसे सब रसों का ऐक्य।
प्रगटा यहाँ ॥५॥

मिले गङ्गा-यमुना के ओघ।
वैसा हुआ रसों का प्रयाग।
अतएव सुस्नात होता जग।
सम्पूर्ण यहाँ ॥६॥

मध्य गीता सरस्वती गुप्त।
और उभय रस-प्रवाह मूर्त।
अतः यह त्रिवेणी उचित।
बनी तात ॥७॥

यहाँ श्रवण के द्वार से।
सहज प्रवेश तीर्थ में।
कराया मेरे दाता ने।
कहे ज्ञानदेव ॥८॥

संस्कृत के गहन तट तोड़।
बनाये मराठी शब्द सोपान।
ऐसा रचा धर्मविधान।
श्रीनिवृत्तिदेव ने ॥९॥

कोई भी करे सद्भाव से स्नान।
पाये प्रयागमाधव विश्वरूप दर्शन।
इसी से संसार को करे दान।
तिलोदक ॥१०॥

किम्बहुना यहाँ सावयव।
भरे ऐसे रसभाव।
कि श्रवण सुख का साम्राज्य।
मिले जग को ॥११॥

जहां शान्त-अद्भुत प्रत्यक्ष।
अन्य रस भी शोभित।
अल्प होने पर भी विशद।
कैवल्य यहाँ ॥१२॥

वह यह एकादश अध्याय।
देव का निज विश्राम धाम।
पर कितना सुभागी पार्थ।
जो पहुँचा यहाँ ॥१३॥

क्या कहूँ कि अर्जुन पहुँचा यहाँ।
अभीप्सुओं को सुकाल हुआ।
जो कि गीतार्थ आया।
मराठी में ॥१४॥

कृपया अब इसीलिये।
मेरा विनय सुनिये।
पूर्ण अवधान दीजिये।
सज्जन आप ॥१५॥
यों तो इस सन्तसभा में।
ऐसा लाड़ करना न शोभे।
पर मुझ अपत्य की बात प्रेम से।
मानिये आप ॥१६॥
अहो तोते को हम ही पढ़ायें।
वह पढ़े तब कौतुक से सिर हिलायें।
क्या कुछ करवा कर बालक से।
न रीझे माता? ॥१७॥
वैसा मैं जो भी बोल रहा।
वह आप का ही सिखाया हुआ।
अतः सुनिये स्वयं अपना।
मुझ से देव ॥१८॥
यह सारस्वत का मधुर।
आपने रोपा था पादप।
अब अवधानामृत सींचकर।
करें पोषण ॥१९॥
यह रस–भाव फूलों से फूले।
नानार्थ फलभार से लदे।
हो आपके इस धर्मकार्य से।
सुकाल जग में ॥२०॥
इस कथन से रीझे सन्त।
कहा, किया हमें सम्यक् तृप्त।
कहो बोला क्या कुन्तीसुत।
वहाँ पर ॥२१॥
तब कहते निवृत्तिदास।
जो कृष्णार्जुन का संवाद।
कहना क्या जानूं मैं प्राकृत।
कहलाइये आप ॥२२॥

अहो वनपत्र-भोजी वानर।
लङ्केश्वर को करते पराजित।
क्या अर्जुन ने अक्षौहिणी एकादश।
न जीती अकेले? ॥२३॥
अतः समर्थ जो करना धार लें।
वह न हो, न होता चराचर में।
आप सन्तजन बुलवाते मुझ से।
उसी प्रकार ॥२४॥
सुनिये कहता हूँ अब।
सुन्दर यह गीताभाव।
श्रीवैकुण्ठनायक के मुख।
से निकला जो ॥२५॥
अहो तात! यह अन्य गीता।
जो वेद में प्रतिपाद्य देवता।
श्री कृष्ण स्वयं वक्ता।
जिस के हुए। ॥२६॥
कैसे हो उस का गौरव-वर्णन।
शम्भु मति से भी न होता आकलन।
यहाँ नमस्कार ही होगा उत्तम।
बारम्बार ॥२७॥
अब सुनिये वह किरीटी।
डाल कर विश्वरूप पर दृष्टि।
बात पहले आरम्भ कैसी।
करने लगा ॥२८॥
यह सभी कुछ सर्वेश्वर।
इस प्रतीति को वह किङ्कर।
करना चाहे गोचर।
लोचनों के ॥२९॥
यह प्राणों की गहरी आकूति।
देव से कहना कठिन अति।
पूछूं कैसे कि देखे दृष्टि।
गूढ़ विश्वरूप ॥३०॥

जो पहले किसी ने कभी।
प्रिय भक्त ने भी पूछी नहीं।
वह बात कैसे जाय पूछी।
सहसा हरि से ॥३१॥

कितना भी होऊँ मैं अन्तरङ्ग।
नहीं लक्ष्मीजी से अधिक प्रिय।
भीत वे भी यह प्रसङ्ग।
पूछने में ॥३२॥

कितनी भी मैं ने की हो सेवा।
पर नहीं उस की गरुड से तुलना।
उस ने भी न साहस किया।
यह पूछने का ॥३३॥

क्या निकटतर सनकादि से?
पर वे भी ऐसी पृच्छा न करते।
क्या मैं उतना लाडला जितने।
गोकुलवासी ॥३४॥

उन्हें शिशुरूप से ठगाया।
एक के यहाँ गर्भवास सहा।
पर विश्वरूप नहीं दिखाया।
किसी को भी ॥३५॥

ऐसी जो बात गुह्य।
इन के अन्तस् की निज।
कैसे लूँ हठात् पूछ।
आज इन से? ॥३६॥

और सोचूँ यदि न पूछना।
तो विश्वरूप देखे बिना।
सुख तो दूर, कदाचित् जीना।
होगा दुष्कर ॥३७॥

अतः पूछ तो लूँ धीरे से।
फिर जैसी इच्छा देव करें।
यह विचार कर सभय हृदय से।
बोला पार्थ ॥३८॥

पर पूछा इतने प्रेमभाव से।
कि ज्यों ही एक दो शब्द निकले।
दिखा दिया विश्वरूप देवने।
पूर्णतया ॥३९॥

अहो बछड़े को देखते ही।
खलबला कर धेनु उठती।
स्तन पर मुख लगते क्या रुकती।
पयोधार? ॥४०॥

पाण्डवों के नाम पर जो कृष्ण।
वन में भी दौड़ करते रक्षण।
उन से कुछ पूछे अर्जुन।
वे कैसे सहें? ॥४१॥

वे सहज स्नेह का अवतरण।
फिर अर्जुन-स्नेह का मादकपन।
ऐसे मिलन में शेष पृथक्पन।
यही आश्चर्य ॥४२॥

अर्जुन के पूछते ही देव।
सहज होंगे विश्वरूप।
ऐसा यह पहला प्रसङ्ग।
सुनिये अब ॥४३॥

पार्थ कहे देव से।
जी आपने मेरे लिये।
कहा अवाच्य भी शब्दों में।
कृपानिधे! ॥४४॥

जब महाभूत ब्रह्म में लीन।
जीव-महदादि होते विलीन।
तब देव का जो रहता स्वरूप।
वही परम विश्रामधाम ॥४५॥

जो हृदयमन्दिर में ही रही।
कृपण की भाँति छिपा रखी।
शब्दब्रह्म से भी चोरी।
की जिस की ॥४६॥

वही आप ने आज।
मेरे प्रति खोला हृदय।
जिस अध्यात्म पर दिया वार।
ऐश्वर्य हर ने ॥४७॥

वही वस्तु मुझे स्वामी।
एक पल में आप ने दी।
कहूँ ऐसा तो हम कहीं।
भिन्न न तुम से ॥४८॥

सच ही महामोह के पूर में।
देख आमस्तक डूबे हमें।
डुबकी लगा कर आप ने।
निकाला श्रीहरि ॥४९॥

एक आप से भिन्न कहीं।
विश्व में दूसरा तत्त्व नहीं।
ऐसे हमारे कर्म कि फिर भी।
'हम हैं' मानते ॥५०॥

मैं हूँ एक जग में अर्जुन।
ऐसा रखता देहाभिमान।
और इन कौरवों को स्वजन।
कहता अपना ॥५१॥

मैं करूँगा इनका हनन।
उस पाप से कैसा होगा पतन।
ऐसा देख रहा था दुःस्वप्न।
जगाया प्रभु ने ॥५२॥

गन्धर्वनगर की बस्ती।
छोड़ निकला मैं लक्ष्मीपति।
पीता था मृगजल जल को।
भ्रान्ति के कारण ॥५३॥

सर्प तो था कपड़े का।
पर लहर चढ़ी मान कर सच्चा।
ऐसे व्यर्थ मरते जीव का किया।
श्रेय तुमने ॥५४॥

देख कर निज प्रतिबिम्ब।
कुँए में कूद रहा था सिंह।
पकड़ लें उसे, वैसा अनन्त।
बचाया मुझे ॥५५॥

नहीं तो मेरा अब तक।
था ऐसा निश्चय अटल।
कि भले मिलें सप्त सागर।
एकत्र ॥५६॥

सब जगत् जाये डूब।
आकाश भले पड़े टूट।
पर करना न पड़े युद्ध।
गोत्रजों से ॥५७॥

मैंने अहङ्कार की बाढ़ में।
डुबकी मारी थी अगाध जलमें।
भला कि तुम ये समीप, मुझे।
निकालता कौन? ॥५८॥

न होने पर भी निज को माना एक।
न होते हुए को दिये गोत्र, नाम।
उसी में होने लगा छोटा-बड़ापन।
पर बचाया तुमने ॥५९॥

पहले जलते गृह में से बचाया।
वहाँ थी भय में केवल काया।
पर दूसरा लाक्षागृह जलाता।
चैतन्यसहित ॥६०॥

दुराग्रह हिरण्याक्ष ने।
मेरी बुद्धि दबाई काँख में।
फिर मोहार्णव-गवाक्ष से।
घुसा भीतर ॥६१॥

तभी समर्थ स्वामी आपने।
बुद्धि ला रखी स्वस्थान में।
होना पड़ा आपको ऐसे।
वराह द्वितीय वार ॥६२॥

ऐसा आपने किया अपार।
एक वाणी से कहूँ कहा तक।
बिछा दिये पाँचों प्राण।
मेरे लिये ॥६३॥

वह श्रम न गया व्यर्थ।
देव! पाया उसने यश।
जो कि माया साद्यन्त।
निरस्त मेरी ॥६४॥

जैसे आनन्दसरोवर के कमल।
वैसे आप के नयन–युगल।
निज को प्रसाद के मन्दिर।
बनाते जिस के लिये ॥६५॥

उस की और मोह की भेंट।
यह कैसी क्षुद्र बात।
मृगजल–वृष्टि से बडवानल।
क्या बुझे कभी? ॥६६॥

और मैं तो हे दातार।
कृपागृह में प्रविष्ट हो कर।
ले रहा चारा मधुर।
ब्रह्मरस का ॥६७॥

इस से जाये मेरा मोह।
इस में भला क्या विस्मय।
हुआ मेरा उद्धार।
शपथ श्रीचरण की ॥६८॥

हे कमलायत-लोचन।
सूर्य-कोटि-तेजस।
आप से मैंने महेश।
सुना आज ॥६९॥

ये भूत उत्पन्न जिस रीति से।
और लीन होते जिस तरह से।
वह पद्धति मेरे लिये।
विशद की आप ने ॥७०॥

किया प्रकृति का पूर्ण विवेचन।
फिर दिखाया पुरुष का स्थान।
जिस की महिमा ओढ़ कर वेद।
हुए सवस्त्र ॥७१॥

शब्द–राशि बढ़ती जिस से।
जो धर्म जैसे रत्न प्रसवे।
वह इन्हीं की चरणप्रभा के।
आश्रय से ॥७२॥

ऐसा अगाध माहात्म्य।
जो सकलमार्गेक – गम्य।
जो स्वात्मानुभव रम्य।
वह दिखाया ऐसे ॥७३॥

जैसे बादल हटने पर।
दृष्टि देखे सूर्यमण्डल।
या हाथ से काई सरका कर।
दिखता जल ॥७४॥

या हटने पर सर्प–वेष्टन।
सम्भव चन्दन का आलिङ्गन।
या प्रेत भागने पर निधान।
लगता हाथ ॥७५॥

वैसे जो प्रकृति बनी थी आड़।
उसे देव ने सरकाया दूर।
फिर मेरी बुद्धि में आरूढ़।
किया परतत्त्व ॥७६॥

अतः देव इस विषय में।
हुआ भरोसा मेरे हृदय में।
पर और एक इच्छा मेरे।
मन में उगी ॥७७॥

यदि भय के कारण न कहूँ।
तो और किस से जाकर पूछूँ?
आप से अन्य स्थान जानूँ।
क्या मैं कोई? ॥७८॥

जलचर जल का आभार धरे।
बालक स्तनपान में संकोच रखे।
तो जीने के लिये श्रीहरि रहे।
आधार क्या ? ॥७९॥

अतः भय-सङ्कोच अनुचित।
पूछता हूँ मनोगत।
बोले हरि रहने दो यह अब।
कहो चाह ? ॥८०॥

तब बोला वह किरीटी।
देव ! तुम ने जो बात कही।
उस से प्रतीति की दृष्टि।
हुई शमित ॥८१॥

अब जिस के सङ्कल्प से।
लोक-परम्परा जन्मे लोपे।
जिस स्थिति को आप माने।
निज स्वरूप ॥८२॥

वह आपका मूल स्वरूप।
जिस में से ये द्विभुज-चतुर्भुज।
सुर-कार्य का लेकर व्याज।
धर कर आते ॥८३॥

जलशयनादि स्वांग।
मत्स्य-कूर्म आदि अलङ्कार।
नटवर ! ये खेल समेटने पर।
रखते जहाँ ॥८४॥

उपनिषद जिसे गाते।
योगी हृदय में देखते।
जिसे सनकादि किये रहते।
आलिङ्गन ॥८५॥

ऐसा जो तुम्हारा अगाध।
कानों से सुना विश्वरूप।
उसे देखने को मेरा चित्त।
उतावला हुआ ॥८६॥

मिटाया मेरा सङ्कोच।
पूछी अन्तर की अभिलाष।
तो आर्त्ति मेरी यही एक।
हृदयगत ॥८७॥

तुम्हारा सम्पूर्ण विश्वरूप।
हो मेरे दृष्टि गोचर।
ऐसी बड़ी अभिलाष आज।
उठी चित्त में ॥८८॥

पर है बात एक शार्ङ्गधर।
कि देखने को वह विश्वरूप।
मुझ में वैसा योग्यत्व।
है या नहीं ? ॥८९॥

न जानूँ मैं अपने आप।
यदि कहें क्यों नहीं जानो पार्थ।
तो कहूँ कैसे जाने सरोग।
निदान अपना ॥९०॥

आर्ति की प्रबलता से।
आर्त्त अपनी मर्यादा भूले।
समुद्र भी थोड़ा लगे जैसे।
प्यासे को ॥९१॥

वैसे उत्कट इच्छा के मोह से।
मुझ से निज समस्या न सँभले।
अतः बालक की योग्यता जैसे।
माता जाने ॥९२॥

वैसे ही श्रीजनार्दन।
विचारिये संभावना मम।
फिर कीजिये उपक्रम।
विश्वरूपदर्शन का ॥९३॥

अतः या तो कीजिये कृपा।
अथवा कहिये मेरी अयोग्यता।
बधिर को पञ्चमालाप का।
सुख दें कैसे ? ॥९४॥

केवल चातक की तृषा के कारण।
क्या मेघ न बरसे सर्वजगत् पर।
पर बरसे यदि शिला पर।
तो वृष्टि व्यर्थ ॥९५॥

चकोर पिये चन्द्रामृत।
क्या अन्यों को है शपथ?
पर नयनों के बिना व्यर्थ।
होता प्रकाश ॥९६॥

अतः विश्वरूप तुम सहसा।
दिखाओगे यह पूरा भरा भरोसा।
ज्ञानी–अज्ञानी को नित्य नया।
स्वरूप तुम्हारा ॥९७॥

तुम्हारा औदार्य स्वतन्त्र।
दान में न देखो पात्रापात्र।
दिया कैवल्य जैसा पवित्र।
निज वैरियों को ॥९८॥

मोक्ष सचमुच दुराराध्य।
पर करे श्री चरणों का आराधन।
अतः जहाँ भेजो जाता दौड़।
सेवक जैसा ॥९९॥

आपने सनकादि के सदृश।
पूतना को दिया सायुज्य सुख।
जो करा के विषमय स्तनपान।
मारने आयी ॥१००॥

अजी राजसूय की सभा में।
त्रिभुवन के जन समुदाय में।
कैसे शतधा दुर्वाक्यों से।
निस्तेजित किया ॥१०१॥

जो ऐसा अपराधी शिशुपाल।
उसे दी मुक्ति गोपाल।
और उत्तानपाद का बालक।
क्या चाहता ध्रुवपद ॥१०२॥

वह वन आया था इसलिये।
कि पिता की गोद में बैठ सके।
पर सूर्य-चन्द्रादि से श्लाघ्य उसे।
किया तुमने ॥१०३॥

वैसे सब वनवासियों के।
अपार दाता तुम अकेले।
अजामिल पुत्र को पुकारे।
तुम देते निज को ॥१०४॥

जिसने उर में मारी लात।
उसका धरते चरणचिह्न।
अब तक वैरी का कलेवर।
त्यागते नहीं ॥१०५॥

ऐसे अपकारियों पर तेरे उपकार।
तुम अपात्र पर भी उदार।
माँग कर दान स्वयं द्वारपाल।
बने बलि के ॥१०६॥

न कभी भजा न सुना तुम्हें।
शुक को पढ़ाती कौतुक से।
उस गणिका को भी दिया तुमने।
वैकुण्ठ–सुख ॥१०७॥

ऐसे क्षुद्र कारणों से।
तुम अकस्मात् निज को देते।
वह तुम वैसा क्यों न करोगे।
मेरे लिये ॥१०८॥

दुग्धदान की महिमा से।
जो सब जग के सङ्कट निवारे।
उस कामधेनु का वत्स अरे।
क्या भूखा रहे? ॥१०९॥

अतः मेरा जो प्रार्थित।
वह दिखायेंगे देव निश्चित।
पर दीजिये पात्रता उचित।
देखने के लिये ॥११०॥

आपका विश्वरूप देख सकें।
यदि ऐसे नेत्र मेरे समझें।
तो देव कृपया पूर्ण करें।
अभिलाष साध ॥१११॥
ऐसी बारम्बार विनति।
करे जब सरल सुभद्रापति।
तब वे षड्गुणचक्रवर्ती।
सह न पाते ॥११२॥
वे मेघ कृपापीयूष-सजल।
फिर निकट आ पहुँचा वर्षाकाल।
अथवा श्रीकृष्ण हैं कोकिल।
अर्जुन वसन्त ॥११३॥
अथवा पूर्ण चन्द्रबिम्ब।
देख उछलता क्षीरसागर।
वैसे देव हुए उल्लसित।
दुगने प्रेमबल से ॥११४॥
तब प्रसन्नता के आवेग से।
उमग कर कृपायुत बोले।
देखो–देखो अगणित मेरे।
स्वरूप पार्थ ॥११५॥
देखने को एक विश्वरूप।
पार्थ ने किया मनोरथ।
वहाँ विश्वरूपमय सकल।
कर दिखाया ॥११६॥
अहो देव उदार अपरिमित।
याचक-स्वेच्छा-सदोदित।
देते करके सहस्रगुन।
सर्वस्व अपना ॥११७॥
अहो शेष के नयनों से चुराया।
वेद से भी जो छिपाया।
लक्ष्मी से भी जो गुप्त रखा।
निज रहस्य ॥११८॥

वह प्रकट करके अनेकविध।
करेंगे विश्वरूप प्रसृत।
अहो कैसा भाग्य अगाध।
पार्थ का ॥११९॥
जाग्रत जाये स्वप्न में।
तो स्वप्न का सबकुछ स्वयं बने।
अनन्त ब्रह्मकटाह प्रगटे।
अपने से वैसे ॥१२०॥
वह मुद्रा छोड़ी सहसा।
हटायी स्थूल दृष्टि की जवनिका।
की उद्घाटित किम्बहुना।
योगऋद्धि ॥१२१॥
वह यह रूप देखे न देखे।
मानो इस की सुध भूले।
'देखो!' एकाएक बोले।
स्नेहातुर ॥१२२॥
तू ने एक दिखाने को कहा।
वही करूँ तो क्या दिखाया?
देख तू सब कुछ भरा।
मेरे ही रूप में ॥१२३॥
एक कृश एक स्थूल।
एक ह्रस्व एक विशाल।
एक जटिल एक सरल।
अमर्यादित कोई ॥१२४॥
एक अनावर एक प्राञ्जल।
सव्यापार एक निश्चल।
एक उदासीन एक स्नेहिल।
तीव्र कोई ॥१२५॥
कोई मूर्च्छित कोई सावधान।
कोई सुन्दर कोई अगाध।
कोई कृपण कोई उदार।
क्रुद्ध कोई ॥१२६॥

एक शान्त एक मदमत्त।
एक स्तब्ध एक सानन्द।
कोई गरजते कोई निःशब्द।
कोई सौम्य ॥१२७॥

एक साभिलाष एक विरक्त।
एक उन्निद्रित एक निद्रित।
एक परितुष्ट एक आर्त।
प्रसन्न एक, ॥१२८॥

एक अशस्त्र एक सशस्त्र।
एक रौद्र एक अतिमित्र।
एक भयानक एक विचित्र।
लयस्थ एक ॥१२९॥

कोई जननलीला-विलासी।
कोई पालनाभिलाषी।
कोई सावेश संहारकारी।
कोई साक्षिभूत ॥१३०॥

ऐसे नानाविध असंख्य।
दिव्य तेज से प्रकाशित।
और न मिलता परस्पर।
वर्ण जिन का ॥१३१॥

कोई तप्त-सुवर्ण-वर्ण।
बहुत से कपिल-वर्ण।
कोई सर्वाङ्ग सिन्दूर-चर्चित।
उषानभ जैसे ॥१३२॥

एक सहज भास्वर।
जैसे ब्रह्मकटाह मणिखचित।
कोई अरुणोदय – सदृश।
कुङ्कुमवर्ण ॥१३३॥

एक शुद्धस्फटिक सोज्ज्वल।
एक इन्द्रनील सुनील।
एक अर्जुनवर्ण तनुसकल।
एक रक्तवर्ण ॥१३४॥

एक स्वर्णप्रभा से पीत उज्ज्वल।
एक नव जलद – श्यामल।
एक चम्पासदृश गौर।
हरित एक ॥१३५॥

एक तप्त ताम्र-सदृश।
एक श्वेत चन्द्र जैसे धवल।
ऐसे नाना वर्णों के रूप।
देख मेरे ॥१३६॥

जैसे वर्ण अन्य-अन्य।
वैसे आकृतियाँ भी भिन्न।
लजाया कन्दर्प आवे शरण।
कोई इतने सुन्दर ॥१३७॥

एक अति लावण्य साकार।
एक स्निग्धवपु मनोहर।
शृङ्गारश्री के भाण्डार!
उद्घाटित जैसे ॥१३८॥

कोई पीनावयव मांसल।
कोई शुष्क अतिविकराल।
कोई दीर्घकण्ठ लम्बगल।
कोई विकट ॥१३९॥

ऐसी नाना-विध आकृति।
देखने में अपार सुभद्रापति।
इन के एक-एक अङ्ग प्रति।
देखो जग ॥१४०॥

जब उन्मीलित होती दृष्टि।
वहाँ प्रसरे आदित्यों की सृष्टि।
निमीलित होते ही लय पाती।
समस्त रचना ॥१४१॥

वदन से निकलता बाष्प।
होता ज्वालामय सब।
वहाँ दिखते-पावकादिक।
वसु-समूह ॥१४२॥

जब भ्रूलता–प्रान्त।
कोप में एकत्र मिलित।
तब रुद्रगण–समुदाय।
अवतरित होते ॥१४३॥

जो सौम्यता से स्निग्ध।
वहाँ असंख्य अश्विनीदेव।
श्रोत्र से निकलते पाण्डव।
अनेक वायु ॥१४४॥

ऐसे एक-एक लीला से।
जन्मते कुल सुरसिद्धों के।
अपार और विशाल ऐसे।
देखो यहाँ रूप ॥१४५॥

जिसे कहने में वेद तोतले।
देखने में काल की आयु कम पड़े।
धाता भी न पा सके।
तल जिस का ॥१४६॥

न सुन सके जिन्हें वेदत्रय।
ऐसे अनेक प्रत्यक्ष देख।
भोगो सकौतुक साश्चर्य।
महासिद्धि ॥१४७॥

पार्थ इन मूर्त्तियों के।
रोममूलों में जो सृष्टियाँ देखे।
जैसे सुरतरु के मूलमें।
उगे तृणाङ्कुर ॥१४८॥

चण्डवात के प्रकाश में।
उड़ते परमाणु दिखें जैसे।
घूमें ब्रह्मकटाह वैसे।
अवयव–सन्धियों में ॥१४९॥

यहाँ एक-एक प्रदेश में।
देखो विश्व विस्तार से।
यदि परले पार विश्व के।
चाहो देखना ॥१५०॥

तो इस विषय में भी कहीं।
सङ्कट सर्वथा नहीं।
जो चाहे सो देखेगा ही।
मेरे रूप में ॥१५१॥

ऐसे विश्वमूर्त्ति उस से।
कारुण्यपूर्ण वचन बोले।
पर न कहे–दिखे या न दिखे।
स्तब्ध पार्थ ॥१५२॥

अब भी यह क्यों न बोले।
सोचकर देखा कृष्ण ने।
यह तो उर में आर्ति लिये।
वैसा खड़ा ॥१५३॥

न थमी अभी उत्कण्ठा।
सुख का स्रोत जो नहीं मिला।
सचमुच जो दिखाया गया।
वह न दिखा उसे ॥१५४॥

यह देख कर हँसे देव।
बोले पार्थ से हँसकर।
मैंने दिखाया विश्वरूप।
पर तू न देखे ॥१५५॥

तब बोला विचक्षण पार्थ।
किस का यहाँ न्यूनपन।
तुम बगुले से चन्द्रकिरण।
चराना चाहते ॥१५६॥

दर्पण को स्वच्छ करके।
मानो अन्धे को दिखाते।
या बधिर के सम्मुख कराते।
गान कृष्ण ॥१५७॥

मकरन्द कणों का चारा।
जान कर दर्दुर के आगे धरा।
फिर व्यर्थ वहाँ कोप तुम्हारा।
शार्ङ्गधर ! ॥१५८॥

जिसे अतीन्द्रिय कहा तुम ने ।
जो भाग में ज्ञान-दृष्टि के ।
वह रखा चर्मचक्षु के सामने ।
तो देखूँ कैसे ? ।।१५९।।

पर क्यों कहूँ तुम्हारा न्यूनपन ।
मुझे उचित करना सहन ।
तब कहा देव ने, हाँ अर्जुन ।
समझी बात ।।१६०।।

सच ही यदि दिखाना विश्वरूप ।
तो क्यों न दिया पहले सामर्थ्य ।
प्रेमभाव से बोलने में यह ।
भूल गया मैं ।।१६१।।

जोते बिना बो दें खेत ।
तो बीज जाते व्यर्थ ।
अब देखो मेरा विश्वरूप ।
दूँ दृष्टि तुझे ।।१६२।।

फिर उस दृष्टि से पाण्डव ।
मेरा ऐश्वर्य योग सर्व ।
देख कर करो अनुभव ।
निज में तुम ।।१६३।।

ऐसे उसे वेदान्तवेद्य ।
सकल-लोक-आद्य ।
बोले परमाराध्य ।
जगत् के ।।१६४।।

पर हे चक्रवर्ती कौरवों के ।
बारम्बार यह विस्मय मुझे ।
कि श्री से बढ़कर त्रिजगत् में ।
सुभागी कौन ? ।।१६५।।

रहस्य-वर्णन के लिये सुपात्र ।
जग में कौन वेद से बढ़कर ?
है किस में सेवकपन ।
शेष से अधिक ? ।।१६६।।

रहता जिसका निदिध्यास ।
योगी सम आठों प्रहर ।
ऐसे गरुड जैसा अनुसरण ।
करता कौन ? ।।१६७।।

वह सब रखा एक ओर ।
अब कृष्णसुख हुआ एकत्र ।
जिस दिन से पाया जन्म ।
इन पाण्डवों ने ।।१६८।।

उन पाँच में से अर्जुन के ।
आधीन कृष्ण वैसे हुए ।
जैसे कामुक अङ्गना के ।
वश में नित्य ।।१६९।।

पढ़ाया शुक भी न बोले ऐसा ।
क्रीडामृग भी न चले वैसा ।
अर्जुन का भाग्य बढ़ा कैसा ?
समझ न पायें ।।१७०।।

आज सम्पूर्ण परब्रह्म ।
भोगने को सुभागी इस के नयन ।
इस के शब्दों को कैसा लाड़ ।
लड़ाते प्रभु ।।१७१।।

यह कोपे तो शान्ति से सहते ।
रूठे तो इसे समझाते ।
नया पागलपन लगा दिखे ।
प्रभु को पार्थ का ।।१७२।।

जो जन्मे विषय जीत कर ।
शुकादि जैसे समर्थ ।
वे करते जिनका विषयवर्णन ।
भाट जैसे ।।१७३।।

वे योगियों के समाधिधन ।
कैसे हुए पार्थ के आधीन ।
इस पर विस्मय करता मन ।
मेरा राजन् ।।१७४।।

पुन: कहे सञ्जय–भला क्या।
कौरवेश विस्मय यहाँ ?
कृष्ण जिसे स्वीकारें उस का।
ऐसा भाग्योदय ।।१७५।।
अत: कहते देवाधिराज।
देता दृष्टि तुझे पार्थ।
जिस से तू सके देख।
विश्वरूप ।।१७६।।
ऐसे श्रीमुख से अक्षर।
निकले न निकले जब तक।
तभी अविद्या का अन्धकार।
मिटने लगा ।।१७७।।
वे अक्षर नहीं देखो राजा।
ब्रह्मसाम्राज्य की दीपिका।
अर्जुन के लिये चित्कलिका।
प्रगटायीं कृष्ण ने ।।१७८।।
तब दिव्य चक्षु-प्रकाश प्रगटा।
ज्ञानदृष्टि में अङ्कुर फूटा।
इस प्रकार प्रभु ने दिखाया।
ऐश्वर्य अपना ।।१७९।।
ये जो अवतार सकल।
वे जिस समुद्र के कल्लोल।
अथवा विश्व यह मृगजल।
जिस की रश्मि से दिखे ।।१८०।।
जिस अनादि भूमिका पर।
उभरते चित्र चराचर।
श्री वैकुण्ठ ने वह अपना-आप।
दिखाया उसे ।।१८१।।
पहले एक बार बालपने में।
मिट्टी खायी थी श्रीपति ने।
तब कोप करके यशोदा ने।
पकड़ा हाथ ।।१८२।।
तब डरते-डरते जैसे।
मुँह की तलाशी के निमित्त से।
चौदहों भुवन दिखाये उसे।
अवकाश सहित ।।१८३।।
अथवा मधुवन में ध्रुव को जैसे।
शङ्ख छुआया कपोल से।
तब अगम्य वेदों को मात कर के।
वह लगा बोलने ।।१८४।।
राजन् वैसा अनुग्रह।
श्रीहरि ने किया धनञ्जय पर।
अब किसे कहते माया यह।
जाने न वह ।।१८५।।
सब ओर देखा ऐश्वर्य तेज।
हुआ चमत्कार का एकार्णव।
तब समाज में डूबे चित्त।
विस्मय के ।।१८६।।
जैसे आब्रह्म पूर्णोदक में।
मार्कण्डेय तैरे अकेले।
वैसे विश्वरूप के कौतुक में।
ऊबे–डूबे पार्थ ।।१८७।।
कहे यहाँ था कितना गगन।
उसे कहाँ ले गया कौन ?
वे चराचर के महाभूत।
क्या हो गये ? ।।१८८।।
खो गया दिशाओं का स्वप्न।
न जाने कहाँ गये अधः ऊर्ध्व।
जागने पर मिटा हो स्वप्न।
वैसे लोकाकार गये ।।१८९।।
अथवा सूर्य-तेज-प्रताप से।
सचन्द्र तारागण जैसे लोपे।
वैसे निगली विश्वरूप ने।
प्रपञ्चरचना ।।१९०।।

मन में मनपन न स्फुरे।
बुद्धि निज को न सँभाल पाये।
इन्द्रियों की रश्मियाँ हृदय में।
लौट कर भरीं ॥१९१॥

वहाँ ताटस्थ्य हुआ तटस्थ।
स्तब्धता हुई निस्तब्ध।
जैसे पड़ा हो मोहनास्त्र।
विचारजात पर ॥१९२॥

वैसे कौतुक से देखे विस्मित।
पहले यहाँ था चतुर्भुज रूप।
वही चहुँ ओर नानारूप।
होकर प्रगटा ॥१९३॥

जैसे वर्षाकाल के मेघ।
या महाप्रलय में बढ़ा तेज।
वैसे कहीं कुछ निज से रहित।
रहा न शेष ॥१९४॥

पहले स्वरूप – समाधान।
पा कर रहा खड़ा अर्जुन।
फिर खोल कर लोचन।
देखे विश्वरूप ॥१९५॥

इन्हीं दोनों नयनों से।
सकल विश्वरूप देखे।
वह मनोरथ श्रीकृष्ण ने।
किया पूर्ण ऐसा ॥१९६॥

फिर वहाँ देखे अनेक वदन।
जैसे रमानायक के राजभुवन।
अथवा प्रगटे निधान।
लावण्यश्री के ॥१९७॥

या आनन्दवनों में आयी बहार।
सौन्दर्य ने पाया साम्राज्य।
वैसे देखे मनोहर।
हरि के वस्त्र ॥१९८॥

उन में से कितने एक।
स्वभाव से ही भयानक।
काल रात्रि के कटक।
उठे हों जैसे ॥१९९॥

या मृत्यु के मुख उभरे।
या भय के दुर्ग प्रसरे।
या महाकुण्ड उघड़े।
प्रलयानल के ॥२००॥

वैसे अद्‌भुत भयानक।
वहाँ वीर ने देखे वदन।
और सालङ्कार असाधारण।
सौम्य बहुत से ॥२०१॥

भले ज्ञानदृष्टि से अवलोके।
पर वदनों का पार न पा सके।
तब कौतुक से लोचन प्रभु के।
लगा देखने ॥२०२॥

तब कमलवन नाना वर्ण के।
अर्जुन ने देखे विकसे।
आदित्यपंक्तियों जैसे देखे।
नेत्र वहाँ ॥२०३॥

वहीं सघन श्याम मेघों में।
मानो कल्पान्त की विद्युत् चमके।
वैसी दृष्टि भ्रूभङ्गों के तले।
पिङ्गलवह्नि जैसी ॥२०४॥

एक-एक आश्चर्य ऐसे।
पाण्डुसुत उस एक रूप में।
दर्शनों की अनेकता देखे।
प्रतिफलित ॥२०५॥

फिर कहाँ इन के चरण।
कहाँ मुकुट कहाँ दोर्दण्ड।
ऐसे देखने का कौतुक।
बढ़ता चला ॥२०६॥

था भाग्यनिधि पार्थ।
क्यों विफल होंगे मनोरथ।
क्या पिनाकपाणि का निषङ्ग।
भरा व्यर्थ बाणों से? ॥२०७॥

अथवा चतुरानन की वाचा में।
क्या झूठे अक्षरों के साँचे?
अतः साद्यन्तपन देखा उतने।
अपार का ॥२०८॥

जिस की थाह न पाते वेद।
उस के सब अवयव एक साथ।
अर्जुन के दोनों नेत्र।
भोगने लगे ॥२०९॥

चरणों से मुकुट पर्यन्त।
देखे विश्वरूप का माहात्म्य।
जहाँ नाना रत्न अलङ्कार।
सुशोभित ॥२१०॥

परब्रह्म अपने ही अङ्गों में।
स्वयं विविध अलङ्कार बने।
वे आभूषण थे कैसे?
कहूँ अब मैं ॥२११॥

जिस प्रभा की चमक।
करे चन्द्रादित्य-मण्डल उज्ज्वल।
जो महातेज का जीवनसार।
जिससे विश्व प्रगटे ॥२१२॥

वह दिव्यतेज – शृङ्गार।
किस की मति को हो गोचर।
निज से निजको सजाते देव।
देख रहा वीर ॥२१३॥

फिर उसी ज्ञान दृष्टि से।
सरल कर–पल्लव जब देखे।
तब कल्पान्त ज्वाला से बढ़े-चढ़े।
झलकते दिखे शस्त्र ॥२१४॥

आप ही अङ्ग आप अलङ्कार।
आप ही आप हथियार।
आप ही जीव आप शरीर।
भरा देव से चराचर ॥२१५॥

जिस की किरणों की प्रखरता से।
नक्षत्रों के टुकड़े उड़ें।
तेज से सन्तप्त वह्नि कहे।
समाऊँ समुद्र में ॥२१६॥

फिर कालकूटमय कल्लोल उछले।
महाविद्युत् के अरण्य उमड़े।
वैसे अपार कर देखे।
उदितायुध ॥२१७॥

डर कर वहाँ से हटाई दृष्टि।
देखने लगा कण्ठ, मुकुट, किरीटो।
तब यहीं से हुई सुरतरु की सृष्टि।
यह हुआ प्रतीत ॥२१८॥

जिस महासिद्धि के मूलपीठ में।
श्रमित कमला विश्राम लेवे।
वैसे सुन्दर कुसुमों से।
सुवास लेते देखा ॥२१९॥

मुकुटों पर स्तबक।
स्थान–स्थान पर पूजाबन्ध।
कण्ठमें झूलता अलौकिक।
मालादण्ड ॥२२०॥

सूर्य-तेज बिछा हो स्वर्ग में।
या मेरु मढ़ा हो स्वर्ण से।
ऐसा पीताम्बर कैसा झलके।
नितम्बों पर ॥२२१॥

श्रीमहादेव कर्पूर–चर्चित।
या कैलास पारे से लिम्पित।
अथवा क्षीरोदक से आच्छादित।
क्षीरार्णव जैसा ॥२२२॥

जैसे चन्द्रमा की तह खोल कर।
ओढ़ाया हो गगन पर।
वैसे देखे चन्दनचर्चित।
सर्वाङ्ग उस ने ॥२२३॥
जिस से स्वप्रकाश पर कान्ति चढ़े।
ब्रह्मानन्द का निदाघ शमे।
जिस के सौरभ से जीवन मिले।
वेदवती को ॥२२४॥
निर्लेप जिसका अनुलेप करे।
जिसे अनङ्ग सर्वाङ्ग में धरे।
उस सुगन्ध की महिमा करे।
कौन वर्णित ॥२२५॥
ऐसो शृङ्गार शोभा एक-एक।
देख अर्जुन को हुआ क्षोभ।
देव खड़े हैं या बैठे यहाँ पर।
या शयालु न जाने ॥२२६॥
आँख खोलकर बाहर देखे।
तो सकल मूर्तिमय दिखे।
न देखूँ कह कर खड़ा रहे।
तो भीतर भी वही ॥२२७॥
सामने दिखते भयङ्कर मुख।
कहकर देखे पीठ की ओर।
तो वहाँ भी अनन्त श्रीमुख।
कर–चरण दिखते ॥२२८॥
अहो खुली दृष्टि में सब प्रतिभासे।
इस में आश्चर्य क्या अरे।
पर न देखने पर भी दिखे।
अद्‌भुत सुनो ॥२२९॥
कैसा अनुग्रहकरण।
पार्थ खोले या न खोले नयन।
किन्तु सर्वत्र नारायण।
व्यापे हुए ॥२३०॥
अतः आश्चर्य के पूर में।
पड़कर किनारा पाया जिस ने।
वही अन्य चमत्कार के।
महार्णव में पड़ा ॥२३१॥
अर्जुन को असाधारण ऐसे।
अपने दर्शनों के कौशल से।
उस अनन्त रूपधारी ने।
व्याप लिया ॥२३२॥
वह विश्वतोमुख स्वभावसे।
वहाँ दिखाने को पाण्डवने।
की प्रार्थना, सो सर्वरूप से।
हुए प्रगट ॥२३३॥
सूर्य या दीप हो तो प्रगटे।
वे न हों तो दिखना मिटे।
ऐसी दृष्टि वैकुण्ठने।
नहीं दी उसे ॥२३४॥
अत: अर्जुन को दोनों प्रकार से।
अँधेरे में भी सब दिखे।
यह सञ्जय हस्तिनापुर में।
राजा से कहे ॥२३५॥
कहा किंबहुना सुना आपने।
विश्वरूप देखा आप ने।
भरा नाना आभरणों से।
विश्वतोमुख ॥२३६॥
देव की अद्‌भुत अङ्गप्रभा।
करूँ कैसे वर्णन उस का।
कल्पान्त में एकत्र मेला।
द्वादशादित्यों का ॥२३७॥
वैसे दिव्य सूर्य सहस्र।
यदि उदित हों एकत्र।
तो भी उस तेज का दिव्यत्व।
न हो उपमित ॥२३८॥

समस्त विद्युतों का मेला करें।
प्रलयाग्नि सामग्री एकत्र करें।
फिर उस में दशक मिलावें।
महातेजों का ॥२३९॥
तो उस अङ्गप्रभा के समान।
थोड़ा-थोड़ा ही वह तेज।
पर पूर्णतया वैसा प्रोज्ज्वल।
न हो सके ॥२४०॥
ऐसा माहात्म्य श्रीहरि का सहज।
प्रगटा सर्वाङ्ग का तेज।
वह मेरे लिये हुआ दृश्य।
मुनिकृपा से ॥२४१॥
उस विश्वरूप में एक ओर।
समस्त जग का विस्तार।
महोदधि में बुलबुलों सदृश।
दिखे अलग-अलग ॥२४२॥
या आकाश में गन्धर्वनगर।
भूतल में पिपोलिका बाँधे घर।
अथवा परमाणु मेरु शिखर पर।
बैठे दिखें ॥२४३॥
समस्त विश्व उस रीति से।
उन देव चक्रवर्ती के शरीर में।
उस समय अर्जुन देखे।
धृतराष्ट्र ॥२४४॥
तब एक विश्व एक हम।
वह खोना सा द्वैतपन।
पिघल कर अन्तःकरण।
सहसा विलीन ॥२४५॥
भीतर प्रगट महानन्द।
बाहर गात्र हुए शिथिल।
छायी आपादमस्तक।
पुलकावली ॥२४६॥
वर्षाऋतु के प्रारम्भ में।
धुले शैलों के सर्वाङ्ग में।
सुकोमल अङ्कुर उगें जैसे।
वैसा रोमाञ्चित ॥२४७॥
चन्द्रकरों के स्पर्श से।
सोमकान्त द्रवे जैसे।
वैसे सघन स्वेद से।
भरा शरीर ॥२४८॥
जब मध्य में अलिकुल बैठे।
जल में कमलकली आन्दोले।
वैसे भीतर सुखोर्मि के बल से।
बाहर काँपे ॥२४९॥
कर्पूरकदली का गर्भपुट खुले।
कर्पूर के भराव से।
तब शुभ्रकण • झरें वैसे।
नयनों से अश्रुबिन्दु ॥२५०॥
उदित होने पर सुधाकर।
जैसे पूर्ण भी भरता सागर।
वैसे ऊर्मिभरित बारम्बार।
उछले अर्जुन ॥२५१॥
ऐसे अष्ट सात्त्विक भाव।
स्पर्धा करें परस्पर।
वहाँ ब्रह्मानन्द साम्राज्य।
पाया जीव ने ॥२५२॥
इस सुखानुभव के बाद।
द्वैतदृष्टि को किया याद।
तब निःश्वास लेकर पार्थ।
देखने लगा ॥२५३॥
जिधर बैठे थे देव।
उस ओर नमाया मस्तक।
फिर जोड़कर करसम्पुट।
कहने लगा ॥२५४॥

कहा जय हो जय स्वामी !
आपने नवल कृपा की।
कि मुझ जैसा प्राकृत भी।
देखे विश्वरूप ॥२५५॥
सच ही स्वामी ने भला किया।
मुझे सहज परितोष हुआ।
जो कि देखा इस सृष्टि का।
आश्रय तुम ही ॥२५६॥
देव मन्दराचल पर।
श्वापद समूह स्थान–स्थान पर।
वैसे आपके देह पर।
दिखते भुवन ॥२५७॥
अहो आकाश के अवकाश में।
ग्रहगणों के कुल दिखते।
या महावृक्ष के कोटर में।
पक्षियों के कुल ॥२५८॥
श्रीहरि वैसे ही आप के।
इस विश्वात्मक शरीर में।
देखता हूँ स्वर्ग, सुनिये।
सुरगणों सहित ॥२५९॥
प्रभु महाभूतों के पञ्चक।
यहाँ दिख रहे अनेक।
और भूतग्राम एक-एक।
भूतसृष्टि के ॥२६०॥
जो सत्यलोक है आप में।
क्या ये चतुरानन नहीं दिखे।
दूसरी ओर जब देखें।
तो दिखता कैलास ॥२६१॥
श्री महादेव भवानी सहित।
दिखते तव अंश में स्थित।
और तुम भी हृषीकेश।
दिखते तुम में ॥२६२॥

फिर कश्यपादि ऋषिकुल।
ये तव स्वरूप में सकल।
दिख रहे सब पाताल।
पन्नगों सहित ॥२६३॥
किम्बहुना त्रैलोक्यपति हे।
आप के अवयवों की भित्ति में।
चतुर्दश भुवन चित्राकृति ये।
अङ्कुरित लगतीं ॥२६४॥
और वहाँ के जो जो लोक।
वही चित्र-रचना अनेक।
ऐसा देख रहा अलौकिक।
गाम्भीर्य तुम्हारा ॥२६५॥
उन दिव्य चक्षुओं के बल से।
जब चहुँ ओर दृष्टि पड़े।
तब बाहुदण्ड दिखें जैसे।
आकाश अङ्कुरित ॥२६६॥
वैसे एक–एक निरन्तर।
देखता देव आपके कर।
कर रहे सब व्यापार।
एक ही समय ॥२६७॥
महाशून्य के आँगन में।
ब्रह्मकटाह के भाण्डार खुले।
दिखते अपार ऐसे।
उदर आप के ॥२६८॥
जो सहस्रशीर्षों को देखें।
कोटि–कोटि एकत्र दिखें।
मानो लदा वदनफलों से।
परब्रह्मद्रुम ॥२६९॥
जितने वक्त्र उतनी वैसे।
तुम्हारी विश्वमूर्तियाँ दिखें।
फिर उनपर नेत्रपंक्तियों के।
समुदाय अनेक ॥२७०॥

किम्बहुना स्वर्ग पाताल।
या भूमि-दिशा-अन्तराल।
यह विवक्षा मिटती सकल।
देखूं मूर्त्तिमय ॥२७१॥

तुम से रहित किसी दिशा में।
परमाणुभर भी, प्रयत्न से।
अवकाश कहीं भी न मिले।
ऐसा व्याप्त तुम से ॥२७२॥

इन नाना भूतों के सहित।
समाये थे जितने महाभूत।
ये सब दिखते व्याप्त।
अनन्त आप से ॥२७३॥

ऐसे किस स्थान से आप आये।
खड़े हैं यहाँ या बैठे हुए?
किस माँ के उदर में समाये?
तुम्हारा धाम कितना ॥२७४॥

तुम्हारा रूप—वय कैसा?
तुम्हारे परले पार है क्या?
और तुम किस पर स्थित यहाँ।
देखा मैंने ॥२७५॥

जब देखा यह सकल।
तब जाना तुम ही तुम्हारा आश्रय।
कभी किसी के नहीं तुम।
अनादि स्वयम्भू ॥२७६॥

तुम न खड़े हो न बैठे।
न वामन न ऊँचे।
वैकुण्ठ! तुम्हारे ऊपर-नीचे।
तुम ही हो! ॥२७७॥

तुम्हारे सदृश ही तव रूप।
तुम्हीं तुम्हारी वय देव!
पीठ-पेट सब परेश।
तुम्हारा तुम ही ॥२७८॥

किम्बहुना हरि अब।
तुम्हारे तुम ही सब।
परखा मैं ने पुनः यह।
इस दर्शन में ॥२७९॥

पर तुम्हारे इस रूप में।
न्यूनता एक ही दिखे।
कि आदि-मध्य-अन्त इस में।
तीनों नहीं ॥२८०॥

मैं ने खोज देखा सब ओर।
न मिला कोई भी एक।
अतः तीनों यहाँ नहीं यह।
त्रिवार सत्य ॥२८१॥

ऐसे आदि-मध्य-अन्त रहित।
तुम विश्वेश्वर अपरिमित।
ऐसा तुम्हारा विश्वरूप।
तत्त्वतः देखा ॥२८२॥

आप महामूर्त्ति के अङ्गों में।
अनेक मूर्त्तियाँ उभरी दिखें।
मानो बहुरङ्गी वेश पहने।
होते प्रतीत ॥२८३॥

अथवा द्रुमवल्ली मूर्त्तियाँ ये।
तव स्वरूप-महाचल में।
दिव्यालङ्कार फल-फूलों से।
लदी हुईं ॥२८४॥

अथवा तुम हो महोदधि देव।
मूर्ति तरङ्गों से आन्दोलित।
अथवा तुम वृक्ष सुन्दर।
मूर्तिफलों से फलित ॥२८५॥

भूतों से भूतल मण्डित।
या नक्षत्रों से गगन व्याप्त।
वैसा मूर्त्तियों से भरित।
देखूं तव रूप ॥२८६॥

जो एक-एक अङ्गप्रान्त में।
तीनों जग होते जाते।
इतनी मूर्तियाँ इस शरीर के।
एक-एक रोम में ॥२८७॥

जग का ऐसा विस्तार रचे।
तुम कौन हो कहाँ के?
यह देखा तो तुम हो मेरे।
सारथि ही ॥२८८॥

लगता मुझे हे मुकुन्द।
तुम सर्वदा ऐसे व्यापक।
पर भक्तानुग्रह के लिये मुग्ध।
रूप धरते ॥२८९॥

कैसे चतुर्भुज श्यामल।
देखते मन-नेत्र सन्तृप्त।
यदि करना चाहें आलिङ्गन।
समाते बाहु में ॥२९०॥

ऐसी मूर्ति कृपावश।
दिखाते हो न! विश्वरूप।
पर हमारी दृष्टि सलेप।
जो देखती सामान्यता ॥२९१॥

अब गया दृष्टि का कलुष।
तुम ने दिव्य चक्षु दिया सहज।
अतः देख सका यथारूप।
महिमा तुम्हारी ॥२९२॥

मकर – तुण्ड के पीछे।
बैठे हुए तुम्हीं ने।
विशाल रूप धरा में ने।
जाना स्पष्ट ॥२९३॥

यही न था क्या मुकुट।
आप के मस्तक पर।
पर अब का तेज अद्भुत!
अतिविशाल ॥२९४॥

घूमता ऊपरी कर में।
चक्र भी यह वही दिखे।
स्मरण आते विश्वमूर्त्ति के।
वही चिह्न ॥२९५॥

उधर नहीं क्या वही गदा।
नीचे दोनों निरायुध भुजा।
रथ सँभालने को मेरा।
रखीं आगे ॥२९६॥

उसी में से सहसा सवेग।
मेरे मनोरथ के सदृश।
धरा विश्वरूप विश्वेश।
होता प्रतीत ॥२९७॥

पर यह कैसा आश्चर्य।
मैं विस्मय के भी नहीं योग्य।
चित्त हो रहा व्यामूढ।
इस आश्चर्य से ॥२९८॥

यह यहाँ है अथवा नहीं।
न उठता यह विचार भी।
नवल अङ्गप्रभा की नवाई।
सर्वत्र व्याप्त ॥२९९॥

यहाँ अग्नि के भी नेत्र चौंधें।
खद्योत जैसा सूर्य लोपे।
ऐसा तीव्रपन अद्भुत दिखे।
इस तेज का ॥३००॥

क्या महातेज के महार्णव में।
डूबी सृष्टि सकल रे।
या युगान्त-विद्युत् के आँचल में।
ढका गगन ॥३०१॥

या संहार तेज की ज्वाला।
तोड़ अन्तराल में मञ्च बांधा।
दिव्यज्ञान के चक्षु से भी।
दिखता नहीं ॥३०२॥

उज्ज्वल विशाल अधिकाधिक।
होता जाता अतिदाहक।
दिव्य चक्षु को भी होता त्रास।
देखने में ॥३०३॥

मानो महाप्रलय का भभका।
जो कालाग्निरुद्र में था छिपा।
यह कोश तृतीय नयन का।
प्रगटा आज ॥३०४॥

फैलने से वह प्रकाश।
पञ्चाग्निज्वाला का पुञ्ज।
पड़ने से ब्रह्मकटाह।
होगा कोयला ॥३०५॥

तेजोराशि ऐसा अद्‌भुत।
जन्मभर में देखा आज।
तब व्याप्ति-कान्ति का न पार।
पाता देव! ॥३०६॥

हे देव आप वह अक्षर।
प्रणव की मात्रा से पर।
श्रुतियाँ जिस का घर।
खोजें आज भी ॥३०७॥

जो आकार का आयतन।
विश्व-निक्षेप का एक निधान।
वह अव्यय आप गहन।
अविनाश जी ॥३०८॥

आप धर्मों के जीवन।
अनादिसिद्ध नित्यनवीन।
जानूँ छत्तीसवाँ विशेष।
पुरुष आप ही ॥३०९॥

तुम आदि-मध्यान्त-रहित।
स्वसामर्थ्य से तुम अनन्त।
विश्व - बाहु - अपरिमित।
विश्वचरण तुम ॥३१०॥

तुम सूर्य-चन्द्र-नयनों में।
कोप-प्रसाद-लीला दिखाते।
कहीं तमदृष्टि से क्रुद्ध होते।
कहीं कृपादृष्टि से पालते ॥३११॥

तुम को इस प्रकार का।
वास्तव में मैं देख रहा।
धधकते प्रलयाग्नि जैसा।
वक्त्र तुम्हारा ॥३१२॥

पर्वत में दावाग्नि लगे।
तब सब ओर ज्वाला भभक उठे।
वैसे दाढ़-दाँत चाटती घूमे।
जिह्वा तुम्हारी ॥३१३॥

इस वदन की ऊष्मा से।
सर्वाङ्ग-कान्ति की प्रभा से।
सन्तप्त विश्व अतिक्षोभ से।
दिखता देव ॥३१४॥

द्युलोक और पाताल।
पृथ्वी और अन्तराल।
अथवा दशदिशा समाकुल।
दिशाचक्र ॥३१५॥

यह समस्त तुझ एक से।
भरा देखता कौतुक से।
पर गगन पर्यन्त भयानक में।
डूबा जैसा ॥३१६॥

या अद्‌भुत रस के कल्लोल से।
चौदहों भुवन वेष्टित हुए।
ऐसा आश्चर्य देखूँ कैसे।
अकेला मैं! ॥३१७॥

न देखी जाये व्याप्ति असाधारण।
न सहा जाये रूप का उग्रपन।
सुख रहा दूर, प्राणधारण।
कठिन यहाँ ॥३१८॥

देव ! तुम को ऐसा देख कर।
न जाने मुझ में क्यों भरा भय।
अब दुःख कल्लोल में रहे डूब।
तीनों भुवन ॥३१९॥

यों पाकर तुम्हारा दर्शन।
क्यों भय–दुःख का होता मिश्रण।
नहीं है यह सुखकर गुण।
जानूँ इतना ॥३२०॥

जब तक न देखा तव रूप।
तब तक सुख दिखा सांसारिक।
अब देखने पर उपजा त्रास।
विषय विकार में ॥३२१॥

ऐसा तव रूप देख कर।
क्या संभव भुजा में लूँ भर।
यदि नहीं तो विरहसङ्कट।
सहूँ कैसे? ॥३२२॥

अतः पीछे हटूँ तो संसार।
प्रतिबन्ध बनता अनिवार।
आगे बढ़ूँ तो तुम अनावर।
न आते पकड़ में ॥३२३॥

ऐसा यह दोहरा सङ्कट।
बिचारा त्रैलोक्य सन्तप्त।
ऐसा विश्वरूप का तात्पर्य।
दिखता मुझे ॥३२४॥

जैसे जलता हुआ आग से।
समुद्र में बुझाने को दौड़े।
वहाँ प्रचण्ड कल्लोल से।
हो भयभीत ॥३२५॥

वैसा इस जग का हुआ।
देख आपको ठिठक रहा।
उधर ज्ञानशूरों का।
समुदाय देखो ॥३२६॥

ये आप के आङ्गिक तेज में।
जला कर बीज सब कर्मों के।
आप में ही सहज मिलते।
सद्भाव से ॥३२७॥

और कोई अति भयभीत।
रखे सर्वस्व आपके सम्मुख।
करते प्रार्थना विनीत।
बद्धाञ्जलि ॥३२८॥

देव अविद्यार्णव में पड़ा।
विषयवागुरा में फँसा।
स्वर्ग संसार से जकड़ा।
दोनों ओर ॥३२९॥

ऐसे हम को छुड़ाये।
सिवा आप के कौन हरे।
शरण आप की सर्वप्राण से।
देवगण ॥३३०॥

और महर्षि तथा सिद्ध।
विद्याधर – समूह – विविध।
बोलते तुम्हारा स्वस्तिवाद।
करते स्तवन ॥३३१॥

ये रुद्र-आदित्यों के समूह।
वसुगण तथा साध्य सब।
अश्विनौ देव-विश्वेदेव विभव।
और यह वायु ॥३३२॥

सुनो पितर और गन्धर्व।
उधर यक्ष-रक्षोगण सर्व।
जी महेन्द्र–प्रमुख सब देव।
या सिद्धादिक ॥३३३॥

सभी निज-निज लोकमें।
सोत्कण्ठित अवलोकें।
महामूर्त्ति दैविक देखें।
आश्चर्य से ॥३३४॥

प्रतिक्षण देखते-देखते।
विस्मित हुए अन्तःकरण से।
निज मुकुट सब वार रहे।
हरि तुम पर ॥३३५॥
जय-जय घोष कलरव से वे।
स्वर्ग सारा गुंजा रहे।
मस्तक पर रख कर खड़े।
करसम्पुट ॥३३६॥
उन के विनय-द्रुमों के वन में।
सात्त्विक भावों का वसन्त प्रगटे।
अतः करसम्पुट पल्लव में।
तुम बनते फल ॥३३७॥
लोचनों का भाग्य जगा।
सुख का आज सुदिन उगा।
जो आपका अगाध देखा।
विश्वरूप ॥३३८॥
यह लोकत्रय–व्यापक स्वरूप।
देख कर देव भयभीत।
जिधर से देखें वहीं सम्मुख।
दिखते आप ॥३३९॥
ऐसे एक ही पर विचित्र।
और भयानक वक्त्र।
बहुलोचन, ये सशस्त्र।
अनन्त भुजा ॥३४०॥
अनन्त चारु बाहु–चरण।
बहु उदर और नाना वर्ण।
कैसा प्रतिवदन में मत्तपन।
आवेश का ॥३४१॥
अथवा महाकल्प के अन्त में।
जहाँ–तहाँ क्रुद्ध यम ने।
प्रलयाग्नि को होलिकायें।
फैलादीं मानो ॥३४२॥
अथवा संहार–त्रिपुरारि का यन्त्र।
या प्रलयभैरव का क्षेत्र।
मानो युगान्त – शक्ति के पात्र।
भूतनाश के लिये ॥३४३॥
वैसे यत्र–तत्र–सर्वत्र।
आप के प्रचण्ड वक्त्र।
न समाता दरी में सिंह।
वैसे क्रुद्ध दशन ॥३४४॥
जैसे कालरात्रि के अंधेरे में।
संहार-खेचर उल्लसित निकले।
वैसे प्रलयरुधिर से।
सनी दाढ़ें ॥३४५॥
या काल ने निमन्त्रित किया रण।
या सर्व में उन्मत्त मरण।
वैसा अत्यन्त भीषणपन।
आप के वदन में ॥३४६॥
यह बेचारी सृष्टि।
(यदि) डालें इस पर थोड़ी दृष्टि।
दुःख कालिन्दी के तट पर खड़ी।
वृक्ष बन कर ॥३४७॥
तुम्हारे महामृत्यु के सागर में।
त्रैलोक्यजीवन की तरी अरे।
शोक–दुर्वात–लहरी में।
आन्दोलित ॥३४८॥
यहाँ कोप कर के वैकुण्ठ।
कदाचित् कहेंगे आप।
तुझे क्यों लोक का शोक।
तू भोग ध्यानसुख ॥३४९॥
तो लोगों का सर्वसाधारण।
व्यर्थ ही बनाता निमित्त।
सहसा कैसे कहूँ कि प्राण।
मेरे ही काँपे ॥३५०॥

जिस मुझ से संहाररुद्र डरे।
जिस मेरे भय से मृत्यु छिपे।
उस मेरा अन्तर्बाह्य काँपे।
ऐसा तुम ने किया ॥३५१॥
विचित्र यह महामारी तात।
यद्यपि नाम विश्वरूप।
पर भयानकता से भयभीत।
करे भय को ॥३५२॥
लड़ते महाकाल से होड़में।
ऐसे कितने मुख क्रोध भरे।
छोटा किया आकाश इन्होंने।
अतिशय बढ़कर ॥३५३॥
गगन के विस्तार में न समायें।
त्रिभुवन के वायु से ढके जायें।
इन की भाफ़ से अग्नि झुलसे।
ऐसे भड़के ॥३५४॥
फिर एक के समान नहीं एक।
इन में वर्ण–अवर्ण का भेद।
प्रलय में लेता सहाय।
वह्नि इन से ॥३५५॥
इतनी दीप्ति इन अङ्गों में।
कि त्रैलोक्य को राख बना दें।
कितने ही मुख, उन मुखों में।
दाँत–दाढ़ें ॥३५६॥
वायु को कैसा घनुर्वात हुआ।
समुद्र किस महापूर में पड़ा।
विषाग्नि क्या मारने चला।
वडवानल को? ॥३५७॥
अग्नि ने पिया हलाहल।
मारने चला स्वयं मरण।
संहार–तेज में प्रकटे वदन।
दिखता ऐसा ॥३५८॥
किन्तु कितना अमाप विशाल।
मानो टूट पड़ा हो अन्तराल।
आकाश में पड़ी दरार।
बहुत बड़ी ॥३५९॥
या काँख में पृथ्वी दबाकर।
पाताल में घुसा हिरण्याक्ष।
वहाँ खोला पाताल–कुहर।
हाटकेश्वर ने ॥३६०॥
वैसा तुम्हारा मुखविकास।
उस में जिह्वाओं का आवेश।
विश्व भर न हो एक भी ग्रास।
अतः स्तब्ध देखते ॥३६१॥
पाताल–व्यालों के फूत्कार से।
गरल–ज्वाला चढ़े अम्बर में।
वैसी प्रसरे वदन–कुहर में।
जिह्वा यह ॥३६२॥
प्रलय विद्युत् के समूह निकालकर।
किया आकाश दुर्ग का शृङ्गार।
वैसे मुख में नीचे ऊपर।
चमकती दाढ़ें ॥३६३॥
और ललाटपट के खोल में।
भय को भीत करते नयन ये।
मानो महामृत्यु के प्रवाह निकलते।
भ्रूमध्य से ॥३६४॥
ऐसा भीति का कौतुक कर के।
क्या निपजाना चाहते?
यह समझ न पड़ता मुझे।
पर छाया मरणभय ॥३६५॥
विश्वरूप देखने की थी साध।
उसे मिला पूरा प्रतिफल।
देखकर नेत्र हुए सन्तुष्ट।
अब होइये शान्त ॥३६६॥

अहो पार्थिव देह जाता दिखे ।
इस की नहीं व्याकुलता मुझे ।
पर चैतन्य भी बड़े प्रयास से ।
बचे या न बचे ? ।।३६७।।
इस भय से काया काँपे ।
क्षणभर मन भी काँपे ।
बुद्धि भी ग्रस्त भय से ।
भूला अभिमान ।।३६८।।
इस को रखें पृथक् देव ।
जो शेष आनन्दैकरूप ।
उस अन्तरात्मा में भी सिहरन ।
उठी भय को ।।३६९।।
कहाँ साक्षात्कार की साध ।
इस ने तो डगा दिया निजबोध ।
ऐसा गुरु–शिष्य–सम्बन्ध ।
होगा क्वचित् ।।३७०।।
देव ! तुम्हारे इस दर्शन से ।
जो वैकल्य उपजा अन्तःकरण में ।
उसे सँभालने के लिये ।
ओढ़ रहा धैर्य ।।३७१।।
तो वह धैर्य हुआ लुप्त ।
उस पर देखा विश्वरूप ।
यह रहे, पर उलटी उलझन ।
हुई उपदेश से ।।३७२।।
विश्राम पाने के लिये ।
जीव चहुँ ओर दौड़े ।
पर आश्रय इसे न मिले ।
किसी ठौर ।।३७३।।
इस विश्वरूप की महामारी से ।
सचराचर के प्राण गये ।
कहना न उचित, पर क्या करें ।
रहें कैसे ? ।।३७४।।

अरे आँखों के सम्मुख अखण्ड ।
फूटा महाभय का भाण्ड ।
वैसे तुम्हारे मुख प्रचण्ड ।
फैले दिखते ।।३७५।।
उन में दाँत-दाढ़ों की भीड़ ।
न समाती ओठों के भीतर ।
प्रलय-शस्त्रों की बाड़ ।
बँधी हो जैसे ।।३७६।।
जैसे तक्षक में भरा हो विष ।
अथवा कालरात्रि में भूत ।
या आग्नेयास्त्र किया हो धारण ।
वज्राग्नि ने ।।३७७।।
वैसे तुम्हारे मुख प्रचण्ड ।
आवेश कर रहे प्रगट ।
और मरण–रस का पूर ।
आया हम पर ।।३७८।।
संहार-समय का चण्डानिल ।
और महाकल्पान्त प्रलयानल ।
इन दोनों का हुआ मेल ।
तब क्या न जले ।।३७९।।
ऐसे संहारक तुम्हारे मुख ।
देखकर हम में न रहे धीर ।
भूला मैं दिशा न सकूँ देख ।
न जानूँ निज को ।।३८०।।
आँखों से देखा विश्वरूप–विशाल ।
और सुख का पड़ा दुष्काल ।
अब कृपया समेटिये निज ।
अस्ताव्यस्त यह ।।३८१।।
ऐसा करेंगे यदि मैं जानता ।
तो देखने की बात क्यों कहता ।
अब बचाओ प्राण एकदा ।
इस स्वरूप–प्रलय से ।।३८२।।

जो कि आप मेरे स्वामी अनन्त।
तो मेरे जीवन का प्रतिबन्ध।
हटा कर कीजिये प्रसार संवृत।
महामारी का ॥३८३॥

सुनिये सब देवों के परम दैवत।
आपके चैतन्य में विश्व निवसित।
वह भूल कर यह विपरीत।
संहार कर रहे? ॥३८४॥

अतः शीघ्र प्रसन्न हो देवराज।
समेटो! समेटो! माया निज।
कृपया निकालो मुझे इस।
महाभय से ॥३८५॥

पुनः पुनः इतने समय तक।
कह रहा तुमसे व्याकुल होकर।
हुआ विश्वमूर्ति देखकर।
इतना भीत ॥३८६॥

जब अमरावती पर हुआ आक्रमण।
अकेले मैंने किया निवारण।
क्यों कि काल के भी मुख से भय।
न था मुझे ॥३८७॥

पर वैसा यहाँ नहीं देव।
यहाँ मृत्यु से भी बढ़कर।
तुम चाहते करना हमारे सहित।
विश्व का ग्रास ॥३८८॥

न होने पर भी प्रलयवेल।
मध्य में तुम ही बन गये काल।
बिचारा यह त्रिभुवनमण्डल।
हुआ अल्पायु ॥३८९॥

अरे रे भाग्य विपरीत।
शान्त करने में उठा विघ्न।
अहो! गया! गया! विश्व।
तुम लगे ग्रसने ॥३९०॥

नहीं क्या यह प्रत्यक्ष।
फैलाकर सारे मुख।
चहुँ ओर कर रहे कवल।
इस सैन्य को ॥३९१॥

नहीं क्या ये कौरव कुलके वीर।
अहो अन्धे धृतराष्ट्र के कुँवर।
ये गये–गये! सपरिवार।
तुम्हारे वदन में ॥३९२॥

और जो-जो इन के सहायक।
देश-देश के राजागण।
न बचा उन का नामघर।
ऐसे निगल रहे ॥३९३॥

मदमुखों के समूह।
निगल रहे तुम एक साथ।
खड़े हुए ये दोनों सैन्य।
जकड़ रहे ॥३९४॥

यन्त्रों के चालक।
पदातियों के समुदाय।
हो रहे सभी लुप्त।
तुम्हारे मुख में ॥३९५॥

कृतान्त के सदृश जो प्रत्येक।
सकते विश्व को निगल।
ऐसे कोटिक सकल।
निगलते शस्त्र ॥३९६॥

चतुरङ्ग सैन्य–परिवार।
जुते हुए रथ सुन्दर।
दाँत भी न लगा कर रहे निगल।
कैसी तुष्टि से ॥३९७॥

इन भीष्म जैसा कौन।
सैन्य–शौर्य–निपुण।
वे और ये ब्राह्मण द्रोण।
निगले अरे ॥३९८॥

अहो यह सहस्रकर का कुमार।
गया! गया यह कर्णवीर।
कचरे जैसे हम सब।
किये समाप्त ॥३९९॥
अहह ब्रह्म! देव! यह।
कैसा हुआ अनुग्रह।
बेचारे जग का मरण।
मैं लाया माँग ॥४००॥
पहले थोड़े बहुत प्रकार से।
कही विभूति आप ने।
उस से न समाहित हुआ मैं।
पुनः पूछ बैठा ॥४०१॥
टले न प्रारब्ध त्रिवार सत्य।
बुद्धि हो जाती भावी के सदृश।
मेरे कपाल में लोक-मरण।
टले वह कैसे? ॥४०२॥
पहले अमृत आया हाथ।
पर देव न रुके वहाँ पर।
तब निकला कालकूट।
अन्त में जैसे ॥४०३॥
पर वह था इस से अत्यल्प।
था उस का प्रतिकार संभव।
और उस अवसर पर।
बचाया शम्भु ने ॥४०४॥
इस जलते वायु को कौन सँभाले?
कौन विषभरा गगन निगले।
महाकाल से खेलने में।
कौन समर्थ ॥४०५॥
ऐसे अर्जुन दुःख में क्षीण।
चित्त में करता शोक दारुण।
समझ न पाया प्रस्तुत।
अभिप्राय देव का॥४०६॥

जो 'मैं मारता, कौरव ये मरते'।
लिपटा था ऐसे प्रबल मोह में।
वह मोह मिटाने को अनन्त ने।
यह दिखाया निज ॥४०७॥
अरे कोई किसी को न मारता।
मैं ही सबको संहारता।
विश्वरूप व्याज से प्रगट किया।
श्रीहरि ने यह ॥४०८॥
पर व्यर्थ की व्याकुलता।
पाण्डुसुत नहिं समझ सका।
और भय कम्प बढ़ता चला।
निरर्थक ॥४०९॥
कहे देखो एक साथ।
दोनों दल कवचादि सहित।
वदन में गये जैसे अभ्र।
गगन में लुप्त ॥४१०॥
या महाकल्प के अन्त समय।
कृतान्त कुपित हो सृष्टि पर।
इक्कीस स्वर्ग पाताल सहित।
भर ले मुख में ॥४११॥
अथवा जब उदासीन देव।
सब सञ्चकों का वैभव।
जहाँ का तहाँ स्वभाववश।
पाता विलय ॥४१२॥
वैसे जुटे सैन्य एक साथ।
इस मुख में हुए प्रविष्ट।
एक भी न आता छूट।
कैसे कर्म देखो? ॥४१३॥
अशोक की शाखायें।
ऊँट जैसे चबा जाये।
वक्त्रों में लोक वैसे।
गये व्यर्थ ॥४१४॥

मुकुटों सहित मस्तक अरे।
दाढ़ों के संदंश में पड़े।
कैसे पिस कर चूर्ण हुए।
दिखते मुझे ॥४१५॥

मुकुट रत्न दन्त-सन्धियों में।
चूर्ण चिपका जिह्वा के तले।
कहीं—कहीं कण फँसे दिखें।
दाढ़ों में ॥४१६॥

अहो इस विश्वरूप काल ने।
बल सहित लोगों के तनु ग्रसे।
पर प्राण रूप शीश देह के।
रखे अवश्य ॥४१७॥

यों भी शरीरों में विशुद्ध।
होते ये उत्तमाङ्ग।
अतः काल मुख में भी रक्षित।
हुए ये ॥४१८॥

फिर कहे यह कैसा आश्चर्य।
जन्मे हुओं के पथ नहीं अन्य।
सब अपने आप वदन-मध्य।
चले जा रहे ॥४१९॥

अपने आप सारी सृष्टि।
वदन के ही पन्थ लगती।
और यह निगल रहा सभी।
जहाँ का तहाँ ॥४२०॥

ब्रह्मादिक समस्त।
ऊपर के मुख में प्रविष्ट।
समा रहे सामान्य सब।
दूसरे मुखों में ॥४२१॥

और भी भूतजात।
उपजते ही होते ग्रासित।
इस मुख से निभ्रान्त।
छूटे न कोई ॥४२२॥

जैसे महानदी के ओघ।
मिलते समुद्र में सवेग।
वैसे सभी ओर से कर रहा जग।
मुख में प्रवेश ॥४२३॥

आयुष्य पन्थ से प्राणिगण।
बना कर अहोरात्र को सोपान।
वेग से मुख में मिलन।
साध रहे ॥४२४॥

जलते गिरि के गवाक्ष में।
पतङ्ग-समूह हों कूद रहे।
वैसे समग्र लोक पड़ते।
इस वदन में ॥४२५॥

पर जितने हुए यहाँ प्रविष्ट।
तपे लोहे पर जल जैसे लुप्त।
पुँछ गये उन के नाम रूप।
बही में से ॥४२६॥

करते हुए इतना भक्षण।
भूख में न आया न्यूनपन।
कैसा दीपन असाधारण।
उदित इस का ॥४२७॥

जैसे रोगी ज्वर से उठे।
या दुष्काल में भिखारी माँगे।
वैसी जीभ में लालसा दिखे।
चाटे होंठ ॥४२८॥

आहार के नाम से कुछ भी।
मुख से तुम्हारे बचा नहीं।
कैसी अतृप्ति-भरी नवाई।
भूखेपन की ॥४२९॥

चाहें सागर का घूँट भरना।
या पर्वत को ग्रास करना।
या चाहें ब्रह्मकटाह डालना।
समूचा दाढ़ में ॥४३०॥

दिखे सब चाहते निगलना।
या चाँदनी को चाट जाना।
ऐसा दिखता हवस भरा।
लौलुप्य तुम्हारा ॥४३१॥
जैसे भोग से काम बढ़े।
या इन्धन से अग्नि भड़के।
खाते-खाते भी मुख वैसे।
खाने को ललकें ॥४३२॥
एक भी मुख कितना फैला।
त्रिभुवन जिह्वाग्र पर दिखता।
जैसे हो कैंथ वृक्ष पड़ा।
वडवानल में ॥४३३॥
ऐसे अपार वदन।
कैसे हों उतने त्रिभुवन।
आहार न पायें यहाँ तक।
बढ़ाये मुख ॥४३४॥
अरे यह लोक बिचारा।
वदन–ज्वाला में जा पड़ा।
जैसे दावा से हो वन घिरा।
दौड़ें मृग ॥४३५॥
अब वैसा ही यह विश्व हुआ।
देव! नहीं यह कर्म इन का।
यह जग जलचरों पर आ पड़ा।
काल–जाल ॥४३६॥
इस अङ्गप्रभा की वागुरा से।
ये चराचर निकलें कैसे?
वक्त्र नहीं लाक्षागृह ये।
प्राप्त जग को ॥४३७॥
अग्नि निज दाहकपन से।
कैसा जलाता यह वह न जाने।
पर लगता जिसे प्राण उसके।
बचते नहीं ॥४३८॥

कैसे अपने तीक्ष्णपन से।
घाव होता शस्त्र क्या जाने?
या निज मारकता न जाने।
जैसे विष ॥४३९॥
वैसे तुम में कहीं।
निज उग्रपन की सुधि नहीं।
इधर मुखरूप खाई।
बनी जग के लिये ॥४४०॥
अजी आत्मा तुम एक।
सकल–विश्व–व्यापक।
फिर हमारे लिये क्यों अन्तक।
हो कर प्रवृत्त ॥४४१॥
मैं छोड़ चुका जीवन की आस।
न रखो तुम कोई सङ्कोच।
जो मन में हो वह खोलकर।
बोलो सुख से ॥४४२॥
कितना बढ़ाओगे यह उग्र रूप।
अपना भगवन्तपन करो स्मरण।
नहीं तो मुझ पर हो तात।
करो कृपा ॥४४३॥
तो एक बार वेदवेद्य!
जो त्रिभुवनैक–आद्य!
विनती विश्ववन्द्य!
सुनिये मेरी ॥४४४॥
ऐसे कह कर वीर ने।
किया चरणों पर नमन फिरसे।
तब बोला सर्वेश्वर से।
कृपया सुनिये ॥४४५॥
मैंने पाने को समाधान।
पूछा था विश्वरूप ध्यान।
और एकदम ही त्रिभुवन।
निगलने चले तुम? ॥४४६॥

तुम कौन हो इतने बड़े।
ये भयङ्कर मुख क्यों जुटाये।
और सभी करों में धारण किये।
ये शस्त्र क्यों? ॥४४७॥

जी जब-तब क्रोधित-मन से।
बढ़कर गगन को न्यून बनाते।
और तान कर आँखें।
क्यों डरा रहे? ॥४४८॥

यहाँ देव कृतान्त से।
क्यों स्पर्धा कर रहे।
इस का अपना कहिये।
अभिप्राय मुझे ॥४४९॥

इस पर बोले अनन्त।
"मैं कौन?"—पूछ रहे पार्थ।
और "किसलिये यह विस्तार।
उग्रता का?" ॥४५०॥

"हाँ, मैं हूँ वस्तुतः काल।
लोक-संहार हित विस्तार।
इसी लिये फैले ये मुख।
अब ग्रसूँ सब" ॥४५१॥

तब अर्जुन बोला अरे—अरे।
त्रस्त हुआ इस सङ्कट से।
अतः की प्रार्थना पर उलटे।
क्षुब्ध हुए तुम ॥४५२॥

इस कठोर वचन से निराश।
अर्जुन होगा खिन्न उदास।
अतः पुनः बोले पार्थ।
पर और एक ॥४५३॥

आज के संहार-गृह से।
तुम पाण्डव बाहर रहोगे।
तब जाते-हुए धनुर्धर ने।
सँभाले प्राण ॥४५४॥

मरण महामारी में था फँसा।
अब वह सावधान हुआ।
फिर कहने—सुनने लगा।
चित्त दे कर ॥४५५॥

तब कहने लगे यह देव।
तुम मेरे हो जानो पाण्डव।
अन्य सब को करने ग्रास।
हुआ प्रवृत्त ॥४५६॥

वज्रानल प्रचण्ड में।
जैसे माखन का पिण्ड डालें।
वैसे यह जग मेरे मुख में।
जो देखा तुमने ॥४५७॥

उस में से कुछ भी कहीं।
नहीं बचेगा निश्चित ही।
ये सब सैन्य व्यर्थ ही।
बड़बड़ा रहे ॥४५८॥

ऐसी चतुरङ्ग की सम्पदा।
कर रही महाकाल से स्पर्धा।
पराक्रम का मद चढ़ा।
गरजती उस से ॥४५९॥

जो परस्पर मिल कर ये।
वीर-वृत्ति के बल से।
गजदल को अधिक यम बल से।
बखान रहे ॥४६०॥

कहते सृष्टि पर सृष्टि करें।
शपथ खा कर मृत्यु को मारें।
और इस जग का भरें।
घूंट एक ॥४६१॥

पृथ्वी समूची निगल जायें।
ऊपर आकाश को जला डालें।
या बाणवर्षा से जकड़ लें।
वायु को ॥४६२॥

हथियारों से भी तीक्ष्ण वचन।
दिखते अग्नि से अधिक दाहक।
मारकपन में कालकूट।
विष जैसे ॥४६३॥

पर गन्धर्वनगरों के तरङ्ग।
या पोलेपन के उछाल।
अथवा हों चित्रित फल।
वैसे ये वीर ॥४६४॥

अरे मृगजल में आया पूर।
ये दल नहीं कपड़े के साँप।
यह पुतलियाँ सजा कर खेल।
रचाया गया ॥४६५॥

इन की चेष्टा का प्रेरक बल।
मैंने पहले ही ग्रसा सकल।
अब मिट्टी के बने बेताल।
जैसे ये निर्जीव ॥४६६॥

हिलाने वाली डोरी टूटे।
तो पुतली उसी खंभे के सहारे।
फिर चाहे जहाँ गिर पड़े।
उलट कर ॥४६७॥

वैसी इस सैन्य की दशा।
इस के पराजय में न लगे वेला।
अतः सत्वर उठ सखा।
सयाना होकर ॥४६८॥

तूने गो-ग्रहण के अवसर पर।
सहसा डाला था मोहनास्त्र।
तब कर सका विराट्का भीरु उत्तर।
शत्रु को निर्वस्त्र ॥४६९॥

अब तो उस से भी निकृष्ट अरे।
मृत ही यह सैन्य पड़ा रण में।
ये रिपु जीत कर यश ले ले।
अकेले अर्जुन ॥४७०॥

और नहीं यश केवल।
समग्र राज्य हो करगत।
तू बन निमित्त-मात्र।
सव्यसाची! ॥४७१॥

द्रोण की परवाह न कर।
भीष्म का भय न धर।
कैसे शस्त्र चलाऊँ कर्ण पर।
न कह ऐसा ॥४७२॥

जयद्रथ का क्या करूँ उपाय।
यह चिन्ता न करे तेरा चित्त।
और भो वीर नामाङ्कित।
जो-जो यहाँ ॥४७३॥

ये एक-एक सकल।
चित्रित - सिंह - सदृश।
जिन्हें भींगे हाथ से सहज।
सकते पोंछ ॥४७४॥

अत एव हे पाण्डव।
यह कैसा युद्ध-प्रसङ्ग।
यह तो आभास ही सब।
सत्त्व ग्रस चुका मैं ॥४७५॥

जब देखा इन्हें तूने।
मेरे मुख में पड़े हुए।
तभी आयुष्य बीते इन के।
अब रीते खोल ॥४७६॥

अतः शीघ्र उठ कर।
मेरे मारे हुओं को मार।
शोक-सङ्कट में व्यर्थ।
फँस नहीं ॥४७७॥

स्वयं ही लक्ष्य खड़ा करें।
फिर कौतुक से वेध गिरायें।
वैसे देख तेरा अरे।
निमित्त मात्र ॥४७८॥

अरे तुझ से जो हुए विरुद्ध।
उन्हें जन्मते ही ले गया बाघ।
अब राज्य-सहित सञ्चित।
यश तू भोग ॥४७९॥

पहले ही ये बान्धव उन्मत्त।
और बली जग में दुर्मद।
तू ने मारे ये विपद।
अनायास ॥४८०॥

ऐसी यह बात।
विश्व के वाक्पट पर।
लिख दे रे पार्थ।
विजयी हो ॥४८१॥

ऐसी यह सब कथा अहो।
उस अपूर्ण – मनोरथ को।
कहता सञ्जय कुरुनाथ को।
ज्ञानदेव कहे ॥४८२॥

फिर सत्यलोक से गङ्गाजल।
निकल गरजता खलखल।
वैसी वाचा विशाल।
बोले उस से ॥४८३॥

अथवा महामेघ उमड़कर।
एक साथ करते गड़गड़।
या उठा मन्दराचल से घुमड़।
क्षीराब्धि मानो ॥४८४॥

वैसे गम्भीर महानादयुक्त।
ये वाक्य विश्वकन्द।
बोले अपार अगाध।
अनन्तरूप ॥४८५॥

वह अर्जुन ने सुना स्पष्ट।
द्विगुणित हुआ भय या सुख।
न जाने, पर उठा काँप।
सर्वाङ्ग उस का ॥४८६॥

विनम्रता से झुका समग्र।
वैसे ही जोड़ा करसम्पुट।
और बारम्बार – ललाट।
रखा चरणों पर ॥४८७॥

तब कुछ भी बोलने जाये।
तो कण्ठ भर-भर आये।
यह सुख है या भय इसे।
विचारें आप ही ॥४८८॥

पर तब देव के वचन से।
अर्जुन हो गया ऐसे।
यह देखा पदों से मैंने।
श्लोक के ॥४८९॥

फिर ऐसा ही भीतभीत।
पुनः कर के चरणवन्दन।
बोला 'जो! आपका कथन।
यही था न! ॥४९०॥

कि 'हे अर्जुन में काल।
ग्रास करना मेरा खेल'।
आप का वह वचन अटल।
मानूँ मैं ॥४९१॥

पर कालरूप आप।
पालन करने के समय पर।
क्यों कर रहे ग्रास।
समझूँ न मैं ॥४९२॥

अङ्ग से कैसे निकालें तारुण्य।
अप्राप्त कैसे लायें वार्धक्य।
जो करना चाहते यह न शक्य।
वैसे ही ॥४९३॥

चार प्रहर जब तक न बीतें।
श्री अनन्त किसी भी समय में।
क्या सविता मध्याह्न में।
होते अस्त? ॥४९४॥

तुझ अखण्डित काल में भी।
तीन वेला नियत रहतीं।
वे तीनों ही सबल होतीं।
निज–निज समय ॥४९५॥
जिस वेला में होती सृष्टि।
तब न रहता प्रलय न स्थिति।
और स्थिति काल में प्रकट नहीं।
उत्पत्ति-प्रलय ॥४९६॥
फिर प्रलय की वेला में।
उत्पत्ति-स्थिति-विलय पायें।
यह कभी भी न टले।
अनादि क्रम ॥४९७॥
आज जब भरपूर भोग में।
स्थिति विराज रही जग में।
तब ग्रास करो यह न स्वीकारे।
चित्त मेरा ॥४९८॥
सङ्केत से बोले देव।
दोनों सैन्यों का आयुष्य पूर्ण।
यह दिखाया तुझे प्रत्यक्ष अन्य।
जानो यथाकाल ॥४९९॥
श्रीअनन्त ने यह सङ्केत।
कहा बोल कर जब तक।
तब अर्जुन ने लोक सब।
देखे यथास्थिति ॥५००॥
पार्थ बोला तब देव।
तुम विश्व के पटु सूत्रधार।
अहो आया समस्त जग।
पूर्व स्थिति में ॥५०१॥
पर पड़े हुओं को दुःख सागर में।
जिस प्रकार तुम निकालते।
वह तुम्हारी कीर्ति श्रीहरि मुझे।
आती स्मरण ॥५०२॥
कीर्ति स्मरण से बारम्बार।
भोग रहा महासुख का उत्सव।
वहीं हर्षामृत–कल्लोल पर।
झूल रहा ॥५०३॥
देव ! जीवन पाने से जग।
धरता तुझ में अनुराग !
और दुष्टों का होता भङ्ग।
अधिकाधिक ॥५०४॥
पर त्रिभुवन के राक्षसों के लिये।
महाभय तुम हृषीकेश हे।
अतः दौड़ते वे दशदिशा के।
परले पार ॥५०५॥
यहाँ सुर – नर – किन्नर।
किम्बहुना चराचर।
तुम्हें देखकर हर्षनिर्भर।
करते नमस्कार ॥५०६॥
अरे यहाँ किस कारण।
ये राक्षस हे नारायण।
न स्पर्श कर के चरण।
दूर दौड़ते ? ॥५०७॥
पर यह क्या तुम से पूछें ?
इतना तो स्वयं ही जानें।
सूर्योदय होने पर रहे।
तम कैसे ? ॥५०८॥
तुम प्रकाश के आगर।
हुए हमारे प्रति गोचर।
अतएव सकल निशाचर।
सहज नष्ट ॥५०९॥
इतने दिवस तक हम।
कुछ भी न जानते थे श्रीराम।
अब देखा महामहिम।
गाम्भीर्य तुम्हारा ॥५१०॥

जिस आर्द्रता से महासृष्टि की।
प्रसरती भूतग्राम की वेली।
उस महद् ब्रह्म को प्रसवती।
दैविकी इच्छा ॥५११॥
देव निःसीम तत्त्व सदोदित।
देव निःसीम गुण अनन्त।
देव निःसीम साम्य सतत।
नरेन्द्र देवों के ॥५१२॥
तुम त्रिजगती के आर्द्र आश्रय।
अक्षर तुम सदाशिव।
तुम्हीं सदसत् देव, तुम।
प्रतीत भी उस से ॥५१३॥
तुम प्रकृति-पुरुष के आदि।
महत्तत्त्व के तुम अवधि।
स्वयं तुम अनादि।
पुरातन ॥५१४॥
तुम सकल विश्वजीवन।
जीवों के तुम्हीं निधान।
भूत-भविष्य का ज्ञान।
तुम्हारे हाथ में ॥५१५॥
तुम्हीं श्रुतियों के लोचन।
स्वरूपसुख से अभिन्न।
आयतन का आयतन तुम।
त्रिभुवन के ॥५१६॥
अतएव अहो महाधाम।
तुम्हीं कहलाते परम।
करे कल्पान्त में महद्ब्रह्म।
तुम में प्रवेश ॥५१७॥
किम्बहुना तुम ने देव।
विस्तारा समस्त विश्व।
अतः अनन्तरूप का करे वर्णन।
कौन तुम्हारा ॥५१८॥

जी क्या तुम नहीं एक।
तुम हो नहीं किस स्थान पर।
यह रहे, जैसे हो तुम।
करूँ प्रणाम ॥५१९॥
वायु अनन्त तुम।
नियमिता यम तुम।
प्राणिगण में करता निवास।
वह अग्नि तुम ॥५२०॥
वरुण तुम सोम।
स्रष्टा तुम ब्रह्म।
पितामहों के परम।
आदि जनक तुम ॥५२१॥
और जो–जो जहाँ कहीं।
रूप है अथवा नहीं।
नमन तुझे वैसे को ही।
हे जगन्नाथ ॥५२२॥
ऐसे सानुराग चित्त से।
नमन किया पाण्डुसुत ने।
पुनः कहता नमस्ते।
नमस्ते प्रभो ॥५२३॥
फिर उसने साद्यन्त।
निहारी श्रीमूर्ति वह।
और कहा नमस्ते।
नमस्ते प्रभो ॥५२४॥
भूत जो इस चराचर में।
सर्वत्र देखे उस ने।
और पुनः बोला नमस्ते।
नमस्ते प्रभो ॥५२५॥
पुनः पुनः प्रत्यङ्ग देखे।
चित्त में समाधान पावे।
और फिर कहे नमस्ते।
नमस्ते प्रभो ॥५२६॥

वह रूप अद्‌भुत ऐसे।
आश्चर्य से स्फुरित अनन्त में।
देखे और बार-बार कहे।
नमस्ते प्रभो ॥५२७॥

और स्तुति स्मरण न आवे।
चुप भी न बैठा जावे।
अनजाने प्रेम भाव से।
बोले वही ॥५२८॥

किम्बहुना इस प्रकार।
किया नमन सहस्रवार।
पुनः बोला नमस्कार।
श्रीहरि तुम्हें ॥५२९॥

देव के पेट-पीठ हैं या नहीं।
इस का मुझे उपयोग नहीं।
बस आप को सब तरफ़ ही।
नमूं स्वामी ॥५३०॥

खड़े हो मेरे पीछे।
अतः पीठ तरफ़ कहूँ तुझे।
पर सम्मुख-विमुख जग के।
न घटता तुम में ॥५३१॥

अब अवयवों का पृथक्-पृथक्।
न कर सकूँ देव निरूपण।
अतः नमो तुझे सर्व!
सर्वात्मक को ॥५३२॥

जी अनन्त बल-संभ्रम।
नमन तुम्हें अमित विक्रम।
सकल काल में सम।
सर्वरूप ॥५३३॥

समस्त आकाश में जैसे।
अवकाश हो कर आकाश रहे।
तुम सर्वपन से वैसे।
बने हो सर्व ॥५३४॥

किम्बहुना केवल।
सब यह तुम ही निखिल।
पर क्षीरार्णव में कल्लोल।
पय के जैसे ॥५३५॥

अत एव हे देव!
तुम नहीं सब से भिन्न।
यह हुआ मुझे सद्‌भाव।
कि तुम ही सब ॥५३६॥

पर ऐसे स्वामी तुम को।
न जाना हम ने कभी अहो।
अतः सगे-सम्बन्ध-धर्म में प्रभो।
किया व्यवहार ॥५३७॥

अहह! बड़ा प्रमाद हुआ।
मैंने अमृत से सम्मार्जन किया।
अश्व ले कर दे दिया।
कामधेनु को ॥५३८॥

पारस का पर्वत मिला।
उसे फोड़ कर नींव में भरा।
कल्पतरु तोड़ कर बनाया।
खेत का बांध मैंने ॥५३९॥

चिन्तामणि की खान मिली।
पर पशु हाँकने में नष्ट की।
वैसे तुम्हारी निकटता गँवाई।
व्यर्थ साथीपन में ॥५४०॥

आज का ही लो दृष्टान्त।
यह कितना सा और कैसा युद्ध?
यहाँ साक्षात् परब्रह्म।
को बनाया सारथि ॥५४१॥

इन कौरवों के घर दातार!
भेजा करने दूत-कर्म!
ऐसे कार्यों में जगेश्वर।
लगाया हम ने ॥५४२॥

तुम योगियों के समाधि सुख !
न जानूं मैं कैसा मूर्ख !
और उपरोध ही सन्मुख।
करता तुम्हारा ॥५४३॥

तुम अनादि इस विश्व के।
बैठते ये जब सभासदन में !
वहाँ सगे-सम्बन्धी जैसा तुम से।
किया उपहास ॥५४४॥

जब कभी आता तुम्हारे घर।
तब पाता मान तुम्हारे सदृश।
यदि न मिले वैसा मान।
तो जाता रूठ ॥५४५॥

पाँव पड़ कर मनाते तब।
शार्ङ्गपाणि तुम्हारे घर।
चाहे जैसा उपमर्द बहुत।
किया मैंने ॥५४६॥

सगेपन के नाते से।
बैठा तुम्हारी ओर पीठ करके।
यह योग्यता क्या वैकुण्ठ हम में।
पर चूके हम ॥५४७॥

खेले देवके साथ पटाबाजी।
अखाड़े में लड़ी कुश्ती।
शतरंज खेल में व्यर्थ ही।
किया कलह ॥५४८॥

उत्तम वस्तु माँगता प्रथम।
देव को देता सिखावन।
वैसे ही कहता तुम्हारे कौन।
लगते हम ! ॥५४९॥

ये अपराध हैं ऐसे।
जो त्रिभुवन में न समायें।
पर ये अनजान में ही हुए।
शपथ तव चरणोंकी ॥५५०॥

भोजन के अवसर पर।
सप्रेम करते मेरा स्मरण।
पर सुनें मेरा निर्लज्ज गर्व।
जो बैठता फूलकर ॥५५१॥

देव के भोगायतन में।
खेलने में न सङ्कोच मन में।
और चढ़कर शय्या में।
साथ सोता ॥५५२॥

कृष्ण ! कहकर पुकारता।
यादव ही तुम्हें मानता।
तुम्हें अपनी शपथ देता।
जाते समय ॥५५३॥

एक आसन पर बैठना।
तुम्हारी बात न मानना।
सघन परिचय से हुआ।
ऐसा बहुत ।।५५४॥

अतः क्या-क्या अब।
निवेदन करूँ अनन्त।
मैं हूँ राशि समस्त।
अपराधों की ॥५५५॥

अतः सामने पीछे अथवा।
जो अनुचित मुझसे हुआ।
उसे माता के समान क्षमा।
कीजिये प्रभो ! ॥५५६॥

जब कोई किसी काल।
सरिता लाती मैला जल।
उसे समा ही लेता सिन्धुजल।
न अन्य उपाय ॥५५७॥

वैसे प्रीति या प्रमाद से।
देव के विरुद्ध मुझ से।
बोला गया मुकुन्द उसे।
कीजिये सहन ॥५५८॥

और देव के क्षमत्व से क्षमा।
आधार बनी इस भूतग्राम का।
अत: पुरुषोत्तम विनति करना।
है अल्प ही ॥५५९॥
अत एव हे अप्रमेय!
मैं हूँ शरणागत तव।
क्षमा करें अपराध।
निज जन के ॥५६०॥
जो जानी मैं ने सत्य।
देव की महिमा अब।
कि चराचर के देव।
जन्मस्थान ॥५६१॥
हरिहरादि समस्त में।
तुम परमदेवता अरे।
वेदों को भी पढ़ानेवाले।
आद्य गुरु तुम ॥५६२॥
गम्भीर तुम श्री राम।
नाना भूतैक-सम।
सकल गुणों में अप्रतिम।
अद्वितीय ॥५६३॥
नहीं कोई तुम्हारे सम।
यह क्या करें प्रतिपादन।
तुम से उत्पन्न आकाश।
समा ले जग ॥५६४॥
उस तुम्हारे सम द्वितीय।
कहने में आवे लाज।
फिर अधिक की तो बात।
करें ही क्या? ॥५६५॥
अतः त्रिभुवन में तुम एक।
न तुम्हारे सदृश न अधिक।
तुम्हारी महिमा अलौकिक।
न कर सकूँ वर्णन ॥५६६॥

ऐसा अर्जुन ने कहा।
फिर पुन: दण्डवत् किया।
वहाँ सात्त्विक भाव का आया।
पूर उस में ॥५६७॥
तब कहता प्रसीद! प्रसीद!
वाचा हो रही सगद्गद।
निकालिये जो अपराध –।
समुद्र से मुझे ॥५६८॥
तुझ विश्वसुहृद् का कहीं।
सगेपन से सम्मान रखा नहीं।
तुम्हारी सर्वेश्वरता में भी।
किया आश्चर्य ॥५६९॥
तुम वर्णनीय पर प्रेम से।
मेरा वर्णन करते सभा में।
तब मैं फूल जाता गर्व से।
अधिकाधिक ॥५७०॥
अब ऐसे अपराधों की।
हे मुकुन्द मर्यादा नहीं।
अत: बचाओ प्रमाद की।
शृङ्खला से ॥५७१॥
जी ऐसी विनति के लिये।
योग्यता नहीं मुझ में।
पर अपत्य जैसे दुलार से।
पिता से बोले ॥५७२॥
पुत्र के अपराध।
भले हुए हों अगाध।
तब भी पिता सहे निर्द्वन्द्व।
वैसे सहिये जी ॥५७३॥
सख्य का उद्धतपन।
सखा सहे शान्तमन।
वैसे आप समस्त।
सहियेगा ॥५७४॥

प्रिया द्वारा सन्मान।
प्रिय न चाहे सर्वथा जान।
वैसा उठवाया उच्छिष्ट।
क्षमा कीजिये ॥५७५॥
अथवा प्राणप्रिय सगे मिलें।
तब निज-परबीते सङ्कट कहें।
उस निवेदन में न रहे।
सङ्कोच कहीं ॥५७६॥
अथवा तन-मन प्राण से।
जिस ने निज को दिया मनोभाव से।
वह कान्त मिलने पर रह न सके।
हृदय जैसे ॥५७७॥
उसी प्रकार जी में ने।
विनति की आप गोसाई से।
और एक यह कहने में।
है कारण ॥५७८॥
तब देव से जो किया था दुलार।
विश्वरूप दिखाने का हठ।
वह माँ-बाप ने किया पूर्ण।
तुम स्नेहमय ने ॥५७९॥
सुरतरु का झाड़।
आँगन में लगाओ यह लाड़।
दो कामधेनु का वत्स।
खेलने को ॥५८०॥
मैं नक्षत्रों से खेलूँ दाँव।
गेंद के लिये ला दो चन्द्र।
ये लाड़ पूरे किये सब।
तुझ माँ ने ॥५८१॥
जो अमृतलेश मिले सायास।
उस की वर्षा को चार मास।
पृथ्वी जोत कर हर सीता में।
बोये चिन्तामणि ॥५८२॥
स्वामी कृतकृत्य किया ऐसे।
सब चाव पाले तुम ने।
वह दिखाया जो हर ब्रह्मा ने।
न सुना कान से ॥५८३॥
दिखने की तो बात कैसी?
जिस से उपनिषदों की भेंट नहीं।
वह हृदय की निधि।
खोली मेरे लिये ॥५८४॥
जी! कल्पादि से लेकर।
आज की घड़ी तक।
मेरे जितने जन्म।
हो चुके ॥५८५॥
उन सब के भीतर।
देखें भले तलाशी लेकर।
पर यह देखने-सुनने की बात।
मिले नहीं ॥५८६॥
बुद्धि का ज्ञान।
न पहुँचे इस आँगन।
अन्तःकरण भी स्मरण।
कर न सके ॥५८७॥
वह आँखों देखी हुई।
कैसे कहूँ यह बात भी।
किम्बहुना पहले कभी।
न दृष्ट न श्रुत ॥५८८॥
वह यह विश्वरूप अपना।
तुम ने मुझे आँखों दिखाया।
इस से मेरा मन हुआ।
हर्षित देव ॥५८९॥
अब ऐसा चाव उर में।
कि तुम से करूँ बातें।
समीपता यह भोगें।
आलिङ्गन से ॥५९०॥

वह इस रूप में करना चाहें।
तो किस मुख से संवाद करें।
और किस को आलिङ्गन दें।
तुम हो अगणित ॥५९१॥
यह तो पवनसङ्ग दौड़ना।
या गगन को आलिङ्गन देना।
या जलकेलि खेलना।
समुद्र में कैसे? ॥५९२॥
इसलिये इस का देव।
उपजता चित्त में भय।
अतः यह चाव भी करें पूर्ण।
कि समेटें इसे ॥५९३॥
चराचर देखें विनोद से।
फिर सुख से रहें घर में।
चतुर्भुज रूप तुम्हारा वैसे।
विश्राम हमारा ॥५९४॥
मैं करूँ योगाभ्यास।
उस से पाऊँ यही अनुभव।
करूँ सब शास्त्रों का आलोडन।
तो यही सिद्धान्त ॥५९५॥
मैंने किये यज्ञ सकल।
वे फले जो वह यही फल।
तीर्थ होते सकल।
इसीलिये ॥५९६॥
और जहाँ जो भी कुछ।
करें हम दान पुण्य।
उन के फल का फल।
तुम्हारा चतुर्भुज रूप ॥५९७॥
ऐसा प्राणों को उस का चाव।
अतः देखने को होता अधीर।
हो रहा जो सङ्कट, शीघ्र।
मिटाओ इसे ॥५९८॥

हे अन्तस् के ज्ञाता।
सकल-विश्व-वासयिता ।
होइये प्रसन्न परम पूज्य।
देवदेव! ॥५९९॥
कैसा नीलोत्पल को रँगता।
आकाश को भी रंग देता।
तेज को शोभा देता।
इन्द्रनील को ॥६००॥
मानो परिमल आया हो मरकत में।
भुजा निकली हों आनन्द में।
मकरध्वज को जिस की कटि ने।
दिया सौन्दर्य ॥६०१॥
मस्तक पर रखा मुकुट।
या मुकुट का मुकुट हुआ मस्तक।
शृङ्गार हुआ सुशोभित।
जिस के अङ्गों से ॥६०२॥
इन्द्रधनुष के मध्य में।
मेघ गगन-प्राङ्गण में।
वैसे शार्ङ्गपाणि घिरे।
वैजयन्ती से ॥६०३॥
और वह जो गदा उदार।
असुरों को देती कैवल्यपद।
वैसे ही चक्र भी गोविन्द।
सौम्यतेज से शोभित ॥६०४॥
किम्बहुना स्वामी।
मैं देखने को उत्कण्ठित अति।
अतएव आप अभी।
हों वैसे ॥६०५॥
यह विश्वरूप का चाव।
भोग कर तृप्त नयन।
हो रहे अब आतुर।
कृष्णमूर्ति के लिये ॥६०६॥

साकार कृष्णरूप – बिन।
कुछ देखना न लगे प्रिय।
उसे देखे बिना तुच्छ।
मानता इसे ॥६०७॥

मुझे भोग–मोक्ष–के स्थान पर।
श्रीमूर्ति के सिवा नहीं अन्य।
अतः वैसे हो साकार हो कर।
करो संवृत इसे ॥६०८॥

अर्जुन के इस वचन से।
विश्वरूप विस्मित हुए।
कहा ऐसा न देखा मैंने।
अविचारी कोई ॥६०९॥

अरे कौन सी वस्तु पाई तुमने।
उस लाभ का तोष नहीं लेते।
भय से यह क्या मूर्खता बोल रहे।
हठी जैसे ॥६१०॥

मैं स्वयं जब होता प्रसन्न।
तो करता सर्वाङ्ग तक अर्पण।
पर अन्तरतम का ऐसा दान।
दिया किसे रे? ॥६११॥

वह यह तेरे चाव से।
प्राण के सर्वसामर्थ्य से।
कितना परिश्रम कर के।
रचा ध्यान ॥६१२॥

न जानूँ कैसी यह तुझ से प्रीति।
कि प्रसन्नता मेरी बनी पगली।
जिस से गोप्य की भी ध्वजा फहराई।
सारे जग में ॥६१३॥

वह यह अपारों से भी अपार।
स्वरूप मेरा परात्पर।
इसी में से ये अवतार।
कृष्णादिक ॥६१४॥

यह ज्ञान तेज का निखिल।
विश्वात्मक केवल।
अनन्त यह अटल।
सब का आद्य ॥६१५॥

यह तेरे सिवा अर्जुन।
अन्य को न श्रुत–दृष्ट–पूर्व।
साधनों से नहीं प्राप्य।
क्योंकि यह ॥६१६॥

पहुँच कर इसके समीप।
वेद हो गये मौन।
याज्ञिक आये लौट कर।
स्वर्ग से ॥६१७॥

साधकों ने देखा आयास।
अतः छोड़ा योगाभ्यास।
और अध्ययन में सौरस्य।
नहीं यहाँ ॥६१८॥

पहले किये हुए सत्कर्म।
दौड़े यहाँ ससंभ्रम।
किया उन्होंने बहुत श्रम।
तो पाया सत्यलोक ॥६१९॥

तपियों ने देखा ऐश्वर्य।
खड़े–खड़े छोड़ा उग्रपन।
ऐसे रहे तप साधन।
बहुत दूर ॥६२०॥

वह यह तूने अनायास।
जैसे देखा विश्वरूप।
वैसा मनुष्यलोक में इस।
न पाता कोई ॥६२१॥

आज ध्यान सम्पत्ति की दृष्टि से।
तू ही एक सम्पन्न जग में।
यह परमभाग्य विरञ्चि के।
ललाट में नहीं ॥६२२॥

अतः विश्वरूप लाभ को सराह।
इस से न रखो न करो भय।
इस से अन्य उत्तम।
न मानो कुछ भी ॥६२३॥
अरे अमृत से भरा समुद्र।
अचानक हुआ हो प्राप्त।
उसे छोड़ता क्या कोई कहकर।
डूब न जाऊँ ॥६२४॥
अथवा सोने का पर्वत।
कैसे ले जाँय, भारी बहुत।
ऐसा कहकर उसका त्याग।
करना उचित! ॥६२५॥
सुदैव से चिन्तामणि मिले।
क्या बोझ कहकर उसे छोड़ें?
कामधेनु को हाँक दें।
न पुसाती कहकर? ॥६२६॥
चन्द्रमा आवे घर।
गर्मी लगे कहकर दें निकाल।
पडछाहीं डालते हो दिनकर।
हटो दूर! कहें? ॥६२७॥
वैसे ऐश्वर्य का महातेज।
आज हाथ आया सहज।
क्या इस से तुझे घबराहट।
हो रही? ॥६२८॥
पर नहीं जानता तू गँवार।
वथा कोप करूँ धनञ्जय।
काया छोड़कर छायालिङ्गन।
करो मत ॥६२९॥
यह नहीं क्या में सच्चा।
यहाँ मन करते हो कच्चा।
प्रेम रखते हो अवगण्य का।
जो चतुर्भुज ॥६३०॥

अब भी अरे पार्थ सखा।
छोड़ो! छोड़ो! यह अवस्था।
इस के विषय में आस्था।
रखो नहीं ॥६३१॥
यह रूप भले घोर।
विकराल और विशाल।
पर कृतनिश्चयों का घर।
इसे ही जानो ॥६३२॥
चित्तवृत्ति को कृपण।
रोपकर निधि के पास।
चलाता सब देह-व्यवहार।
स्वयं जैसे ॥६३३॥
अथवा अजातपक्षों के निकट।
नीड़ में जीव रख कर।
पक्षिणी माँ अन्तराल-।
में जाती जैसे ॥६३४॥
अथवा गायें चरें पर्वत पर।
चित्त बँधा वत्स में, जो घर।
वैसा प्रेम रख यहाँ पर।
स्थानपति! ॥६३५॥
तब फिर शेष चित्त से।
बाह्य सख्य-सुख के लिये।
चतुर्भुज मूर्ति का ले।
भोग पार्थ ॥६३६॥
पर कहूँ बारम्बार पाण्डव।
न भूलो यह एक वचन।
कि इस रूप के प्रति सद्भाव।
न हो नष्ट ॥६३७॥
यह कभी न देखा होने से।
जो भय उपजा तुझ में।
वह छोड़कर यहाँ होने दे।
सुस्थिर प्रेम ॥६३८॥

अब करूँ तेरी इच्छानुरूप।
ऐसे बोले विश्वतोमुख।
फिर सुख से पहला वाला रूप।
निहार तू ॥६३९॥

ऐसे बोलते ही वाक्य।
पुनः देव हो गये मनुष्य।
यह नहीं पर आश्चर्य।
उन के प्रेम का ॥६४०॥

श्रीकृष्ण स्वयं कैवल्य।
फिर ऐसा विश्वरूप सर्वस्व।
वह कराया करगत।
न भाया अर्जुन को ॥६४१॥

वस्तु ले कर दें फेंक।
जैसे रत्न में दिखायें दूषण।
अथवा कहें कन्या देख कर।
मन न माने ॥६४२॥

उस विश्वरूप की ऐसी दशा।
करने में प्रीति का पूर कैसा ?
उपदेश का उत्तम भाग दिया।
किरीटी को देव ने ॥६४३॥

स्वर्ण की डली ढालकर।
इच्छानुरूप गढ़ते अलङ्कार।
फिर मन को न भाने पर।
गलाते उसे ॥६४४॥

वैसा शिष्य के प्रेम से हुआ।
कृष्णत्व को विश्वरूप बनाया।
वह न भाने पर लाया गया।
कृष्णत्व फिर से ॥६४५॥

यहाँ तक शिष्य का हठ सहें।
ऐसे गुरु रहें किस देश में ?
पर प्रीति यह कैसी न जानें।
संजय कहे ॥६४६॥

व्याप कर विश्वरूप चहुँ ओर।
जो दिव्य योग-तेज हुआ प्रकट।
उसे पुनः किया समाविष्ट।
कृष्णरूप में ॥६४७॥

यह त्वंपद सम्पूर्ण जैसे।
तत्पद में समा जावे।
अथवा द्रुम का आकार सिमटे।
बीजकणिका में ॥६४८॥

या स्वप्नसंभ्रम को जैसे।
निगल कर जीवदशा जागे।
श्रीकृष्ण ने यह योग वैसे।
किया संवृत ॥६४९॥

जैसे प्रभा खोई बिम्ब में।
या जलद–संपत्ति नभ में।
नाना पूर सिन्धुगर्भ में।
हुए प्रविष्ट ॥६५०॥

अथवा जो कृष्णाकृति में लिपटी।
थी विश्वरूप पट की घड़ी।
वह अर्जुन-प्रीति से दिखाई।
खोल कर ॥६५१॥

तब परिमाण और रङ्ग।
देखा सब ध्यान पूर्वक।
उस ग्राहक को न रुचने पर।
फिर घड़ी कर दी ॥६५२॥

वैसे वृद्धि की विशालता के।
रूप से जीता विश्व जिसने।
वह सौम्य मनोहर रूप में।
हुआ साकार ॥६५३॥

किम्बहुना श्रीअनन्त ने।
धरा लघु रूप पहले।
आश्वस्त किया भयभीत हुए।
पार्थ को फिर ॥६५४॥

जो स्वप्न में स्वर्ग गया।
वह अचानक जैसे जागा।
वैसे ही विस्मय हुआ।
किरीटी को ॥६५५॥
अथवा होने पर गुरुकृपा।
सब प्रपञ्चज्ञान बाधित हुआ।
स्फुरा तत्त्व, वैसे देखा।
श्रीमूर्ति को पाण्डव ने ॥६५६॥
ऐसे उस पाण्डवके चित्त में थी।
जवनिका जो विश्वरूप की।
वह मिट कर दूर हुई।
यह भला हुआ ॥६५७॥
मानो जीत आया काल।
या लाँघ आया महावात।
अपनी बाँहों से किये पार।
सात सिन्धु ॥६५८॥
ऐसा चित्त में बहु सन्तोष।
पा रहा अब पाण्डुसुत।
विश्वरूप के बाद देख कर।
श्री कृष्ण को ॥६५९॥
सूर्य के अस्त होने पर।
गगन में उठते तारागण।
वैसे देखने लगा अवनितल।
लोगों सहित ॥६६०॥
देखे तब वही कुरुक्षेत्र।
वैसे ही दोनों और गोत्र।
वीर बरसाते शस्त्रास्त्र।
परस्पर दल पर ॥६६१॥
उस बाणमण्डप के मध्य।
देखे वैसा ही रथ शान्त।
धुरी पर बैठे लक्ष्मीकान्त।
स्वयं नीचे ॥६६२॥
यों पहले जैसा था वैसे।
वह देखा वीर-विलास ने।
फिर बोला जी गया ऐसे।
होता प्रतीत ॥६६३॥
बुद्धि को छोड़कर ज्ञान।
भटक रहा था वन–वन।
अहङ्कार सहित मन।
घूमा दसदिशा में ॥६६४॥
प्रवृत्ति भूले इन्द्रिय।
वाचा ने खोये प्राण।
ऐसी हुई दुर्दशा तब।
शरीरग्राम में ॥६६५॥
वह सब पीछे लौटी।
जीवन्त प्रकृति से मिली।
अब संभव जीना, श्रीमूर्ति।
होने पर यह ॥६६६॥
ऐसा सुख पाया जीव ने।
तब श्रीकृष्ण से वह कहे।
देखा रूप तुम्हारा मैं ने।
मानुष यह ॥६६७॥
यह रूप दिखा कर अहो।
मानो मुझ अपराधी अपत्य को।
समझा कर आप माँ ने दिया हो।
स्तनपान देव ॥६६८॥
जो विश्वरूप सागर में।
माप रहा था तरङ्ग बाहों से।
इस तीर पर निज मूर्ति के।
निकला अब ॥६६९॥
सुनिये द्वारिकाधीश।
मुझ सूखते हुए झाड़ पर।
यह भेंट नहीं, बरसात।
कृपामेघ की ॥६७०॥

जो सर्वथा मिटी तृषा।
मुझे यह अमृत-सिन्धु मिला।
अब जीवन का हुआ।
भरोसा मुझे ॥६७१॥

मेरे हृदय-प्राङ्गण में।
हर्षलता की पौघ लगे।
बांध पाया मैं ने।
आज सुख से ॥६७२॥

पार्थ के इस कथन पर।
'यह क्या?' बोले देव।
तुझे उचित रखना प्रेम।
विश्वरूप पर ॥६७३॥

इस श्रीमूर्ति को बाद में।
भेंटना सर्वाङ्ग से।
वह सिखावन भूल गये।
सुभद्रापति मेरी ॥६७४॥

अरे अन्धे हुए अर्जुन!।
हाथ आया मेरु भी लगे अल्प।
मन में आता ऐसा भाव।
भूल से ॥६७५॥

जो विश्वात्मक रूप।
दिखाया तेरे सम्मुख।
वह शम्भु को भी नहीं प्राप्त।
तप द्वारा ॥६७६॥

और अष्टाङ्ग आदि सङ्कट में।
किरीटी! योगी क्षीण होते।
पर अवसर न पाते।
जिस मिलन का ॥६७७॥

वह रूप एकाध बार।
थोड़ा भी देखें किसी प्रकार।
ऐसे चिन्तन में काल।
जाता देवों का ॥६७८॥

आशा की अञ्जलि बना कर।
रखें हृदय-कपाल पर।
जैसे चातक नभ की ओर।
लगा रहता ॥६७९॥

वैसे उत्कण्ठानिर्भर।
हो कर सभी सुरवर।
नाम रटते आठों पहर।
जिस भेंट के लिये ॥६८०॥

पर विश्वरूप के सदृश रे।
स्वप्न में भी कोई न देखे।
वह प्रत्यक्ष तू ने सुख से।
देखा यह ॥६८१॥

पर उपायों की वाट।
न चलती यहाँ सुभट।
हार कर षट्शास्त्रसहित।
लौटे वेद ॥६८२॥

मम विश्वरूप के सम्मुख।
आने को हे धनुर्धर।
तपों का भी संसार।
न आता काम ॥६८३॥

और न कठिन दानादि से।
मिलता यह न यज्ञादि से।
जैसा बिना आयास के।
देखा तू ने ॥६८४॥

वैसा मैं एक ही प्रकार से।
प्राप्त होता सुन ध्यान से।
यदि भक्ति आकर वरे।
चित्त को सखे ॥६८५॥

पर वह भक्ति ऐसी।
पर्जन्य की धारा जैसी।
धरा छोड़कर अन्य कोई।
गति न जाने ॥६८६॥

अथवा सकल जल-सम्पत्ति।
ले कर समुद्र में मिलती।
गङ्गा जैसे अनन्यगति।
मिलती ही रहे ॥६८७॥

वैसे सर्व-भाव-संभार सहित।
प्रेम अनावर एकनिष्ठ।
मुझ में हो होता सञ्चरित।
मद्रूप होकर ॥६८८॥

और वैसे ही मैं भी ऐसा।
तट और मध्य में समान सदा।
क्षीराब्धि रहता जैसा।
क्षीरमय ॥६८९॥

मुझ से चींटी तक वैसे।
किम्बहुना सचराचर में।
भजनीय नहीं अन्य अरे।
निःसंशय ॥६९०॥

फिर उसी क्षण से।
मुझे एवंविध समझे।
तब दृष्ट होता स्वभाव से।
विश्वरूप ॥६९१॥

फिर इन्धन से अग्नि उद्दीप्त।
और इन्धन का नाम होता लुप्त।
वह अग्नि ही होकर मूर्तिमन्त।
आरोपित ॥६९२॥

जब तक न उदित तेजाकार।
तब तक गगन में रहता तिमिर।
फिर उदित होने पर सर्वत्र।
होता प्रकाश ॥६९३॥

वैसे मेरे साक्षात्कार से।
अहङ्कार का फेरा मिटे।
और सुनो अहङ्कार-लोप से।
जाता द्वैत ॥६९४॥

फिर 'मैं वह यह' सब।
स्वभावतः मद्रूप।
किम्बहुना वह समाता तब।
सामरस्य में ॥६९५॥

जो एक मेरे ही लिये।
कर्म वहन करता तनु में।
जिसे मेरे सिवा जग में।
प्रिय न कोई ॥६९६॥

दृष्टादृष्ट सकल।
जिस का मैं ही केवल।
जिसे जीवन का फल।
मेरा मिलन ॥६९७॥

फिर 'भूत' संज्ञा ही बिसरे।
मुझे ही भरा जिसने दृष्टिमें।
अतएव निर्वैर हुआ भजे।
सर्वत्र मुझे ॥६९८॥

ऐसा होता जो भक्त।
उस का पड़े जब त्रिधातुक (शरीर)।
वह हो रहता मद्रूप।
अरे पाण्डव ॥६९९॥

ऐसे जगदुदर – तुन्दिल।
करुणा–रस–रसाल।
बोले उस से कहे संजय।
श्रीकृष्णदेव ॥७००॥

इस प्रकार वह पाण्डुसुत।
हुआ आनन्द–सम्पन्न।
और कृष्णचरण–चतुर।
वही एकजग में ॥७०१॥

देव की दोनों मूर्तियाँ उस ने।
भलीभाँति निहारीं चित्त में।
तब विश्वरूप से कृष्णमूर्ति में।
देखा लाभ ॥७०२॥

पर इस प्रत्यय को उस के।
मान न दिया देव ने।
कि अधिक नहीं व्यापक से।
एकदेशी ॥७०३॥

इसी के समर्थन के लिये।
एक-दो अच्छे-अच्छे।
उपपत्ति–प्रकार शार्ङ्गी ने।
दिखाये उसे ॥७०४॥

सुन कर सुभद्राकान्त उन्हें।
कहने लगा निज चित्त में।
तो अच्छा कौन दोनों में।
यह पुनः पूछूं ॥७०५॥

ऐसा आलोचन कर चित्त में।
पूछेगा जिस सुन्दर रीति से।
वही कृपाकर सुनिये।
आगे कथा ॥७०६॥

प्राञ्जल ओवी-प्रबन्ध में।
बात कहेंगे विनोद में।
श्री निवृत्तिपाद–प्रसाद से।
कहें ज्ञानदेव ॥७०७॥

सद्भाव की अञ्जलि भरकर।
मैं ने ओवी सुमन विकसित।
चरण-युगल में किये अर्पित।
विश्वरूप के ॥७०८॥

इति श्रीमद्ज्ञानेश्वरविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीता – 'भावार्थ-दीपिकायां' विश्वरूपदर्शनयोगो नाम एकादशोऽध्यायः ॥

॥ हरिः ॐ तत् सत् ॥

॥ ॐ हरिः ॐ ॥

द्वादश अध्याय

जयजय हे शुद्धे।
उदारे प्रसिद्धे।
अनवरत आनन्द बरसे।
सदा ही जो ॥१॥
विषयव्यालों के आलिङ्गन से।
जो मूर्च्छित हो पड़े।
श्रीगुरु की कृपादृष्टि से।
वह होता निर्विष ॥२॥
फिर कौन सा ताप झुलसाये।
कैसे शोक उसे जलाये।
तव प्रसाद-रस कल्लोल में।
जब आये पूर ॥३॥
योगसुख का महोत्सव।
पाते लाडले सेवक।
सोहंसिद्धि के लाड़ उन के।
पालते तुम ॥४॥
आधार शक्ति के अङ्क में।
पालन करते कौतुक से।
निज हृदयाकाश–पलने में।
झुलाकर सुलाते ॥५॥
प्रत्यग् ज्योति से नजर उतारते।
मन पवन के खिलौने देते।
आत्मसुख के बाल्याभूषणों से।
सजाते उन्हें ॥६॥
सत्रहवीं कला का स्तन्य देते।
अनाहत की लोरी गाते।
समाधि-बोध में सुलाते।
समझा–बुझाकर ॥७॥
अतः तू साधकों की मैया।
तेरे चरणों में फलती विद्या।
इसी कारण मैं तेरी छाया।
न छोड़ूं कभी ॥८॥
अहो सद्गुरु की कृपादृष्टि।
जिस पर हो तेरी कारुण्यवृष्टि।
वह सकल विद्याओं की सृष्टि।
सिरजे सहज ॥९॥
अतएव श्रीमति अम्बे।
हे निज-जन-कल्पलते ।
आज्ञा दीजिये मुझे।
ग्रन्थ – निरूपण के लिये ॥१०॥
नवरस का भरिये सागर।
कीजिये उचित रत्नों का आगर।
भावार्थ का गिरिवर।
निपजाइये यहाँ ॥११॥
साहित्य सोने की खान।
देशी की कुक्षि से करें प्रगट।
विवेकवल्ली की सघन।
होने दें रोपनी ॥१२॥
वहाँ संवाद–फल – निधान।
प्रमेयों के उद्यान।
होने दें सघन।
निरन्तर ॥१३॥
पाखण्ड की कन्दरा गहन।
वाग्वाद के कुटिल पथ।
कुतर्क दुष्ट श्वापद।
कीजिये नष्ट ॥१४॥

श्रीकृष्णगुणों में मुझे।
सर्वत्र रत कीजिये।
श्रोताओं को बैठाइये।
श्रवणसाम्राज्य पर ॥१५॥

इस मराठी के नगर में।
ब्रह्मविद्या का सुकाल करें।
आत्मसुख का होने दें।
जग में लेन–देन ॥१६॥

तुम अपना स्नेह–आँचल।
डालो मुझ सदैव पर।
तो अभी यह सकल।
करूँ निर्माण ॥१७॥

यह सुविनय सुन कर।
गुरुने कृपा से देखा उधर।
कहा गीतार्थ प्रारम्भ कर।
न बोल बहुत ॥१८॥

उसे मान कर महाप्रसाद।
जो ! जी ! कहा हुआ आनन्द।
अब करूँगा निरूपित प्रबन्ध।
अवधान दीजिये ॥१९॥

तब सकल वीराधिराज।
जो सोमवंशी विजयध्वज।
वह कहने लगा आत्मज।
पाण्डुनृप का ॥२०॥

सुनिये कहा श्रीकृष्ण।
आप ने दिखाया विश्वरूप।
वह विचित्र देख कर भयभीत।
मेरा चित्त ॥२१॥

और इस कृष्णमूर्ति के परिचय से।
इस पर ही प्रीति रखी जीवने।
तब न उचित कहकर देवने।
रोका मुझे ॥२२॥

जब व्यक्त और अव्यक्त।
एक तुम्हीं हो निभ्रान्त।
भक्ति से मिला व्यक्त।
अव्यक्त योग से ॥२३॥

ये दोनों ही वाट।
तुम्हें पाने को वैकुण्ठ।
व्यक्ताव्यक्त की चौखट।
कराती प्रवेश ॥२४॥

जो कस आता सौ भर से।
वही एक रत्तीभर से।
अतः एकदेशी और व्यापक।
ये एक समान ॥२५॥

अमृत के सागर से।
जो श्रेष्ठ सामर्थ्य मिले।
वही अमृत – लहरी दे।
अञ्जलिभर में ॥२६॥

मेरे चित्त में सच ही।
यही प्रतीति स्पष्ट हुई।
पर पूछना है योगपति।
इस के लिये ॥२७॥

कि देव तुमने जो क्षणभर।
धरा था व्यापक रूप।
वह सत्य है या कौतुक।
चाहूँ जानना ॥२८॥

तुम्हारे लिये जिनके कर्म।
तुम ही जिन के साध्य परम।
भक्ति के लिये मनोधर्म।
बिके सब ॥२९॥

इत्यादि सर्वप्रकार से।
श्रीहरि जो भक्त तुम्हें।
स्थिर रखकर चित्त में।
करते उपासना ॥३०॥

और जो प्रणव के अतीत।
वैखरी के भी अगम्य।
किसी के भी समान।
नहीं जो वस्तु ॥३१॥
वह अक्षर अव्यक्त।
निर्देश-देश रहित।
सोहंभाव से उपासित।
ज्ञानियों द्वारा ॥३२॥
वे ज्ञानी और भक्त।
इन दोनों में श्रीअनन्त।
किसने तत्त्वतः योग।
जाना कहिये ॥३३॥
किरीटी के इस वचन से।
वे जगद्बन्धु सन्तुष्ट हुए।
कहा तू भलीभाँति जाने।
प्रश्न करना ॥३४॥
अस्तगिरि के सन्निकट।
रविबिम्ब पहुँचे तो साथ।
रश्मियाँ जैसे पार्थ।
सञ्चरतीं ॥३५॥
या वर्षाकाल में सरितायें।
पार्थ जैसे चढ़ने लगें।
वैसी नित्य नई दिखे।
भक्त की श्रद्धा ॥३६॥
पर सागर में मिलने पर।
पीछे न लौटें सुनिश्चित।
उस गङ्गा के समान पूर।
प्रेमभाव में ॥३७॥
वैसे सर्वेन्द्रियों सहित।
मुझ में ही रखकर चित्त।
न गिनते जो रात्रि दिवस।
करते उपासना ॥३८॥
जो भक्त इस प्रकार।
देते मुझे अपना आप।
उन्हें हो मैं योगयुक्त।
मानूं परम ॥३९॥
और भी जो पाण्डव।
सोहंभाव में आरूढ़।
लपक पाते निरवयव।
अक्षर को ॥४०॥
मन के नख भी न लगें।
जहाँ बुद्धि की दृष्टि न प्रवेशे।
इन्द्रियाँ भला कैसे।
पहुँचें वहाँ? ॥४१॥
जो ध्यान के लिये अगम्य।
विशिष्ट देश में अप्राप्य।
किसी व्यक्ति के मध्य।
या तुल्य नहीं जो ॥४२॥
जिस का सर्वपन सर्वत्र।
सभी कामों में अस्तित्व।
जिस को पा कर चिन्तन।
होता कुण्ठित ॥४३॥
जो न उपजे न विनसे।
जिसे 'है' या 'नहीं' न कह सकें।
अतः जो पाया जावे।
उपायों से ॥४४॥
जो न चले न ढले।
न मलिन हो न न्यून पड़े।
उसे जिस ने निज बल से।
अपना लिया ॥४५॥
वैराग्य के महापावक में।
जला कर विषय-सेनायें।
अधजली इन्द्रियाँ जिसने।
कीं धारण ॥४६॥

फिर संयम–समुदाय से।
मोड़कर लौटाये पीछे।
इन्द्रियों को बन्दी करे।
हृदयकारा में ॥४७॥

अपान के कपाट पर।
लगा कर आसनमुद्रा दृढ़।
मूल-बन्ध का दुर्ग।
किया निर्मित ॥४८॥

आशा के तन्तु तोड़े।
अधैर्य के कगार फोड़े।
जो निद्रा का नष्ट करे।
अन्धकार ॥४९॥

वज्राग्नि की ज्वाला में।
सप्तधातु की होली कर के।
व्याधियों के मस्तक से।
पूजे यन्त्र ॥५०॥

फिर कुण्डलिनी की मशाल।
खड़ी करे आधार-चक्र पर।
उस प्रकाश में पहुँचे सहज।
मस्तक पर ॥५१॥

नवद्वारों के कपाटों पर।
संयति-अर्गला लगा कर।
खोलो खिड़की सहज।
ककारान्त की ॥५२॥

प्राणशक्ति चामुण्डा के लिये।
सङ्कल्प-मेढों को मारते।
मनमहिष के मुण्ड से।
देते बलि ॥५३॥

जिन्होंने चन्द्रसूर्य का ऐक्य।
करके अनाहत को मुक्त।
सत्रहवीं का करकमल।
जीता सवेग ॥५४॥

फिर मध्यमा के मध्यविवर में।
खुदे हुए सोपान चढ़के।
पहुँच जाते अन्त में।
ब्रह्मरन्ध्र तक ॥५५॥

तब मकारान्त सोपान।
लाँघ कर गहन।
काँख में लेकर गगन।
समाये ब्रह्म में ॥५६॥

ऐसे जो समबुद्धि।
निगल जाने को सोऽहंसिद्धि।
अपनाते निरवधि।
योगदुर्ग ॥५७॥

कर के निज का समर्पण।
पा लेते शून्यपन।
वे मुझ को ही अर्जुन।
पाते अरे ॥५८॥

इस के सिवा योगबल से।
अधिक कुछ मिले।
ऐसा नहीं, बल्कि उन्हें।
होता कष्ट ही ॥५९॥

जो सकल भूतों का हित।
निरालम्ब अव्यक्त।
उस में जिन की आसक्ति पार्थ।
भक्ति के बिना ॥६०॥

उन्हें महेन्द्रादि पद।
करते पथ में प्रतिबन्ध।
और ऋद्धि–सिद्धि के द्वन्द्व।
रोकते पथ ॥६१॥

काम-क्रोधों के विकार।
उठ आते अनेक।
करना होता मानो युद्ध।
शून्यता से ॥६२॥

तृष्णा से तृष्णा को पीना।
भूख से भूख को खाना।
बाँहों से वायु को नापना।
अहोरात्र ॥६३॥
जागृति हो जहाँ निद्रासुख।
निरोध ही जहाँ विषयभोग।
वृक्षों से ही जहाँ संवाद।
मैत्रीभरा ॥६४॥
शीत को ओढ़ना।
उष्ण को बिछाना।
वृष्टि में रहना।
घर मान कर ॥६५॥
किम्बहुना पाण्डव।
अग्नि-प्रवेश नित्य-नव।
करना हो पति से रहित।
वैसा यह योग ॥६६॥
न यहाँ पति का निमित्त।
न कुलाचार का व्याज।
पर मरण से ही युद्ध।
नित्य नया ॥६७॥
ऐसा मृत्यु से भी तीक्ष्ण।
भरते उबलते विष का घूँट।
पर्वत निगलने में मुख।
फटे न क्या? ॥६८॥
अतएव योग की वाट पर।
निकले जो अरे सुभट।
आया दुःख का ही भोग।
उन के भाग्य में ॥६८॥
अरे यदि लोहे के चने।
दन्तहीन को पड़ें चबाने।
तो पेट भरे कि गँवायें।
प्राण ही वह! ॥७०॥
अतः बाहुबल से समुद्र।
न तैरा जाता पार्थ।
क्या गगन में धँसाकर पाँव।
चल सके कोई! ॥७१॥
पकड़ा रणभूमि का पथ।
पर अङ्ग में न लगे आघात।
उसे सूर्यलोक प्राप्त।
क्या होता अरे? ॥७२॥
अतः पङ्गु की होड़।
न होती वायु से पाण्डव।
वैसे न कर सके देही जीव।
अव्यक्त में गति ॥७३॥
ऐसे में भी यदि साहस।
बाँध कर आकाश पर।
चढ़ना चाहें तो क्लेशपात्र।
होते अवश्य ॥७४॥
अतएव पार्थ जो अन्य।
वे नहीं पाते व्यथा यह।
भक्ति-पथ का अनुसरण।
किया जिन्होंने ॥७५॥
सुख-पूर्वक कर्मेन्द्रिय।
करते कर्म अशेष।
भाग्य में आया जो कुछ।
वर्णविशेष के ॥७६॥
विधि को वे पालते।
निषिद्ध को टालते।
मदर्पण से जला देते।
कर्मफल ॥७७॥
देखो इस प्रकार।
अर्जुन वे मुझ पर।
संन्यस्त कर के कर्म।
न किये से करते ॥७८॥

और भी जो जो सब।
कायिक, वाचिक, मानसिक भाव।
मेरे सिवा उन का लक्ष्य।
दूसरा नहीं ॥७९॥

ऐसे जो मत्पर।
उपासक निरन्तर।
ध्यान-मिष से घर।
बने मेरे ॥८०॥

जिन की प्रीति एकनिष्ठ।
रखती मुझ से ही सम्बन्ध।
भोग–मोक्ष दरिद्र-कुल।
त्याग कर ॥८१॥

ऐसे अनन्य योग से।
तनु–मन–प्राणों से बिके।
कहूँ क्या–क्या उन के लिये।
करता मैं सब ॥८२॥

किम्बहुना धनुर्धर।
पाते जो माँ का उदर।
वे माता का प्रेमभाव।
कितना पाते ? ॥८३॥

वैसे मैंने उन के लिये।
जैसे हों वैसी दशा में।
कलिकाल दूर करने।
का लिया ठेका ॥८४॥

ऐसे मेरे भक्तों को क्या।
अन्य संसार की चिन्ता।
क्या समर्थ की कान्ता।
माँगे भीख ? ॥८५॥

वैसे जो मेरे भक्त।
जानो उन्हें मेरा कलत्र।
करने में उन का कुछ भी कार्य।
लजाऊँ न मैं ॥८६॥

जन्ममृत्यु के तरङ्गों में।
इस सृष्टि की डुबकी खाते।
देखकर चित्त में मेरे।
आया यह ॥८७॥

भवसिन्धु के गर्जन से।
किस में भय न उपजे।
वहाँ मेरे भी होंगे।
यदि भयभीत ॥८८॥

अतएव अरे पाण्डव।
मूर्तियों का समुदाय।
बना कर उन के गाँव।
दौड़ता आया ॥८९॥

नामों के सहस्र प्रकार।
सुनो यही हैं नाव।
बना मैं संसार–तारक।
इन्हें सजाकर ॥९०॥

देखे जो सङ्गरहित।
उन्हें लगाया ध्यान-पथ पर।
परिग्रही को नाव पर।
चढ़ाया सहज ॥९१॥

किसी को प्रेम की पेटी।
उदर पर बाँध दी।
फिर लाया तट पर उसे।
सायुज्य के ॥९२॥

पर भक्तों के नाम से।
चतुष्पदादि सारे।
वैकुण्ठ–साम्राज्य के।
योग्य किये ॥९३॥

अतः भक्तों को सखा।
नहीं एक भी चिन्ता।
उन का समुद्धर्ता।
मैं हूँ सदा ॥९४॥

और भक्ति में ज्यों ही।
चित्तवृत्ति दी अपनी।
मुझे बाँधा तब से ही।
निजकार्य में ॥९५॥

इसकारण हे भक्तराज।
यह मन्त्र तू धनञ्जय।
सीख ले यदि चाहे इस।
मार्ग से भजना ॥९६॥

अरे यह मानस एक।
मेरे स्वरूप में सवृत्तिक।
बुद्धिनिश्चय – सहित।
कर लो निष्टङ्क ॥९७॥

ये दोनों सदृश।
मुझ में प्रेमसहित।
प्रवेशें तो पार्थ।
पाओगे मुझे ॥९८॥

यदि मन बुद्धि उभय।
मुझ में ही बसायें घर।
तो कहो क्या रहे भेद।
मैं तू का कहीं ॥९९॥

अतः बुझते ही दीप।
साथ लुप्त होता तेज।
अथवा रविबिम्ब के साथ।
जाता प्रकाश ॥१००॥

निकलते प्राणों के साथ।
जैसे निकलते इन्द्रिय।
वैसे मनोबुद्धि के साथ।
जाता अहङ्कार ॥१०१॥

अतः मेरे स्वरूप में।
मन बुद्धि का निक्षेप करे।
सर्वव्यापी इतने से।
मद्रूप होगे ॥१०२॥

इस कथन में कहीं।
कुछ अन्यथा नहीं।
ले कर शपथ अपनी।
कहता तुझे ॥१०३॥

अथवा यह चित्त।
मन – बुद्धि – सहित।
मेरे हाथ में अखण्डित।
न दे सको यदि ॥१०४॥

तो करो तुम ऐसे।
इन आठ पहरों में से।
अधिकतर निमिष मुझे।
देते चलो ॥१०५॥

फिर जो कोई भी निमिष।
देखेगा मेरा सुख।
उतना सा अरोचक।
विषय में होगा ॥१०६॥

जैसे आने पर शरत्काल।
घटने लगे सरिताजल।
वैसे निकलेगा चित्त सवेग।
प्रपञ्च में से ॥१०७॥

फिर पूनम से जैसे।
शशिबिम्ब प्रतिदिवस में।
घटते-घटते अन्त में।
नहीं सा होता ॥१०८॥

वैसे भोगों में से निकलता।
मुझ में प्रवेश करता।
धीरे-धीरे चित्त होगा।
मद्रूप ही ॥१०९॥

जिसे अभ्यासयोग कहते।
यही एक जानो उसे।
इस से जो न निपजे।
ऐसा कुछ नहीं ॥११०॥

इस अभ्यास के बल से।
किसी की गति अन्तराल में।
व्याघ्र सर्प प्राञ्जल किये।
किसीने इस से ॥१११॥

इस से विष भी आहार बने।
समुद्र में पगडण्डी मिले।
किसी को वाग्ब्रह्म भी अल्प लगे।
अभ्यास में ॥११२॥

इस अभ्यास से कुछ भी।
सर्वथा दुष्कर नहीं।
अतः मुझ में सुभद्रापति।
मिलो अभ्यास से ॥११३॥

यदि अभ्यास के लिये।
क्षमता नहीं तुझ में।
तो तुम हो जिस स्थिति में।
रहो वैसे ॥११४॥

न रोको इन्द्रिय।
न त्यजो भोग।
न छोड़ो अभिमान।
स्वजाति का ॥११५॥

कुलधर्म से चलो।
विधिनिषेध पालो।
फिर सुख से रहो।
अनायास ॥११६॥

पर मन वाणी और देह से।
जैसा जो व्यापार चले।
वह मैं करता हूँ — ऐसे।
न कहो कभी ॥११७॥

करना या न करना।
यह सभी वह जानता।
यह विश्व चल रहा।
जिस परमात्मा से ॥११८॥

न्यून रहा या पूर्ण कर्म।
यह भाव न धरे चित्त।
स्वाधीन करे जीवित्व।
अपना उसके ॥११९॥

माली जिधर ले जाये।
उधर ही सहज जाये।
उस पानी जैसा हो रहे।
सर्वथा अरे ॥१२०॥

अतः प्रवृत्ति और निवृत्ति।
इन ओघों में न जाये मति।
अखण्ड चित्तवृत्ति।
रहे मुझ में ॥१२१॥

यों भी अरे सुभट।
ऋजु हो या कुटिल पथ।
रथ क्या कोई खटपट।
करता कभी ॥१२२॥

ऐसे जो—जो कर्म निपजें।
उन्हें अल्प—अधिक न कहें।
शान्त भाव से अर्पित करें।
मेरे प्रति ॥१२३॥

रहे ऐसा मद्‌भावन।
तनुत्याग-समय अर्जुन।
तो तू सायुज्य—सदन।
आयेगा मुझ में ॥१२४॥

इस प्रकार भी यदि अरे।
कर्म न दे सके मुझे।
तो और एक समझ ले।
पाण्डुकुंवर ॥१२५॥

बुद्धि के पीछे या आगे।
कर्म के आदि या अन्त में।
मुझे सौंपना कठिन लगे।
तुझे किरीटी ॥१२६॥

तो यह भी रहने दे।
मेरा अतिशय छोड़ दे।
पर संयति में रहे।
बुद्धि तेरी ॥१२७॥

और जिस-जिस समय में।
जो-जो कर्म घटित होते।
तभी फल उन सब के।
त्यागते चलो ॥१२८॥

वृक्ष या बेल जैसे अपने।
लदे हुए फल छोड़ते।
वैसे छोड़ निपजे हुए।
सिद्ध कर्म ॥१२९॥

मुझ में रखना मन।
मेरे लिये करना कर्म।
न करो यह भी सब।
जाने दे शून्य में ॥१३०॥

बंजर पर बरसना।
आग में बीज बोना।
वैसे कर्मों को मानना।
स्वप्नसमान ॥१३१॥

अरे आत्मजा के विषय में।
चित्त निरभिलाषी जैसे।
वैसा अशेष कर्मों में।
हो निष्काम ॥१३२॥

वह्नि की ज्वाला जैसे।
व्यर्थ जाय आकाश में।
क्रिया-जाने दे वैसे।
शून्य में ॥१३३॥

अर्जुन यह फल-त्याग।
प्रतीत होता यद्यपि सरल।
पर योगों में योग।
श्रेष्ठ यही ॥१३४॥

ऐसे फलत्याग सहित जो छूटते।
वे कर्म अङ्कुरित न होते।
एक बार फल कर जैसे।
बाँझ वेणु ॥१३५॥

वैसे इसी शरीर में।
शरीरों में आना छूटे।
किम्बहुना आवागमन मिटे।
सर्वथा पार्थ ॥१३६॥

किंवा अभ्यास के सोपान से।
किरोटी ज्ञान पर पहुँचें।
ज्ञान द्वारा भेंट करें।
ध्यान से ॥१३७॥

फिर ध्यान को ही आश्लेष।
देते सभी भाव।
तब कर्मजात सर्व।
रहते दूर ॥१३८॥

कर्म जब रहें दूर।
तब फलत्याग सम्भव।
त्याग से होती स्ववश।
शान्ति सकल ॥१३९॥

अतः पाने को शान्ति।
यही अनुक्रम सुभद्रापति।
प्रस्तुत यहाँ अभ्यास ही।
करना पार्थ ॥१४०॥

अभ्यास से भी गहन।
पार्थ फिर है ज्ञान।
ज्ञान से भी ध्यान।
विशेष जानो ॥१४१॥

फिर कर्मफल त्याग।
ध्यान से श्रेष्ठ पार्थ।
त्याग से भी भोग।
शान्ति-सुख का ॥१४२॥

इस प्रकार इस भोग से।
सुभट इसी पद्धति से।
शान्ति के मध्यगृह में।
पहुँचे जो ॥१४३॥

जो सब भूतों के प्रति।
द्वेष जानते ही नहीं।
अपना पराया जैसे नहीं।
चैतन्य को ॥१४४॥

उत्तम को धारण करना।
अधम की अवहेलना।
यह कुछ न जाने वसुधा।
जिस प्रकार ॥१४५॥

या राजा के देह में सञ्चरूँ।
रङ्क को वर्जित करूँ।
यह न कहता कृपालु।
प्राण पार्थ ॥१४६॥

गाय की तृषा हरना।
व्याघ्र को विष होकर मारना।
ऐसा न जाने करना।
तोय जैसे ॥१४७॥

वैसे सब भूतमात्र में।
जिस की मैत्री सम भाव से।
कृपा की धात्री बने।
स्वयं ही जो ॥१४८॥

और 'मैं' यह शब्द न जानते।
'मेरा' कुछ भी न कहते।
जो सुख-दुःख न जानते।
सर्वथा ॥१४९॥

वैसे ही क्षमा के लिये।
समान जो पृथ्वी के।
सन्तोष को उत्सङ्ग में।
दिया घर ॥१५०॥

वर्षा बिना सागर।
जैसे जल से नित्य भरपूर।
वैसा निरुपचार।
सन्तोषी जो ॥१५१॥

दे कर अपनी आन।
स्ववश रखें अन्तःकरण।
निश्चय पाता सत्यपन।
जिन के द्वारा ॥१५२॥

जीव परमात्मा उभय।
बैठे ऐक्यासन पर।
जिस के हृदय भवन मध्य।
विराजते पार्थ ॥१५३॥

ऐसी योग-समृद्धि।
हो कर जो निरवधि।
अर्पण करें मनोबुद्धि।
मुझ में ही ॥१५४॥

भीतर बाहर योग।
सधा हो अव्यङ्ग।
फिर भी मेरा अनुराग।
सप्रेम जिस में ॥१५५॥

अर्जुन वह भक्त।
वही योगी, वही मुक्त।
वह वल्लभा मैं कान्त।
ऐसा प्रिय ॥१५६॥

इतना ही नहीं वह प्रिय।
मुझे प्राणों से अधिक।
यह कहना भी पड़े न्यून।
निरूपण में ॥१५७॥

अरे प्रिय की कहानी।
यही अतीव मोहिनी।
वस्तुतः कहने योग्य नहीं।
पर बुलवाती श्रद्धा ॥१५८॥

इसी लिये मुझ में सखा।
सवेग उठी उपमा।
अन्यथा क्या प्रेम का।
अनुवाद सम्भव? ॥१५९॥

अब रहने दो यह पार्थ।
करने में प्रिय की बात।
हो उठती द्विगुणित।
प्रीति मेरी ॥१६०॥

उस पर फिर दैवयोग।
कि प्रेमी संवादी हो सम्मुख।
वह मधुरता पार्थ।
अतुलित जग में ॥१६१॥

अतएव हे पार्थ सखा।
तू प्रिय और तू ही श्रोता।
उस पर प्रिय की वार्ता।
प्रसङ्गवश आयी ॥१६२॥

तो बोलूँ फिर अब।
इस सुख में मग्न चित्त।
कहते ही देव यह।
लगे डोलने ॥१६३॥

फिर बोले जान।
उन भक्तों के लक्षण।
जिन के लिये अन्तःकरण।
बिछाता मैं ॥१६४॥

अरे सिन्धु के मध्य में।
जलचरों को भय न उपजे।
और जलचरों से न ऊबे।
समुद्र जैसे ॥१६५॥

वैसे उन्मत्त जग में।
जिसे उद्वेग न लगे।
और जिस की सङ्गति में।
न क्षुब्ध लोक ॥१६६॥

किम्बहुना पाण्डव सखे।
शरीर जैसे अवयवों से।
वैसे न ऊबे जीवों से।
जो जीवपन से ॥१६७॥

जग ही हुआ निज देह।
अतः गये प्रिय-अप्रिय।
छूटे हर्ष-अमर्ष।
द्वैत बिना ॥१६८॥

ऐसा द्वन्द्व से निर्मुक्त।
भय-उद्वेग से रहित।
उस पर फिर वह भक्त।
मेरा पार्थ ॥१६९॥

फिर उस के प्रति मेरा मोह।
क्या कहूँ वह प्रेमभाव।
रहने दो, जीवन ही जीव।
मेरा उसे ॥१७०॥

जो निजानन्द से सन्तृप्त।
ब्रह्म हो हुआ जीवित।
हो गया पूर्णता का निज।
वल्लभ जो ॥१७१॥

जिस के पास में पाण्डव।
अपेक्षा का नहीं प्रवेश।
सुख का ही उत्कर्ष।
जिस का जीवन ॥१७२॥

मोक्ष देने में उदार।
सचमुच काशी नगर।
पर छोड़ना पड़ता शरीर।
उस गाँव में ॥१७३॥

हिमवन्त खाये दोष।
पर जीवित होता समाप्त।
वैसा नहीं शुचित्व।
सज्जन का ॥१७४॥

गङ्गा शुचि सब शुचियों में।
और पाप-ताप भी मिटते।
पर वहाँ भी भय रहे।
डूबने का ॥१७५॥

गम्भीरता का पार नहीं।
भक्ति में डूबे न कोई।
मिलता बिना मेरे ही।
प्रत्यक्ष मोक्ष ॥१७६॥

सन्तों के अङ्ग-सङ्ग से।
पाप-विजयिता गङ्गा में।
उन सन्तों के सङ्ग में।
शुचित्व कैसा ? ॥१७७॥

अतएव जो ऐसे।
तीर्थों के आश्रय शुचित्व से।
दिशापार कराये जिन्होंने।
मनोमल ॥१७८॥

भीतर बाहर परिशुद्ध।
सूर्य जैसा उज्ज्वल।
और तत्त्वार्थ का दर्शक।
पगजन्मा जो ॥१७९॥

व्यापक और उदास।
जैसे कि आकाश।
वैसा जिस का मानस।
सर्वत्र सखे ॥१८०॥

संसार-व्यथा से मुक्त।
नैराश्य से सुशोभित।
व्याध के हाथ से विहङ्ग।
छूटे जैसा ॥१८१॥

वैसा सतत जो सुख में।
कोई भी दुःख न देखे।
न जानता मृत जैसे।
लज्जा पार्थ ॥१८२॥

और कर्मारम्भ के लिये।
अहङ्कार नहीं जिस में।
निरिन्धन अग्नि जैसे।
बुझ जावे ॥१८३॥

वैसे उपशम ही भाग में।
आया जिस के अरे।
जो मोक्ष के अङ्गों में।
लिखित पार्थ ॥१८४॥

अर्जुन इस अवधि तक।
जो सोऽहंभाव से ओतप्रोत।
वह द्वैत के परले तीर।
हुआ उत्तीर्ण ॥१८५॥

अथवा भक्तिसुख के लिये।
निज को ही दो भागों में।
बाँट कर स्वीकार करे।
सेवकपन ॥१८६॥

दूसरे को मेरा नाम देते।
फिर सुन्दर रीति से भजते।
न भजने वाले योगियों को।
दिखाते भजन-पथ ॥१८७॥

हमें उन का व्यसन।
वे हमारे निज ध्यान।
किम्बहुना समाधान।
वे मिलें तब ॥१८८॥

उन के लिये मैं धरूँ रूप।
उनके कारण रहूँ उपस्थित।
उन पर वारता जीव-प्राण।
वे ऐसे प्रिय ॥१८९॥

जो आत्मलाभ के सदृश।
भला न देखें कुछ।
अतः भोग-विशेष से हर्ष।
न होता उन्हें ॥१९०॥

स्वयं ही हुए विश्व।
तो भेदभाव गया सहज।
अतः विसर्जित हुआ द्वेष।
जिस पुरुष का ॥१९१॥

जो वस्तुतः है निज।
वह कल्पान्त में भी न नष्ट।
यह जान कर न करें शोक।
गत के लिये ॥१९२॥

जिस से अधिक नहीं कुछ।
वह आप ही निज में स्थित।
अतएव जिस में कभी कुछ।
आकांक्षा नहीं ॥१९३॥

बुरा या अच्छा ऐसे।
भेद जिस के चित्त में।
रात्रि-दिवस न होते।
सूर्य को जैसे ॥१९४॥

ऐसा बोध ही केवल।
हो कर स्थित जो निष्कल।
उस पर फिर भजनशील।
मेरे प्रति ॥१९५॥

तो उस के समान अन्य।
मेरा कोई सगा प्रिय।
नहीं यह जानो सत्य।
शपथ तेरी ॥१९६॥

जिस के हृदय में पार्थ।
वैषम्य का न लेश।
रिपु मित्र उभय।
समान जिस को ॥१९७॥

घर वालों पर करे उजाला।
परायों पर रखे अँधेरा।
पाण्डव यह नहीं जानता।
दीप जैसे ॥१९८॥

जो मारने को करे घाव।
और जिसने किया रोपण।
दोनों को देता समान।
छाया वृक्ष ॥१९९॥

अथवा जैसे गन्ना।
पालने वाले को मीठा।
और पेरने वाले को कड़वा।
होता नहीं ॥२००॥

अरि या मित्र पर वैसा।
अर्जुन रहे भाव जिस का।
मानापमान में हो वैसा।
तुल्यबुद्धि ॥२०१॥

तीनों ऋतुओं में समान।
रहता जैसे गगन।
वैसे एक ही मान।
शीतोष्ण का जिसे ॥२०२॥

दक्षिण-उत्तर-मारुत में।
पाण्डुसुत मेरु जैसे।
वैसे प्राप्त सुख-दुःख में।
मध्यस्थ जो ॥२०३॥

चन्द्रिका माधुर्य में।
राय-रङ्क को समान रहे।
वैसे जो सब भूतों में।
रहे समान ॥२०४॥

समस्त जग का एक।
सेव्य जैसे उदक।
वैसे जिस को तीनों लोक।
चाहते सदा ॥२०५॥

जो सबाह्य सङ्ग।
त्याग कर सम्बन्ध।
स्वस्वरूप में होकर लीन।
रहे एकाकी ॥२०६॥

जो निन्दा को न लेखे।
स्तुति को न श्लाघे।
आकाश में न लगे।
लेप जैसे ॥२०७॥
निन्दा और स्तुति को वैसे।
बैठाये एक पङ्क्ति में।
विचरे प्राण-वृत्ति से।
जन में, वन में ॥२०८॥
सत्य–असत्य उभय।
न बोले हो कर मौन।
जो भोगने में उन्मनी सुख।
अघाये नहीं ॥२०९॥
जो इष्टलाभ से न सन्तोषे।
अलाभ में न दुःख माने।
पावस बिना न सूखे।
समुद्र जैसे ॥२१०॥
और, वायु का एक स्थान पर।
नहीं जैसे निवास–घर।
वैसे न लेता आश्रय।
कहीं भी जो ॥२११॥
सम्पूर्ण आकाश – स्थिति।
जैसे वायु की नित्य वसति।
वैसे जग ही विश्रान्ति –।
स्थान जिस का ॥२१२॥
यह विश्व ही मेरा घर।
ऐसी मति जिस की स्थिर।
किम्बहुना चराचर।
आप ही हुआ ॥२१३॥
इस पर भी फिर पार्थ।
भजन में आस्थायुक्त।
उन को बनाता मैं मुकुट।
निज मस्तक का ॥२१४॥

उत्तम को मस्तक।
झुकाने में क्या कौतुक।
पर मान देते तीनों लोक।
चरणोदक लेकर ॥२१५॥
तो श्रद्धा–वस्तु को आदर।
देने का यह प्रकार।
जानें यदि हों श्री गुरुवर।
सदाशिव ॥२१६॥
पर यह रहने दो अब।
करने में महेश-वर्णन।
आत्मस्तुति का सञ्चार।
होगा यहाँ ॥२१७॥
अतः नहीं यह दृष्टान्त।
बोले रमानाथ।
अर्जुन मैं करता धारण।
शिर पर उन्हें ॥२१८॥
जो पुरुषार्थ-सिद्धि चतुर्थ।
ले कर अपने हाथ।
निकला भक्तिपन्थ।
बाँटता जग को ॥२१९॥
अधिकारी कैवल्य का।
करे लेन–देन मोक्ष का।
फिर भी जल के समान लेता।
निम्न स्थान ॥२२०॥
अतः उसे नमन करूँ।
माथे का मुकुट बनाऊँ।
उस का चरण चिह्न धरूँ।
हृदय में मैं ॥२२१॥
उस के गुणों के अलङ्कार से।
सजाऊँ निजवाणी अरे।
मैं उसी की कीर्ति से।
सजाऊँ श्रवण ॥२२२॥

उसे देखने के लिये।
मुझ अचक्षु के नेत्र ये।
हाथ के लीलाकमल से।
पूजूँ उसे ॥२२३॥
दो भी कर के द्विगुणित।
आया भुजायें ले कर।
कि दे सकूँ आलिङ्गन।
जीभर उसे ॥२२४॥
पाने को उस का सङ्ग-सुख।
मैं विदेह भी धरूँ देह।
किम्बहुना वह प्रेम।
निरुपम ॥२२५॥
उस से हमारा मैत्र।
इस में क्या विचित्र?
पर उस का चरित्र।
सुनते जो ॥२२६॥
वे भी प्राणों से अधिक।
सचमुच लगते मुझे प्रिय।
जो भक्त-चरित्र सुनकर।
करते प्रशंसा ॥२२७॥
अर्जुन, यह जो साद्यन्त।
कहा मैंने प्रस्तुत।
भक्तियोग समस्त।
योगरूप ॥२२८॥
मैं प्रीति करता जिसे।
धरता मस्तक हृदय में।
इतनी महिमा सखे।
जिस स्थिति की ॥२२९॥
वह यह कथा रम्य।
अमृतधारा धर्म्य।
करते प्रतीतिगम्य।
सुन कर जो ॥२३०॥
वैसे ही श्रद्धा-आदर से।
जिन में यह विस्तार पावे।
जिन के मनप्राण में ठहरे।
जो करें अनुष्ठित ॥२३१॥
रीति निरूपित की जैसी।
वैसी जिन की मनः स्थिति।
तब जैसी होती रोपणी।
सुक्षेत्र में ॥२३२॥
फिर मुझे परम रख कर।
इस अर्थ में प्रेम धर कर।
इसी को सर्वस्व मान कर।
जो स्वीकारते ॥२३३॥
पार्थ! इस जग में।
वही भक्त, वही योगी अरे।
उत्कण्ठा उस के लिये।
अखण्ड मुझ में ॥२३४॥
वे तीर्थ, वे क्षेत्र।
जगत् में वे ही पवित्र।
भक्तिकथा से मैत्र।
जिस पुरुष का ॥२३५॥
मैं करूँ उन का ध्यान।
वे मेरे देवतार्चन।
उन से अतिरिक्त अन्य।
न भाता मुझे ॥२३६॥
मुझे उन का व्यसन।
वे मेरे निधि-निधान।
किम्बहुना समाधान।
उन के मिलन से ॥२३७॥
उन प्रेमियों की वार्ता।
कहते जो पाण्डव सखा।
उन्हें मानूँ परम देवता।
अपनी मैं ॥२३८॥

ऐसे निजजनानन्द । जो भक्तजन-वत्सल ।
वे जगदादि – कन्द । प्रेमी–जन प्राञ्जल ।
बोले श्रीमुकुन्द । सत्य-सेतु सरल ।
सञ्जय कहे ।।२३९।।

राजन् जो निर्मल । निष्कल लोक–कृपाल ।
शरणागत के प्रतिपाल । शरण्य जो ।।२४०।।

तथा सुर–सहाय–शील । लोक–लालन–लील ।
प्रणत–जन–प्रतिपाल । यह खेल जिस का ।।२४१।।

जो धर्म-कीर्ति से धवल । अगाध दातृत्व में सरल ।
अतुलबल से प्रबल । बलिबन्धन ।।२४२।।

जो भक्तजन-वत्सल । प्रेमी–जन प्राञ्जल ।
सत्य-सेतु सरल । कलानिधि ।।२४३।।

वे श्रीकृष्ण वैकुण्ठ के । चक्रवर्ती निजों के ।
कहें और वह सुने । दैववन्त ।।२४४।।

अब इस के अनन्तर । चलेगा जो निरूपण ।
कहे सञ्जय दीजिये ध्यान । धृतराष्ट्र से ।।२४५।।

वही रसाल कथा । मराठी प्रतिपथ द्वारा ।
अब लाऊँगा यहाँ । सध्यान सुनिये ।।२४६।।

ज्ञानदेव कहे आप । सन्तों की शरण लें हम ।
यही सिखाया निवृत्तिदेव- । स्वामी ने मुझे ।।२४७।।

इति श्रीमद्ज्ञानेश्वरविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीता – 'भावार्थ-दीपिकायाम्' भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ।।

।। हरिः ॐ तत् सत् ।।

॥ ॐ हरि : ॐ ॥

त्रयोदश अध्याय

आत्मरूप गणेश–स्मरण।
जो सकल विद्याओं का अधिकरण।
वन्दूँ वे श्रीचरण।
श्रीगुरु के ॥१॥

होने से जिन का स्मरण।
शब्द-सृष्टि होती आधीन।
आता सारस्वत सम्पूर्ण।
जिह्वा पर ॥२॥

वक्तृत्व के माधुर्य से।
अमृत भी फीका लगे।
नवरस सेवक बने।
अक्षरों के ॥३॥

भावों का अवतरण।
व्यक्त करता मर्म।
हाथ आवे सम्पूर्ण।
तत्त्वभेद ॥४॥

जब श्रीगुरु के चरण।
हृदय को व्याप कर आसीन।
तब ऐसा सद्भाग्य।
उन्मेष का ॥५॥

उन की करके वन्दना।
कहूँ पितामह के पिता।
लक्ष्मीजी के भर्ता।
बोले ऐसे ॥६॥

अब सुनो पार्थ।
यह देह कहाता क्षेत्र।
जिस में इस का ज्ञान।
वह क्षेत्रज्ञ ॥७॥

तो यहाँ जो क्षेत्रज्ञ।
वह मैं ही जानो निश्चित।
जो सब क्षेत्रों का पार्थ।
करता पोषण ॥८॥

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ को।
जानना यथार्थ जो।
ज्ञान नाम से उसी को।
मानता मैं ॥९॥

फिर क्षेत्र इस नाम से।
इस शरीर के अभिप्राय से।
कहा गया जो सब उसे।
कहूँ अब ॥१०॥

क्षेत्र क्यों कहते इसे।
कैसे कहाँ यह उपजे।
कौन से विकारों से।
बढ़े यह ॥११॥

यह साढ़े तीन ही हाथ का।
या अधिक और कितना बड़ा।
उपजाऊ या बंजर कैसा?
किस का यह? ॥१२॥

इत्यादि ये सर्व।
जो–जो इस के भाव।
कहूँगा सविस्तर।
दो अवधान ॥१३॥

इसी स्थल के लिये।
श्रुतियाँ सदा बहुत कहें।
तर्क इसी के निश्चय में।
वाचाल बना ॥१४॥

इस की ही विवेचना में।
दर्शन सब श्रमित हुए।
फिर भी मिटा न सके।
अब तक द्वन्द्व ॥१५॥
शास्त्रों में परस्पर सम्बन्ध।
इसी कारण हुआ विचलित।
पाने को इन में ऐक्य।
जग में विवाद ॥१६॥
मुख के सम्मुख न आये मुख।
वचन के संवादी नहीं वचन।
केवल इनका युक्ति-प्रसार।
बढ़ाता त्रास ॥१७॥
न जाने यह किसका स्थल।
और कैसा इस में बल।
जो धरोधर कपाल।
फोड़ रहा ॥१८॥
नास्तिकों का करें प्रतिवाद।
वेद हैं इतने समर्थ।
यह देखकर पाखण्ड।
बोलते ऐसे ॥१९॥
कहते तुम हो निर्मूल।
झूठ हो यह वाग्जाल।
न मानो तो करने को सिद्ध।
उठाओ बोड़ा ॥२०॥
पाखण्डियों के समूह।
नग्न हो नोंचते मुण्ड।
नियोजित वितण्डवाद।
अन्ततः असिद्ध ॥२१॥
मृत्युबल के मुख में।
अकारण ही यह जाये।
यह देखकर व्याज से।
निकले योगी ॥२२॥

मृत्यु के ही भय से।
निर्जन सेवन करते।
समुदाय यम-नियमों के।
जुटाते खूब ॥२३॥
इसी क्षेत्राभिमान से।
राज्य त्यागा ईशान ने।
उपाधि मानकर श्मशान में।
किया वास ॥२४॥
इसी प्रतिज्ञा से महेश ने।
दशदिशा के वस्त्र ओढ़े।
उपद्रवी देखकर अरे।
जलाया काम ॥२५॥
अरे सत्यलोकनाथ।
धारें प्रबल चार मुख।
पर वे भी सर्वथा यथार्थ।
जानते नहीं ॥२६॥
एक कहते यह स्थल।
जीव का ही समूल।
फिर प्राण है खेतिहर।
उस का यहाँ ॥२७॥
क्यों कि प्राण के घर।
श्रम करते भाई चार।
और मन जैसा निरीक्षक।
करे नियमन ॥२८॥
लेकर जोड़ी इन्द्रिय बैल।
न गिने रात्रि-दिवस।
विषय क्षेत्र में परिश्रम।
कराता रहे ॥२९॥
फिर विधि की जड़ें निकालकर।
बोता अन्याय के बीज।
कुकर्मों की डालता खाद।
इस खेत में ॥३०॥

तब उसी के अनुरूप।
फैलते अगणित पाप।
फिर जन्मकोटि तक दुःख।
भोगता जीव ॥३१॥

अथवा विधि की आर्द्रता में।
सत्क्रिया-बीज आरोपे।
फिर जन्मशत तक भोगे।
सुखरूप फल ॥३२॥

दूसरे कहते यह नहीं।
जीव के वश में क्षेत्र नहीं।
हम से सब पूछिये जी।
क्षेत्र-विषय में ॥३३॥

जीव तो बटोही एक।
यात्रा में यहाँ करे वास।
प्राण है पहरेदार।
अतः जागे ॥३४॥

अनादि जो प्रकृति।
साङ्ख्य गाता प्रशस्ति।
क्षेत्र यह वृत्ति।
उस की जानो ॥३५॥

उसी का यह सब।
कर्मचारी समुदाय।
अतः जुताई–बोआई सब।
करती घर मे ॥३६॥

बाहर का व्यवहार।
चलाते जो सृष्टि के मूल।
इसी के उदर से उत्पन्न।
वे तीन गुण ॥३७॥

रजोगुण बीज बोता।
सत्त्व उन को रक्षा करता।
फिर अकेला तम करता।
कटाई खेत की ॥३८॥

रचकर महत्तत्त्व का खलिहान।
दँवनी करते काल बैल।
तभी आ जाती साँझ।
अव्यक्त की ॥३९॥

इस पर कोई बुद्धिशील।
इस मत का करके तिरस्कार।
कहते यह ज्ञप्ति केवल।
अर्वाचीनों की ॥४०॥

अहो भला परतत्त्व में।
प्रकृति की बात कहाँ उठे?
यह क्षेत्र का वृत्तान्त अरे।
सुनो हम से ॥४१॥

शून्य के शयनगृह में।
सुलीनता की शय्या में।
सोया था बलवान् कभी से।
सङ्कल्प आद्य ॥४२॥

वह जागा अचानक।
उद्यम में सदैव तत्पर।
अतः जुटाया निधान।
इच्छावश ॥४३॥

निरालम्ब की बाड़ी।
थी त्रिभुवन जितनी बड़ी।
वह इस के बल से हुई।
रूपायित ॥४४॥

फिर महाभूतों को एकत्र।
स्वेच्छा से मिलाया परस्पर।
उस में भूतग्रामों के भाग।
बनाये चार ॥४५॥

इस के अनन्तर पहले।
पञ्चभूतों के पिण्ड के।
विविध प्रभेद बाँधे।
पाञ्चभौतिक ॥४६॥

कर्म–अकर्म पत्थरों के।
दोनों ओर बाँध रचे।
बंजर भूखण्डों में।
बनाये वन ॥४७॥

वहाँ आवागमन के लिये।
सुरङ्ग जन्ममृत्यु के।
सुन्दर पथ बनाये।
इस सङ्कल्प ने ॥४८॥

फिर अहङ्कार से करके ऐक्य।
जो टिके जीवन-पर्यन्त।
चलवाया चराचर।
बुद्धि द्वारा ॥४९॥

इस प्रकार निरालम्ब में।
सङ्कल्प की डाली बढ़े।
अतः वही है मूल में।
इस प्रपञ्च के ॥५०॥

ऐसे रखे मत मुक्ताफल।
तभी दूसरे आगे बढ़कर।
बोले अरे विवेकी तुम।
कैसे भला? ॥५१॥

परतत्त्व के गाँव में।
सङ्कल्प-सेज दिखाते।
फिर कैसे न मानते।
प्रकृति उस की ॥५२॥

पर रहने दो यहीं यह।
निर्णय तुम से न सम्भव।
अब हम ही खोल कर सब।
कहेंगे तत्त्व ॥५३॥

आकाश में किसने।
भरे मेघ इतने?
ताराओं को अन्तरिक्ष में।
धारे कौन? ॥५४॥

गगन का चँदोवा।
किस ने कहाँ बाँधा?
पवन रहे चलता।
यह किस का मत? ॥५५॥

रोमबीज बोता कौन?
सिन्धु को भरता कौन?
पर्जन्य में धारा सब।
भरीं किसने? ॥५६॥

वैसे स्वभाव से यह क्षेत्र।
नहीं किसी का स्वीय धन।
जो जोते उसी को देता फल।
अन्य को नहीं ॥५७॥

तब दूसरा कोई एक।
कहता क्षुब्ध होकर।
तो भोगता क्यों इसे काल।
अकेला ही ॥५८॥

उसी काल की मार।
देख कर भी अनिवार।
कैसे स्वमत में तत्पर।
अभिमानी ये ॥५९॥

देखो यह मृत्यु का क्रोध।
सिंह की दरी भयङ्कर।
फिर क्यों करते व्यर्थ बकझक।
क्या बने इस से? ॥६०॥

महाकल्प के उस पार।
भुजा पसार कर अचानक।
सत्यलोकादि पर्यन्त।
करता ग्रास ॥६१॥

नित्य नये लोकपाल।
दिग्गजों के समुदाय।
स्वर्गाटवी में घुसकर।
देता उजाड़ ॥६२॥

आकर इस की चपेट में।
जन्म-मृत्यु के गर्त्तों में।
निर्जीव हो कर घूमते।
जीवमृग ॥६३॥
देखो तो कितना बड़ा।
फैलाया इस ने पंजा।
और हाथ पर रखा।
जगदाकार गज ॥६४॥
अतः काल की सत्ता नित्य।
यही कथन सत्य।
ऐसे वाद पाण्डुसुत।
क्षेत्र के लिये ॥६५॥
बहुत वाद-विवाद ऐसे।
ऋषियों ने नैमिष में किये।
देते पुराण इस विषय में।
मतपत्रिका ॥६६॥
अनुष्टुपादि छन्दों में।
प्रबन्ध जो ऐसे।
मदसहित पत्रावलम्बन वे।
देते अब भी ॥६७॥
वेदों के बृहत् सामसूत्र।
जो देखने भर से पवित्र।
पर वे भी यह क्षेत्र।
जानते नहीं ॥६८॥
और-और भी बहुत।
महाकवि हेतुमन्त।
इस के लिये मतिव्यय।
करते रहे ॥६९॥
पर यह ऐसा या इतना।
या निश्चित अमुक का।
ऐसा निर्णय किसी का।
होता नहीं ॥७०॥

अब यह क्षेत्र जैसा।
दिखता स्पष्ट वैसा।
साद्यन्त तुझे कहूँगा।
सुनो पार्थ ॥७१॥
तो महाभूत पञ्चक।
और अहङ्कार एक।
बुद्धि अव्यक्त तथा दशक।
इन्द्रियों का ॥७२॥
और भी, मन एक।
विषयों का दशक।
सुख-दुःख तथा द्वेष।
सङ्घात इच्छा ॥७३॥
और चेतना धृति।
ऐसी क्षेत्र-व्यक्ति।
कही मैंने तेरे प्रति।
सम्पूर्ण ॥७४॥
अब महाभूत कौन से ?
कौन विषय, इन्द्रिय कैसे ?
यह पृथक्-पृथक् करके।
कहता सुनो ॥७५॥
तो पृथ्वी आप तेज।
वायु व्योम ये पाँच।
कहे तुझे ले समक्ष।
महाभूत ॥७६॥
और जाग्रत दशा में।
स्वप्न अन्तर्भूत रहे।
जैसे कि अमावस में।
चन्द्र गूढ़ ॥७७॥
अथवा अप्रौढ़ बालक में।
तारुण्य गुप्त रहे।
या अविकसित कलिका में।
आमोद जैसे ॥७८॥

किम्बहुना काष्ठ में।
किरीटी वह्नि जैसे।
वैसे प्रकृति के उदर में।
जो है गोप्य ॥७९॥

धातुगत ज्वर जैसे।
अपथ्य का निमित्त देखे।
वह मिलते ही व्यापे।
भीतर—बाहर ॥८०॥

वैसे पाँचों में गाँठ पड़े।
तब देहाकार प्रगटे।
उसे चहुँ ओर नचाये।
वह अहङ्कार ॥८१॥

अनोखी "अहं"की बात अरे।
अज्ञानियों के पीछे न लगे।
पर सज्ञानों का कण्ठ पकड़े।
नचाये सङ्कटों में ॥८२॥

अब बुद्धि जिसे कहते।
उसे जानो इन चिह्नों से।
श्री यदुराज बोले।
वह कहूँ सुनो ॥८३॥

कन्दर्प के बल से।
इन्द्रियवृत्ति के सहाय से।
समुदाय जीत कर लायें।
विषयों के ॥८४॥

वह सुख-दुःखों को लूट।
जब भोगने लगे जीव।
तब दोनों का तुलनात्मक।
रूप बताती जो ॥८५॥

यह सुख यह दुःख।
यह पुण्य यह दोष।
यह मलिन यह शुद्ध।
करती विभाग ॥८६॥

जिसे अधमोत्तम सूझे।
जो छोटा—बड़ा बूझे।
जिस दृष्टि से परखे।
जीव विषय को ॥८७॥

जो तेज तत्त्व का आदि।
जो सत्त्वगुण की वृद्धि।
आत्मा—जीव की सन्धि।
कराती जो ॥८८॥

अरे अर्जुन उसे जान।
बुद्धि तू सम्पूर्ण।
अब सुन पहचान।
अव्यक्त की ॥८९॥

साङ्ख्य के सिद्धान्त में।
प्रकृति कहते जिसे।
वही यहाँ प्रस्तुत में।
अव्यक्त पार्थ ॥९०॥

और सांख्ययोग मत में।
प्रकृति सुनी हो तू ने।
जहाँ दोनों प्रकार इसके।
किये विवेचित ॥९१॥

वहाँ जीवदशा जो, द्वितीय।
उसी का नाम वीरेश।
उसी का यह अव्यक्त।
पर्याय नाम ॥९२॥

तो जब रजनी बीते।
तारा गगन में लोपे।
या अस्त होने पर थमे।
भतक्रिया ॥९३॥

अथवा देहान्त के अनन्तर।
किरीटी ये देहादिक।
उपाधि होतीं लुप्त।
कृतकर्मों के उदर में ॥९४॥

या बीजमुद्रा के मध्य।
छिपे तरु समस्त।
अथवा रहे वस्त्रपन।
तन्तुदशा में ॥९५॥

वैसे छोड़कर स्थूल धर्म।
महाभूतों में भूतग्राम।
विलीन होते सूक्ष्म।
होकर जहाँ ॥९६॥

अर्जुन उस का नाम।
अव्यक्त तू जान।
अब सुन सम्पूर्ण।
इन्द्रियभेद ॥९७॥

तो श्रवण और नयन।
त्वचा घ्राण रसन।
इन्हें ज्ञान–कारण।
जानो पाँच ॥९८॥

इन पाँचों से प्राप्त।
सुख–दुःख का ऊहापोह।
बुद्धि करती इन।
पाँच मुखों से ॥९९॥

फिर वाचा और कर।
चरण तथा अधोद्वार।
पायु ये पाँच प्रकार।
अन्य पाँच के ॥१००॥

कहलाते कर्मेन्द्रिय।
जानो वही यह।
सुनो कैवल्यनाथ।
कह रहे ॥१०१॥

प्राण की अन्तरङ्गिणी।
शरीर में जो क्रिया-शक्ति।
उस का आवागमन इन्हीं।
पाँच द्वारों से ॥१०२॥

दसों करण ऐसे।
कहे, देव बोले।
सुन अब स्पष्टता से।
मन ऐसा ॥१०३॥

जो बुद्धि और इन्द्रिय।
इन के सन्धिस्थान पर।
रजोगुण के कन्धे पर।
आन्दोलित रहता ॥१०४॥

नीलिमा अम्बर में।
या लहरें मृगतृष्णा में।
वैसे वायु के स्पन्दन में।
मन व्यर्थ भासे ॥१०५॥

शुक्र–शोणित की सन्धि में।
पञ्चतत्त्वों का देह बँधे।
वायुतत्त्व दशरूप में।
एक हो प्रगटे ॥१०६॥

फिर दे दसों विभाग।
देह धर्म का बल पाकर।
अङ्गों में होते अधिष्ठित।
अपने–अपने ॥१०७॥

वहाँ चाञ्चल्य विशुद्ध।
एक ही व्याप्त केवल।
अतएव रजस् का बल।
धारा उस ने ॥१०८॥

वह बुद्धि के बाहर।
अहङ्कार के उर पर।
मध्यस्थान चुनकर।
होता प्रबल ॥१०९॥

उस का नाम मन व्यर्थ।
यों कल्पना ही वह यथार्थ।
जिस के सङ्ग से वस्तुत्व।
पाती जीवदशा ॥११०॥

जो प्रवृत्ति का मूल।
काम को जित का बल।
जो अखण्ड प्रसवे छल।
अहङ्कार का ॥१११॥

जो इच्छा को बढ़ाता।
आशा को चढ़ाता।
जो पृष्ठपोषक बनता।
भय का अरे ॥११२॥

द्वैत जिस से प्रसरे।
अविद्या को बल मिले।
जो इन्द्रियों को धकेले।
विषयों में ॥११३॥

सङ्कल्प से सृष्टि गढ़े।
विकल्प से क्षण में तोड़े।
मनोरथों के महल रचे।
और तोड़े ॥११४॥

जो भ्रम का कोठार।
वायुतत्त्व का अन्तर।
और बुद्धि का द्वार।
ढँका जिस ने ॥११५॥

किरीटी वही है मन।
इस बात को सत्य जान।
अब कहूँ विषयाभिधान।
भेद, सुनो ॥११६॥

तो शब्द और स्पर्श।
रूप, रस, गन्ध।
यह विषय पञ्चविध।
ज्ञानेन्द्रियों का ॥११७॥

इन्हीं पाँच द्वारों से।
ज्ञान बाहर दौड़े।
हरे चारे पर जैसे।
दौड़े पशु ॥११८॥

फिर स्वर, वर्ण, विसर्ग।
अथवा स्वीकार, त्याग।
चङ्क्रमण, उत्सर्ग।
मलमूत्र का ॥११९॥

ये कर्मेन्द्रियों के पाँच।
विषय जानो सच।
इन को बनाकर मञ्च।
चलती क्रिया ॥१२०॥

ऐसे ये दस।
इस देह में विषय।
कहूँगा इच्छा अब।
तुझे पार्थ ॥१२१॥

भूत का होने पर स्मरण।
शब्द कोई सुनें कान।
तब जो होती जागृत।
वह वृत्ति ॥१२२॥

इन्द्रिय-विषय का मिलन।
होने पर सचेत तत्क्षण।
काम का अवलम्ब लेकर।
उठ खड़ी होती ॥१२३॥

जिस के उठने से।
मन स्वैर बाहर दौड़े।
निषिद्ध में भी प्रवेशें।
इन्द्रियाँ स्वच्छन्द ॥१२४॥

जिस वृत्ति के सङ्ग से।
बुद्धि भी पागल बने।
जो विषयों में माधुर्य देखे।
वही इच्छा ॥१२५॥

और इच्छा होते ही वाञ्छित।
न बने इन्द्रियों का भोग्य।
तब जो उठता आग्रह।
वही द्वेष ॥१२६॥

इस के अनन्तर सुख।
वह एवंविध देख।
जिस अकेले से अशेष।
बिसरे जीव ॥१२७॥
मन–वाचा–काया को।
अपनी शपथ दिलाये जो।
देह–स्मृति के बल को।
करे नष्ट ॥१२८॥
जिस के होने पर उदित।
पङ्गु होते प्राण।
सात्त्विकता द्विगुणित।
होती पार्थ ॥१२९॥
सभी इन्द्रियवृत्तियों को।
हृदय के एकान्त में जो।
थपक कर सुलाती अहो।
लाती सुषुप्ति ॥१३०॥
किम्बहुना जिस के उदय से।
जीव आत्मलाभ पाये।
वहाँ जो वृत्ति रहे।
उस का नाम सुख ॥१३१॥
और ऐसी अवस्था।
न होने पर पार्थ सखा।
जो होता वही सर्वथा।
जानो दुःख ॥१३२॥
मनोरथ-सङ्ग से न होता सुख।
अन्यथा वह स्वतः सिद्ध।
ये दोनों ही उपाय।
सुख-दुःख के ॥१३३॥
अब असङ्ग साक्षिभूता।
देह में जो चैतन्य की सत्ता।
पाण्डुसुत नाम उस का।
चेतना यहाँ ॥१३४॥
जो नख से केश–पर्यन्त।
शरीर में रहती जागृत।
जो तीनों अवस्था में पार्थ।
पलटे नहीं ॥१३५॥
मन–बुद्धि आदि सब में।
जिसकी ताजगी बनी रहे।
जो सदा प्रकृति–वन में।
माधवरूप ॥१३६॥
जड़-अजड़ अंशों में।
जो समान-रूप रहे।
वही चेतना जानो सखे।
निःसंशय ॥१३७॥
राजा न जाने निज परिवार।
आज्ञा ही जीते परचक्र।
या चन्द्र की पूर्णता लाती ज्वार।
सिन्धु में ॥१३८॥
अथवा चुम्बक का सन्निधान।
लोहे को करे सचेतन।
या सूर्यसङ्ग से जन।
चेष्टा करते ॥१३९॥
अरे बिना ही मुखस्पर्श।
करती बच्चों का पोषण।
कर के केवल निरीक्षण।
कूर्मी जैसे ॥१४०॥
पार्थ उसी रीति से।
आत्मसङ्गति इस शरीर में।
सजीवत्व का करे।
उपयोग जड़ में ॥१४१॥
इस का चेतना नाम।
कहा, सुनो अर्जुन।
अब धृति का विवेचन।
सभेद सुनो ॥१४२॥

ये भूत परस्पर।
विरुद्ध जाति–स्वभाव।
नहीं क्या पृथ्वी का नाश।
करता नीर ॥१४३॥

नीर का शोषक तेज।
तेज का वायु से युद्ध।
और गगन भी सहज।
वायुभक्षी ॥१४४॥

वैसे किसी भी समय।
किसी से न मिलता आप।
सब व्याप कर भी आकाश।
पृथक् रहता ॥१४५॥

ऐसे ये पाँच भूत।
परस्पर को न करते सहन।
पर वही ऐक्य – पूर्वक।
आते देह में ॥१४६॥

द्वन्द्व का वाद – विवाद।
छोड़ कर रहते एकत्र।
करते परस्पर पोषण।
निजगुणों से ॥१४७॥

न मिलने वालों का मेल।
कराता जो धैर्य।
उसी को मैं देता नाम।
धृति पार्थ ॥१४८॥

और जीवसहित पाण्डव।
इन छत्तीस का मिलन।
उसी को जानो सङ्घात।
कहा यहाँ ॥१४९॥

ऐसे छत्तीसों भेद।
कहे तुझे विशद।
इन का मिलन ही प्रसिद्ध।
क्षेत्र कहाता ॥१५०॥

रथाङ्गों का मिलन।
जैसे कहलाता रथ।
वैसे अधोर्ध्व अवयव।
कहलाते देह ॥१५१॥

करि–तुरङ्ग समाज से।
सेना नाम निपजे।
या पुञ्ज को अक्षरों के।
कहते वाक्य ॥१५२॥

या जलधरों का समूह।
बनता अभ्र का वाच्य।
या सकल लोकों का नाम।
जगत् यहाँ ॥१५३॥

या वह्नि–स्नेह–सूत्र।
मिलें एक ही स्थान पर।
तब वे पाते नाम।
दीप ऐसा ॥१५४॥

ये छत्तीसों तत्त्व वैसे।
मिलते जब एकत्व से।
उन को समूहपरत्व से।
कहते क्षेत्र ॥१५५॥

और भौतिक व्यापारों से।
पाप–पुण्य यहाँ फलते।
अतः मैं इसे कौतुक से।
कहता क्षेत्र ॥१५६॥

और किसी के मत से।
देह कहते इसे।
पर रहने दें इस के।
अनन्त नाम ॥१५७॥

परतत्त्व से इधर।
स्थावर के भीतर।
होता–जाता जो कुछ।
वह क्षेत्र ही सब ॥१५८॥

पर सुर–नर–उरग।
ऐसा जो योनिविभाग।
वह गुण कर्म सङ्ग से पार्थ।
होता घटित ॥१५९॥
यह गुण–कर्म विवेचन।
कहूँगा फिर अर्जुन।
अब तुझे दिखाऊँ रूप।
ज्ञान का ॥१६०॥
क्षेत्र तो सविस्तर।
कहा गया सविकार।
अतः अब उदार।
सुनो ज्ञान ॥१६१॥
जिस ज्ञान के लिये।
योगी गगन निगलते।
कुटिल पथ स्वर्ग के।
लाँघकर ॥१६२॥
न रखते सिद्धि का चाव।
न जुटाते ऋद्धि की भीड़।
योग जैसा दुर्लभ।
करते उपेक्षित ॥१६३॥
तपोदुर्ग को लाँघते।
ऋतुकोटि वार देते।
समूल उलट डालते।
कर्मवल्ली ॥१६४॥
नाना भजन मार्गों में।
उघड़े बदन दौड़ते।
कोई घुसते सुरङ्ग में।
सुषुम्णा की ॥१६५॥
ऐसे जिस ज्ञान के लिये।
मुनीश्वर तीव्र इच्छा से।
वेदतरु के पत्ते–पत्ते।
छान लेते ॥१६६॥

गुरुसेवा देगी वह।
इस बुद्धि से पाण्डव!
वार देते जन्म शत।
गुरु–चरणों में ॥१६७॥
जिस ज्ञान का प्रवेश।
करे अविद्या को निःशेष।
जीव–आत्मा का बोध।
करा देता ॥१६८॥
जो इन्द्रियों के द्वार रोके।
प्रवृत्ति के पाँव तोड़े।
जो दैन्य को निवारे।
मानस के ॥१६९॥
द्वैत का दुकाल दिखे।
साम्य का सुकाल आवे।
जिस ज्ञान की उपलब्धि से।
होता ऐसा ॥१७०॥
मद का स्थान ही पोंछ डाले।
जो महामोह को ग्रास करे।
अपना पराया ऐसी न रखे।
भाषा शेष ॥१७१॥
जो करे संसार का उन्मूलन।
सङ्कल्प पङ्क का प्रक्षालन।
अनावर का कराये मिलन।
उस ज्ञेय का ॥१७२॥
जो होने पर उत्पन्न।
पङ्गु होते प्राण।
जिस को सत्ता से जग।
करे चेष्टा ॥१७३॥
जिस के उजाले में।
बुद्धि के नयन खुलते।
जीव साम्राज्य पाये।
आनन्द का ॥१७४॥

ऐसा जो ज्ञान।
पवित्रैक - निधान।
वहाँ कर के मज्जन।
मन होता शुद्ध ।।१७५।।
आत्मा पर जीव-बुद्धि।
नामक जो लगी क्षयव्याधि।
उसे जिस को सन्निधि।
करती दूर ।।१७६।।
उस अनिरूप का करूँ निरूपण।
श्रवण से होता बुद्धि को गोचर।
अन्यथा नेत्रों को दर्शन।
होता नहीं ।।१७७।।
फिर वही इस शरीर में।
जब अपना प्रभाव करे।
तब इन्द्रिय व्यापारों से।
नयन भी देखें ।।१७८।।
वसन्त का आगमन अरे।
वृक्षों की ताजगी से।
जाना जाये, इन्द्रियाँ वैसे।
कह देतीं ज्ञान ।।१७९।।
अरे वृक्ष के मूल में।
जड़ें पहुँचें पाताल में।
वही शाखाओं के रूप में।
दिखें बाहर ।।१८०।।
या भूमि की मृदुलता।
बताती अङ्कुर की कोमलता।
अथवा आचार की गरिमा।
कहे सुकुलीनता ।।१८१।।
अथवा सम्पन्न आतिथ्य।
जैसे करे स्नेह व्यक्त।
वैसे दर्शन का प्रसाद।
कहे पुण्यपुरुष ।।१८२।।

या कदली में बना कर्पूर।
जैसे परिमल से हुआ ज्ञात।
या फानूस में रखा दीप।
सुज्ञात प्रकाश से ।।१८३।।
वैसे हृदय - गत ज्ञान।
जिस देह में होता मुद्रित।
कहूँ अब उस के लक्षण।
सुनो सावधान ।।१८४।।
उसे किसी भी विषय में।
लीन होना न रुचे।
प्रतिष्ठा-वाद का लगे।
बोझ जिसे ।।१८५।।
वर्तमान भी गुणवर्णन में।
मान्यपन के सन्मान में।
यथार्थ भी योग्यता के।
निरूपण में ।।१८६।।
वह घबराये कैसे?
व्याध से रुँधा मृग जैसे।
बाँहों से तैरता हुआ फँसे।
भँवर में जैसे ।।१८७।।
उसी के तुल्य पार्थ।
जो सन्मान को माने सङ्कट।
गरिमा को अपने निकट।
आने न दे ।।१८८।।
पूज्यता न देख सकें नयन।
स्वकीर्ति न सुन सकें कान।
'ये अमुक हैं' ऐसा वर्णन।
न सहे लोक में ।।१८९।।
वहाँ सत्कार की क्या बात।
कहाँ आदर से भेंट।
माने मरण के समान।
नमस्कार को ।।१९०।।

वाचस्पति के तुल्य भले।
सर्वज्ञता हो निज में।
पर पागलपन में छिपा रहे।
महिमा–भय से ।।१९१।।
निज चातुर्य छिपाये।
महत्त्व झटक डाले।
उन्मत्तपन में रहे।
सन्तोष से ।।१९२।।
लोक–प्रसिद्धि से उद्वेग।
शास्त्रविवाद में ऊब।
एकान्त में हो कर मूक।
रहना चाहे ।।१९३।।
जगत् अवज्ञा करे।
सगे भी सम्बन्ध न रखें।
ऐसा जिस के चित्त में।
रहे चाव ।।१९४।।
नम्रता अतिप्रिय।
दीनता करे स्वीकृत।
ऐसा ही करे आचरण।
अधिकतर ।।१९५।।
जीवित भी है या नहीं यह ?
लोगों में आये ऐसा भाव।
ऐसा बने जीवन।
यह चाह उन्हें ।।१९६।।
यह चलता है या नहीं।
या हवा ही इसे चलाती ?
लोगों को हो भ्रम यही।
चाहे ऐसा होना ।।१९७।।
मेरा अस्तित्व हो लुप्त।
खो जायें नाम रूप।
कि मुझ से न हो भय।
प्राणिजात को ।।१९८।।

ऐसी जिस की चाह रहे।
जो नित्य एकान्त में बसे।
जो नाम से ही जीवन पाये।
विजन के ।।१९९।।
वायु से मित्रता रहे।
गगन से बोलना रुचे।
जीव–प्राण–सम वृक्ष जिसे।
प्यारे लगें ।।२००।।
किम्बहुना पार्थ ऐसे।
चिह्न देखो जिस के।
तब जानना कि ज्ञान उस की।
शय्या बना ।।२०१।।
यों अमानित्व पुरुष में।
जानो इन लक्षणों से।
अब अदम्भ का मर्म तुझे।
बताऊँ पार्थ ।।२०२।।
तो अदम्भित्व है ऐसा।
लोभी के मन जैसा।
प्राण जायें पर न कहता।
निधि-स्थान ।।२०३।।
किरीटी वह उसी प्रकार।
प्राण-सङ्कट भी पड़ने पर।
प्रकट न करता निज सुकृत।
मुख से कभी ।।२०४।।
दुष्ट गाय स्तन का दूध।
चुराती जैसे अर्जुन।
अथवा पण्याङ्गना वृद्धत्व।
छिपाती अपना ।।२०५।।
धनिक घिरे अरण्य में।
तो आढ्यता छिपाये जैसे।
अथवा कुलवधू छिपाये।
निज अवयव ।।२०६।।

अथवा कृषक अपने।
बोये हुए बीज ढँके।
वैसे वह ढकता किये हुए।
दान–पुण्य ॥२०७॥
तथा देह को न पूजे।
लोक-रञ्जन न करे।
स्वधर्म को वाग्ध्वज में।
बाँधे नहीं ॥२०८॥
किया परोपकार न बोले।
अभ्यास प्रदर्शित न करे।
न अघोत को बेचे।
प्रतिष्ठा के लिये ॥२०९॥
शरीर–भोग की ओर।
देखने में हो कृपण।
इधर, न कहे अल्पाधिक।
धर्मविषय में ॥२१०॥
घर में दिखे दरिद्रता।
देह में बेंत सी क्षीणता।
पर दान में करे स्पर्धा।
सुरतरु से ॥२११॥
किम्बहुना स्वधर्म में श्रेष्ठ।
अवसर पर उदार।
आत्मचर्चा में चतुर।
अन्यथा अबोध ॥२१२॥
स्कन्ध कदलीतरु का।
दिखने में पोला हल्का।
पर सघन फल देता।
रसाल जैसे ॥२१३॥
अथवा हलके दिखते मेघ।
मानो पवन से जाँय उड़।
पर बरसाते कैसा सघन।
जल भरपूर ॥२१४॥

वैसे जो पूर्णता से।
दृष्टि को शीतल करे।
और वाणी का रहे।
प्रिय विषय वही ॥२१५॥
रहने दो जहाँ ये लक्षण।
दिखें करते हुए नर्तन।
जानो हुआ हस्तगत।
ज्ञान वहाँ ॥२१६॥
यह कहा अदम्भपन।
जानो इसे अर्जुन।
अब सुनो लक्षण।
अहिंसा का ॥२१७॥
अहिंसा बहुत प्रकार से।
कही गई सुनो ध्यान से।
अपने–अपने मतान्तरों में।
निरूपित ॥२१८॥
पर वे दिखतीं ऐसे।
जैसे तोड़कर शाखायें।
तने की रक्षा के लिये।
बनायें बाड़ ॥२१९॥
अथवा बाहु तोड़कर।
बेचें क्षुधा – निवारणार्थ।
या बनायें मन्दिर को तोड़कर।
देवचत्वर ॥२२०॥
वैसे हिंसा कर के अहिंसा।
निष्पन्न होती ऐसा।
विचित्र निर्णय किया।
पूर्वमीमांसा ने ॥२२१॥
अवृष्टि के उपद्रव से।
त्रस्त हो विश्व जैसे।
तब करें पर्जन्येष्टि के लिये।
विविध याग ॥२२२॥

उस इष्टि के मूल में।
पशुहिंसा प्रत्यक्ष करें।
फिर अहिंसा का तट दिखे।
भला कैसे ? ॥२२३॥

बोयें केवल हिंसा।
तो उगेगी क्या अहिंसा ?
पर विचित्र धृष्टता।
इन याज्ञिकों की ॥२२४॥

और आयुर्वेद सम्पूर्ण।
तो इस का अग्रणी अर्जुन।
जो कराता जीवों के कारण।
जीवघात ॥२२५॥

नाना रोगों से ग्रस्त।
देखे भूत–जात त्रस्त।
हिंसा मिटाने को वह।
चिकित्सा प्रयुक्त ॥२२६॥

पर उस चिकित्सा से पहले।
किसी का कन्द खोदे।
किसी को उखाड़ लें।
समूल–सपत्र ॥२२७॥

किसी को मध्य से तोड़ें।
अजङ्गम की छाल निकालें।
किसी सगर्भ जीव को उबालें।
ओषधि–पुटों में ॥२२८॥

अजातशत्रु तरुवर।
उन्हें सर्वाङ्ग में देते चीर।
ऐसे प्राण लेकर धनुर्धर।
सुखाते उन्हें ॥२२९॥

और जङ्गमों पर भी घात।
लगाकर निकालते पित्त।
उस से करते रक्षण।
मरते जीवों का ॥२३०॥

अहो बसे बसाये महल।
तोड़कर बनाये मन्दिर।
व्यापार में धन लूटकर।
चलाते अन्नसत्र ॥२३१॥

मस्तक को ढँक कर।
उघाड़ा अधोभाग।
घर तोड़कर मण्डप।
बनाया सम्मुख ॥२३२॥

अथवा ओढ़ना–बिछौना।
जलाकर जैसे आग तापना !
का स्नान से स्वच्छ करना।
कुञ्जर को ॥२३३॥

बैल बेच कर बनायें गोष्ठ।
पिंजरा लायें उड़ाकर शुक।
ये कर्म हैं या उपहास।
क्या हँसें इन पर ? ॥२३४॥

कोई धर्म के नाम पर।
छान कर पीते जल।
पर छानने में ही असंख्य।
मरते जीव ॥२३५॥

कोई न पकाते अन्न।
इस हिंसा से भीत।
पर प्राण होते कदर्थित।
वही हिंसा ॥२३६॥

ऐसे हिंसा ही अहिंसा।
कर्मकाण्ड यह ऐसा।
सिद्धान्त सुन इन का।
पहचान तू ॥२३७॥

पहले अहिंसा का नाम।
मैं ने लिया था जब।
तब स्फूर्ति हुई लक्षण।
इस के बताने की ॥२३८॥

तब कैसे छोड़ूँ इसे।
अतः यही कहूँ पहले।
जिस से तू भी जान ले।
ऐसा भाव ॥२३९॥

बहुत कर के पार्थ।
इस विषय में यही तथ्य।
अन्यथा कुटिल पथ पर।
जायें क्यों ॥२४०॥

और स्वमत का निर्धार।
करने को धनुर्धर।
सभी प्राप्त मतान्तर।
विचारने योग्य ॥२४१॥

ऐसा सुनो ता[illegible]।
निरूपण का प्रकार।
अब इन में जो प्रमुख।
कहूँ वे ॥२४२॥

कहूँगा वह स्वमत।
करूँगा अहिंसा निरूपित।
जो होने पर उदित।
आन्तर ज्ञान ॥२४३॥

पर वह तन में हुआ अधिष्ठित।
यह आचरण से होता ज्ञात।
जैसे कसौटी से होती परख।
स्वर्ण की ॥२४४॥

वैसे ज्ञान–मन के मिलन में।
अहिंसा का बिम्ब प्रगटे।
किरीटी वह होता कैसे।
सुनो अब ॥२४५॥

तरङ्गें न बिखेर कर।
लहरी न तोड़कर।
स्थिरता न भङ्ग कर।
जल की सहज ॥२४६॥

सवेग पर हौले–हौले।
मीन पर दृष्टि टिकाये।
जल में बगुला जैसे।
रखे कदम ॥२४७॥

अथवा कमल पर भ्रमर।
पग रखता सुकुमार।
कुचला न जाये केसर।
इस आशङ्का से ॥२४८॥

परमाणुओं के साथ लगे।
जान कर जीव नन्हें।
पग रखता कारुण्य भरे।
चले मृदु चाल ॥२४९॥

वह कृपा को ही बनाता पन्थ।
दिशायें स्नेहभरित।
जीवों के लिये जीव।
बिछाता अपना ॥२५०॥

ऐसा रख कर जतन।
चलता जो अर्जुन।
उस का यथार्थ परिमाण।
कहना कठिन ॥२५१॥

मोह से भरी हुई पकड़े।
शिशु को बिल्ली मुख से।
किन्तु दाँत न लगने दे।
उन को जैसे ॥२५२॥

अथवा स्नेहमयी माँ जैसे।
बच्चों की राह देखे।
उस की दृष्टि में जैसा रहे।
सुकुमार स्नेह ॥२५३॥

अथवा कमलदलों के।
हौले हौले व्यजन से।
पायें पुतलियाँ जैसे।
सुखद पवन ॥२५४॥

उतनी ही मृदुता से पग।
रखता जो भूमि पर।
उस से मानो पाते सुख।
जीव वहाँ के ॥२५५॥

ऐसे मृदु चलने में।
यदि कृमि–कीटक देखे।
तो तत्क्षण धीरे से।
लौटे पीछे ॥२५६॥

कहता जोर से पाँव रखें।
तो स्वामी की नींद टूटे।
या स्वस्थता में पहुँचे।
आघात कहीं ॥२५७॥

इस कोमल आकुलता से।
पीछे ही लौटता रहे।
किसी व्यक्ति को न लाँघे।
पथ में वह ॥२५८॥

जीव के नाम से।
तृण को भी न लाँघे।
फिर बिना देखे चले।
यह कैसे सम्भव? ॥२५९॥

चींटी मेरु न लाँघे।
मशक सिन्धु न तैर सके।
वैसे अभ्यागत का न करे।
अतिक्रम ॥२६०॥

ऐसी जिसकी चाल।
फला जहाँ कृपाफल।
जिस को वाणी में जीवित।
साक्षात् दया ॥२६१॥

उसका श्वसन भी सुकुमार।
मुख स्नेह का स्रोत।
मानो माधुर्य के अङ्कुर।
दशन ऐसे ॥२६२॥

पहले स्नेह झरे।
बाद में अक्षर निकलें।
शब्द पीछे अवतरे।
कृपा पहले ॥२६३॥

यों तो नहीं ही बोले।
पर जब कभी भी मुख खोले।
तब कहीं किसी को चुभ न जाये।
विचारे ऐसा ॥२६४॥

बोलने में अधिक निकले।
पर किसी का दिल न दुखे।
और किसी के न आये।
शङ्का मन में ॥२६५॥

किसी को [illegible] बात न बिगड़े।
भय से कोई लौट न जाये।
सुन कर बुरा न लगे।
कहीं किसी को ॥२६६॥

किसी को दुःख न पहुँचे।
किसी की भौंह न चढ़े।
ऐसा भाव लिये हृदय में।
रहता मौन ॥२६७॥

कभी यदि किसी की प्रार्थना से।
प्रेम भरा बोलने जाये।
तो श्रोता को लगे।
माँबाप जैसा ॥२६८॥

मानो नाद-ब्रह्म हुआ साकार।
या गङ्गा का उछला नीर।
अथवा पतिव्रता को प्राप्त।
वार्धक्य जैसे ॥२६९॥

वैसे सत्य और मृदुल।
परिमित और रसाल।
शब्द जैसे कल्लोल।
अमृत के ॥२७०॥

जो विरोधवाद बढ़ाये।
प्राणियों को सन्ताप दे।
भरा हो उपहास छल से।
या मर्मस्पर्शी ॥२७१॥

प्रतितर्क, आवेग, कृत्रिमपन।
आशा, शङ्का, प्रतारण।
ये छोड़ चुकी अवगुण।
जिस की वाचा ॥२७२॥

उसी प्रकार किरीटी।
स्थिर रहे जिस की दृष्टि।
भङ्ग – रहित भृकुटी।
ऋजु, विशद ॥२७३॥

अथवा प्रति-भूत में बसे ब्रह्म।
न पाये कहीं वह कष्ट।
अतः न देखता एक–टक।
अधिकतर ॥२७४॥

फिर भी किसी समय।
आन्तरिक कृपावश।
खोल कर नयन।
डाले दृष्टि ॥२७५॥

तो चन्द्रबिम्ब से धार।
क्षरती न होती गोचर।
पर उसे निरखता चकोर।
भरता उदर ॥२७६॥

वही दशा सब प्राणियों की।
जहाँ कहीं वह दृष्टि पड़ती।
वह कूर्मी भी न जानती।
अवलोकन मर्म ॥२७७॥

किम्बहुना ऐसी।
दृष्टि भूतों पर जिस की।
देखोगे उस के कर भी।
वैसे ही ॥२७८॥

मानो हो कर कृतार्थ।
शान्त सिद्धों के मनोरथ।
ऐसे जिस के हाथ।
निर्व्यापार ॥२७९॥

अक्षम ने लिया हो संन्यास।
बुझा अग्नि निरिन्धन।
या मूक ने लिया हो मौन।
जैसे पार्थ ॥२८०॥

उसी प्रकार कहीं।
जिन करों का कर्तव्य नहीं।
जो अकर्तापन में ही।
बैठे रहें ॥२८१॥

कहीं वायु को धक्का न लगे।
अम्बर को नख न चुभें।
इस बुद्धि से न चलने दे।
हाथों को मानो ॥२८२॥

वहाँ देह पर बैठों को उड़ाना।
आँख में घुसतों को रोकना।
या पशुपक्षियों को दिखाना।
त्रासमुद्रा ॥२८३॥

यह बात कैसे सम्भव।
जिसे लेना न भावे आधारदण्ड।
वहाँ शस्त्र की क्या बात।
करें किरीटी ॥२८४॥

कमलदलों से खेलना।
या पुष्पमाला उछालना।
न करता कि गोफन जैसा।
आघात न करे ॥२८५॥

रोमावली न हिले।
अतः अङ्ग पर हाथ न फेरे।
अङ्गुलियों पर बनें।
नखकुण्डल ॥२८६॥

अतः न करे कोई कर्म।
पर आवे यदि प्रसङ्ग।
तो नमन में हाथ।
जुड़ें सहज ही ॥२८७॥
अभय देने को उठें।
या गिरे हुए को सहारा दें।
अथवा आर्त्त को स्पर्श करें।
हल्के-हल्के ॥२८८॥
यह भी उपरोध से ही करे।
पर आर्त भय को हरे।
न जानतीं चन्द्रकिरणें।
वह स्निग्धता ॥२८९॥
पाकर वह स्पर्श।
मलयानिल सदृश।
पशु भी हो प्रसन्न।
ऐसा फिरे हाथ ॥२९०॥
जो सदा रीते और मुक्त।
चन्दन-शाखा सम शीतल।
जो न फलते हुए भी निष्फल।
होते नहीं ॥२९१॥
अब रहनें दें यह वाग्जाल।
जानो कि वे करतल।
सज्जनों के शील।
-स्वभाव जैसे ॥२९२॥
अब उन का मन।
कैसा यदि कहूँ कथन।
तो अब तक जो किया वर्णन।
वह किस का विलास ? ॥२९३॥
क्या शाखा नहीं तरुवर!
जल के बिना क्या होता सागर।
तेज और तेजाकार।
क्या अन्य कोई ? ॥२९४॥

अवयव और शरीर।
ये पृथक् क्या होते वीर ?
या रस और नीर।
होते भिन्न ? ॥२९५॥
अतः यह जो सर्व।
कहा गया बाह्य भाव।
वह मन ही रे सावयव।
ऐसे जानो ॥२९६॥
जो बीज भूमि में बोया।
वही वृक्ष बन कर आया।
वैसे इन्द्रिय द्वारा प्रकट हुआ।
अन्तर ही ॥२९७॥
क्योंकि यदि मानस में ही।
अहिंसा की हो कमी।
तो बाह्य व्यवहार में भी।
कैसे प्रगटे ? ॥२९८॥
कोई भी वृत्ति किरीटी।
पहले मन में हो उठती।
फिर वाचा-दृष्टि द्वारा आती।
वह करों तक ॥२९९॥
अतएव जो नहीं मन में।
वह वाचा में कैसे प्रगटे।
बीज बिना क्या भूमि में।
होता अङ्कुर ? ॥३००॥
अतः मनपन जब होता नष्ट।
तो पहले ही इन्द्रिय निर्बल।
सूत्रधार के बिना व्यर्थ।
कठपुतली जैसे ॥३०१॥
उद्गम ही सूख जाये।
तो प्रवाह कैसे बहे ?
क्या जीव जाने पर रहे।
चेष्टा देह में ? ॥३०२॥

वैसे यह मन पाण्डव।
इस इन्द्रिय-भाव का मूल।
यही करता व्यापार सब।
इन्द्रियों द्वारा ॥३०३॥

पर जिस-समय जैसे।
हो कर यह भीतर रहे।
वैसे ही बाहर प्रगटे।
व्यापार रूप में ॥३०४॥

इसलिये यदि सचमुच।
मन में अहिंसा स्थिर दृढ़।
तो पक्व फल की सुगन्धसम।
प्रसरे बाहर ॥३०५॥

इन्द्रियाँ वही सम्पदा।
लेकर बाहर सारा।
अहिंसा का ही धन्धा।
करती रहतीं ॥३०६॥

सागर में ज्वार उमड़े।
तब खाड़ी में सागर समाये।
वैसे चित्त की सम्पत्ति उतरे।
इन्द्रियों में ॥३०७॥

यह रहे, देखो पण्डित।
पकड़कर बालक का हाथ।
उस से लिखाता व्यक्त।
स्वयं ही ॥३०८॥

वैसे अपना दयालुत्व।
हाथ-पाँव में लाया मन।
फिर वहाँ की उत्पन्न।
अहिंसा वह ॥३०९॥

इस कारण हे पार्थ।
कही जो मन की बात।
वही जानो हुआ व्यक्त।
मन का स्वरूप ॥३१०॥

यों मनसा-काया - वाचा।
सर्वथा संन्यास दण्ड का।
जिस में तू देखे हुआ।
हे किरीटी ॥३११॥

वही जानो ज्ञान-विलास।
वहीं ज्ञान का निवास।
किम्बहुना निखिल हो वह।
ज्ञानरूप ॥३१२॥

जिस अहिंसा का करें श्रवण।
या ग्रन्थाधार से निरूपण।
वह देखने की हो उमङ्ग।
तो देखो उन्हें ॥३१३॥

ऐसा कहा तब देव ने।
कहना था जो एक शब्द में।
पर उतर गया विस्तार में।
यह करो सहन ॥३१४॥

कहोगे हरित तृण देख कर।
बिसरे पशु पिछला भान।
या वायुवेग में पक्षीगण।
उड़ें गगन में ॥३१५॥

प्रेमस्फूर्ति के वश वैसे।
मग्न हुई रसवृत्ति में।
बहती हुई न सँभले।
मति इन की ॥३१६॥

पर वैसा नहीं यहाँ सुनिये।
कारण है विस्तार में।
अन्यथा अक्षर तो पद में।
हैं तीन ही ॥३१७॥

कहने में अहिंसा थोड़ी।
पर खोल कर यदि जाय कही।
तो विविधमतालोचन ही।
करना होता ॥३१८॥

अन्यथा प्राप्त मतान्तर।
न कहूँ यदि बलपूर्वक।
तो न रुचे वह निरूपण।
आप सब को ॥३१९॥

रत्न-पारखियों के गाँव में।
बिके गण्डकी शिला, तो ही खोलें।
स्फटिकशिला, कभी न करें।
व्यर्थ स्तुति ॥३२०॥

जहाँ कर्पूर की भी गन्ध।
लोग कहें बहुत मन्द।
होगा क्या आटे का विक्रय।
उस बाजार में ॥३२१॥

अतः इस सभा में।
वाचालता के क्षोभ से।
कुछ कहने चलूं तो न चले।
कहिये प्रभुगण ॥३२२॥

यदि सामान्य और विशेष।
कहूँ साथ मिलाकर।
तो श्रवण-मुख-समीप।
न लेंगे आप ॥३२३॥

यदि शङ्का के कर्दम से।
शुद्ध प्रमेय मलिन होवे।
तो उलटे पाँव भागे।
अवधान वहाँ से ॥३२४॥

सेंवार के आवरण में।
जल जहाँ ढँका दिखे।
उस स्थान की ओर देखे।
हंस क्या कभी ॥३२५॥

अथवा अभ्र के उस पार।
भले हो चाँदनी भरपूर।
पर उसका चोंच से चकोर।
न करे प्राशन ॥३२६॥

वैसे इस ओर न देखेंगे आप।
ग्रन्थ छोड़ करेंगे कोप।
यदि न करूँ निर्विवाद।
निरूपण यहाँ ॥३२७॥

न समझाऊँ विविध मत।
न करूँ आक्षेप निराकृत।
तो न देगा मुझे व्याख्यान।
मिलने आप से ॥३२८॥

और मेरा तो सम्पूर्ण।
इसी भाव से ग्रन्थन।
कि आप सन्त रहें सम्मुख।
मेरे सदा ॥३२९॥

यों भी तो वास्तव में।
रसिक आप गीतार्थ के।
यह जान कर ही लो मैंने।
हाथ में गीता ॥३३०॥

अपना सर्वस्व दीजिये।
और यह गीता स्वीकारिये।
क्योंकि ग्रन्थ नहीं, धरोहर यह।
आप का हो ॥३३१॥

यदि रखें लोभ सर्वस्व का।
इस न्यास की करें उपेक्षा।
तो होगी गीता की और मेरी।
गति एक ही ॥३३२॥

किम्बहुना जो मुझे।
काम आप की कृपा से।
किया व्याज उसी के लिये।
ग्रन्थ का ॥३३३॥

आप रसिकों के योग्य।
खोजना पड़े व्याख्यान।
अत एव मत-मताङ्ग।
कहने गया ॥३३४॥

कथा का प्रसार हुआ।
श्लोकार्थ दूर गया।
अपत्य के इस वचन को क्षमा।
कीजिये कृपया ॥३३५॥

ग्रास में आवे कङ्कड़।
तो निकालने में हो विलम्ब।
यह दूषण नहीं, अनिवार्य।
निकालना उसे ॥३३६॥

या, चोरों से छूटने में।
यदि दिवस बीत जाये।
तो माता कोप करे या उतारे।
राई नोन ॥३३७॥

पर हो यह यहाँ समाप्त।
क्षमा से आप ने किया उपकृत।
अब सुनिये वहाँ देव।
बोले ऐसे ॥३३८॥

कहा उन्मेष–सुलोचन!
सावधान हो अर्जुन!
कराऊँ ज्ञान का परिचय।
तुझे अब ॥३३९॥

ज्ञान को वहाँ पर।
पहचानो निस्सन्देह।
जहाँ आक्रोश – रहित।
देखो क्षमा ॥३४०॥

अगाध सरोवर में।
कमलिनी जैसे।
अथवा सुदैव के घर में।
सम्पत्ति भरी ॥३४१॥

उसी प्रकार पार्थ।
क्षमा जिस से हो समृद्ध।
कहूँगा तुझे वे लक्षण।
पहचान के लिये ॥३४२॥

शिशु जैसे अलङ्कार।
पहनाने देता देह पर।
वैसे जो करता सहन।
सभी कुछ ॥३४३॥

मुख्य त्रिविध सहित सब।
आ पड़ें यदि उपद्रव।
तो भी न होता क्षुब्ध।
पार्थ जो ॥३४४॥

पाने पर अपेक्षित।
जितना हो सन्तोष।
करे उतना ही सन्मान।
अनपेक्षित का ॥३४५॥

जो मानापमान को सहे।
सुख-दुःख जहाँ समायें।
न हो निन्दा–स्तुति से।
जो द्विखण्डित ॥३४६॥

ग्रीष्म में जो न तपे।
हेमन्त में न काँपे।
किसी से भी भय न रखे।
जो आ पड़े ॥३४७॥

स्वशिखर का भार।
न जाने जैसे मेरु पर्वत।
या धरा को यज्ञ-शूकर।
बोझ न कहे ॥३४८॥

अथवा चराचर भूतों से।
क्षितिज जैसे न दबे।
वैसे विविध द्वन्द्वों से।
न हो विचलित ॥३४९॥

ले कर जल के प्रवाह।
आते नदी – नद–समूह।
कर के उदर विशाल।
ले समुद्र जैसे ॥३५०॥

वैसे जिस के चित्त में।
असह्य कुछ भी न रहे।
और सहता हूँ ऐसे।
न हो स्मरण भी ॥३५१॥

अपने पर जो आ पड़े।
वह अपना हो भाग माने।
फिर उस के सहन में।
अभिमान क्या ॥३५२॥

यह अनाक्रोश क्षमा।
जिस में प्रियोत्तम सखा।
जानो उसे महिमा।
ज्ञान की ही ॥३५३॥

वह पुरुष पाण्डव।
ज्ञान का जीवन।
अब सुनो आर्जव।
करूँ निरूपित ॥३५४॥

तो ऐसा वह आर्जव।
जैसा प्राणों का सौजन्य।
भले–बुरे सब का सहाय।
करता समान ॥३५५॥

या दिनकर मुख देख कर।
न करे जैसे प्रकाश।
जग को दे समान अवकाश।
आकाश जैसे ॥३५६॥

वैसे नहीं जिस का मन।
मनुष्यों के प्रति भिन्न-भिन्न।
और ऐसा सब से समान।
करे वर्तन ॥३५७॥

मानो जग समस्त परिचित।
उस से पुरानी प्रीत।
अपना-पराया यह भेद।
जाने नहीं ॥३५८॥

चाहे जिस से होती मित्रता।
पानी जैसी प्रवाहिता।
किसी के भी प्रति न रखता।
प्रतिबन्ध चित्त ॥३५९॥

पवन-गति के समान।
जिस का सरल भाव।
शङ्का और अभिलाष।
नहीं जिस में ॥३६०॥

माता के सम्मुख बालक।
जाने में रहे निश्शङ्क।
वैसा लोगों के प्रति विश्वास।
करे सहज जो ॥३६१॥

प्रफुल्लित इन्दीवर।
सङ्कोच न जाने धनुर्धर।
वैसे हो 'निज' या – 'पर'।
न जाने जो ॥३६२॥

रत्न का शुद्धत्व जैसे।
रश्मितेज से जानते।
वैसे मन जिस का आगे चले।
इन्द्रियाँ पीछे ॥३६३॥

आलोचन करना न जाने।
अनुभव से सन्तुष्ट रहे।
खोल-बाँध अन्तःकरण में।
नहीं जिस के ॥३६४॥

दृष्टि में नहीं कपट।
वाणी नहीं सन्दिग्ध।
किसी के प्रति हीनबुद्धि।
रहती नहीं ॥३६५॥

दसों इन्द्रियाँ प्राञ्जल।
निष्प्रपञ्च निर्मल।
पाँचों प्राण अनाविल।
आठों प्रहर ॥३६६॥

अमृत की धार।
जैसा ऋजु अन्तर।
किम्बहुना जो पीहर।
इन चिह्नों का ।।३६७।।

वह पुरुष सुभट।
आर्जव का विग्रह।
जानो वहाँ घर।
बनाया ज्ञान ने ।।३६८।।

अब इस के अनन्तर।
गुरुभक्ति का प्रकार।
कहता हूँ कर श्रवण।
चतुरनाथ ।।३६९।।

सभी सौभाग्यों की।
जन्मभूमि सेवा यही।
जो जीव से ब्रह्म बनाती।
शोक-ग्रस्त को ।।३७०।।

वह आचार्योपास्ति।
प्रकट करूँ तेरे प्रति।
बैठने दे एकपंक्ति।
अवधान की ।।३७१।।

ले कर जलसमृद्धि सकल।
गङ्गा उदधि में प्रविष्ट।
अथवा श्रुतिमहापद पर।
हुई प्रतिष्ठित ।।३७२।।

अथवा कर के एकाग्र जीवित।
गुणागुण समस्त।
प्राणनाथ को समर्पित।
किया प्रिया ने ।।३७३।।

वैसे निज बाह्यान्तर।
गुरु-कुल में किया समर्पित।
और बनाया अपना आप।
भक्ति का घर ।।३७४।।

जिस देश में गुरुगृह।
वहीं बसे मानस।
विरहिणी का जो भाव।
वल्लभ के लिये ।।३७५।।

उस दिशा से आवे पवन।
तो दौड़ कर करे स्वागत।
कहे कर के नमस्कार।
आओ भीतर ।।३७६।।

सच्चे प्रेम की अभीप्सा में।
उस दिशा से सप्रेम बोले।
जीव को निवासी बनाये।
गुरुगृह में ।।३७७।।

पर गुरु आज्ञा से अङ्कित।
शरीरग्राम में करे निवास।
मानो बँधा हुआ वत्स।
डोरी से ।।३७८।।

कहता यह सङ्कट कब मिटे।
कब स्वामी मुझे मिलें।
युग से भी दीर्घ लगें।
निमिष उसे ।।३७९।।

गुरुग्राम से कोई आवे।
या स्वयं गुरु किसी को भेजें।
तो गतायुष्य को मिले।
आयुष्य जैसे ।।३८०।।

या सूखते हुए अङ्कुर पर।
पड़े पीयूष – धार।
या अल्पोदक से मत्स्य।
आये सागर में ।।३८१।।

अथवा रङ्क ने देखा निधान।
या अन्धे के खुले नयन।
या भिखारी को हुआ प्राप्त।
इन्द्रपद ।।३८२।।

वैसे गुरुकुल के नाम से।
नखशिख महासुख से भरे।
मानो आकाश को समाये।
आलिङ्गन में ॥३८३॥
ऐसी गुरुकुल के प्रति।
देखो जिस में प्रीति।
मानो ज्ञान करे उस की।
सेवा आप ॥३८४॥
और अभ्यन्तर में।
प्रेम के कौतुक से।
ध्यान में उपासना करे।
श्रीगुरुरूप की ॥३८५॥
हृदयशुद्धि के मन्दिर में।
आराध्य को ध्रुव करे।
और सब भाव सहित बने।
सामग्री स्वयं ही ॥३८६॥
या चैतन्य के प्राङ्गण में।
आनन्द के मन्दिर में।
श्रीगुरु लिङ्ग पर ढाले।
ध्यानामृत ॥३८७॥
उदित होने पर बोधसूर्य।
बुद्धि-डलिया में सात्त्विक भाव।
भर कर लक्षावधि करे पूजन।
त्र्यम्बक का ॥३८८॥
कालशुद्धि त्रिकाल।
जलाये जीवदशा धूप।
आरती उतारे निरन्तर।
ज्ञानदीप से ॥३८९॥
सामरस्य का नैवेद्य।
करे अखण्ड अर्पण।
स्वयं बने भक्त।
श्रीगुरु लिङ्ग ॥३९०॥

अथवा जीव की सेज पर।
श्रीगुरु कान्त लें भोग।
ऐसे प्रेम का कौतुक।
करे बुद्धि ॥३९१॥
और किसी अवसर में।
अनुराग भरे अन्तर में।
फिर उस का नाम धरे।
क्षीराब्धि ॥३९२॥
वहाँ ध्येय-ध्यान बहुसुख।
वही शेष – शय्या निर्दोष।
वहाँ जलशयन रूप करे भावित।
श्रीगुरु को ॥३९३॥
फिर पलोटती पाँव।
लक्ष्मी बने आप।
खड़ा रहे हो कर गरुड़।
आप ही ॥३९४॥
नाभि से स्वयं जन्मे।
ऐसे गुरुमूर्ति के प्रेम में।
अनुभवे मनोधर्म से।
ध्यान-सुख ॥३९५॥
और कभी किसी समय।
गुरु में रखे माँ का भाव।
स्वयं को स्तन्यसुख में आह्लादित।
देखे अङ्क में ॥३९६॥
अथवा कभी पार्थ सखे।
चैतन्य – तरु के तले।
गुरु-धेनु के पीछे।
स्वयं बने वत्स ॥३९७॥
गुरुकृपा-स्नेह सलिल में।
आप मछली बने।
ऐसी भावना करे।
कभी वह ॥३९८॥

गुरुकृपामृत की पावस।
आप सेवा वृत्ति की पौध।
बने, ऐसे-ऐसे सङ्कल्प।
करे मन ॥399॥

चक्षु-पक्ष-रहित ।
पक्षिशावक हो आप।
कैसा अरे अपार-पन।
प्रीति का ॥400॥

गुरु को मान कर पक्षिणी।
चारा लें चोंच से उस की।
गुरु को तारक मान कर।
पकड़े कटि ॥401॥

ऐसे प्रेम के बल से।
ध्यान ही ध्यान को प्रसवे।
पूर्ण सिन्धु में लहरें।
उमड़तीं जैसे ॥402॥

किंबहुना इस रीति से।
श्रीगुरुमूर्ति अन्तर में।
धरे, अब सुनो सखे।
बाह्य सेवा ॥403॥

प्राणों में ऐसी अभिलाष।
करूँ दास्य भली प्रकार।
जिस से गुरु सकौतुक।
माँगो कहें ॥404॥

ऐसी सच्ची उपासना से।
जब स्वामी प्रसन्न होंगे।
तब मैं विनति उन से।
करूँगा यह ॥405॥

कहूँगा आप का देव।
जो सब है परिवार।
धरूँ उतने रूप।
मैं अकेला ॥406॥

और आप की सेवा में।
हैं उपकरण जितने।
मेरे रूप भी उतने।
हो जाँय स्वामी ॥407॥

ऐसा मागूँगा वर।
तब हाँ कहेंगे गुरुवर।
फिर वह समस्त परिवार।
बनूंगा मैं ॥408॥

उपकरणजात सकल।
बनूंगा मैं प्रत्येक।
तब उपासना का कौतुक।
देखूंगा ॥409॥

गुरु हैं माँ बहुतों की।
पर बनें मुझ इकलौते की।
दूँगा मैं शपथ ऐसी।
उन की कृपा को ॥410॥

टोना करूँगा गुरु-प्रेम पर।
कि लें वे एक-पत्नी-व्रत।
कराऊँगा क्षेत्रसंन्यास।
प्रेमद्वारा ॥411॥

चार दिशा में बहता पवन।
न निकले कहीं बाहर।
ऐसा गुरुकृपा का पिञ्जर।
बनूंगा मैं ॥412॥

निज-गुणों के अलङ्कार।
सजादूँ गुरुसेवा स्वामिनी पर।
अथवा बनूँ आवरण।
गुरुभक्ति का ॥413॥

जब गुरुस्नेह की हो वृष्टि।
तब बन रहूँ मैं पृथ्वी।
ऐसी मनोरथ-सृष्टि।
रचे अनन्त ॥414॥

कहे श्रीगुरु का भवन।
बने मेरा ही तन-मन।
और करूँ उनका दास्य।
दास हो कर ॥४१५॥

जाते-आते गुरुवर।
लांघें जो ड्योढ़ी द्वार।
वे सब और द्वारपाल।
बनूं में ही ॥४१६॥

पादुका बनूं में।
पहनाऊँ भी में।
उन का छत्र बनूं में।
में ही छत्रधर ॥४१७॥

ऊँचा-नीचा बतानेवाला।
चँवरधर, हाथ देने वाला।
मशालची सामने चलता।
बनूं स्वामी का ॥४१८॥

पानी की झारी धरूँ।
कुल्ला में ही कराऊँ।
उसे लेने वाला बनूं।
पीकदान भी ॥४१९॥

ताम्बूलवाहक में बनूं।
चबाया पान में ही लूं।
स्नान विषयक सब करूँ।
सेवा में ही ॥४२०॥

बनूं गुरु का आसन।
अलङ्कार, परिधान।
चन्दनादि उपचार।
बनूं में सब ॥४२१॥

बनूं में सूपकार।
परोसूं में उपसार।
श्रीगुरु पर से न्योछावर।
होऊँ में ॥४२२॥

जिस समय देव आरोगें।
तब पंक्ति में बैठूं में।
फिर में ही आ कर सामने।
दूँ बीड़ा ॥४२३॥

थाली में उठाऊँ।
सेज में सँवारूँ।
चरण-संवाहन करूँ।
में ही तब ॥४२४॥

में बनूं सिंहासन।
श्रीगुरु करें आरोहण।
ऐसे करूँ सम्पूर्ण।
सेवा में ही ॥४२५॥

श्रीगुरु का मन।
जिधर दे अवधान।
वह रूप कर के धारण।
करूँ चमत्कार ॥४२६॥

उन के श्रवण के आँगन में।
बनूं अक्षौहिणी शब्द में।
अङ्ग-स्पर्श होने में।
स्थान बनूं में ॥४२७॥

श्रीगुरु के नयन।
अवलोकें स्नेहपूर्ण।
वहाँ वे सकल रूप।
धारण करूँ में ॥४२८॥

उन की रसना को जो-जो रुचे।
रस बनूं में सब वे।
और करूँ सुगन्ध रूप में।
घ्राणसेवा ॥४२९॥

ऐसे बाह्य-मनोगत।
श्रीगुरु - सेवा समस्त।
व्याप कर सब वस्तुजात।
बन रहूँ में ॥४३०॥

जब तक रहे देह।
करूँ सेवा इस प्रकार।
फिर देहान्त में नवल।
रहे यह बुद्धि ॥४३१॥

इस तनु की मिट्टी मिले।
उन की उस क्षिति में।
जहाँ श्रीचरण हों खड़े।
श्रीगुरु के ॥४३२॥

मेरे स्वामी सकौतुक।
स्पर्श करें जो उदक।
वहीं इस तनु का जल।
रहे लीन ॥४३३॥

श्रीगुरु की आरती उतारे।
या भुवन को उज्ज्वल करे।
उस दीप की दीप्ति में।
समाये तेज ॥४३४॥

जो चँवर और व्यजन।
वहाँ लीन हों प्राण।
तब अङ्ग–स्पर्शी पवन।
बनूं मैं ही ॥४३५॥

जिस–जिस अवकाश में।
श्रीगुरु सपरिवार रहें।
आकाश उसी आकाश में।
पावे लय ॥४३६॥

जीते–मरते सेवा न छोड़ूँ।
निमेष भी अन्य को न दूँ।
ऐसे हो सेवक रहूँ।
कोटिकल्प ॥४३७॥

यहाँ तक साहस।
रखे जिस का मानस।
और कर के अपार।
वैसी सेवा ॥४३८॥

न जाने रात्रि–दिवस।
न कहे थोड़ा–बहुत।
सेवा मिले बारम्बार।
तो स्फूर्ति पाये ॥४३९॥

आये सेवा का नाम।
तो बने गगन से भी विशाल।
अकेला ही करे सब।
एक ही काल में ॥४४०॥

हृदयवृत्ति के पहले।
शरीर ही दौड़ जाये।
कार्य स्पर्धा करे।
मानस से ॥४४१॥

कभी एकाध बार।
श्रीगुरु के खेल पर।
न्योछावर करे सकल।
जीवित को ॥४४२॥

जो गुरुसेवा से कृश।
गुरुप्रेम से ही पुष्ट।
गुरु–आज्ञा को निवास।
बनाये अपना ॥४४३॥

जो गुरुकुल से सुकुलीन।
गुरुबन्धु–सौजन्य से सुजन।
जिसे गुरुसेवा का ही व्यसन।
निरन्तर ॥४४४॥

गुरु – सम्प्रदाय – धर्म।
वही जिस का वर्णाश्रम।
गुरु–परिचर्या नित्य कर्म।
जिस का अरे ॥४४५॥

गुरु क्षेत्र गुरु देवता।
गुरु माता गुरु पिता।
जो गुरुसेवा के सिवा।
न जाने मार्ग ॥४४६॥

श्रीगुरु का द्वार।
वही जिस का सर्वस्व सार।
गुरु-सेवक ही सहोदर।
मानें सप्रेम ॥४४७॥

वहन करे जिसका वक्त्र।
श्रीगुरु-नाम का ही मन्त्र।
गुरु-वाक्य से अन्य शास्त्र।
छुए न हाथ से ॥४४८॥

गुरु-चरणों से स्पृष्ट।
कैसा भी हो जल।
वहीं लाये तीर्थ सकल।
त्रैलोक्य के ॥४४९॥

श्रीगुरु का उच्छिष्ट।
यदि कदाचित् हो प्राप्त।
उस लाभ के आगे तुच्छ।
माने समाधि को ॥४५०॥

कैवल्य-सुख के बदले।
किरीटी वह परमाणु ले।
जो उड़े चरणों से।
चलते हुए ॥४५१॥

रहने दो कहूँ कितना।
पार नहीं गुरु-भक्ति का।
पर मेरी उत्क्रान्त मति का।
कारण यह ॥४५२॥

जिसे इस भक्ति का चाव।
जिसे इस विषय में प्रेम।
जो इस सेवा से मधुरतर।
माने न कुछ ॥४५३॥

वह तत्त्वज्ञान का धाम।
उस से सुशोभित ज्ञान।
किम्बहुना वह देव।
ज्ञान भक्त ॥४५४॥

यह तू सत्य जान।
ज्ञान वहाँ खोले द्वार।
करता क्रीडा इस प्रकार।
जग के लिये ॥४५५॥

इस गुरुसेवा के विषय में।
अभिलाषी मेरा चित्त अरे।
बोला इतना इसीलिये।
अमर्याद ॥४५६॥

यों हाथ रहते भी लूला।
भजनविषय में अन्धा।
परिचर्या के लिये पङ्गु ऐसा।
पङ्गु से अधिक ॥४५७॥

गुरु-वर्णन में मूक।
आलसी फोकट में पुष्ट।
पर मन में हूँ सानुराग।
सत्य ही ॥४५८॥

बस इसी कारण।
करना स्थूल-पोषण।
पड़ा मुझे सम्पूर्ण।
कहे ज्ञानदेव ॥४५९॥

यह वर्णन कीजिये सहन।
दीजिये सेवा का अवसर।
अब कहूँगा भली प्रकार।
ग्रन्थार्थ ही ॥४६०॥

सुनिये-सुनिये श्रीकृष्ण।
जो भूतभार-सहिष्णु।
वे बोल रहे विष्णु।
सुने पार्थ ॥४६१॥

कहते ऐसा शुचित्व।
दिखे जिस में पार्थ।
तनु-मन ऐसे शुद्ध।
जैसे कपूर ॥४६२॥

या रत्न का समुदाय।
जैसे सबाह्य शुद्ध।
अन्तर्बाह्य समान।
सूर्य जैसा ॥४६३॥

बाहर कर्मों से प्रक्षालित।
भीतर ज्ञान से उज्ज्वल।
ऐसे उभय प्रकार से प्रक्षालन।
हुआ जहाँ ॥४६४॥

मृत्तिका और जल से।
बाह्य मैल जाये।
अन्तर निर्मल बने।
वेद के शब्द से ॥४६५॥

बुद्धि बली सर्वत्र।
रज से दर्पण होता उज्ज्वल।
भट्टों में छुटते दाग।
वस्त्रों के ॥४६६॥

किम्बहुना इस प्रकार।
सुन शुद्ध हो बाहर।
और अन्तर में ज्ञानदीप।
अतः शुद्ध ॥४६७॥

अन्यथा पाण्डुसुत।
न हो शुद्ध अन्तरङ्ग।
तो बाहर के सब कर्म।
विडम्बना मात्र ॥४६८॥

जैसे मृत शृङ्गारित।
तीर्थ में गर्दभ स्नात।
कड़वी लौकी पर लेप।
गुड़ का मानो ॥४६९॥

उजाड़ गृह में बाँधें तोरण।
उपवासी पर अन्न का लेपन।
लगायें कुङ्कुम सिन्दूर।
विधवा को ॥४७०॥

हल्को धातु का खाली कलश।
उस की चमक को लगे आग।
गोबर का चित्रित फल।
किस काम का ॥४७१॥

वैसे बाहर के कर्म।
मिलावट से न मिलता मूल्य।
गङ्गा से न होता पवित्र।
मदिराघट ॥४७२॥

अतः ज्ञान हो अन्तर में।
तो बाहर आता स्वभाव से।
पर ज्ञान आवे कर्मों से।
यह हुआ कभी? ॥४७३॥

इस लिये बाह्य भाग।
धुले कर्म से भली प्रकार।
ज्ञान से मिटता कलङ्क।
अन्तर का ॥४७४॥

तब गया अन्तर्बाह्य।
रहा एक निर्मलत्व।
किम्बहुना रहा शेष।
शुचित्व हो ॥४७५॥

अतः सद्भाव जीवगत।
बाहर दिखता सुस्पष्ट।
स्फटिक–गृह में दीप।
झलके जैसे ॥४७६॥

विकल्प जहाँ से उपजें।
न रहते भी विकार निपजें।
बीज अप्रवृत्ति के।
होते अङ्कुरित ॥४७७॥

वह सुने देखे या मिले।
पर न हो परिणाम मन में।
न हो मलिन मेघरङ्ग से।
जैसे व्योम ॥४७८॥

यों इन्द्रिय द्वारा वह।
भले भोगे विषय।
पर विकारों से लिप्त।
होता नहीं ॥४७९॥

यदि चले पथ पर।
वनिता पापी या पवित्र।
विकृत न होता पथ।
व्यवहार वैसा ॥४८०॥

या पति-पुत्र को आलिङ्गन दे।
एक तरुणाङ्गी जैसे।
पर पुत्र के आलिङ्गन में।
न जागे काम ॥४८१॥

वैसा हृदय शुद्ध।
न जाने सङ्कल्प-विकल्प।
कृत्याकृत्य को विशेष।
पहचान उसे ॥४८२॥

पानी से हीरा न भींगे।
अदहन में कङ्कड़ न सीझें।
वैसे न लिप्त विकार से।
मनोवृत्ति ॥४८३॥

उस का नाम शुचिपन।
अरे पार्थ सम्पूर्ण।
जहाँ यह वहीं जान।
ज्ञान विराजे ॥४८४॥

और स्थिरता सचमुच।
प्रविष्ट हो जिस के घर।
जानो ज्ञान का जीवन।
वह पुरुष ॥४८५॥

देह ऊपर-ऊपर से।
यथाप्राप्त हिले-चले।
पर बैठक न छूटे।
मानस की ॥४८६॥

वत्स पर धेनु का।
स्नेह वन में न जाता।
सती का भोग न होता।
प्रेमभोग ॥४८७॥

अथवा लोभी दूर जाये।
पर चित्त निधि में रहे।
देह चलते हुए भी वैसे।
अचल चित्त ॥४८८॥

चलते अभ्रों के साथ जैसे।
गगन नहीं दौड़े।
नक्षत्रों के साथ न घूमे।
ध्रुव जसे ॥४८९॥

पथिकों के आवागमन से।
पन्थ नहीं चलता अरे।
या तरुवरों का न होवे।
आवागमन ॥४९०॥

हलन-चलनात्मक में वैसे।
रहते हुए पाञ्चभौतिक में।
किन्तु भूतोर्मियों से।
मन न चले ॥४९१॥

झञ्झा के आवेग में।
पृथ्वी जैसे न डिगे।
वैसे विकारों के उपद्रव से।
न हो क्षुब्ध ॥४९२॥

दैन्य दुःख से न सन्तप्त।
भय शोक से न कम्पित।
देह मृत्यु देखकर निकट।
न हो भीत ॥४९३॥

आर्ति, आशा के आवेग।
वयोव्याधि के कष्ट।
भले आवें सम्मुख।
डोले न चित्त ॥४९४॥

निन्दा, 'निस्तेजता' दण्ड।
काम, लोभ हों प्राप्त।
पर न हो बाँका रोम।
मानस का ॥४९५॥

आकाश पड़े टूट।
पृथ्वी उठे डोल।
पर न लौटे पीछे की ओर।
चित्तवृत्ति ॥४९६॥

हाथी पुष्पप्रहार से।
पाँव न हटाये पीछे।
वैसे दुर्वाक्य-आघात से।
न क्षोभे मन ॥४९७॥

क्षीराब्धि के कल्लोल से।
कम्प नहीं मन्दराचल में।
गगन न जले ज्वाला से।
दावानल की ॥४९८॥

वैसे उठती-मिटती ऊर्मियों से।
क्षोभ नहीं मनोधर्म में।
किम्बहुना धैर्य टिके।
कल्पान्त तक ॥४९९॥

जिस को संज्ञा स्थैर्य।
दी जाती सविशेष।
वह यह दशा देख।
हे सुनयन ॥५००॥

ऐसा स्थैर्य प्रबल।
जिस देह प्राण में सुस्थित।
उसे जानो प्रगट निधान।
ज्ञान का ॥५०१॥

सर्प कभी अपना घर।
वीर अपना हथियार।
या कृपण निज निधान।
भूले न जैसे ॥५०२॥

या इकलौते बालक पर।
अम्बा अति आसक्त।
मधुमक्षिका मधुछत्ते पर।
लोभिनी जैसे ॥५०३॥

अर्जुन जो इस प्रकार।
अन्तःकरण की करे सँभाल।
न रहने दे इन्द्रियद्वार पर।
खड़ा कभी ॥५०४॥

कहीं काम हौआ सुन ले।
या आशा डाकिन की दृष्टि पड़े।
तो जीव पर सङ्कट पड़े।
इससे डरे ॥५०५॥

ढीठ छिनाल स्त्री को जैसे।
प्रबल पति बाँध कर रखे।
वैसे अखण्ड प्रतिबन्ध रखे।
प्रवृत्ति पर ॥५०६॥

चित्त का करने को सङ्कोच।
देह सहित करता परिश्रम।
इन्द्रियों को समझा कर।
रखे संयत ॥५०७॥

मन के महाद्वार में।
प्रत्याहार के क्षेत्र में।
जो यम-दम को शरीर में।
जागृत रखे ॥५०८॥

आधार नाभि और कण्ठ में।
बन्धत्रयों के घर में।
चन्द्र-सूर्य के सम्पुट में।
करे चित्त लीन ॥५०९॥

समाधि-सेज के समीप।
जो ध्यान को रखता बद्ध।
चैतन्य में होने को समरस।
चित्त आतुर ॥५१०॥

अरे जो अन्तःकरण-निग्रह।
वह इसे ही जान।
यह हो तो वहाँ विजय।
समझो ज्ञान का ॥५११॥
जिस की आज्ञा निज।
शिर पर धारे अन्तःकरण।
जानो मनुष्याकार।
ज्ञान ही वह ॥५१२॥
और विषयों के विषय में।
वैराग्य की दृढ़ता से।
सहाय मन का रहे।
जहाँ पूर्ण ॥५१३॥
वमन किये हुए अन्न पर।
जिह्वा न गिराये लार।
अङ्ग न चाहे आलिङ्गन।
प्रेत का ॥५१४॥
विष खाना न रुचे।
न घुसे जलते घर में।
व्याघ्रविवर में न करें।
निवास जैसे ॥५१५॥
उबलते लोहरस में।
डुबकी न लगाई जाये।
तकिया नहीं बनायें।
अजगर को ॥५१६॥
उसी प्रकार अर्जुन जिसे।
विषयवार्ता न रुचे।
न जाने दे इन्द्रियमुख में।
कुछ भी जो ॥५१७॥
जिस के मन में आलस्य।
देह में अतिकार्श्य।
यम-दम में सौरस्य।
जिस का पार्थ ॥५१८॥

तप-व्रतों का समुदाय।
जिस के देह में पाण्डव।
अनुभवे जो युगान्त।
ग्राम-प्रवेश में ॥५१९॥
योगाभ्यास का बहुत चाव।
विजन की रुचि अतीव।
न सहे जो नाम।
सङ्घात का ॥५२०॥
नाराचशय्या पर सोना।
पूयपङ्क में लोटना।
वैसा मानते भोगना।
ऐहिक सुखों का ॥५२१॥
और वर्णन स्वर्ग का।
सुनकर मानें ऐसा।
जैसे पिशित सड़ा हुआ।
श्वान का ॥५२२॥
यह वह विषय-वैराग्य।
जो आत्मलाभ का सुभाग्य।
जिस से ब्रह्मानन्द के योग्य।
होते जीव ॥५२३॥
ऐसे उभयभोगों में त्रास।
देखो जहाँ अतीव पार्थ।
वहाँ जानो निवास।
ज्ञान का तुम ॥५२४॥
और सकामों के समान।
करते सब इष्टापूर्त।
पर शरीर में कर्ताभाव।
रहता नहीं ॥५२५॥
वर्णाश्रम के पोषक।
जो कर्म नित्य-नैमित्तिक।
उन में न करता चूक।
आचरण में ॥५२६॥

पर यह मैंने किया।
या मुझ से यह सिद्ध हुआ।
न रखे भाव ऐसा।
चित्त में ॥५२७॥

जैसे अचानक पवन।
करे सर्वत्र विचरण।
या उदय निरभिमान।
सूर्य का जैसे? ॥५२८॥

अथवा श्रुति स्वभावतः बोले।
गङ्गा निष्प्रयोजन ही चले।
अवष्टम्भ (अहङ्कार) हीन वैसे।
वर्तन जिसका ॥५२९॥

ऋतुकाल में फलते।
पर 'फले हम' यह न जानते।
उन वृक्षों जैसी वृत्ति रहे।
कर्मों में सदा ॥५३०॥

ऐसे मन–कर्म–वचन से।
उच्छिन्न अहङ्कार जहाँ से।
निकला एकावली में से।
सूत्र जैसे ॥५३१॥

सम्बन्ध बिना ही जैसे।
अभ्र रहते आकाश में।
देह में कर्म वैसे।
रहते जिस के ॥५३२॥

मद्यप के अङ्ग के वस्त्र।
या चित्रित हाथों के शस्त्र।
या बैल पर शास्त्र।
बाँधे हुए ॥५३३॥

उसी प्रकार देह में।
मैं हूँ यह सुध न जिसे।
निरहङ्कारिता सखे।
उस का नाम ॥५३४॥

यह सम्पूर्ण जहाँ दिखे।
वहीं है ज्ञान अरे।
अन्यथा कुछ इस विषय में।
बोलो नहीं ॥५३५॥

जन्म मृत्यु जरा दुःख।
व्याधि वार्धक्य, कलुष।
अङ्गस्पर्श न पावें पार्थ।
रहे दूर ॥५३६॥

साधक भूत–विषय में।
योगी उपसर्ग–विषय में।
मिस्त्री भित्ति की सीध के लिये।
जैसे सावधान ॥५३७॥

जन्मान्तर का वैर जैसे।
सर्प मन से न भूले।
वैसे अतीत जन्मों के।
दुःख जो स्मरे ॥५३८॥

आँख में कँकरी न घुले।
घाव में काँटा न सहे।
वैसे अतीत के न भूले।
जन्मदुःख ॥५३९॥

कहे पूय–गर्त्त में गिरा।
मूत्र–रन्ध्र से निकला।
अहह मैं ने चाटा।
कुचस्वेद ॥५४०॥

ऐसे–ऐसे प्रकार से।
जन्म पर घृणा रखे।
कहे, न करूँगा ऐसे।
जिन से होता यह ॥५४१॥

हारा धन पाने के लिये।
जुआरी फिर से दाँव डाले।
अथवा पुत्र बदला ले।
पिता के वैर का ॥५४२॥

मारे गये हुए के क्रोध से।
पीछे बदला लेने चले।
वैसे डट कर पीछे पड़े।
जो जन्म के ॥५४३॥
पर जन्म पाने की लाज।
छोड़े न जिस का चित्त।
जैसे सम्भ्रान्त अपमान।
भूले नहीं ॥५४४॥
और मृत्यु है सामने।
भले हो कल्पान्त में।
पर आज से ही रहे।
सावधान जो ॥५४५॥
मध्य में जल अथाह सुनकर।
तट पर हो पाण्डुसुत।
बांधे कच्छ कस कर।
तैराक जैसे ॥५४६॥
या रणभूमि में आने से पहले।
अवसान को निश्चित समझे।
घाव लगे इस से पहले।
करे ढाल आगे ॥५४७॥
कल धोखे की बात सुनें।
तो आज ही सावधान रहें।
जीव जाने से पूर्व जुटायें।
औषध जैसे ॥५४८॥
अन्यथा होता ऐसे।
कि जलते घर में फँसे।
तब फिर शक्य न रहे।
खोदना कूप ॥५४९॥
गहन गर्त्त में पत्थर गया।
वैसा जो भव में डूबा।
वह आक्रन्दसहित लुप्त हुआ।
कहे कौन? ॥५५०॥

अतः समर्थ के साथ।
जिस को दृढ़ वैरभाव।
वह जैसे आठों प्रहर।
रहे शस्त्र-सज्ज ॥५५१॥
वाग्दत्ता कन्या पोहर में।
या संन्यासी जीवन-विषय में।
वैसे मरने से पहले जो करे।
मृत्यु-सूचना ॥५५२॥
इस रीति से जो अरे।
जन्म से जन्म को निवारे।
मरण से मृत्यु को मारे।
रहे स्वयं शेष ॥५५३॥
ज्ञान का उस के घर।
सच ही नहीं अभाव।
जिस के हृदय में शल्य।
जन्ममृत्यु का ॥५५४॥
जरा को उसी प्रकार से।
तनु-प्रवेश से पहले।
तारुण्य के भराव में।
देख ले जो ॥५५५॥
कहे आज के अवसर में।
जो पुष्टि दिखे शरीर में।
होगी सूखी कचरी के।
समान वह ॥५५६॥
जैसा निर्दैवी का व्यवसाय।
वैसे होंगे शिथिल हाथपाँव।
अमन्त्री राजा के समान।
बल इन का ॥५५७॥
पुष्प के भोग के लिये।
प्रेम जिन ऊरुओं में।
ऊँट के घुटने जैसी वे।
होंगी कुरूप ॥५५८॥

भटकते पशु के खुर की।
सड़ने से जो दुर्दशा होती।
वैसी दशा मेरे शिर की।
होगी अरे ॥५५९॥

स्पर्धा कमलदलों से।
करते जो नयन ये।
वे होंगे कभी पके।
चिचड़े जैसे ॥५६०॥

भौंहों के पटल।
लटकेंगे जैसे सूखी छाल।
सड़ेगा वक्षःस्थल।
अश्रुजल से ॥५६१॥

जैसे बबूल के गोंद से।
गिरगिट लिपटे रहते।
मुख घृणित होगा वैसे।
लिपटी लार से ॥५६२॥

रसोईघर के सामने।
नाली भरी रहे जैसे।
नाक होगी वैसे।
श्लेष्म से भरी ॥५६३॥

ताम्बूल से रँगे होठ।
हँसने में दिखायें दाँत।
बोलें जिन से सुन्दर।
बोल मदभरे ॥५६४॥

उसी इस मुख से।
बहेंगे प्रवाह लार के।
निकल जायेंगी दाढ़ें।
दाँतों सहित ॥५६५॥

ऋण से दबे किसान।
या झड़ी में बैठे ढोर।
न उठते, वैसे यह जीभ।
न हिलेगी ॥५६६॥

सूखे घास के पूले।
वायु से उड़ते जैसे।
वैसी आपदा मुख में।
होगी दाढ़ों की ॥५६७॥

आषाढ़ के जल से।
शैलशिखर झरते जैसे।
वैसे मुखगुहा से।
बहेगी लार ॥५६८॥

वाचा न सके बोल।
सुन न सकें कान।
बूढ़े मर्कट जैसा पिण्ड।
होगा तब ॥५६९॥

घास-फूस का पुतला।
वायु से जैसे डोलता।
वैसा हो कम्प होगा।
सर्वाङ्ग में ॥५७०॥

आड़े तिरछे पड़ेंगे पाँव।
टेढ़े मुड़े होंगे हाथ।
वृद्धता का स्वाँग।
नाचेगा तब ॥५७१॥

मल–मूत्र के द्वार।
फूटे घड़े से जर्जर।
चाहने लगेंगे इतर।
मरण मेरा ॥५७२॥

देख कर थूकेगा जग।
मृत्यु करेगा विलम्ब।
सगे उठेंगे ऊब।
मुझ से तब ॥५७३॥

स्त्रियाँ मानेंगी पिशाच।
बालक होंगे मूर्छित।
किम्बहुना घृणापात्र।
होऊँगा सब का ॥५७४॥

खाँसी की प्रबलता से।
सोये पड़ोसी जागेंगे।
कहेंगे बुड्ढा न जाने।
सताये कब तक ॥५७५॥
ऐसी वार्धक्यदशा अरे।
जो अपने तरुणपन में।
देखे फिर इस से पाये।
घृणा मन में ॥५७६॥
कहे, अरे यह आयेगा।
अब का भोग सब जायेगा।
फिर क्या शेष रहेगा।
हित के लिये ॥५७७॥
अतः कान जाने से पहले।
सुनने योग्य सब सुन लें।
पङ्गुता से पहले जा आयें।
जाने योग्य स्थल में ॥५७८॥
दृष्टि है जब तक।
तब तक देख लें दृश्य।
मूकत्व से पहले सब।
बोल लें सुभाषित ॥५७९॥
हाथ होंगे लूले।
यह समझ कर पहले।
यथेच्छ सब कर लें।
दानादिक ॥५८०॥
ऐसी दशा है सम्मुख।
जब मन होगा उन्मत्त।
तब तक कर लें चिन्तन शुद्ध।
आत्मज्ञान का ॥५८१॥
अरे चोर जहाँ लपकेंगे।
वह सम्पत्ति अभी ही त्याग दें।
दिया बुझने से पहले।
कर लें काम ॥५८२॥

अतः वार्धक्य आने पर।
हो न सकेगा जो कुछ।
वह अभी ही सब।
कर ले सम्पन्न ॥५८३॥
यह पथ है दुर्गम गहन।
खग लौट चले नीड़ की ओर।
जो कर के उपेक्षा चले निकल।
वह लुटे न क्या? ॥५८४॥
ऐसा वार्धक्य आने पर!
जन्म लेना होता व्यर्थ।
न जाने इसे न जान कर।
शतवृद्ध कैसे? ॥५८५॥
झाड़े हुए तिल के डण्ठल।
फिर झाड़ें तो न मिलता फल।
जला न सके राख को पार्थ।
अग्नि भी ॥५८६॥
अत: जो वार्धक्य के स्मरण से।
वार्धक्य से न ठगा जावे।
विद्यमान ज्ञान उसी में।
जानो पार्थ ॥५८७॥
वैसे ही नाना रोग।
न व्यापें जब अङ्ग-प्रत्यङ्ग।
तभी आरोग्य का उपयोग।
कर ले जो ॥५८८॥
साँप के मुख से।
अन्न की गोली गिरे।
उसे दूर ही फेंके।
प्रबुद्ध जैसे ॥५८९॥
वैसे जिस के वियोग से दुःख।
या पोषित विपत्ति – शोक।
वह स्नेह छोड़ सुखपूर्वक।
रहता उदास ॥५९०॥

और जिस-जिस द्वार से।
दोष प्रवेश करते।
उन कर्मरन्ध्रों में भरे।
नियम पाषाण ॥५९१॥

ऐसी-ऐसी युक्ति से।
जो व्यवहार चलावे।
वही स्वामी जानो अरे।
ज्ञानसम्पत्ति का ॥५९२॥

अब और भी एक।
लक्षण अलौकिक।
कहूँगा धनञ्जय।
सुनो ध्यान से ॥५९३॥

जो देह के विषय में।
इस प्रकार उदास रहे।
जैसे धर्मशाला में।
बैठा पथिक ॥५९४॥

अथवा छाया वृक्ष की।
राह चलते मिली कहीं।
घर के लिये उतनी भी।
आस्था नहीं ॥५९५॥

छाया रहे सदा साथ।
पर न रहता उस का भान।
वैसे स्त्री-विषय में पार्थ।
लौलुप्य नहीं ॥५९६॥

और अपनी भी सन्तति।
लगती बटोहियों जैसी।
या गायें हों बैठी।
तरुतले ॥५९७॥

जो सम्पत्ति के विषय में।
ऐसा व्यवहार करे।
पथ चलते बैठाया जैसे।
साक्षी उसे ॥५९८॥

किम्बहुना शुक जैसे।
पिञ्जरे में ही चले-फिरे।
वेदाज्ञा के वैसे।
आधीन रहे ॥५९९॥

यों भी दारा गृह पुत्र में।
मैत्री नहीं जिस की अरे।
धात्री ही जानो उसे।
ज्ञान की पार्थ ॥६००॥

महासिन्धु जैसे।
समान ग्रीष्म-वर्षा में।
इष्ट-अनिष्ट वैसे।
समान जिसे ॥६०१॥

अथवा तीन कालों में।
सविता त्रिविध नहीं जैसे।
वैसे सुख-दुःख से चित्त में।
भेद नहीं ॥६०२॥

जहाँ नभ के समान।
समत्व न हो न्यून।
वहाँ प्रत्यक्ष ज्ञान।
पहचान तू ॥६०३॥

और मेरे सिवा कुछ भी।
अन्य हितकर नहीं।
ऐसा निश्चय कर चुकी।
बुद्धि जिस की ॥६०४॥

शरीर वाचा मानस।
बने कृतनिश्चय का कोश।
एक मेरे सिवा अन्य।
न चाहे देखना ॥६०५॥

किम्बहुना जिस का चित्त।
हुआ पार्थ मद्रूप।
उसने स्वयं को बनाया सेज।
मम ऐक्य की ॥६०६॥

बढ़ने में वल्लभ की ओर।
देह-प्राण में न सङ्कोच।
उस कान्ता के समान।
जो हुआ समरस ॥६०७॥
मिलकर भी मिलता रहे।
समुद्र में गङ्गाजल जैसे।
वैसे मद्‌रूप होकर भी भजते।
सर्वस्व से मुझे ॥६०८॥
सूर्योदय के साथ आना।
सूर्यास्त पर अस्त होना।
यह समर्पण शोभता।
प्रभा को जैसे ॥६०९॥
देखो जल की भूमिका पर।
कौतुक से उछलता जल।
लोग उसे कहते लहर।
है वह जल ही ॥६१०॥
जो इस प्रकार अनन्य शरण।
मद्रूप भी करे मेरा वरण।
वही है मूर्तिमन्त।
ज्ञान अरे ॥६११॥
और तटों पर तीर्थों के।
शुद्ध तपोवनों में।
प्रिय लगे कन्दराओं में!
रहना जिसे ॥६१२॥
शैलकक्षों के कुहर में।
जलाशयों के परिसर में।
जानो आदर से रहे।
नगर में न रहे! ॥६१३॥
एकान्त के प्रति बहुत प्रीति।
जनपदों से अरुचि।
जानो मनुष्याकार मूर्ति।
ज्ञान की वह ॥६१४॥
और भी बहुत से अन्य।
हे सुमति कहूँ लक्षण।
ज्ञान के स्पष्ट चिह्न।
कहूँगा आगे ॥६१५॥
तो परमात्मा नाम से।
जो एक वस्तु जग में।
वह जिस ज्ञान से।
दिखे पार्थ ॥६१६॥
उस एक बिना अन्य।
जो भव-स्वर्गादि ज्ञान।
वे अज्ञान ऐसा निश्चय।
किया मन ने ॥६१७॥
स्वर्ग जाने की बात छोड़े।
भव-विषय में कान न दे।
अध्यात्मज्ञान में डुबकी लगाये।
सद्‌भाव सहित ॥६१८॥
फूटते जहाँ विविध पथ।
वहाँ छोड़कर सब कुटिल।
निकले जो सरल।
राजपथ से ॥६१९॥
वैसे ज्ञानजात को परख कर।
शेष हटाये एक ओर।
फिर मन-बुद्धि करे प्रवृत्त।
अध्यात्मज्ञान में ॥६२०॥
कहे एक यही सत्य।
अन्य जानना भ्रान्तिमय।
ऐसा मति में दृढ़ निश्चय।
मेरु जैसा ॥६२१॥
ऐसा जिस का निश्चय।
अध्यात्मज्ञान के द्वार पर।
गगन में जैसे ध्रुवदेव।
वैसा स्थिर ॥६२२॥

उस में निवसे ज्ञान।
इस कथन में भासे व्यवधान।
तो ज्ञान में पैठते ही मन।
तद्रूप वह ॥६२३॥
जो होता वस्तुतः बैठने से।
वह न होता 'बैठा' कहने से।
पर बैठना द्वार पर ज्ञान के।
ज्ञानी होने जैसा ॥६२४॥
और तत्त्वज्ञान निर्मल।
फले जो एक फल।
उस ज्ञेय की ओर सरल।
दृष्टि जिसकी ॥६२५॥
ज्ञान के बोध बनने पर।
यदि मन को न दिखे ज्ञेय।
तो मानें ज्ञानलाभ।
व्यर्थ वह ॥६२६॥
अन्धे के हाथ में दिया।
देकर क्या करें भला?
वैसे सब निश्चय ज्ञान का।
जाता व्यर्थ ॥६२७॥
यदि ज्ञान के प्रकाश में।
परतत्त्व में दृष्टि न पैठे।
तो वह दृष्टि-स्फूर्ति कहलाये।
अन्धी ही ॥६२८॥
अतः ज्ञान दिखाये जितनी।
वे सभी वस्तु उतनी।
देख सके जो हो ऐसी।
बुद्धि शुद्ध ॥६२९॥
अतः निर्दोष ज्ञान से।
दिखाया ज्ञेय देखे।
ऐसे उन्मेष से।
सम्पन्न जो ॥६३०॥
जितनी ज्ञान की वृद्धि।
उतनी जिस की बुद्धि।
वह ज्ञानरूप, यह सुमति।
कहना न होगा ॥६३१॥
पर ज्ञान की प्रभा के साथ।
जिस की मति ज्ञेय को प्राप्त।
वह करे हाथ से स्पर्श।
परतत्त्व को ॥६३२॥
वही ज्ञान कहें ऐसा।
तो पाण्डुसुत विस्मय कैसा।
क्या सविता को सविता।
कहना पड़ता! ॥६३३॥
तब श्रोता बोले रहे यह।
न कहो इस का अतिशय।
ग्रन्थोक्ति में व्यवधान।
क्यों ला रहे? ॥६३४॥
हम पर तुम्हारा उपकार।
वक्तृत्व का आतिथ्याचार।
कि ज्ञान-विषय में अपार।
किया निरूपण ॥६३५॥
रस होना उचित अतिमात्र।
यह भला पाया कविमन्त्र।
पर निमन्त्रित कर के शत्रुत्व।
कर रहे क्यों? ॥६३६॥
भोजन पर बैठते समय।
जो रसोई लेकर करें पलायन।
उस के अन्य सत्कार का अर्थ।
रहे क्या फिर? ॥६३७॥
सब विषय में सुलक्षणी।
पर दुहते समय जो टिके नहीं।
ऐसी गाय मरखनी।
पोसे कौन? ॥६३८॥

वैसे ज्ञान में मति न प्रवेशे।
करे अन्य जल्प कितना न जाने।
पर रहने दो किया तुम ने।
भला हमारा ॥६३९॥
जिस ज्ञानलेश के उद्देश से।
सायास योगादि किये जाते।
वह पाया ऐसा किया तुमने।
निरूपण ॥६४०॥
बरसे अमृत की झड़ी।
सात अहर्निश अनुघड़ी।
या सुखमय कोटि दिवसों की।
क्या करते गणना ? ॥६४१॥
पूर्णचन्द्रमयी रात।
टिकी रहे युगपर्यन्त।
तो करेंगे क्या प्रतीक्षा चकोर।
प्रभात की ? ॥६४२॥
वैसे ज्ञान का निरूपण।
और ऐसा रसालपन!
यहाँ बस कहे कौन?
आकर्णन में ॥६४३॥
और सुभागी हो अतिथि।
सुभगा हो परोसती।
पक्वान्नों की न हो कमी।
समृद्धि ऐसी ॥६४४॥
वैसा यह हुआ प्रसङ्ग।
कि हमें ज्ञान का चाव।
और तुम्हें भी अनुराग।
यहां भरपूर ॥६४५॥
अतएव इस व्याख्यान से।
ज्ञान चौगुना बल पाये।
सम्भव नहीं कि न कहें।
तुम हो ज्ञानी ॥६४६॥
तो अब इस के अनन्तर।
निज प्रज्ञा का आश्रयण कर।
पदार्थ करो प्रगट।
निरूपण में ॥६४७॥
यह सन्तवाक्य सुनते ही।
बोले निवृत्तिदास जी।
मेरा भी वस्तुतः यही।
मनोगत ॥६४८॥
उस पर स्वामी आपने।
वही आज्ञा दी मुझे।
तो वाग्जाल अब व्यर्थ में।
न बढ़ाऊँगा ॥६४९॥
ऐसे अठारह ये।
ज्ञानलक्षण सुनिये।
अर्जुन के प्रति श्रीकृष्णने।
किये निरूपित ॥६५०॥
फिर कहा इन लक्षणों से।
ज्ञान को जाना जाये।
यह स्वमत मेरा, कहते।
सब ज्ञानी भी यही ॥६५१॥
करतल ,पर रखा हुआ।
दिखे डोलता आँवला।
वैसे हम ने प्रत्यक्ष दिखाया।
ज्ञान तुझे ॥६५२॥
अब महामति अर्जुन।
कहलाता जो अज्ञान।
कहूँ उस के लक्षण।
व्यक्त कर के ॥६५३॥
यदि स्फुट हुआ हो ज्ञान।
तो जाना जाता अज्ञान।
जो ज्ञान नहीं, वह निश्चित।
अज्ञान ही ॥६५४॥

देखो दिवस सारा बीत चले।
तब रात्रि की वारी आवे।
नहीं अन्य इन दोनों से।
तीसरा जैसे ॥६५५॥

वैसे जहाँ नहीं ज्ञान।
उसे ही समझो अज्ञान।
फिर भी कहता हूँ चिह्न।
कुछ उस के ॥६५६॥

जो प्रतिष्ठा के लिये जिये।
सन्मान की प्रतीक्षा करे।
और हो सत्कार से।
तोष जिसे ॥६५७॥

पर्वत–शिखर सा गर्व से।
जो महत्त्व से नीचे न उतरे।
जानो उस के चित्त में।
भरा अज्ञान ॥६५८॥

और स्वधर्म की मङ्गलडोरी।
वाचा-पीपल में बाँधी।
या मन्दिर में खड़ी करदी।
चँवरी जैसे ॥६५९॥

फैलाये विद्या का पसारा।
पीटे सुकृत का ढिंढोरा।
और यह सब करता।
प्रतिष्ठा के लिये ॥६६०॥

निज अङ्ग करे चर्चित।
अभ्यर्चनीय को रखे वञ्चित।
उसे जानो निधि सञ्चित।
अज्ञान को ॥६६१॥

और वन में वह्नि विचरे।
वहाँ जङ्गम-स्थावर जलतेजैसे।
वैसे जिस के आचार से।
दुःखी हो जग ॥६६२॥

कौतुक से भी जो–जो बोले।
वह भाले जैसा तीखा बींधे।
विष से भी अधिक करे।
मारक सङ्कल्प ॥६६३॥

उस में बहुत अज्ञान।
वह अज्ञान का निधान।
हिंसा का आयतन।
जिस का जीवन ॥६६४॥

फूंक से भाथी फूले।
वह निकलने से पिचके।
वैसे संयोग–वियोग से।
चढ़े उतरे ॥६६५॥

पड़ कर वायु के झोंकों में।
धूल आकाश में चढ़े।
हर्ष से फूले वैसे।
स्तुतिवेला में ॥६६६॥

थोड़ी भी निन्दा सुने।
तो कपाल पकड़ बैठे।
बूंद से भींगे, पवन से सूखे।
कीचड़ जैसा ॥६६७॥

वैसा ही मानापमान से।
जो कोई ऊर्मि न सहे।
जानो उस के चित्त में।
भरा अज्ञान ॥६६८॥

और जिस के मन में गांठ रहे।
ऊपर से वाणी-दृष्टि खुली लगे।
बाहर से मिले, भीतर पीठ मोड़े।
हर किसी से ॥६६९॥

व्याध का चारा डालना।
वैसा प्राञ्जल व्यवहार जिसका।
पर अन्तर में सज्जनों का।
विरोध जिस के ॥६७०॥

सेंवार से लिपटा स्फटिक।
या निबोली पक्व।
वैसी जिस की दिखे भद्र।
बाह्य क्रिया ॥६७१॥
उस के चित्त में अज्ञान।
भरा यह निश्चित जान।
असत्य नहीं यह कथन।
जानो सत्य ॥६७२॥
गुरुकुल में लजाये।
गुरुभक्ति से ऊबे।
विद्या पा कर तुच्छ माने।
गुरु को ही जो ॥६७३॥
उस का लेना नाम।
मानो वाणी को देना शूद्रान्न।
पर बताने को लक्षण।
कहना पड़ा यह ॥६७४॥
अब लूँगा गुरुभक्त का नाम।
वाणी का होगा प्रायश्चित।
गुरुभक्तों का नाम पावक।
सूर्य जैसा ॥६७५॥
इतना पाप होगा लुप्त।
वाचा होगी पापमुक्त।
जो गुरुतल्पग का नाम।
लेने से हुआ ॥६७६॥
इतना कहने मात्र से।
पाप का निवारण कर के।
फिर बोले सुनो सखे।
अन्य चिह्न ॥६७७॥
कर्म में देह ढीला।
मन विकल्पों से भरा।
अरण्य में उपेक्षित पड़े।
कुएँ जैसा ॥६७८॥

उस का मुख कँटीला।
भीतर केवल अस्थियाँ।
अशुचि दिखे वैसा।
सबाह्य जो ॥६७९॥
जैसे पेट के लिये श्वान।
न देखे ढँका या खुला अन्न।
वैसे न जाने निज-पर।
द्रव्य के लिये ॥६८०॥
न होता ग्रामसिंहों के लिये।
मिलने का स्थान अस्थान जैसे।
स्त्री-विषय में जो वैसे।
न विचारे कुछ ॥६८१॥
कर्म की वेला चूके।
या नित्य-नैमित्तिक भूले।
उस का दुःख नहीं जिसके।
चित्त में लेश ॥६८२॥
पाप में निर्लज्ज।
पुण्य के प्रति अति उदास।
जिस के मन में आवेग।
विकल्पों के ॥६८३॥
उसे जानो निखिल।
पुतला रूप अज्ञान।
बँधे हुए जिस के नयन।
वित्ताशा से ॥६८४॥
और थोड़े भी स्वार्थ से।
जो विचलित हो धैर्य से।
जैसे तृण-बीज हिले।
चींटी से भी ॥६८५॥
पाँव पड़ते ही गङ्गा का जल।
बनता जैसे कीचड़।
वैसे सुनते ही भयका नाम।
घबराये जो ॥६८६॥

मनोरथों की धार में।
जिस का मन बहता रहे।
जैसे पड़ा हुआ बाढ़ में।
तुम्बा बहे ॥६८७॥

वायु के वेग में।
धूल कहाँ की कहाँ जाये।
जो दुःखवार्ता से।
वैसा अस्थिर ॥६८८॥

झंझावात के समान।
न रखता कहीं आश्रयस्थान।
क्षेत्र, तीर्थ या नगर में।
ठहरे नहीं ॥६८९॥

पागल गिरगिट जैसे।
कभी नीचे कभी ऊँचे चढ़े।
व्यर्थ भटकता रहे।
वैसे जो ॥६९०॥

धरती में गाड़े बिना।
स्थिर न रहे बड़ा मटका।
वैसे निद्रा–मूर्च्छा के सिवा।
भटका करे ॥६९१॥

उसी में उद्दण्ड।
भरा अज्ञान–वितण्ड।
जो चाञ्चल्य से सहोदर।
मर्कट का ॥६९२॥

और भी धनुर्धर।
देख जिस का अन्तर।
सर्वथा अस्पृष्ट।
संयम से ॥६९३॥

आयी बाढ़ नाले में।
बालू के बांध को न माने।
वैसे निषेध के मुख से।
डरे न जो ॥६९४॥

व्रत को मध्य ही खण्डित करे।
स्वधर्म को ठोकर मारे।
नियमों की आज्ञा तोड़े।
जिस की क्रिया ॥६९५॥

जो पाप से न ऊबे।
पुण्य से न लगाव जिसे।
लज्जा को उखाड़ फेंके।
मूल सहित ॥६९६॥

कुलाचार से पीठ मोड़े।
वेदाज्ञा को न माने।
कृत्याकृत्य का न जाने।
विवेक कभी ॥६९७॥

साँड़ जैसा स्वच्छन्द।
वायु जैसा स्वैरगतिशील।
बहता जैसे फूटा स्रोत।
अरण्य में ॥६९८॥

अन्धा हाथी उन्मत्त।
या दावा से जलता पर्वत।
वैसे विषयों में निर्बन्ध।
जिस का चित्त ॥६९९॥

कूड़े के ढेर में क्या न पड़े।
खुले पशु को कौन न पकड़े ?
ग्रामद्वार की कौन न लांघे।
दहलीज ॥७००॥

सत्र में सिद्ध हुआ अन्न।
सामान्य को मिला अधिकार।
वाराङ्गना के द्वार पर।
निषेध किसे ? ॥७०१॥

वैसा जिस का अन्तः करण।
उस में ही सम्पूर्ण।
जानो अज्ञान की पार्थ।
ऋद्धि स्थित ॥७०२॥

विषयों की आसक्ति अरे।
जो जीते मरते न छोड़े।
स्वर्गमाधुरी की व्यवस्था करे।
इहलोक में ही ॥७०३॥

जो भोग में सदा राचे।
काम्य क्रिया का व्यसन जिसे।
मुख देख कर विरक्तों के।
करे स्नान ॥७०४॥

विषय भले हों क्षीण।
पर वह न होता सावधान।
कोढ़ी जैसे करता भोजन।
कोढ़ी हाथ से ॥७०५॥

खरी पास न आने दे।
लातों से नाक तोड़े।
फिर भी जैसे पीछे न लौटे।
कामी खर ॥७०६॥

वैसे जो विषयों के लिये।
जलते अग्नि में कूद पड़े।
व्यसनों को भ्रम से माने।
भूषण अपना ॥७०७॥

वक्ष फट जाय तब तक।
न मिटता मृग का लालच।
न जान पाता मृगजल।
फिर भी वह ॥७०८॥

वैसे जन्म से मृत्यु तक।
विषयों के लिये करता श्रम।
फिर भी न होता मन में त्रस्त।
बढ़ता प्रेम ॥७०९॥

पहले बालदशा में।
माँ-पिता का उन्माद रहे।
वह बीते तो स्त्री-मांस में।
भूला रहे ॥७१०॥

बीतने लगे स्त्री-भोग।
तब आ जाता वार्धक्य।
तब बढ़ता प्रेमभाव।
बालकों पर ॥७११॥

अन्धे बालक की माँ जैसे।
वैसा बच्चों से लिपटा रहे।
मृत्यु क्षण तक न ऊबे।
जो विषयों से ॥७१२॥

उस के चित्त में पार्थ।
अज्ञान का नहीं पार।
अब तुझे कुछ अन्य।
कहूँगा चिह्न ॥७१३॥

तो देह ही है आत्मा।
ऐसा मनोधर्म जिस का।
इसी देहभाव से करता।
कर्मारम्भ ॥७१४॥

और पूरे या अधूरे।
जो कुछ भी कर्म करे।
स्वयं उन की श्लाघा में।
फूला रहता ॥७१५॥

देवप्रतिमा हो मस्तक पर।
तो चढ़े जैसा देवोन्माद।
वैसा विद्या-वय के मद से।
उछलता चले ॥७१६॥

कहे मैं ही एक धनाढ्य।
सम्पत्तिभरा मेरा घर।
मेरे समान आचार।
करे कौन ॥७१७॥

नहीं कोई मेरे तुल्य।
मैं एकमात्र सर्वज्ञ।
ऐसा सर्व-तुष्टि का गर्व।
लिये रहता ॥७१८॥

जैसे जो व्याधिग्रस्त।
उसे न दिखाते भोग।
वैसे सहन न करता सुख।
किसी का वह ॥७१९॥

पूरी बत्ती खाये।
स्नेह को जलाये।
जहाँ रखें वहाँ फैलाये।
कालिख ॥७२०॥

जल छिड़कें तो तड़तड़ाये।
व्यजन से प्राण छोड़े।
स्पर्श करें तो जला दे।
करे निःशेष ॥७२१॥

थोड़ा सा प्रकाश दे।
उस से अधिक ऊष्मा करे।
उस दीप के समान दिखे।
सुविद्य जो ॥७२२॥

औषध नाम से दें दूध।
तो बढ़ाता नवज्वर।
अथवा विषरूप में परिणत।
सर्प में दूध ॥७२३॥

वैसे सद्गुणी से मत्सर।
व्युत्पत्ति का अहङ्कार।
तपोज्ञान का अपार।
दर्प जिस में ॥७२४॥

अन्त्यज बैठा राज्य पर।
अजगर ने निगला स्तम्भ।
वैसा गर्व से उन्मत्त।
दिखे जो ॥७२५॥

जो वेलन जैसा न झुके।
पत्थर जैसा न द्रवे।
मान्त्रिक के भी वश न आये।
विषधर ऐसा ॥७२६॥

किम्बहुना उस के पास।
बढ़ता रहे अज्ञान।
निश्चित कहता पार्थ।
तुझे यह ॥७२७॥

और भी धनञ्जय।
जो गृह-देह में ही व्यग्र।
न देखे काल की ओर।
या जन्म को अरे ॥७२८॥

कृतघ्न पर किया उपकार।
या चोर से धन-व्यवहार।
या निर्लज्ज का स्तवन।
भूलता जैसे ॥७२९॥

जैसे क्रोध से निकालें बाहर।
कान-पूँछ डालें काट।
उन घावों सहित श्वान।
फिर घुसे घर में ॥७३०॥

मेंढक साँप के मुख में।
जा रहा समूल अरे।
वह मक्खियों का रखे।
लालच न क्या? ॥७३१॥

वैसे स्रवते नवों द्वार।
घुन खाई जर्जर देह।
हुई जिस के कारण।
न उस का खेद ॥७३२॥

माता के उदर-कुहर में।
पक कर विष्ठा की धानी में।
नौ मास तक जठर में।
उबला जो ॥७३३॥

वह व्यथा गर्भ की।
या जो जन्म के समय हुई।
उसे सर्वथा किञ्चित् भी।
स्मरे नहीं ॥७३४॥

मलमूत्र के पङ्क में।
लोटते शिशु अङ्क में।
वह देख कर जो न थूके।
न हो त्रस्त ॥७३५॥

कल पाया जन्म गया।
सामने फिर नया खड़ा।
ऐसा कभी न उठता।
विचार जिस में ॥७३६॥

और उसी प्रकार।
जीवन का तुच्छ वैभव।
न करे जो देख कर।
मृत्युचिन्ता ॥७३७॥

जीवन के विश्वास से।
मृत्यु भी है कुछ अरे।
ऐसा कभी न माने।
मानस जिसका ॥७३८॥

अल्पोदक की मीन अरे।
'यह न सूखे' इस विश्वास से।
जाना न चाहे जैसे।
अगाध जल में ॥७३९॥

या गीत पर लुब्ध।
व्याध को न देखे मृग।
निगले काँटा न देखकर।
आमिष मत्स्य ॥७४०॥

दीप की झकमक।
जलायेगी, यह पतङ्ग।
न जानता पार्थ।
जिस प्रकार ॥७४१॥

गँवार निद्रासुख में।
घर जलता न देखे।
न जाना जाये विष में।
रँधा अन्न जैसे ॥७४२॥

वैसे जीवित के व्याज से।
मृत्यु ही आया सामने।
यह न जाने राजससुख में।
मग्न जो ॥७४३॥

शरीर की वृद्धि।
अहोरात्र की प्राप्ति।
विषयसुख की समृद्धि।
माने सत्य ॥७४४॥

पर यह न जाने बेचारा।
कि वेश्या को सर्वस्व देना।
वह अपना ही धन लुटना।
नहीं उपकार ॥७४५॥

चोरों का सख्याचार।
वस्तुतः है प्राणघात।
चित्र को कराना स्नान।
नाश उस का ॥७४६॥

पाण्डुरोग से तनु की स्थूलता।
दिखाती आयु की अल्पता।
आहार-निद्रा में मत्त हुआ।
न जाने वैसे ॥७४७॥

सन्मुख हो शूल।
दौड़े उधर पाँव चपल।
तो प्रतिपद आये निकट।
मृत्यु जैसे ॥७४८॥

वैसे देह ज्यों-ज्यों बढ़े।
ज्यों-ज्यों आयु-दिवस बीते।
ज्यों-ज्यों अनुकूलता मिले।
इन भोगों की ॥७४९॥

त्यों-त्यों अधिकाधिक।
मरण हरे आयुष्य।
जैसे उदक में लवण।
घुलता जाता ॥७५०॥

वैसे ज्यों जीवित्व बीते।
त्यों-त्यों काल निकट आये।
न जाने वह कब ले जाये।
हाथों-हाथ ॥७५१॥
किम्बहुना पाण्डव।
इस तनु का मृत्यु नित्य नव।
न देखे जो मोहवश।
विषयों के ॥७५२॥
वह अज्ञान-देश का नृप अरे।
महाबाहो इस वचन के।
विरोध में न जाये।
अन्य कोई ॥७५३॥
जोवन के तोष में।
जैसे मृत्यु को न देखे।
वैसे तारुण्य के पोष से।
न गिने जरा को ॥७५४॥
झपाटे से उलटती गाड़ी।
या शिखर से शिला लुढ़कती।
वैसे न देखे सामने की।
वृद्धता जो ॥७५५॥
जंगली नाले में पानी बढ़े।
या मत्त भैंसे जूझ पड़ें।
वैसे तारुण्य का चढ़े।
मद जिसे ॥७५६॥
पुष्टि क्षीण होने लगे।
कान्ति तनु को त्यागे।
मस्तक सहित ग्रीवा में।
हो कम्प ॥७५७॥
श्वेत हुई दाढ़ी अरे।
ग्रीवा निरन्तर हिले।
फिर भी जो बढ़ाये।
माया-प्रसार ॥७५८॥

सामने से टकराने तक।
देखे नहीं जैसे अन्ध।
आँख पर न टपकने तक।
निश्चिन्त आलसी ॥७५९॥
वैसे तारुण्य आज का।
भोगने में वार्धक्य कल का।
न देखे जो वही सच्चा।
अज्ञानी पार्थ ॥७६०॥
देखे अक्षम, अपङ्ग कुबड़ा।
तो उस की हँसी उड़ाता।
न सोचता कि हाल अपना।
होगा यही ॥७६१॥
निज तनु में वार्धक्य रूपी।
सूचना हो मरण की।
तो भी न मिटे तारुण्य की।
भ्रान्ति जिस की ॥७६२॥
वह अज्ञान का घर।
जान लो यह सच्चा उत्तर।
और भी सुनो प्रमुख।
चिह्न उस के ॥७६३॥
बाघ की गुफ़ा में से।
चर आया सुभाग्य से।
उसी विश्वास से पुनः जाये।
बैल जैसे ॥७६४॥
या सर्प के बिल में से।
अचानक धन ले आवे।
उतने से निश्चिन्त रहे।
कोई नास्तिक ॥७६५॥
वैसे ही भाग्यवश।
रहा कुछ समय स्वस्थ।
तो यहाँ भी हो सकता रोग।
यह न माने ॥७६६॥

शत्रु को नींद आयी।
तो द्वन्द्व टल गये सभी।
माने तो पाये नाश ही।
सकुटुम्ब ॥७६७॥

आहार–निद्रा की स्वस्थता से।
रोग जब तक न प्रवेशे।
तब तक जो न करे।
व्याधि की चिन्ता ॥७६८॥

और, स्त्री–पुत्रादि मिलने में।
सम्पत्ति जब तक फले।
तब गर्व से रँगे रहते।
नयन जिस के ॥७६९॥

कभी वियोग होगा इन से।
विपत्ति आ पड़े क्षणभर में।
यह भावी दुःख अरे।
देखें न जो ॥७७०॥

वह अज्ञानी पाण्डव।
और वैसा ही जानो वह।
जो इन्द्रियों से स्वैर।
करे आचरण ॥७७१॥

वयस् की खुमारी में।
सम्पत्ति के सहाय से।
जो सत्य-असत्य का न करे।
विवेक कभी ॥७७२॥

न करने योग्य करे।
असम्भाव्य मन में धरे।
अचिन्त्य को विचारे।
जिस की मति ॥७७३॥

अगम्य में प्रवेश करे।
अग्राह्य को माँगे।
अस्पृश्य को स्पर्श करे।
देह–मन से ॥७७४॥

न जाने योग्य में जाये।
न देखने योग्य को देखे।
न खाने योग्य खाये।
उसी से तुष्ट ॥७७५॥

न करने योग्य करे सङ्ग।
न रखने योग्य रखे सम्बन्ध।
न चलने योग्य मार्ग पर।
चले जो ॥७७६॥

न सुनने योग्य सुने।
न कहने योग्य बके।
पर दोष होता यह न देखे।
प्रवृत्ति समय ॥७७७॥

जो शरीर–मन को रुचे।
उस में कृत्याकृत्य न देखे।
जो करने के नाम से।
स्वच्छन्द आचरे ॥७७८॥

पर मुझ से होगा पाप।
नरकयातना होगी प्राप्त।
यह कुछ भी भविष्य।
देखे न जो ॥७७९॥

पार्थ उस के अङ्ग से।
अज्ञान जग में बढ़े।
ज्ञान से भी भिड़ सके।
जो कभी ॥७८०॥

पर रहे यह अब सुन।
और अज्ञान चिह्न।
जिस से तू सके पहचान।
उसे सम्यक् ॥७८१॥

तो जिस की प्रीति पूरी।
घर में रहे उलझी।
नवगन्ध केसर पर भ्रमरी।
हो लुब्ध जैसे ॥७८२॥

शक्कर की राशि पर से।
मक्खी जैसे न उड़े।
स्त्री–वृत्ति में आसक्त वैसे।
जिस का मन ॥७८३॥

कुण्ड में मेंढक जैसे।
या मशक हो श्लेश्म में।
अथवा ढोर जैसे।
फँसे पङ्क में ॥७८४॥

वैसे घर से न निकले।
जीव–प्राण–मन से।
जो साँप हो कर रहे।
घर के पीछे ॥७८५॥

प्रियतम के कण्ठ में।
प्रमदा जैसे लिपटे।
वैसे प्राण–पन से।
आसक्त घर में ॥७८६॥

मधुरस के उद्देश्य से।
मधुकर जैसा श्रम करे।
गृह – सङ्गोपन जो वैसे।
करता अरे ॥७८७॥

वृद्धावस्था में पुत्र।
जन्मे यदि एकमात्र।
उस का जितना हर्ष।
माता–पिता को ॥७८८॥

उस के समान सखा।
घर में जिस की प्रेम आस्था।
और स्त्री–विना सर्वथा।
रह न सके जो ॥७८९॥

स्त्री देह में जो प्राण–मन से।
पड़कर सर्वभाव से।
कौन मैं, क्या कर्तव्य, न जाने।
कुछ भी जो ॥७९०॥

महापुरुष का चित्त।
होने पर ब्रह्मगत।
विरमते व्यवहारजात।
जिस प्रकार ॥७९१॥

हानि या लाभ न देखे।
परापवाद न सुने।
जिस के इन्द्रिय एक मुख से।
स्त्रीगत ॥७९२॥

चित्त स्त्री को ही आराधे।
उसी के वश में नाचे।
मदारी का मर्कट जैसे।
रहे अधीन ॥७९३॥

स्वयं कष्ट सहता।
इष्ट मित्रों को दुःखी करता।
पर धन को बढ़ाता।
लोभी जैसे ॥७९४॥

वैसे दान–पुण्य में कृपण।
गोत्र कुटुम्ब को रखे वञ्चित।
पर पूरी करता स्त्री की माँग।
न पड़े कमी उसे ॥७९५॥

करे देव पूजन जैसे–तैसे।
गुरु को शब्दों से ठगाये।
माता–पिता को दिखाये।
दरिद्रता ॥७९६॥

बस स्त्री के लिये अनेक।
भोग – सम्पत्ति विशेष।
और वस्तुयें सुन्दर।
जो–जो देखे ॥७९७॥

प्रेमभरे भक्तिभाव से।
कुलदेवता को भजें जैसे।
वैसे एकाग्र चित्त से।
स्त्री को भजे ॥७९८॥

सच्चा और सुन्दर।
वह स्त्री के लिये अशेष।
औरों के प्रति वर्तन।
वैसा नहीं ॥७९९॥

इसे कोई अनादर से देखे।
कोई विरुद्ध हो इसके।
तो युगान्त ही आ पड़े।
ऐसा माने ॥८००॥

दाद-खुजली के भय से।
नाग की मनौती न तोड़ें।
वैसे हर इच्छा पाले।
स्त्री की जो ॥८०१॥

धनञ्जय किम्बहुना।
स्त्री ही सर्वस्व जिस का।
और उसी के गर्भजों पर।
प्रेम जिस का ॥८०२॥

और भी जो समस्त।
उसका सम्पत्तिजात।
उसे प्राणाधिक आप्त।
मानता जो ॥८०३॥

वह अज्ञान का मूल।
अज्ञान को उसी का बल।
रहने दो वह केवल।
अज्ञानरूप ॥८०४॥

विक्षुब्ध सागर में।
नौका खुली छोड़े।
वह लहरों के चपेटे से।
डोले जैसी ॥८०५॥

वैसे जब प्रियवस्तु पाये।
तब सुख के शिखर पर चढ़े।
और अप्रिय मिलने से।
हो हताश ॥८०६॥

जिस का चित्त ऐसे।
वैषम्य-साम्य में डोले।
जानो महामति उसे।
अज्ञान ही ॥८०७॥

दिखाये मेरे प्रति भक्ति।
पर फल के लिये आर्त्ति।
धन के लिये विरक्ति।
का स्वाँग धरे ॥८०८॥

अथवा कान्त के मानस में।
स्थिर होकर स्वैरिणी जैसे।
जार के समीप जाये।
स्वच्छन्द ॥८०९॥

वैसे पार्थ मुझे।
भजते उसी रीति से।
और विषयों पर रखते।
दृष्टि सदा ॥८१०॥

और भजन करते हुए।
यदि विषय न मिलें।
तो भजन छोड़कर कहे।
यह निरर्थक ॥८११॥

किसान लेता खेत जैसे।
वैसे अन्य-अन्य देव पूजे।
पहले को दूर हटाये।
तिरस्कार से ॥८१२॥

उसी को गुरु बनाये।
जिस का अधिक आडम्बर देखे।
उसी का मन्त्र स्वीकारे।
अन्यों का नहीं ॥८१३॥

प्राणियों के प्रति निष्ठुर।
प्रीति रखे स्थावर पर।
वैसे ही न रहे स्थिर।
एकनिष्ठ ॥८१४॥

मेरो विग्रह प्रतिष्ठा करे।
घर के कोने में बैठा रखे।
स्वयं यात्रा पर निकले।
देव–देवी की ॥८१५॥

नित्य मेरा आराधन।
प्रसङ्ग पर कुलदेवता का भजन।
पर्व विशेष पर करे पूजन।
अन्यान्य का ॥८१६॥

घर में मेरा अधिष्ठान।
मनौती के देव अन्य।
पितृकार्य कें अवसर पर।
पितरों का भक्त ॥८१७॥

एकादशी के दिन।
जितना मेरा सन्मान।
उतना ही पञ्चमी पर्व पर।
नागों का ॥८१८॥

बड़ी चतुर्थी आये।
तो गणेशपूजक हो रहे।
चौदस में कहे माँ दुर्गे।
मैं तेरा ही ॥८१९॥

नित्य नैमित्तिक कर्म छोड़कर।
बैठे नवचण्डी यज्ञ पर।
रविवार को भैरव नाम पर।
बाँटे खिचड़ी ॥८२०॥

फिर सोमवार आये।
ले बिल्वपत्र लिङ्ग पर दौड़े।
अकेला ही आराधे ऐसे।
सकल देव ॥८२१॥

अखण्ड भजन करे ऐसे।
क्षण भर शान्ति से न बैठे।
गाँव के सभी द्वारों पर घूमे।
बाँटे खिचड़ी ॥८२२॥

जो भक्त इस प्रकार।
दौड़ता दिखे चहुँ ओर।
जानो उसे मूर्त अवतार।
अज्ञान का ॥८२३॥

और अनाविल एकान्त।
तपोवन–तीर्थ–तट।
न भावें जिसे देख कर।
वह भी वह ॥८२४॥

जिसे जनपद में सुख।
धूमधाम का कौतुक।
रुचे वार्ता लौकिक।
वह भी वह ॥८२५॥

और आत्मा हो गोचर जिस से।
ऐसी जो विद्या सखे।
वह सुन कर उपहास करे।
विद्वान जो ॥८२६॥

उपनिषदों की ओर न देखे।
योगशास्त्र न रुचें उसे।
अध्यात्मज्ञान में न लगे।
जिस का मन ॥८२७॥

आत्मचर्चा विषय प्रबल।
बुद्धि को ऐसा दिखाये डर।
छूटे पशु सी भटके स्वैर।
मति जिस की ॥८२८॥

जाने सब कर्मकाण्ड।
मुखोद्गत रहें पुराण।
ज्योतिष का इतना ज्ञान।
मानो वाचासिद्ध ॥८२९॥

शिल्प में अति निपुण।
सूपकर्म में प्रवीण।
और विधि आथर्वण।
हाथ में जिस के ॥८३०॥

कोक सम्पूर्ण अभ्यस्त।
हस्तगत महाभारत।
और सभी आगम।
खड़े सम्मुख ॥८३१॥

नीतिजात सूझे।
वैद्यक भी समझे।
वसा काव्य नाटक में।
चतुर न अन्य ॥८३२॥

करे स्मृतियों की चर्चा।
मर्म जाने गारुडी का।
निघण्टु उस की प्रज्ञा का।
बना सेवक ॥८३३॥

व्याकरण में व्युत्पन्न।
तर्क में अप्रतिहत।
पर एक आत्मज्ञान में।
जात्यन्ध जो ॥८३४॥

इस एक विना सब शास्त्रों में।
सिद्धान्त निर्माण का घाता बने।
पर वह मूल—नक्षत्रो जले।
न पड़े दृष्टि में ॥८३५॥

मयूर के सारे शरीर पर।
पङ्खों में कितने नेत्र।
किन्तु सभी दृष्टि-हीन।
वैसा वह ज्ञान ॥८३६॥

अरे परमाणु जितनी।
प्राप्त हो सञ्जीवनी।
तो ओषधि से भरो गाड़ी।
कौन चाहे ॥८३७॥

आयुष्य विना सुलक्षण।
शीर्ष बिना अलङ्करण।
बरात वरवधू रहित।
विडम्बना मात्र ॥८३८॥

वैसे शास्त्र जाता—जान।
पार्थ! सभी अप्रमाण।
यदि नहीं अध्यात्मज्ञान।
अकेला वहाँ ॥८३९॥

देखो अर्जुन इसलिये।
अध्यात्म ज्ञान के विषय में।
नित्य बोध नहीं जिसे।
शास्त्रमूढ वह ॥८४०॥

उस ने जो पाया शरीर।
वह अज्ञान-बीज ही अङ्कुरित।
उस की व्युत्पन्नता जान।
अज्ञानबेल ॥८४१॥

वह जो—जो बोले।
वह अज्ञान हो पुष्पित अरे।
उस के पुण्य जो फलें।
वह भी अज्ञान ॥८४२॥

और अध्यात्म ज्ञान को कुछ भी।
जिस ने माना ही नहीं।
वह ज्ञानार्थ न देखे यह भी।
क्या कहना होगा? ॥८४३॥

जो इस तीर भी न पहुँचे।
पहले ही पीछे लौटे।
परले तीर की बात उस से।
क्या पूछें? ॥८४४॥

घुसते ही देहली में।
जिस का मस्तक कटे।
वह भला कैसे देखे।
घर की निधि? ॥८४५॥

वैसे अध्यात्म ज्ञान से।
परिचय नहीं जिसका अरे।
ज्ञानार्थ दिखने का उसे।
अवसर कहाँ? ॥८४६॥

इसलिये सविशेष।
वह न देखे ज्ञान–तत्त्व।
यह तुझे सविस्तर।
कहना न होगा ॥८४७॥

सगर्भा को परोसे भोजन।
तो गर्भस्थ का सहज पोषण।
वैसे पहले पद का वर्णन।
दिखाये द्वितीय ॥८४८॥

इस को छोड़ कर अन्य।
करना न पड़े निरूपण।
अन्धे को दें निमन्त्रण।
तो सहायक भी आये ॥८४९॥

इस प्रकार विपरीत।
कहे ज्ञान के चिह्न।
अमानित्वादि सब।
कहे गये ॥८५०॥

अठारह ज्ञानलक्षण।
किया जिन का कथन।
उन का विरोधी आकार।
अज्ञान का ॥८५१॥

पहले श्लोक के अर्धार्ध में।
कहा था श्री मुकुन्द ने।
कि ज्ञानविरोधी जो दिखे।
वही अज्ञान ॥८५२॥

इसीलिये इस प्रकार।
करना पड़ा विस्तार।
दूध बिना पानी मिला कर।
क्या उपयोग? ॥८५३॥

वैसे व्यर्थ बड़बड़ न कर के।
पद का लेश न छोड़ते हुए।
मूलध्वनि के विस्तार में।
निमित्त हुआ मैं ॥८५४॥

तब बोले श्रोता रहने भी दे।
कौन भला तुझे रोके।
क्यों व्यर्थ हो भीत अरे।
कविपोषक! ॥८५५॥

तुम्हें तो श्रीमुरारि ने।
कहा कहो प्रकट कर के।
जो अभिप्राय में ने।
रखा गुप्त ॥८५६॥

देव का वह मनोगत।
दिखाते हो कर के मूर्त।
यह कहें तो तेरा चित्त।
होगा भाराक्रान्त ॥८५७॥

अतएव कुछ न कहते।
वस्तुतः सन्तोष हृदयमें।
कि ज्ञाननौका मिली हमें।
श्रवण सुख को ॥८५८॥

अब इस के अनन्तर।
जो बोले श्रीमुकुन्द।
कहो वही सत्वर।
कृपाकर ॥८५९॥

सुन कर यह सन्तवाक्य।
बोले निवृत्तिदास।
जो सुनिये तब देव।
ऐसे बोले ॥८६०॥

कहा हे पाण्डव।
यह चिह्न–समुच्चय सकल।
जो सुना उसे जान।
अज्ञान–भाग ॥८६१॥

इस अज्ञान–विभाग की ओर।
पीठ दे कर धनुर्धर।
ज्ञान–विषय में भली प्रकार।
होना सुदृढ़ ॥८६२॥

फिर उस शुद्ध ज्ञान से।
मन मिलेगा ज्ञेय से।
वह जानने को अर्जुन ने।
की आशा ॥८६३॥

तब वे सर्वज्ञ-राज।
जान कर अर्जुन का भाव।
बोले ज्ञेय का अभिप्राय।
कहूँ अब ॥८६४॥

तो ज्ञेय ऐसा नाम।
वस्तु को देने का कारण।
कि नहीं ज्ञान के सिवा अन्य।
उपाय कोई ॥८६५॥

और जानने के बाद।
कुछ करना न रहता शेष।
ज्ञान ही तन्मयत्व।
लाता जिस से ॥८६६॥

उस जानने के अनन्तर।
संसार से पार हो कर।
उदर में होते विलय।
नित्यानन्द के ॥८६७॥

वह ज्ञेय ऐसा अरे।
आदि नहीं जिसके।
परब्रह्म ही सखे।
नाम जिस का ॥८६८॥

जिसे नहीं कहने जायें।
तो विश्वाकार में दिखे।
और विश्व ऐसा कहें।
तो यह माया ॥८६९॥

नहीं रूप वर्ण व्यक्ति।
या दृश्य-द्रष्टा-स्थिति।
तो कौन कह सके कि।
वह कैसा ? ॥८७०॥

सत्य ही यदि नहीं वह।
तो महदादि कहाँ स्थित।
कैसे कुछ भी स्फुरित।
उस के बिना ॥८७१॥

अतः 'अस्ति' 'नास्ति' ये वचन।
मूक होते जिसे देख कर।
विचारों की भी होती कुण्ठित।
गति जहाँ ॥८७२॥

जैसे भाण्ड, घट, शराव में।
तदाकार पृथ्वी रहे।
वैसे सर्व हो कर सर्व में।
स्थित जो वस्तु ॥८७३॥

सभी देश-कालों में।
पूरक न हो देश काल से।
जो क्रिया स्थूलास्थूल में।
वह जिस के हाथ ॥८७४॥

उसे इसी कारण से।
विश्वबाहु नाम देते।
जो सब कुछ सर्वपन से।
करे सर्वदा ॥८७५॥

और सभी स्थानों पर।
एक ही काल में धनञ्जय।
आया होने के कारण नाम।
विश्वाङ्घ्रि जिस का ॥८७६॥

देखो सविता के नयन।
नहीं तनु में उस से अलग।
वैसे सर्वद्रष्टा सकल।
स्वरूपों में जो ॥८७७॥

इस कारण विश्वतश्चक्षु।
कहलाया वह अचक्षु।
स्थापित करने में यह पक्ष।
वेद दक्ष ॥८७८॥

जो सभी के मस्तक पर।
रहे नित्य सर्वत्र।
इसी से दिया गया नाम।
विश्वमूर्धा ॥८७९॥

पर जो मूर्त्ति वही मुख।
हुताशन में जैसे देख।
वैसे सर्वपन से अशेष।
भोक्ता जो ॥८८०॥

इसलिये उस की पार्थ।
संज्ञा हुई विश्वतोमुख ।
वाक्पथ में आयी यह।
श्रुतियों के ॥८८१॥

और वस्तु–मात्र में गगन।
जैसे है संलग्न।
वैसे शब्दजात में कान।
सर्वत्र जिस के ॥८८२॥

अतएव हम उसे।
सर्वत्र श्रोता कहते।
तथा सब में सब ओर से।
ओतप्रोत ॥८८३॥

अन्यथा भी महामति।
विश्वतश्चक्षु ऐसी श्रुति।
सर्वत्र उसकी व्याप्ति।
करें निरूपित ॥८८४॥

यों भी हस्त–नेत्र–चरण।
यह भाषा वहाँ कैसे सम्भव।
न सहे जो निष्कर्ष।
सर्वशून्य का भी ॥८८५॥

कल्लोल को कल्लोल।
ग्रसे कभी एक साथ।
पर ग्रासक से ग्रसित।
है भिन्न क्या? ॥८८६॥

वैसे सत्य ही जो एक।
वहाँ कौन व्याप्य–व्यापक?
यह कहने को अन्तर क्षणैक।
करना पड़े ॥८८७॥

शून्य दिखाने के लिये।
बिन्दु का आकार देते।
वैसे अद्वैत कहने के लिये।
कहते द्वैत ॥८८८॥

अन्यथा हे पार्थ।
गुरु – शिष्य – सत्पथ।
सर्वथा हो रुद्ध।
शब्द ही मिटे ॥८८९॥

अत एव श्रुति ने।
अद्वैत का द्वैत–भावसे।
निरूपण करने के लिये।
खोला पथ ॥८९०॥

सुनो अब ध्यानसहित उसे।
इस नेत्रगोचर आकारसे।
वह ज्ञेय जिस प्रकार से।
व्यापक यहाँ ॥८९१॥

तो किरीटी यह ऐसे।
अवकाश में आकाश जैसे।
पट में पट हो कर रहें।
तन्तु जैसे ॥८९२॥

उदक होकर उदक में।
देखो जैसे रस रहे।
दीपपन से दीपक में।
तेज जैसे ॥८९३॥

कर्पूरत्व से कपूर में।
सौरभ रहे जैसे।
शरीर बन कर शरीर में।
कर्म जैसे ॥८९४॥

किम्बहुना अर्जुन।
स्वर्ण में स्वर्णकण।
वैसे जो सर्वाङ्ग में स्थित।
इस सब के ॥८९५॥

रवे की दृष्टि से देखें।
तो रवे में रवा ही दिखे।
स्वर्ण की दृष्टि से।
वह स्वर्ण ही ॥८९६॥

स्रोत भले हो टेढ़ा।
जल तो ऋजु हो रहता।
वह्निताप से लोहा।
क्या न रहे लोहा? ॥८९७॥

घटाकार में समाया।
आकाश गोल दिखता।
और घर की दीवारों से घिरा।
चौकोर ॥८९८॥

आकार अवकाश के।
आकाश में न आते जैसे।
विकारों में स्थित भी वैसे।
विकारी नहीं वह ॥८९९॥

मन प्रमुख इन्द्रियों में।
और इन सत्त्वादि गुणों में।
भासता तदाकार वैसे।
धनञ्जय ॥९००॥

देखो मधुरता गुड़ की।
आकार में नहीं बँधती।
वैसे गुण इन्द्रियों से बद्ध नहीं।
जो ज्ञेय ॥९०१॥

अरे क्षीर की दशा में।
घृत रहे क्षीराकार में।
पर वह क्षीर नहीं जैसे।
कपिध्वज! ॥९०२॥

वैसे इन विकारों में।
जो विकार रूप नहीं अरे।
विभिन्न नाम आकारों के।
स्वर्ण तो स्वर्ण हो ॥९०३॥

मराठी में सुस्पष्ट।
दिखाऊँ वह भिन्नत्व।
गुण इन्द्रियों से पार्थ।
सुन सावधान ॥९०४॥

नाम रूप सम्बन्ध।
जाति क्रिया भेद।
वह आकार का ही प्रवाद।
वस्तु का नहीं ॥९०५॥

वह गुण नहीं कभी।
गुण से उस का सम्बन्ध नहीं।
पर गुण उस में ही।
आभासित ॥९०६॥

बस इसी कारण से।
भ्रान्त के चित्त में।
किरीटो यह भ्रान्ति रहे।
कि वह गुणशील ॥९०७॥

ऐसा वह गुणधारण।
जैसा आकाश का अभ्रधारण।
अथवा जैसे प्रतिमण्डल।
आदर्श में ॥९०८॥

अथवा सूर्य का प्रतिमण्डल।
धारे जैसे सलिल।
या रश्मि करों में मृगजल।
धारित जैसे ॥९०९॥

वैसे ही सम्बन्ध बिन।
इस सब को धारे निर्गुण।
पर इसे व्यर्थ जान।
मिथ्या दृष्टि ॥९१०॥

ऐसे ही निर्गुण में पार्थ।
दिखता गुणों का भोग।
रङ्क का राज्य-सञ्चालन।
स्वप्नगत जैसे ॥९११॥

अतः गुणों का सङ्ग।
अथवा गुण – भोग।
निर्गुण में यह सम्बन्ध।
असम्भव ॥९१२॥

जो भूतों में सचराचर।
व्यापकर स्थित पाण्डुसुत।
अथवा वह्नि में उष्णत्व।
अभेद से जैसा ॥९१३॥

वैसे अविनाश भाव से।
जो सब कुछ सूक्ष्म दशा में।
व्याप कर स्थित जानो उसे।
ज्ञेय यहाँ ॥९१४॥

जो एक भीतर-बाहर।
जो एक समीप-दूर।
जिस एक के सिवा अन्य।
प्रकार नहीं ॥९१५॥

क्षीरसागर की माधुरी।
मध्य अधिक तट पर थोड़ी।
ऐसा नहीं, जो वैसे ही।
सम्पूर्ण सर्वत्र ॥९१६॥

स्वेदज प्रभृति से।
विभिन्न सब भूतों में।
जिस की अनुस्यूति में।
नहीं न्यूनता ॥९१७॥

पर हे श्रोता-मुकुतिलक।
घट – सहस्रों में अनेक।
दिखने पर भी चन्द्र-बिम्ब।
भिन्न न जैसे ॥९१८॥

या लवणकणों की राशि में।
क्षारता एक ही जैसे।
अथवा कोटि इक्षुदण्ड में।
मिठास एक ॥९१९॥

वैसे अनेक भूतजात में।
एक की ही व्याप्ति अरे।
जो कारण विश्वकार्य में।
हे सुमति ॥९२०॥

अतः यह भूताकार।
उपजे जहाँ से, वही आधार।
कल्लोल का सागर।
जिस प्रकार ॥९२१॥

बाल्यादि तीनों वयस् में।
आया एक ही जैसे।
वैसे आदि-स्थिति-लय में।
अखण्ड जो ॥९२२॥

सायं प्रातः मध्याह्न।
होता-जाता दिनक्रम।
किन्तु, जैसे गगन।
पलटे नहीं ॥९२३॥

अरे सृष्टि समय प्रियोत्तम।
जिसे देते ब्रह्मा नाम।
स्थिति समय विष्णुनाम।
देते जिसे ॥९२४॥

फिर आकार होता संहृत।
तब जो कहलाता रुद्र।
गुणत्रय होने पर लुप्त।
जो शून्य रूप ॥९२५॥

निगले नभ का शून्यत्व।
निःशेष कर के गुणत्रय।
वह शून्य वही महाशून्य।
श्रुतिवचनसम्मत ॥९२६॥

जो अग्नि का दीपन।
जो चन्द्र का जीवन।
सूर्य के नयन।
देखते जिस से ॥९२७॥

जिस के उजाले से।
तारागण तेज पाते।
महातेज भी पाये।
सत्ता जिस से ॥९२८॥

जो आदि का आदि।
जो वृद्धि की वृद्धि।
जो बुद्धि की बुद्धि।
जीव का जीव ॥९२९॥

जो मन का मन।
नेत्रों का नयन।
कानों का कान।
वाचा की वाचा ॥९३०॥

जो प्राणों का प्राण।
जो गति के चरण।
क्रिया का कर्त्तापन।
जिस आधार से ॥९३१॥

आकार पाये आकार।
विस्तृत हो जिस से विस्तार।
संहार करे संहार।
जिस आधार से ॥९३२॥

जो मेदिनी की मेदनी।
जो पानी पीकर स्थित पानी।
प्रदीपकता तेज की।
जिस तेज से ॥९३३॥

जो वायु का श्वासोच्छ्वास।
जो गगन का अवकाश।
अरे सभी आभास।
जिस आभास से ॥९३४॥

किम्बहुना पाण्डव।
जो सब का सर्वस्व।
जहाँ नहीं प्रवेश।
द्वैत भाव का ॥९३५॥

जिस को देखने पर तत्क्षण।
दृश्य द्रष्टा यह सब।
एकत्र होते विलीन।
सामरस्य में ॥९३६॥

फिर वही होता ज्ञान।
ज्ञाता ज्ञेय सकल।
ज्ञान का जो प्राप्य स्थान।
वह भी वही ॥९३७॥

जैसे पूरा होने पर लेख।
अङ्क सब होते एक।
वैसे साध्य-साधनादिक।
पाते ऐक्य ॥९३८॥

अर्जुन जिस स्थान पर।
न रहे द्वैत-सम्बन्ध।
अथवा जो हृदय में स्थित।
सभी के सदा ॥९३९॥

इस प्रकार तेरे सम्मुख।
हे सुहृद आदिक्षेत्र।
दिखाया कर के स्फुट।
सविस्तर ॥९४०॥

वैसे क्षेत्र के अतीत।
जैसे दृष्टि सके देख।
वह ज्ञान भी पार्थ।
कहा तुझे ॥९४१॥

अज्ञान का भी सविस्तर।
किया निरूपण सकौतुक।
बोला तू जिस से ऊबकर।
बस करो जी! ॥९४२॥

और अभी सुस्पष्ट।
उपपत्ति – दृष्टान्त – सहित।
किया सम्यक् निरूपित।
ज्ञेय देखो ॥९४३॥

यह समस्त विवेचना।
करके बुद्धि से सखा।
मत्-सिद्ध-भावना द्वारा।
आते मुझ में ॥९४४॥

देहादिक परिग्रह।
करके जिस ने संन्यस्त।
मुझ में ही निज चित्त।
बसा दिया ॥९४५॥

किरीटी वे मुझे।
जान कर अन्त में।
मद्रूप ही हो जाते।
निजरूप से ॥९४६॥

मद्रूप होने का उपाय।
सुनो पार्थ यह मुख्य।
सर्वाधिक सुकर।
रचा मैं ने ॥९४७॥

शिखर चढ़ने को सोपान।
अन्तराल में बाँधें मचान।
अथाह तैरने को नाव।
सहाय जैसे ॥९४८॥

यों सभी कुछ है आत्मरूप।
यदि कहूँ वीरोत्तम।
तो तेरा मनोधर्म।
न करे ग्रहण ॥९४९॥

अतः एक जो सर्व-व्याप्त।
उसे किया चतुर्धा विभक्त।
जब देखा जड़त्व।
तेरी प्रज्ञा का ॥९५०॥

जब बालक को खिलाने बैठें।
तब एक के बीस ग्रास करें।
वैसे एक को चार भागों में।
कहा मैंने ॥९५१॥

एक क्षेत्र एक ज्ञान।
एक ज्ञेय एक अज्ञान।
ये भाग किये अवधान।
जाँच कर तेरा ॥९५२॥

इस पर भी यदि पार्थ।
यह अभिप्राय तेरे हाथ।
न आया हो तो एकबार।
पुनः कहूँ ॥९५३॥

अब न करूँगा चाररूप।
और न कहूँगा एकरूप।
आत्म-अनात्म का विवेक।
रखूँ सामने ॥९५४॥

पर इतना तुम करो।
कि जो माँगूँ वह मुझे दो।
कान बना लो सर्वाङ्ग को।
तब सुनो ॥९५५॥

श्रीकृष्ण के यह कहने पर।
पार्थ हुआ रोमाञ्चित।
तब समझे देव, इसका हर्ष।
उमड़ आया ॥९५६॥

ऐसा स्नेह का वेग।
संभाल कर बोले श्रीरङ्ग।
प्रकृति-पुरुष-विभाग।
सुनो कहूँ ॥९५७॥

जिस मार्ग को जग में।
योगी सांख्य कहते।
जिस के वर्णन के लिये।
मैं बना कपिल ॥९५८॥

वह सुनो निर्दोष।
प्रकृति–पुरुष–विवेक।
बोले आदि पुरुष।
अर्जुन से ॥९५९॥
तो पुरुष है अनादि।
उसी से लगी हुई प्रकृति।
संसार में अहोरात्रि।
जैसे दोनों ॥९६०॥
रूप से रहित व्यर्थ।
पर छाया रूप के साथ।
कणहीन तुष बढ़े पार्थ।
कण के साथ ॥९६१॥
वैसा जानो यह युगल।
रहते दोनों एकत्र।
प्रकृति पुरुष प्रगट।
अनादि – सिद्ध ॥९६२॥
देखो क्षेत्र के नाम से।
जो सब कहा मैं ने।
उसी को यहाँ सखे।
जानो प्रकृति ॥९६३॥
और जिसे क्षेत्रज्ञ।
कहा मैं ने पार्थ।
वही जानो पुरुष।
निःसंशय ॥९६४॥
इसी के नाम भिन्न-भिन्न।
पर निरूप्य नहीं अन्य।
भूलो नहीं यह लक्षण।
बारम्बार ॥९६५॥
तो जो सत्तामात्र केवल।
वह पुरुष पाण्डुसुत।
जानो प्रकृति समस्त।
क्रियानाम ॥९६६॥

बुद्धि इन्द्रिय अन्तःकरण।
इत्यादि विकार भरण।
और वे तीनों गुण।
सत्त्वादिक ॥९६७॥
यह समस्त समुदाय।
प्रकृति से आविर्भूत।
कर्मोत्पत्ति का कारण।
इसे ही जानो ॥९६८॥
पहले इच्छा और बुद्धि।
अहङ्कार सहित उत्पन्न हुई।
फिर उन्हीं ने बढ़ाई प्रवृत्ति।
कारणों की ॥९६९॥
कारण-सिद्धि के लिये।
जो उपाय सूत्र बनते।
उन्हीं का नाम सखे।
'कार्य' ऐसा ॥९७०॥
प्रबल हो कर मद से।
मन में इच्छा उठे।
तब इन्द्रियों को चलाये।
यही कर्तृत्व ॥९७१॥
अतः इन तीनों को जान।
कार्य, कर्तृत्व, कारण।
प्रकृति मूल यह सिद्धराज।
बोले वहाँ ॥९७२॥
इन तीनों के समवाय से।
प्रकृति कर्मरूप बने।
तब जो गुण प्रबल रहते।
तदनुसार ॥९७३॥
जो सत्त्वगुण से अधिष्ठित।
वे कहलाते सत्कर्म।
जो रजोगुण से निष्पन्न।
वे मध्यम ॥९७४॥

और तम से केवल।
उत्पन्न जो कर्म।
वे निषिद्ध, अधम।
जानो निश्चित ॥९७५॥

सत् और असत् ऐसे।
कर्म प्रकृति से होते।
उन्हीं से निपजते।
सुख-दुःख अरे ॥९७६॥

असत् से दुःख उपजे।
सत्कर्म से सुख निपजे।
इन दोनों के कारण करे।
भोग पुरुष ॥९७७॥

जब तक सुख-दुःख ये।
सत्यत्वबुद्धि से निपजते।
तबतक प्रकृति उद्यम करे।
पुरुष भोगी ॥९७८॥

प्रकृति-पुरुष की यह खेती।
कहने में विसङ्गत बड़ी।
कि पत्नी को कमाई।
खाये पति ॥९७९॥

यह पति पत्नी के।
साथ कभी न रहे।
पर पत्नी जग उपजाये।
आश्चर्य सुनो ॥९८०॥

जो अनङ्ग, उदासीन।
एकाकी दरिद्र।
जीर्ण अतिवृद्ध।
वृद्धों से भी ॥९८१॥

उस का उपनामभर पुरुष।
अन्यथा न स्त्री न नपुंसक।
किम्बहुना वह क्या एक।
निश्चय नहीं ॥९८२॥

वह अचक्षु अश्रवण।
अहस्त अचरण।
उसका न रूप न वर्ण।
न नाम कोई ॥९८३॥

अर्जुन कुछ भी नहीं जिस में।
वह प्रकृति का भर्ता अरे।
ऐसा भी वह भोगे।
सुख-दुःख ॥९८४॥

वह भले अकर्ता।
उदास और अभोक्ता।
पर यह पतिव्रता।
कराती भोग ॥९८५॥

कोई साधारण स्त्री भी अरे।
रूप-गुण की चाल-ढाल से।
चाहे जैसा खेल कराये।
करके मोहित ॥९८६॥

फिर यह तो प्रकृति पार्थ।
गुणमयी इस का नाम।
किम्बहुना मूर्तिमन्त।
गुण ही वह ॥९८७॥

यह प्रतिक्षण नित्यनयी।
पूर्ण रूप-गुणमयी।
जड़ को भी कर सकती।
मदमत्त यह ॥९८८॥

नाम इसी से प्रसिद्ध।
स्नेह इसी से स्निग्ध।
इन्द्रिय होते प्रबुद्ध।
इसी से प्रेरित ॥९८९॥

स्वतः मन नपुंसक।
पर वह भोगे तीनों लोक।
ऐसे-ऐसे अलौकिक।
कार्य इसके ॥९९०॥

यह भ्रम का महाद्वीप।
यह व्याप्ति का ही रूप।
विकारों का उद्भव।
किया इसीने ॥९९१॥
यह कामलता का मण्डप।
मोहवन का माधव।
इसी का प्रसिद्ध नाम।
दैवी माया ॥९९२॥
यह वाङ्मय का विस्तार।
बनाती यही साकार।
प्रपञ्च का आक्रमण।
अभङ्ग यह ॥९९३॥
कला यहीं से उत्पन्न।
विद्या इसी से निष्पन्न।
इच्छा क्रिया ज्ञान।
प्रसूत इस से ॥९९४॥
यह नाद की टकसाल।
चमत्कार का वासस्थल।
किम्बहुना सकल।
खेल इस का ॥९९५॥
जो होते उत्पत्ति – प्रलय।
वह इसी के सायं – प्रात।
रहने दो यह, अद्भुत।
मोहन यह ॥९९६॥
यह अद्वय का दूसरा रूप।
यह निःसङ्ग का सभामित्र।
एकान्त शून्य घर।
प्रिय इसे ॥९९७॥
इस की ऐसी महिमामयी।
सौभाग्य की व्याप्ति।
कि वह मर्यादा ला सकती।
अनावर पर ॥९९८॥

वस्तुतः उस वस्तु में कभी।
स्वतः कुछ भी नहीं।
पर वह स्वयं ही।
बनती सब कुछ ॥९९९॥
उस स्वयम्भू की सम्भूति।
उस अमूर्त की मूर्ति।
वह स्वयं हो बनती।
स्थितिस्थान उस का ॥१०००॥
उस अनार्त की आर्त्ति।
उस पूर्ण की तृप्ति।
उस अकुल की जाति।
गोत्र बनती ॥१००१॥
उस अचर्च्य का चिह्न।
उस अपार का मान।
उस अमनस्क का मन।
तथा बुद्धि यह बने ॥१००२॥
उस निराकार का आकार।
निर्व्यापार का व्यापार।
निरहङ्कार का अहङ्कार।
हो कर स्थित ॥१००३॥
उस अनाम का नाम।
उस अज का जन्म।
स्वयं बनती उस का कर्म।
तथा क्रिया ॥१००४॥
उस निर्गुण का गुण।
उस अचरण के चरण।
उस अश्रवण के श्रवण।
अचक्षु के चक्षु ॥१००५॥
उस भावातीत का भाव।
निरवयव के अवयव।
किम्बहुना बनती सर्व।
पुरुष का यह ॥१००६॥

इस प्रकार प्रकृति।
बन कर सर्व–व्याप्ति।
उस अविकार में विकृति।
करे उत्पन्न ॥१००७॥
वहाँ जो पुरुषत्व।
वह प्रकृति दशा पाने पर।
अमा में चन्द्र जैसा लुप्त।
होता तब ॥१००८॥
अत्यन्त शुद्ध स्वर्ण में।
रत्ती भर खोट मिलायें।
तो भी कस उतर जाय।
जिस प्रकार ॥१००९॥
साधू में प्रविष्ट पिशाच।
कराता उस से मलिन कर्म।
अथवा सुदिन को मेघ।
बनाता दुर्दिन ॥१०१०॥
जैसे पय पशु के पेट में।
अथवा वह्नि काष्ठ में।
लिपटा हुआ पट में।
रत्नदीप ॥१०११॥
राजा हुआ पराधीन।
या सिंह रोग से रुद्ध दीन।
वैसा पुरुष प्रकृति के अधीन।
खोये स्वतेज ॥१०१२॥
जाग्रत नर सहसा।
निद्रा आने पर जैसा।
स्वप्नदशा के वश्य होता।
कौन्तेय ॥१०१३॥
वैसे होने पर प्रकृति-आधीन।
पुरुष भोगे गुण।
उदास नर स्त्री-आधीन।
हो जैसे ॥१०१४॥
वही अज-नित्य को होता प्राप्त।
लगते जन्म-मृत्यु के आघात।
जब होता उस का सङ्ग।
गुण-सङ्घात से ॥१०१५॥
पर वह ऐसा पाण्डुसुत।
जैसे पिटता लोह तप्त।
तो वह्नि पर हो आघात।
दिखता तब ॥१०१६॥
या आन्दोलित हो उदक।
तो प्रतिभा पड़तीं अनेक।
उसे नानात्व कहे लोक।
चन्द्र का जैसे ॥१०१७॥
दर्पण के समीप।
मुख में जैसे द्वित्व।
या कुङ्कुम से लोहितत्व।
स्फटिक में ॥१०१८॥
वैसे गुण–सङ्गम से।
अजन्मा यह जन्मे।
जन्म लेता सा दिखे।
वस्तुतः नहीं ॥१०१९॥
योनियाँ उत्तम अधम।
पुरुष को ग्रसें यह होता प्रतीत।
जैसे संन्यासी स्वप्नवश।
बने अन्त्यजादि ॥१०२०॥
अतः पुरुष में केवल।
भोग नहीं सम्भव।
यहाँ गुण–सङ्ग ही मूल।
सब के लिये ॥१०२१॥
यह प्रकृति में स्थित।
जैसे जुही का आधार स्तम्भ।
इस ओर प्रकृति का अन्त।
पृथ्वी-नभ जैसा ॥१०२२॥

प्रकृति सरिता के तट पर।
मेरु – सम यह पार्थ।
प्रवाह में हुआ प्रतिबिम्बित।
पर बहे नहीं ॥१०२३॥

प्रकृति होवे या जावे।
यह विद्यमान हो रहे।
अतः आब्रह्म का करे।
शासन यह ॥१०२४॥

प्रकृति जीवित इसी से।
इसी की सत्ता से जग प्रसवे।
इसी कारण यह कहाये।
भर्त्ता उस का ॥१०२५॥

अनन्त काल में किरीटी।
सृष्टि पर जो होती सृष्टि।
इसी के उदर में प्रवेश करती।
कल्पान्त समय ॥१०२६॥

यह महद् ब्रह्म का स्वामी।
ब्रह्मगोलक का मायावी।
माप लेता प्रपञ्च को भी।
अपारपन से ॥१०२७॥

और इस देह के मध्य।
परमात्मा नाम से प्रसिद्ध।
जो वस्तु वह यही पार्थ।
सुनो यथार्थ ॥१०२८॥

अरे प्रकृति के उस पार।
है एक तत्त्व ऐसा प्रवाद।
वह तत्त्वतः पाण्डुसुत।
यह पुरुष ही ॥१०२९॥

जो निखिलपन से ऐसे।
इस पुरुष को जाने।
और गुण–कर्म समझे।
प्रकृति के ही ॥१०३०॥

वह रूप यह छाया।
वह जल यह माया।
निर्णय धनञ्जय ऐसा।
कर पाये जो ॥१०३१॥

उसी प्रकार अर्जुन।
प्रकृति पुरुष का विवेचन।
जिस के मन के गोचर।
हुआ निश्चित ॥१०३२॥

वह शरीर – संयोग से।
सब कर्म करे भले।
पर आकाश न मलिन धुंए से।
वैसा वह ॥१०३३॥

रहते हुए देह।
उस में नहीं देहमोह।
और जाने पर देह।
पुनः न मिले ॥१०३४॥

ऐसा उस पर एक।
प्रकृति – पुरुष – विवेक।
उपकार अलौकिक।
करता सखे ॥१०३५॥

किन्तु यही भीतर अर्जुन।
विवेक भानु के समान।
उदित हो जिन से, वे सुन।
उपाय बहुत ॥१०३६॥

कोई एक कुन्तीसुत।
सुलगा कर विचार-पावक।
आत्म-अनात्म – कलुष।
को देता आहुति ॥१०३७॥

छत्तीस प्रकार के भेद।
हटा कर निर्विवाद।
निष्कर्ष पाता शुद्ध।
अपना आप ॥१०३८॥

उस अपने आप के उदर में।
आत्मध्यान की दृष्टि से।
किरीटी! देखता रहे।
निज स्वरूप ॥१०३९॥

और कोई दैववश।
साँख्य योग में देते चित्त।
कोई होते आश्रित।
कर्म के ॥१०४०॥

ऐसे-ऐसे प्रकार से।
सच ही निस्तार पाते।
पार्थ इस भव-भय से।
पूर्णतया ॥१०४१॥

जो हिताहित देखते।
हानि पर करुणा करते।
सांत्वना से दुःख हरते।
देते सुख ॥१०४२॥

कोई करते यह।
कि हो कर निरभिमान।
एक के वचन पर।
रखते विश्वास ॥१०४३॥

उन के मुख से जो निकले।
उसे पूर्ण आदर भाव से।
सुन कर तन्मय होते।
मन-प्राण से ॥१०४४॥

उस श्रवण के नाम पर।
सौंप देते अपना सब।
उन अक्षरों पर न्यौछावर।
करते प्राण ॥१०४५॥

अन्त में कपिध्वज वे।
इस मरणार्णव समाज से।
निकलते पूर्णरूप से।
भलीभाँति ॥१०४६॥

इस चतुर्विध प्रकार से।
जो पूर्णतया मुझ में मिले।
उन का न कुछ शेष रहे।
भोक्तव्य ॥१०४७॥

ऐसे-ऐसे उपाय।
अनेक यहाँ धनञ्जय।
जानने को वह अद्वय।
एक वस्तु ॥१०४८॥

अब रहने दो यह बहुत।
पर सर्वार्थ का मथित।
सिद्धान्त-नवनीत।
दूँ तुझे ॥१०४९॥

इस से ही पाण्डुसुत।
अनुभव होगा प्राप्त।
तब तू होगा तद्रूप!
अनायास ॥१०५०॥

अतः करूँ बुद्धि सज्ज।
मतवाद कर के खण्डित।
फिर कहूँ केवल शुद्ध।
फलितार्थ ॥१०५१॥

तो क्षेत्रज्ञ ऐसा कह कर।
दिखाया तुझे जो आत्मरूप।
और कहा गया क्षेत्र।
सम्पूर्ण ॥१०५२॥

उनके परस्पर मिलन से।
भूत सकल निपजते।
अनिलसङ्ग से सलिल में।
कल्लोल जैसे ॥१०५३॥

या तेज और ऊसर।
इन की भेंट होने पर।
मृगजल का पूर।
होता व्यक्त ॥१०५४॥

अथवा धाराधर से धारा।
बरसें तब वसुन्धरा।
नाना अङ्कुरों में प्रफुल्लिता।
होती जैसे ॥१०५५॥

वैसे समस्त सचराचर में।
जो कुछ 'जीव' इस नाम से।
वह उभययोग से सम्भवे।
जानो यह ॥१०५६॥

इस कारण अर्जुन।
क्षेत्रज्ञ और प्रधान।
इन से नहीं भिन्न।
भूतव्यक्ति ॥१०५७॥

पटत्व तन्तु नहीं जैसे।
पर तन्तु में ही वह रहे।
नयन खोल कर देखो ऐसे।
ऐक्य यह ॥१०५८॥

निपजते भूत सकल।
एक में से एक।
किन्तु भूतप्रतीति भिन्न।
होती देखो ॥१०५९॥

इन के नाम अन्य–अन्य।
असदृश वर्तन।
वेष भी सब भिन्न।
देखो इन के ॥१०६०॥

किरीटी ऐसा देखकर।
यदि रखो मन में भेद।
तो कोटिजन्म – पर्यन्त।
न होगे मुक्त ॥१०६१॥

पर नाना प्रयोजनशील।
दीर्घ वक्र वर्तुल।
होते एक तुम्बिनी के फल।
विविध जैसे ॥१०६२॥

भले ह्रों सीधे या वक्र।
पर कहलाते बेर के फल।
वैसे भूत विविधाकार।
पर वस्तु ऋजु ॥१०६३॥

विविध रूप अङ्गारों में।
उष्णता एक ही रहे।
वैसे नाना जीवराशि में।
परेश विराजे ॥१०६४॥

धारायें भरीं गगन में।
पर जल तो एक ही अरे।
वैसे इस भूताकार के।
सर्वाङ्ग में ॥१०६५॥

यह भूतग्राम विषम।
पर वस्तु वह इन में सम।
घट या मठ में व्योम।
जिस प्रकार ॥१०६६॥

यह नष्ट होने पर भूताभास।
यहाँ आत्मा वह अविनाश।
जैसे केयूरादि में कस।
सुवर्ण का ॥१०६७॥

ऐसे जीवधर्म-हीन।
जो जीवों से अभिन्न।
उसे देखे वही सुनयन।
ज्ञानियों में ॥१०६८॥

ज्ञानचक्षु–शालियों में।
चक्षु उसे जानो सुखे।
यह स्तुति नहीं, वह अरे।
अतिभाग्यशील ॥१०६९॥

यह गुणेन्द्रिय की पोटली।
देहधातुओं की त्रिपुटी।
पाँच मिलने से बनी अशुचि।
अतिदारुण ॥१०७०॥

पाँच डङ्क का वृश्चिक।
यहाँ पञ्चग्रा धधके अनल।
जीव पञ्चानन को मिला घास।
हरिणकुटी में ॥१०७१॥
ऐसा है तब भी शरीर में।
कोई नित्यबुद्धि–छुरी से।
अनित्य भाव के उदर में।
न करे प्रहार ॥१०७२॥
पर रहते भी इस देह में।
जो आत्मघात न करे।
और पाण्डुसुत अन्त में।
आत्मा में मिले ॥१०७३॥
जहाँ योग–ज्ञान की प्रौढ़िसे।
जन्म कोटि लाँघ कर अरे।
पुनः न निकलने के लिये।
डुबकी लगाते योगी ॥१०७४॥
जो आकार का परला तीर।
जो नाद के उस पार।
तुर्या का पीहर।
परब्रह्म जो ॥१०७५॥
मोक्ष सहित सब गति।
पाती जहाँ विश्रान्ति।
'अपां पति' में गङ्गा आदि।
सरिता जैसे ॥१०७६॥
वह सुख इसी देह में।
पाँव पखारने को मिले।
यदि न हो भूतवैषम्य में।
विषम बुद्धि ॥१०७७॥
कोटि दोषों में जैसे।
तेज एक समान रहे।
वैसा जो सर्वत्र विलसे।
सद्‌रूप ईश ॥१०७८॥

ऐसे समत्व से पाण्डुसुत।
जिये जो जागृत नित्य।
उसे मरण और जीवित।
पुनः न प्राप्त ॥१०७९॥
अतएव वह भाग्य – शील।
हो बारम्बार वर्णित।
जो साम्यसेज में निद्रित।
सदा पार्थ ॥१०८०॥
और मन – बुद्धि – प्रमुख।
कर्मेन्द्रियों से अशेष।
प्रकृति ही करती सब।
यह देखे जो ॥१०८१॥
निवासी विचरें घर में।
घर कुछ भी न करे।
अभ्र दौड़ें अम्बर में।
अम्बर निश्चल ॥१०८२॥
वैसे प्रकृति आत्म-प्रभा में।
विविधारम्भ-गुणों से खेले।
आत्मा निश्चल स्थिर इस में।
जाने न कोई ॥१०८३॥
ऐसे बोध से जिस ने।
पाया प्रकाश हृदय में।
अकर्ता को स्फुट रूप से।
देखा उस ने ॥१०८४॥
यों भी तभी अर्जुन।
होते ब्रह्मसम्पन्न।
जब यह भूताकृति भिन्न।
दिखती एक में ॥१०८५॥
लहरी जैसे जल में।
परमाणुकणिका स्थल में।
रश्मिकर मण्डल में।
सूर्य के जैसे ॥१०८६॥

अथवा देह में अवयव।
मन में समस्त भाव।
विस्फुलिङ्ग सर्व।
एक वह्नि में ॥१०८७॥
वैसे एक का ही भूताकार।
यह दृष्टि में दृढ़ प्रत्यय।
तभी ब्रह्म-सम्पत्ति का प्राप्त।
होता निधान ॥१०८८॥
फिर जहाँ-जहाँ दृष्टि पड़े।
ब्रह्म ही स्पष्ट भासे।
किम्बहुना अनुभवे।
अपार सुख ॥१०८९॥
इस प्रकार पार्थ।
प्रकृति—पुरुष—व्यवस्था यह।
दिखाई, तुझे प्रतीतिगत।
हुई क्या? ॥१०९०॥
अञ्जलि में आये अमृत।
नयन देख लें निधान।
उतना ही परम लाभ।
मान्य यह ॥१०९१॥
होने पर यह प्रतीति।
इच्छा यहाँ घर बाँधने की।
न होगी क्या सुभद्रापति।
इस के अनन्तर ॥१०९२॥
पर और भी एक—दो शब्द।
कहने हैं अर्थ-गर्भित।
कर के सावकाश चित्त।
करो ग्रहण ॥१०९३॥
देव ने ऐसा कहा।
फिर कहना आरम्भ किया।
तब अवधान-रूप बनाया।
सर्वाङ्ग उस ने ॥१०९४॥

परमात्मा कहते जिसे।
उसे ऐसा जानो स्वरूप से।
जल में न लिप्त होता जल से।
सूर्य जैसे ॥१०९५॥
जल से पहले और पीछे।
वह विद्यमान ही रहे।
जल में प्रतिबिम्बित दिखे।
अन्यों को दृष्टि से ॥१०९६॥
वैसे आत्मा देह में।
निवसे जो कहलाये।
वह यथार्थ नहीं अरे।
वह जहाँ का तहाँ ॥१०९७॥
दर्पण में मुख जैसे।
प्रतिबिम्बित कहलाये।
देह में बसना वैसे।
आत्मतत्त्व का ॥१०९८॥
उस का देह से सम्बन्ध।
यह कथन ही है व्यर्थ।
वायु और बालू की गांठ।
बँधती कभी? ॥१०९९॥
आग और कपास से।
डोरा बटें कैसे?
आकाश—पृथ्वी में कैसे।
लगायें जोड़ ॥११००॥
एक निकले पूर्व की ओर।
दूसरा पश्चिम की ओर।
उन के मिलने के समान।
यह सम्बन्ध ॥११०१॥
अँधेरा और प्रकाश।
या मृत और जीवित।
उन के जैसा सम्बन्ध।
देह आत्मा का ॥११०२॥

रात्रि और दिवस।
कनक और कपास।
ये जैसे परस्पर विषम।
वैसे ये भी ॥११०३॥

देह उपजा पाँच से।
गुँथा कर्मडोरी से।
घूम रहा जन्ममृत्यु के।
चक्र पर चढ़ा ॥११०४॥

यह कालानल के कुण्ड में।
मक्खन-गोली डाली अरे।
मक्खी पङ्ख फड़फड़ाये।
इतने में यह समाप्त ॥११०५॥

यदि यह अग्नि में पड़े।
तो भस्म हो कर उड़े।
यदि पड़े श्वानमुख में।
तो बने विष्ठा ॥११०६॥

यदि बचे इन दोनों से।
तो कृमियों का पुञ्ज बने।
यों कपिध्वज परिणमे।
कश्मलरूप ॥११०७॥

इस देह की तो यह दशा।
और आत्मा ऐसा।
शुद्ध नित्य स्वभावतः।
अनादिपन से ॥११०८॥

न सकल न निष्कल।
न अक्रिय न क्रियाशील।
न कृश न ही स्थूल।
निर्गुणपन से ॥११०९॥

न साभास न निराभास।
न प्रकाश न अप्रकाश।
न अल्प न ही बहुत।
अरूपपन से ॥१११०॥

न रिक्त न भरित।
न रहित न सहित।
न मूर्त न अमूर्त।
शून्यपन से ॥११११॥

न आनन्द न निरानन्द।
न एक न विविध।
न मुक्त न हो बद्ध।
आत्मपन से ॥१११२॥

न इतना न उतना।
न स्वयम्भू न रचा हुआ।
न वाचाल न गूँगा।
अलक्षपन से ॥१११३॥

न सृष्टि के साथ उत्पन्न।
न सर्वसंहार में नष्ट।
अस्ति-नास्ति उभय का।
पञ्चत्व यह ॥१११४॥

न मेय न चर्चा-विषय।
न बढ़े न हो अल्प।
न नष्ट न ही क्षीण।
अव्ययपन से ॥१११५॥

देखो आत्मा एवंरूप।
जो देही कहाता प्रियोत्तम।
वह मठाकार में व्योम।
नाम जैसे ॥१११६॥

वैसो उस की अनुस्मृति।
होती जाती देहाकृति।
वह न ले न छोड़े सुमति।
जैसा का तैसा ॥१११७॥

अहो-रात्र जैसे।
आते-जाते आकाश में।
आत्मसत्ता वैसे।
जानो देह में ॥१११८॥

अतएव इस शरीर में।
वह न करे न करायें।
प्रकृति के व्यापार में।
न होता सज्ज ॥११११९॥

अतएव स्वरूप।
न हो न्यून न पूर्ण।
किम्बहुना न हो लिप्त।
देह में देही ॥१११२०॥

आकाश कहाँ नहीं अरे।
कहाँ पर वह न प्रवेशे।
पर कभी किसी से।
न होता मलिन ॥११२१॥

वैसे सर्वत्र सब देहों में।
आत्मा वर्तमान रहे।
पर किसी के सङ्गदोष से।
नहीं लिप्त ॥११२२॥

बारम्बार इस विषय में।
यही लक्षण शुद्ध अरे।
कि क्षेत्रज्ञ को जानें।
क्षेत्र–विहीन ॥११२३॥

संसर्ग से चेष्टित लौह।
पर लौह नहीं चुम्बक।
क्षेत्र–क्षेत्रज्ञ में जान।
अन्तर उतना ॥११२४॥

दीपक की ज्योति में।
घर के व्यापार चलते।
पर कितनी भिन्नता अरे।
दीप और घर में ॥११२५॥

देखो काष्ठ के उदर में।
वह्नि है पर पार्थ सखे।
काष्ठ नहीं इस दृष्टि से।
देखो इसे ॥११२६॥

भिन्न नभ से अभ्र।
रवि और मृगजल।
वैसा यह, इसे नयन।
देखें पाण्डव ॥११२७॥

रहे यह सब, पर एक।
गगन में जैसे अर्क।
प्रगट करता लोक।
प्रतिदिन ॥११२८॥

वैसे यहाँ क्षेत्रज्ञ।
क्षेत्राभास का प्रकाशक।
इस पर न करना प्रश्न।
न लाना शङ्का ॥११२९॥

शब्द–तत्त्व – सारज्ञ।
वही प्रज्ञा–सुनयन।
जो देखे वैलक्षण्य।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञ का ॥११३०॥

इन दोनों का अन्तर।
देखने को चतुर।
ज्ञानियों के द्वार पर।
करते आराधना ॥११३१॥

इसी के लिये सुमति।
जुटाते शान्ति-सम्पत्ति।
दुधारू गौ शास्त्ररूपी।
पोसते घर में ॥११३२॥

योग के आकाश पर।
चढ़ने का साहस।
इस आशा के बल पर।
पाते पुरुष ॥११३३॥

शरीरादि समस्त।
मानते तृणसम।
सन्तपादुका करते धारण।
प्राणपन से ॥११३४॥

ऐसी-ऐसी रीति से।
ज्ञान का भराव सखे।
कर के निज अन्तर में।
होते शुद्ध ॥११३५॥

फिर क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का।
जो देखते अन्तर सच्चा।
उस ज्ञान के उन्मेष पर।
न्योछावर मैं ॥११३६॥

और महाभूतादिक।
प्रभेदों में अनेक।
प्रसरी जो अकारण।
प्रकृति यह ॥११३७॥

जो शुकनलिका-न्याय से।
न पकड़कर भी पकड़े हुए।
इस स्थिति को जो जाने।
यथावत् पार्थ ॥११३८॥

माला को माला-रूप से।
नयनों से ठीक देख ले।
सर्पबुद्धि हटने से।
जो थी मिथ्या ॥११३९॥

या शुक्ति ही है शुक्ति।
यह हो सत्य प्रतीति।
रूपे की सब भ्रान्ति।
मिटकर ॥११४०॥

वैसे भिन्न को भिन्नपन से।
प्रकृति को अन्तःकरण में।
देख ले, मैं कहता उसे।
हुआ ब्रह्म ॥११४१॥

जो आकाश से विशाल।
जो अव्यक्त के उस पार।
जो मिलने पर नहीं वियोग।
निजरूप से ॥११४२॥

आकार जहाँ समाप्त।
विलीन होता जीवत्व।
द्वैत न रहता शेष।
अद्वय जो ॥११४३॥

वह परम तत्त्व पार्थ।
वे सर्वथा तद्रूप।
जो आत्मानात्म-व्यवस्था में।
राजहंस ॥११४४॥

ऐसे यह समस्त।
श्रीकृष्ण ने पाण्डवसम्मुख।
खोल दिया निज रहस्य।
प्राणों का ॥११४५॥

एक कलश का जल जैसे।
दूसरे कलश में उंडेलें।
अपना आप श्रीहरि ने।
दिया वैसे ॥११४६॥

और किसे देता कौन?
वह नर और वे नारायण।
फिर बोले अर्जुन से कृष्ण।
मैं ही तू ॥११४७॥

पर रहने दो यह सब अरे।
बिन पूछे ही कहा मैं ने।
किम्बहुना दिया हरि ने।
सर्वस्व उसे ॥११४८॥

पर निज मन में पार्थ।
अब भी नहीं सन्तृप्त।
उत्कण्ठा अधिकाधिक।
बढ़ रही ॥ ११४९ ॥

स्नेह अधिक भरने से।
दीप-शिखा बढ़े जैसे।
चाव अर्जुन के अन्तस् में।
बढ़े वैसे ॥ ११५० ॥

सुगृहिणी और उदार।
फिर रसज्ञ बैठे भोजन पर।
ये दोनों मिलें तब।
आनन्द द्विगुणित ॥११५१॥
वैसा ही देव को हुआ।
अवधान अद्‌भुत उस का।
देख कर व्याख्यान बढ़ा।
चौगुना ॥११५२॥
अब आनन्दमय समस्त।
विश्व करेंगे देव।
राजन् वह सुनो अब।
कहे संजय ॥११५३॥
सुवायु से मेघ उमड़ें।
जैसे चन्द्र से सिन्धु उभरे।
उमगा रस आदर से।
श्रोतागण के ॥११५४॥
ऐसे जो महाभारत में।
अप्रान्तमति श्री व्यास ने।
भीष्मपर्व की सङ्गति में।
कही कथा ॥११५५॥
वह श्रीकृष्णार्जुन संवाद।
नागरी बोली में विशद।
कह कर रचूं प्रबन्ध।
ओवियों में ॥११५६॥
यह शान्तिकथा केवल।
वाक्पथ में लाऊँगा अब।
जो शृङ्गार के मस्तक पर।
रखे पाँव ॥११५७॥
करूँ प्रगट देशी नवीन।
जो साहित्य को करे सुशोभित।
अमृत को भी दिखाये न्यून।
माधुर्य में ॥११५८॥

शब्द आर्द्रता के गुण में।
चन्द्र से भी स्पर्धा करें।
हो मोहित उस रसरङ्ग से।
स्वयं नाद ॥११५९॥
खेचरों के भी मन में।
सात्त्विक भाव के बौर खिलें।
रसिकजन हों श्रवण से।
समाधिस्थ ॥११६०॥
वैसा वाग्‌विलास विस्तारूँ।
गीतार्थ से विश्व भरूँ।
आनन्द का कोट रचूँ।
जग के लिये ॥११६१॥
विवेक की न्यूनता हो दूर।
श्रवण मन हों कृतकृत्य।
जो चाहे सो देखे खान।
ब्रह्मविद्या की ।११६२॥
परतत्त्व दिखे नयनों से।
सुख का महोत्सव प्रगटे।
महाबोध-सुकाल में करे।
प्रवेश विश्व ॥११६३॥
यह होगा निष्पन्न अब।
बोलूँगा ऐसा सुन्दर।
जो परम देवने किया अधिष्ठित।
श्रीनिवृत्तिने मुझे ॥११६४॥
अतः अक्षर-अक्षर में।
उपमा-श्लेष के जमघट में।
पृथक् कहूँगा प्रतिपद में।
ग्रन्थार्थ सहित ॥११६५॥
यह करवाने को मुझ से।
पूर्णतया सारस्वत में।
किया समर्थ श्रीमन्त मेरे।
गुरुराज ने ॥११६६॥

उन्हीं के कृपाश्रय से।
जो बोलूं वह मान्य बने।
और आप सब की सभा में।
कहूँ गीतार्थ ॥११६७॥

फिर आप सन्तों के चरण।
पाये मैंने आज सुदिन।
अतएव न रहेगी अब।
अटक कहीं ॥११६८॥

काश्मीरा का सुत मूक।
न जन्मे इस में क्या कौतुक।
नहीं न्यून सामुद्रिक।
लक्ष्मीसुत में ॥११६९॥

वैसे आप सन्तों के निकट।
अज्ञान की कैसी बात।
अतएव नवरस–भरित।
बरसूँगा मैं ॥११७०॥

किम्बहुना अब देव। दीजिये मुझे अवसर।
कहें ज्ञानदेव सुन्दर। कहूँ ग्रन्थ ॥११७१॥

इति श्रीमद्ज्ञानेश्वरविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीता –'भावार्थ–दीपिकायाम्' क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥

॥ हरिः ॐ तत् सत् ॥

॥ ॐ हरिः ॐ ॥

चतुर्दश अध्याय

जय जय आचार्य।
समस्त – सुर-वर्य।
प्रज्ञा – प्रभात–सूर्य।
सुखोदय ॥१॥

जय जय सर्व–विश्राम।
सोहंभाव–शोभाधाम।
नानालोक–तरङ्गाधार।
समुद्र तुम ॥२॥

सुनिये जो आर्तबन्धु।
निरन्तर कारुण्य–सिन्धु।
विशदविद्यावधू–
–वल्लभ जी ॥३॥

जिन के प्रति तुम छिप जाते।
उन्हें यह विश्व दिखाते।
जिन के प्रति प्रगट रहते।
वहाँ सभी तुम ॥४॥

दर्शक की दृष्टि चुरा कर।
उपजाते दृष्टिबन्ध।
पर तुम्हारा नवल लाघव।
चुराते निज को ही ॥५॥

जो तुम्हीं हो यह सब।
किसी को माया किसी को बोध।
ऐसे अपने आप में ऐन्द्रजालिक।
प्रणाम तुम्हें ॥६॥

जल कहाता आर्द्र जग में।
वह सुरस तुम्हारी आर्द्रता से।
क्षमा गुण आया तुम से।
पृथ्वी में ॥७॥

रवि–चन्द्रादि शक्ति–जैसे।
त्रिलोक को प्रकाशित करते।
वे तुम्हारी ही दीप्ति से।
तेजस्वी ॥८॥

अनिल जो सञ्चार करे।
वह देव के ही निज बल से।
नभ तुझ में ही खेले।
लुका–छिपी ॥९॥

किम्बहुना माया अगाध।
तुम से ही सुनयन ज्ञान।
रहें वर्णन सायास।
श्रुतियों के ॥१०॥

वेद तभी तक करते वर्णन।
जब तक न पाते तुम्हारा दर्शन।
फिर हम और वे मूक।
एक पंक्ति में ॥११॥

जो एकार्णव की दशा में।
बिन्दु न जाना जा सके।
फिर महानदी कैसे।
जानी जायें ॥१२॥

या उदित होने पर भास्वत।
चन्द्र बनता खद्योत।
हम और श्रुतियाँ तुम्हारे सम्मुख।
वैसे ही ॥१३॥

द्वैत जहाँ समूल विरमे।
परा सहित वैखरी थमे।
ऐसे तुम्हारा वर्णन करें।
किस मुख से? ॥१४॥

इसीलिये अब।
स्तुति छोड़कर निःशब्द।
चरणों में रखें मस्तक।
उचित यही ॥१५॥
तो जैसे हैं वैसे आप को।
श्री गुरुराज प्रणाम हो।
मेरा ग्रन्थोद्यम सफल हो।
करें सहाय ॥१६॥
अब कृपाभाण्डार खोल कर।
भरिये मेरा मति-पात्र।
जुटा दीजिये ज्ञान-पद्य।
सम्पूर्ण मुझे ॥१७॥
फिर मैं शब्द-संसरण से।
रचूं कर्णभूषण सन्तों के।
सजाऊँ सुलक्षणों से।
विवेक के ॥१८॥
श्री गीतार्थ-निधान।
निकाल सके मेरा मन।
दीजिये वह स्नेहाञ्जन।
नेत्रों को ॥१९॥
इस वाक्सृष्टि को एक बार।
देखें मेरे बुद्धिनेत्र।
वैसे उदित हों आप निर्मल।
कारुण्य-बिम्ब ॥२०॥
मेरी प्रज्ञावेलि सुन्दर।
काव्य से हो सफल।
बनें वह वसन्त आप।
स्नेहि-शिरोमणि ॥२१॥
प्रमेय महापूर से।
यह मति-गङ्गा उभर उमड़े।
ऐसी उदार दृष्टि से।
बरसिये जी ॥२२॥

अहो विश्वैक-धाम दाता।
तुम्हारा प्रसाद-चन्द्रमा।
मेरी स्फूर्ति की पूर्णिमा।
बने आज ॥२३॥
जी आप मुझे अवलोकें।
तो उन्मेष-सागर में ज्वार उठे।
स्फूर्ति में तरङ्ग उमड़ें।
रसवृत्ति के ॥२४॥
तब सन्तुष्ट हुए गुरुराज ने।
कहा विनति के व्याज से।
तुम लगे द्वैत दिखाने।
स्तवन मिस से ॥२५॥
अब रहने दो यह व्यर्थ।
कर के ज्ञानार्थ सुस्पष्ट।
कहो ग्रन्थ, न करो भङ्ग।
उत्कण्ठा का ॥२६॥
जी हाँ जो स्वामी।
मुझे प्रतीक्षा थी यही।
कि श्रीमुख से कहें आप ही।
कहो ग्रन्थ ॥२७॥
सहज ही दूर्वामूल।
जाति से होता अमर।
उस पर आये पूर।
पीयूष का ॥२८॥
अब पा कर यह प्रसाद।
विन्यास में विदग्ध।
करूँगा मूल शास्त्रपद।
व्याख्यात ॥२९॥
जिस से जीव के अन्तर में।
सन्देह की नाव डूबे।
तथा श्रवणों में चाव दिखे।
बढ़ा हुआ ॥३०॥

वैसी वाणी सत्यमयी।
अवतरे मुझ में माधुरी।
गुरुकृपा के घर में यही।
याचना मेरी ॥३१॥
तो त्रयोदश अध्याय में।
अब तक कहा पहले।
श्रीकृष्ण ने अर्जुन से।
यह विषय ॥३२॥
कि क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ योग से।
यह जग समस्त उपजे।
और आत्मा गुणसङ्ग से।
बने संसारी ॥३३॥
और यही प्रकृतिगत।
सुख-दुःख-भोग में हेतुभूत।
अन्यथा गुणातीत।
केवल यह ॥३४॥
तो कैसा असङ्ग का सङ्ग।
क्या वह क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ योग।
और सुख-दुःखादि भोग।
कैसे उसे ? ॥३५॥
गुण वे कैसे कितने।
बाँधते किस रीति से।
तथा गुणातीत के।
क्या चिह्न ? ॥३६॥
ऐसे इस समस्त।
अर्थ को करें वर्णित।
यही अध्याय का विषय।
चौदहवें का ॥३७॥
तो ऐसा वह अब।
सुनो कथार्थ प्रस्तुत।
अभिप्राय श्रीविश्वेश।
वैकुण्ठ का ॥३८॥

वे बोले अरे अर्जुन।
अवधान का सब सैन्य।
जुटा कर इस ज्ञान पर।
हो एकाग्र ॥३९॥
मैंने पहले बहुत तुझे।
यह उपपत्ति दिखाई अरे।
पर अब भी न गई दिखे।
अप्रतीति ॥४०॥
अतः फिर एक बार।
तेरे प्रति कहूँगा पार्थ।
श्रुतियों ने जिसे 'पर' कहकर।
किया वर्णन ॥४१॥
यों यह अपना ही ज्ञान।
किन्तु 'पर' हो गया इस कारण।
कि लिये हमने आकृष्ट हो कर।
भव-स्वर्गादिक ॥४२॥
अरे इसी कारण से।
मैं सर्वोत्तम कहूँ इसे।
कि वह्नि वह और दूसरे।
तृणरूप ज्ञान ॥४३॥
जो भव-स्वर्ग को जानते।
याग हो श्रेष्ठ कहते।
पारखी उद्भट बड़े।
भेद के जो ॥४४॥
वैसे सभी ज्ञान।
करता यह स्वप्न समान।
जैसे वातोर्मि को गगन।
निगले अन्त में ॥४५॥
या उदित होने पर रश्मिराज।
लुप्त होते चन्द्रादि तेज।
अथवा प्रलयाम्बु-मध्य।
नदी-नद ॥४६॥

वैसे होने पर इस का उदय।
ज्ञानजात पाता विलय।
अतएव हे धनञ्जय।
उत्तम यह ॥४७॥

अनादि जो मुक्तता नित्य।
अपनी ही पाण्डुसुत।
वह मोक्ष होता हस्तगत।
जिस ज्ञान से ॥४८॥

जिस की प्रतीति होने पर।
समस्त विचार विचारवीर।
न दे उठाने मस्तक।
संसृति को ॥४९॥

मन से मन को धकेले पीछे।
विश्रान्तिरूप प्रत्यङ्ग में।
वह देह में रहते भी देह से।
सीमित नहीं ॥५०॥

फिर वह देह–द्वयावरोध।
लाँघ कर एक ही बार।
तुला में मेरे समान।
होता तत्क्षण ॥५१॥

जो मेरी नित्यता।
उस से नित्य वह सदा।
परिपूर्ण वे सर्वथा।
मम पूर्णता से ॥५२॥

मैं जैसा अनन्तानन्द।
और जैसा सत्यसागर।
वैसा ही वह, नहीं भेद।
तब हम में ॥५३॥

मैं जो जितना जैसा अरे।
वैसे ही होते वे।
घटभङ्ग से घटाकाश जैसे।
आकाश ही ॥५४॥

अथवा मूलदीप-ज्योति में।
अनेक दीप–शिखा मिलें।
तब एक आलोक जैसे।
प्रसरे पार्थ ॥५५॥

अर्जुन उसी प्रकार।
द्वैतयात्रा होती समाप्त।
विलसे एक में नानार्थ।
मैं तू विना ॥५६॥

अरे इसी कारण जब।
होता सृष्टि का प्रारम्भ।
तब भी उसे यहाँ जन्म।
न लेना पड़े ॥५७॥

सृष्टि के सर्वादि में।
देहबन्धन नहीं जिसे।
उसका कैसे प्रलयावधि में।
होगा अन्त ॥५८॥

अतएव जन्म–क्षय से।
अतीत धनञ्जय वे।
मद्रूप हुए इस ज्ञान के।
अनुसरण से जो ॥५९॥

ज्ञान की महिमा ऐसे।
वर्णित की प्रेम से देवने।
अर्जुन का प्रेम उस में।
जगाने के लिये ॥६०॥

तब उस की स्थिति हुई अन्य।
सर्वाङ्ग में फूटे श्रवण।
नख–शिखान्त अवधान –
—रूप बना वह ॥६१॥

अब जाना यह देव ने।
आकलन हो रहा प्रेम से।
अतः निरूपण प्रसरे।
आकाश से अतीत ॥६२॥

फिर बोले हे प्रज्ञाकान्त।
आज सार्थक हुआ वक्तृत्व।
जो कथन के समान ग्राहक।
श्रोता मिला ॥६३॥

मुझ एक को अनेक में।
फँसाया देह–पाशों में।
त्रिगुण रूपी लुब्धक ने।
किस प्रकार? ॥६४॥

कैसे क्षेत्रयोग से यह।
प्रसूत हुआ सारा जग।
कहूँगा अब, सुनो पार्थ।
किस प्रकार ॥६५॥

'क्षेत्र' इस व्याज से।
इसीलिये कहते उसे।
कि मत्सङ्ग–बीज से।
उत्पन्न भूत ॥६६॥

और यों भी तो महद्ब्रह्म।
यह कारण कि उस का नाम।
महदादि का विश्रामधाम।
यही पार्थ ॥६७॥

विकारों का अतिप्रसार।
अर्जुन इसी का कार्य।
अतएव कहलाता यह।
महद् ब्रह्म ॥६८॥

अव्यक्तवाद मत में।
अव्यक्त यही कहलाये।
साँख्यों की प्रतीति में।
प्रकृति यही ॥६९॥

इसे ही माया वेदान्त।
कहता सुनो प्रज्ञाकान्त।
रहने दो, कितना कहूँ व्यर्थ।
अज्ञान यह ॥७०॥

अपना ही अपने को।
धनञ्जय विस्मरण जो।
वही है रूप जानो।
अज्ञान का ॥७१॥

और भी एक चिह्न अरे।
कि विचार के समय न दिखे।
दीप से देखने पर जैसे।
न दिखे अँधेरा ॥७२॥

हिलाने से लुप्त होती।
निश्चल रहे तो जमती।
जैसे दूध की मलाई।
दूध में ही ॥७३॥

या न जागृति न स्वप्न।
न हो स्वरूप में अवस्थान।
वह सुषुप्ति जैसी घन।
होती पार्थ ॥७४॥

न उपजाते हुए पवन।
जैसे बाँझ रीता गगन।
वैसा सर्वथा रिक्त।
अज्ञान यह ॥७५॥

वहाँ खम्भा है या पुरुष।
ऐसा निश्चय न होता एक।
पर न जाने क्या कुछ।
दिखता केवल ॥७६॥

वैसे वस्तु जैसी अरे।
वैसी यथार्थ न दिखे।
पर असदृश भी उस से।
दिखे नहीं ॥७७॥

न रात्रि न तेज।
वह सन्धि जैसे साँझ।
वैसे न विरुद्ध न निज।
अज्ञान यह ॥७८॥

ऐसी कोई दशा एक।
कहलाती अज्ञान।
उस से वेष्टित प्रकाश।
क्षेत्रज्ञ जानो ॥७९॥

अज्ञान को बढ़ने दे।
स्वरूप को न जाने।
वही रूप जानो सखे।
क्षेत्रज्ञ का ॥८०॥

यही उभय – योग।
समझ लो भली प्रकार।
सत्ता का नैसर्गिक।
स्वभाव यह ॥८१॥

अब अज्ञान-सदृश रूप में।
वस्तु निज को देखे।
पर अनेक रूपों में।
न जाने कितने ॥८२॥

जैसे रङ्क भ्रमित।
कहे मैं आया नृप।
अथवा गया मूर्छित।
स्वर्गलोक में ॥८३॥

वैसे दृष्टि होने पर चलित।
जो-जो दृश्य स्फुरित।
वही कहलाता सृष्टि-प्रसव।
मेरा पार्थ ॥८४॥

जैसे स्वप्न से मोहित।
एकाकी निज को देखे बहुविध।
वैसा ही आत्मा पार्थ।
निज स्मरण विना ॥८५॥

यही अन्य प्रकार से।
प्रमेय कहूँगा फिर से।
पर तू प्रतीति रखना अरे।
इसी की दृढ़ ॥८६॥

तो यह है मेरी गृहिणी।
अनादि नित्य तरुणी।
अनिर्वाच्य नाम-गुणी।
अविद्या नाम ॥८७॥

न होना ही इसका रूप।
स्थान में अति अमाप।
यह निद्रित के समीप।
जागृत से दूर ॥८८॥

यह मेरे ही अङ्ग में।
मेरे सोने पर जागे।
और सत्ता-सम्भोग से।
हो गुर्विणी ॥८९॥

महद्-ब्रह्म उदर में।
प्रकृति आठ विकारों से।
उस गर्भ की करे।
अभिवृद्धि ॥९०॥

उभय-सङ्ग से प्रथम।
बुद्धि – तत्त्व उत्पन्न।
बुद्धितत्त्व का परिणाम।
होता मन ॥९१॥

तरुणी ममता मन की।
वह अहङ्कारतत्त्व रचती।
उस से महाभूतों की।
हो अभिव्यक्ति ॥९२॥

विषयेन्द्रियों का सम्बन्ध।
स्वभावतः भूतों के साथ।
अतएव वे भी साथ-साथ।
होते व्यक्त ॥९३॥

होने पर विकार-क्षोभ।
जो त्रिगुण के पीछे स्थित।
तब वासना गर्भ में आता जीव।
यथायोग्य ॥९४॥

अङ्कुर बनती वृक्ष का।
जैसे बीजकणिका।
संयोग होते ही उदक का।
बढ़ा जीव ॥९५॥

वैसे मेरे सङ्ग में।
नाना जग अविद्या प्रसवे।
तीक्ष्ण अङ्कुर हों फूटे जैसे।
जगबीज के ॥९६॥

उस गर्भ–गोलक में फिर।
गटते कैसे आकार।
सुनो वह सुजनराज।
पार्थ अब ॥९७॥

तब मणिज स्वेदज।
उद्भिज और जारज।
उभरते ये सहज।
अवयव ॥९८॥

व्योम–वायु–वश से।
बढ़े हुए सत्त्व रज से।
मणिज नामक उपजते।
अवयव ॥९९॥

तम रज लिये उदर में।
तोय और तेज बढ़ते।
तब उन से निपजते।
स्वेदज ॥१००॥

आप–पृथ्वी हों उत्कट।
और तमोमात्र निकृष्ट।
तब उगते स्थावर।
उद्भिज ये ॥१०१॥

पाँचा पाँच हों समन्वित।
साथ मन–बुद्धि सुसज्ज।
इसी हेतु से जारज।
होते उत्पन्न ॥१०२॥

ऐसे चारों ये सरल।
बने कर – चरण – तल।
महा – प्रकृति स्थूल।
वही शिर ॥१०३॥

प्रवृत्ति विशाल उदर।
निवृत्ति पीठ सुन्दर।
सुरयोनि आठों अङ्ग।
ऊर्ध्व के ॥१०४॥

कण्ठ उल्लसित स्वर्ग।
मृत्युलोक मध्यभाग।
अधोदेश सुगठित।
नितम्बरूप ॥१०५॥

ऐसा बालक एक।
जनमा इस ने देख।
जिस के तीनों लोक।
सुपुष्ट अङ्ग ॥१०६॥

चौरासी लाख योनियाँ!
इस की अस्थि–सन्धियाँ।
दिन–प्रतिदिन बढ़ रहा।
बालक यह ॥१०७॥

नाना देह-रूप अवयवों पर।
सजाती नाम–अलङ्कार।
पिलाती मोह-स्तन्य।
नित्य नया ॥१०८॥

नानाविध सृष्टियाँ।
वे कर–चरण की अँगुलियाँ।
भिन्न-भिन्न अभिमान वहाँ।
मुद्रिकायें ॥१०९॥

यह इकलौता चराचर।
अविचारित – सुन्दर।
एक ही को जन्म देकर।
महिमामयी ॥११०॥

वहाँ ब्रह्मा प्रातःकाल।
विष्णु मध्याह्न–प्रहर।
सदाशिव सायङ्काल।
इस बालक के ॥१११॥
महाप्रलय सेज पर।
खेल कर चैन से निद्रित।
विषम ज्ञान में होता जागृत।
कल्पोदय में ॥११२॥
अर्जुन इस प्रकार।
मिथ्या–दृष्टि के घर।
युगानुवृत्ति – रूप।
डग भरता ॥११३॥
सङ्कल्प जिस का इष्ट।
अहङ्कार हो विभूषण।
उस का होता अन्त।
इस ज्ञान से ॥११४॥
रहने दें बहुत बोलना।
ऐसे माया से विश्व जन्मा।
सहाय बनी वहाँ।
मेरी सत्ता ॥११५॥
इस कारण में पिता।
यह महद् – ब्रह्म माता।
पाण्डुसुत अपत्य हुआ।
जगाडम्बर ॥११६॥
अब शरीर भिन्न देख कर।
न रखो चित्त में भेद।
क्योंकि मनबुद्धि आदि भूत।
एक ही यहाँ ॥११७॥
अरे एक ही देह में।
क्या विभिन्न अवयव न होते।
यह विचित्र विश्व वैसे।
एक ही पार्थ ॥११८॥
देखो ऊँची–नीची शाखायें।
विषम पृथक्–पृथक् दिखें।
पर उत्पन्न हुईं वे।
एक ही बीज से ॥११९॥
इन का ऐसा सम्बन्ध।
जैसे मिट्टी का बेटा घट।
या कपास का पटत्व।
पौत्र होता ॥१२०॥
या कल्लोल–परम्परा सखे।
सागर की सन्तति जैसे।
चराचर का मुझ से।
सम्बन्ध वैसा ॥१२१॥
अतः वह्नि और ज्वाल।
दोनों वह्नि ही केवल।
वैसे में हो तो सकल।
सम्बन्ध मिथ्या ॥१२२॥
जग–उत्पत्ति ढक सके मुझे।
तो जग रूप से कौन प्रगटे?
क्या माणिक निज तेज से।
होता लुप्त? ॥१२३॥
अलङ्कार में आने पर।
क्या गया कहीं स्वर्णपन?
क्या खिलने पर कमल।
लोपे कमलत्व? ॥१२४॥
कहो सखे धनञ्जय।
अवयवी को अवयव।
ढकते या होते रूप।
वे ही उस का? ॥१२५॥
बोया गया जुवार।
बाल हुए परिपक्व।
तो मूलकण हुआ समाप्त।
या परिवर्धित ॥१२६॥

अतः जग को एक ओर।
सरका कर देखें पार्थ।
ऐसा नहीं क्योंकि सर्वत्र।
सर्व में ही ॥१२७॥

यह सत्य हो घनञ्जय।
कर के दृढ़ निश्चय।
गांठ में बाँधो वीर।
चित्त की ॥१२८॥

मुझ से में ही प्रकाशित।
विभिन्न तनुओं में व्याप्त।
गुणों में हुआ बद्ध।
दिखूँ ऐसा ॥१२९॥

जैसे स्वप्न में हम।
अपना हो कल्पित मरण।
देखते, भोगते दुःख।
कपिध्वज! ॥१३०॥

अथवा कामला से नयन।
होने पर पीतवर्ण।
देखते सब वस्तुजात।
पीत ही ॥१३१॥

अथवा सूर्यप्रकाश।
प्रकटे तब भासते अभ्र।
फिर दिखते उन से आच्छादित।
उसी प्रकाश से ॥१३२॥

अरे अपने ही कारण।
अपनी छाया उत्पन्न।
उस से यदि भयभीत।
स्वयं हो पार्थ ॥१३३॥

वैसे ये नाना देह।
धर कर में ही भासित।
बन्ध का आभास।
दिखाऊँ में हो ॥१३४॥

बन्ध अथवा अबन्ध।
यह ज्ञान मेरा ही रूप।
न जानने से ही उद्भूत।
स्वरूप के ॥१३५॥

तो किन गुणों से कैसे?
मैं बद्ध मानूँ मुझे।
सुनो अब वह सखे।
अर्जुन! ॥१३६॥

कितने गुण, किधर्म।
क्या उन के रूप नाम।
कहाँ उपजे यह मर्म।
सुनो सखे ॥१३७॥

तो सत्त्व–रज–तम।
उन तीनों के नाम।
और प्रकृति ही जन्म-
भूमिका इन की ॥१३८॥

जिन में सत्त्व उत्तम।
रज है मध्यम।
तीनों में तम।
जानो कनिष्ठ ॥१३९॥

एक ही वृत्ति में।
त्रिगुणत्व दिखे ऐसे।
वयस्–त्रय जैसे।
एक देह में ॥१४०॥

करें हीन धातु का मिश्रण।
तो भार में बढ़ता स्वर्ण।
किन्तु हो जाता हीन।
कस में पार्थ ॥१४१॥

या सावधानता जैसे।
बह गई हो आलस से।
तब सुषुप्ति प्रसरे।
सघन हुई ॥१४२॥

वैसे अज्ञान के स्वीकार से।
निकल कर वृत्ति प्रसरे।
सत्त्व–रज–तम द्वारों से।
होती त्रिविध ॥१४३॥
इन्हीं को जानो अर्जुन।
नाम दिया गया गुण।
कैसे बाँधते यह मर्म।
सुनो अब ॥१४४॥
जब क्षेत्रज्ञ दशा में।
अल्प हो कर आत्मा प्रवेशे।
'मैं देह हूँ' ऐसे ज्ञान के।
कुमुहूर्त में ॥१४५॥
आजन्म मरण–पर्यन्त।
देह–धर्मों में समस्त।
रखता ममत्वाभिमान।
अत एव ॥१४६॥
जैसे मीन के मुख में।
आमिष पड़ता देखे।
त्यों ही गला खींच ले।
जल–पारधी ॥१४७॥
सत्त्वरूप लुब्धक वैसे।
सुख–ज्ञान के पाश में।
फँसा कर मृग को जैसे।
बाँध रखता ॥१४८॥
तब ज्ञान के आवेश में।
जानने का दर्प दिखाये।
स्वरूप–सुख को दे।
देशनिकाला ॥१४९॥
विद्या-मान से होता तुष्ट।
लाभमात्र से हर्षाविष्ट।
स्वयं को ही देख सन्तुष्ट।
करता श्लाघा ॥१५०॥
कहता मेरा कितना सुभाग्य।
नहीं ऐसा सुखी द्वितीय।
अष्ट सात्त्विक विकार से चित्त।
गर्वित उस का ॥१५१॥
इतने से भी सङ्कट न टले।
दूजा बन्ध भी आ घेरे।
कि विद्वत्ता का सञ्चरे॥।
भूत तनु में ॥१५२
स्वयं ही हैं ज्ञानस्वरूप।
यह भूला इस का न दुःख।
मानता निजको गगन–तुल्य।
विषय–ज्ञान से हो ॥१५३॥
राजा जैसे स्वप्न में।
भिखारी होकर भीख माँगे।
दो दाने मिलें तो माने।
इन्द्र निज को ॥१५४॥
वैसे ही जब देहातीत।
माने निज को देहयुक्त।
पाये दीनता पाण्डुसुत।
बाह्यज्ञान से ॥१५५॥
प्रवृत्ति – शास्त्र बूझे।
यज्ञविद्या समझे।
किम्बहुना उसे सूझे।
स्वर्गपर्यन्त ॥१५६॥
और कहता आज अन्य।
मुझ जैसा नहीं सज्ञान।
चातुर्यचन्द्र का गगन।
चित्त मेरा ॥१५७॥
ऐसे सत्त्व सुख–ज्ञान–रूप।
नकेल से जीव को नाथकर।
नन्दी बैल जैसा विवश।
बनाता उस को ॥१५८॥

इसी शरीर में अर्जुन।
जिस प्रकार रजोगुण।
बाँधता जीवको वह सुन।
वृत्तान्त अब ॥१५९॥
यह 'रज' इस कारण।
कि जानता जीव का रञ्जन।
यह अभिलाषा का रूप तरुण।
सदा अरे ॥१६०॥
जीव में करते ही प्रवेश।
काम का जगाता मद।
उठाता तब झंझावात।
विषयतृष्णा का ॥१६१॥
अग्नि कुण्ड में डालें घृत।
वज्राग्नि उसे करे प्रदीप्त।
फिर 'यह अल्प' 'वह बहुत'।
भेद न वहाँ ॥१६२॥
वैसी ही तृष्णा भड़के।
दुःख भी मधुर लगे।
इन्द्रवैभव को भी माने।
न्यून वह ॥१६३॥
ऐसी तृष्णा बढ़ने पर।
भले मेरु हो हस्तगत।
पर पाने को उस से अधिक।
करे श्रम दारुण ॥१६४॥
वर्तमान होने पर व्यय।
फिर क्या होगा उपाय।
इस चिन्ता से करे आरम्भ।
बड़ा व्यवसाय ॥१६५॥
जीवन को वार डाले।
कौड़ी भी पाने के लिये।
तृण भी मिले तो माने।
कृतकृत्यता ॥१६६॥

कहता यदि जाऊँ स्वर्ग।
तो वहाँ क्या मिलेगा भोग?
अतः अतिश्रम-पूर्वक।
करता याग ॥१६७॥
करता व्रतों पर व्रत।
आचरता इष्टापूर्त।
काम्य के सिवा हाथ।
छूते न कुछ ॥१६८॥
ग्रीष्मान्त का पवन जैसे।
विश्राम लेना न जाने।
उद्यम को ना न कहे वैसे।
रात्रि-दिवस ॥१६९॥
कहाँ चञ्चल मत्स्य?
या कामिनी के कटाक्ष?
अरे नहीं उतनी चपल।
विद्युत् भी ॥१७०॥
ऐसे प्रबल वेग से।
स्वर्ग-संसार के लिये।
वह अग्नि में प्रवेश करे।
क्रिया-रूपी ॥१७१॥
यों देह में भी देह से अलग।
तृष्णा बेड़ी से बँधकर।
गले में ढोता आटोप।
कर्मों का ॥१७२॥
यही रजोगुण का दारुण।
देह में देही का बन्धन।
अब सुनो कहूँ लक्षण।
तमोगुण के ॥१७३॥
व्यवहार के नेत्र।
जिस पटल से होते मन्द।
जो मोहरात्रि का मेघ।
घना काला ॥१७४॥

अज्ञान का जीवन।
जिस एक पर निर्भर।
जिस से भ्रमित विश्व।
नाच रहा ॥१७५॥

अविवेक–महामन्त्र।
जो मौढ्य का पात्र।
किंबहुना मोहनास्त्र।
जीव का जो ॥१७६॥

पार्थ! वही तम निगूढ़।
रच कर ऐसा व्यूह।
चहुं ओर से बाँधता दृढ़।
देहात्मवादी को ॥१७७॥

अकेला यह जब शरीर में।
छाने लगता चराचर में।
तब वहाँ अन्य न रहे।
बात कोई ॥१७८॥

सर्वेन्द्रियों में जाड्य।
और मन में मौढ्य।
घेरता जब दाढर्य।
आलस्य का ॥१७९॥

अङ्ग–अङ्ग मरोड़े।
कार्य अच्छा न लगे।
केवल एक संख्या बढ़े।
जँभाईयों की ॥१८०॥

वह खुली भी दृष्टि से।
किरीटी कुछ न देखे।
बिना बुलाये भी उठे।
'एहाँ' कहकर ॥१८१॥

पड़े हुए पत्थर जैसे।
स्वयं नहीं खिसकते।
सोया हुआ आलस में।
उठना न जाने ॥१८२॥

पृथ्वी जाये पाताल में।
या आकाश नीचे टूट पड़े।
पर उठने का भाव उस में।
उपजे नहीं ॥१८३॥

उचितानुचित समस्त।
सोने में न सूझे कुछ।
जहाँ के तहाँ पड़े रहें बस।
बुद्धि ऐसी ॥१८४॥

उठा कर करतल।
रखे, कपोलों पर।
फिर घुटनों में सिर।
डाल ऊँघे ॥१८५॥

निद्रा के लिये उमंग।
चित्त में रहती नित्य।
सोने में माने तुच्छ।
स्वर्ग को भी ॥१८६॥

मिले ब्रह्मा का आयुष्य।
और रहूँ सुखनिद्रित।
इस के अतिरिक्त द्वितीय।
व्यसन नहीं ॥१८७॥

राह चलते भी सहज।
धक्कों में लगती आँख।
अमृत को भी गिने तुच्छ।
जब नींद आये ॥१८८॥

वैसे यदि आक्रोशबल से।
कभी काम करने निकले।
तो अन्धे जैसा भटके।
रोष में ॥१८९॥

कब कैसा व्यवहार करें।
किस से कैसे बोलें।
क्या साध्य क्या असाध्य न जाने।
कुछ भी वह ॥१९०॥

में ही दावानल सब।
पंखों से बुझा दूंगा अब।
ऐसे रौब में मानो पाँव।
डाले पतङ्ग ॥१९१॥
वैसा करे दुस्साहस।
झपटकर करे अकार्य।
किम्बहुना रुचे प्रमाद।
इस प्रकार ॥१९२॥
निद्रा आलस्य प्रमाद के।
इन तीन बन्धों में ऐसे।
तम निरुपाधि बाँधे।
शुद्ध को ॥१९३॥
काष्ठ में भरा वह्नि जैसे।
काष्ठाकार हुआ दिखे।
व्योम घिरा हुआ घट में।
बने घटाकाश ॥१९४॥
अथवा भरे सरोवर में।
चन्द्रत्व बिम्बित जैसे।
गुणाभास में बँधा वैसे।
दिखे आत्मा ॥१९५॥
या हटा कर कफ़-वात।
देह में व्यापे पित्त।
तो करे जैसे सन्तप्त।
देह को ॥१९६॥
या वर्षा-आतप को जैसे।
जीत कर शीत छाये।
तब मानो हिममय दिखे।
आकाश यह ॥१९७॥
अथवा स्वप्न-जागृति।
लाँघ कर आवे सुषुप्ति।
उस एक क्षण चित्तवृत्ति।
होती वैसी ॥१९८॥
वैसे रज तम को हरा कर।
चित्त में विलसे सत्त्व।
तब मानता निज को जीव।
सुखमय ॥१९९॥
वैसे लुप्त कर के सत्त्व रज।
तम बढ़ाता महिमा निज।
तब जीव होता सहज।
मात्र प्रमादी ॥२००॥
उसी परिपाटी से।
सत्त्व-तम को उदर में।
डाल कर जब उठे।
रजोगुण ॥२०१॥
तब कर्म से अतिरिक्त कुछ।
रुचता नहीं अन्य।
ऐसा मानता देह-स्थित।
देहराज ॥२०२॥
त्रिगुण-वृद्धि का निरूपण।
तीन श्लोकों में कहा, जान।
अब सत्त्वादि वृद्धि-लक्षण।
सुनो सादर ॥२०३॥
जब रज तम पर विजय पा कर।
इस देह में बढ़ता सत्त्व।
तब उस के चिह्न पार्थ।
ऐसे होते ॥२०४॥
मानो प्रज्ञा भीतर-भीतर।
न समाकर छलके बाहर।
जैसे वसन्त में सौरभ।
कमलदल से ॥२०५॥
सर्वेन्द्रियों के आँगन में।
विवेक चौकी करे।
कर-चरण स्वयं बनते।
मानो नयन ॥२०६॥

राजहंस के सम्मुख।
चोंच का उग्र भाग।
कलह करता समाप्त।
नीरक्षीर का ॥२०७॥

वैसे दोषादोष-विवेक में।
सर्वेन्द्रिय पारखी बनते।
यम-नियम ही सहज अरे।
करते सेवा ॥२०८॥

न अश्रवणीय को सुनते कान।
अदर्शनीय न देखें नयन।
अवाच्य को देती टाल।
स्वयं जिह्वा ॥२०९॥

दीप के सम्मुख जैसे।
अँधेरा भागने लगे।
वैसे निषिद्ध इन्द्रियों के।
होता न सम्मुख ॥२१०॥

धाराधर-काल में।
महानदी ज्यों भर उठे।
वैसे बुद्धि में उमड़ते।
शास्त्र-जात ॥२११॥

अरे पूर्णिमा में जैसे।
चन्द्रप्रभा छाये आकाश में।
ज्ञान में वृत्ति वैसे।
प्रसरे सहज ॥२१२॥

वासना होती एकत्र।
प्रवृत्ति होती क्षीण।
मानस में सहज उद्वेग।
विषयों के प्रति ॥२१३॥

ऐसे सत्त्व बढ़ने पर।
दिखते ये सब चिह्न।
घटित हो यदि निधन।
उस समय ॥२१४॥

घर में भरपूर धन-धान्य।
बने हों स्वादु पक्वान्न।
आजावें तभी प्रियजन।
मानो स्वर्ग से ॥२१५॥

अथवा घर में हो सम्पत्ति।
उस पर औदार्य धैर्यवृत्ति।
तो यहाँ और परलोक में कीर्ति।
पावे न क्यों? ॥२१६॥

फिर उस से अधिक उत्तम।
योग क्या हो धनञ्जय।
ऐसे सत्त्व में जाये देह।
तो गति न अन्य ॥२१७॥

जो स्वगुणों में उद्भट।
लेकर सत्त्व विशुद्ध।
निकलते छोड़कर देह।
भोगक्षम ॥२१८॥

जो ऐसे अकस्मात् जाये।
वह सत्त्वमय ही होवे।
किम्बहुना जन्म पाये।
ज्ञानियों के कुल में ॥२१९॥

कहो तो जी धनुर्धर।
राजा चढ़े पर्वत पर।
तो क्या राजापन अपूर्ण।
होता उसका? ॥२२०॥

अथवा यहाँ का दीपक।
ले जायें समीप के गाँव।
तो वहाँ भी रहे पाण्डव।
दीप ही वह ॥२२१॥

वैसे वह सत्त्वशुद्धि।
ज्ञानसहित पाती वृद्धि।
तरङ्गित होती बुद्धि।
विवेकसागर में ॥२२२॥

तब महदादि को क्रमसहित।
विचार कर अन्त में वह।
उदर में विचारों सहित।
होती विलीन ॥२२३॥

छत्तीस में सैंतीसवाँ।
चौबीस में पच्चीसवाँ।
तीन के परे जो चौथा।
स्वभावसिद्ध ॥२२४॥

ऐसा सब जो सर्वोत्तम।
हुआ जिसके लिये सुगम।
ऐसे कुल में निरुपम।
पाता देह ॥२२५॥

देखो इसी प्रकार जब।
तम-सत्त्व होते अधोमुख।
और बनता प्रमुख।
रजोगुण ॥२२६॥

फिर कार्य की अपने।
धूम मचाता देह-गाँव में।
तब उसके चिह्नों का ऐसे।
होता उदय ॥२२७॥

भँवर वाली आँधी जैसे।
बहुतों को एकत्र लपेटे।
विषयों के प्रति सहज वैसे।
दौड़ते इन्द्रिय ॥२२८॥

परदारादि दृष्टि में पड़े।
पर निषिद्ध उन्हें न माने।
बकरी का मुख जैसे।
स्वैर चरे ॥२२९॥

यहाँ तक बढ़ता लोभ।
रहे स्वेच्छाचार में मग्न।
जब तक कि रहे शेष।
अलभ्य केवल ॥२३०॥

और आ पड़े यदि सन्मुख।
चाहे कैसा भी उद्यम।
तो प्रवृत्ति से हाथ।
हटे न पीछे ॥२३१॥

वैसे बनाना प्रसाद।
या करना अश्वमेघ।
ऐसे-ऐसे चाव विचित्र।
उठा लेता ॥२३२॥

रचना नये नगर।
बनाना जलाशय।
लगाना महावन।
नाना-विध ॥२३३॥

ऐसे अनन्त कर्मों के।
समारम्भ-उपक्रमों से।
और दृष्टादृष्ट कर्मों से।
मन न भरे ॥२३४॥

सागर भी पड़े न्यून।
आग भी दिखे अपूर्ण।
ऐसा दिखता दुर्भरत्व।
अभिलाषा में ॥२३५॥

स्पृहा मन के आगे-आगे।
आशा की दौड़ में भागे।
इच्छा विश्व को रौंदे।
पाँवतले ॥२३६॥

ऐसे जब रजोगुण बढ़े।
तब ये चिह्न प्रगट होते।
और ऐसे समय में।
यदि छूटे देह ॥२३७॥

तो इन्हीं सब गुणों से।
घिरता दूसरे देह में।
किन्तु अवश्य जन्म पाये।
मनुष्ययोनि में ॥२३८॥

सुखपूर्वक भिखारी अरे।
जा बैठे राजमन्दिर में।
पर क्या वह कहलाये।
राजा कभी? ॥२३९॥
बैल को खली ही मिले।
यह कभी न बदले।
भले वह बारात में जुड़े।
श्रीमन्तों की ॥२४०॥
अतः कर्मों से हाथ।
न पाते जहाँ विश्राम।
ऐसों की ही पंक्ति में वह।
बैठाया जाता ॥२४१॥
कर्मजड़ों के स्थान में।
किम्बहुना देह पाये।
जो रजोवृत्ति के दह में।
डूब कर मरे ॥२४२॥
पुनः आगे वैसे ही।
रज और सत्त्व को वृत्ति।
निगल कर पाता उन्नति।
जब तमोगुण ॥२४३॥
तब जो – जो चिह्न।
देह में होते सबाह्य।
कहूँ वे सब भली प्रकार।
सुनो पार्थ ॥२४४॥
तब होता ऐसा मन।
जैसे रवि–चन्द्र–हीन।
हो रात्रि का गगन।
अमावस का ॥२४५॥
वैसे अन्तर अशेष।
होता स्फूर्तिहीन उदास।
विचार सर्वथा लुप्त।
होते वहाँ ॥२४६॥
बुद्धि पाषाण से भी कठिन।
छोड़ चुकी मृदुता सब।
स्मृति को मिला देशान्तर।
दिखे मानो ॥२४७॥
अविवेक का घोर मद।
व्यापे देह को सबाह्य।
होता केवल लेन–देन।
मौढ्य का वहाँ ॥२४८॥
आचार–सङ्ग की अस्थियाँ।
इन्द्रिय सम्मुख रहतीं सदा।
मरने तक भी वही क्रिया।
करता रहता ॥२४९॥
और भी दिखता एक।
कि दुष्कृति में उल्लसित चित्त।
अँधेरे में ही उलूक।
देखे जैसे ॥२५०॥
वैसे निषिद्ध के नाम से।
कुछ भी करने को उद्यत रहे।
प्रवृत्त होतीं उस विषय में।
इन्द्रियाँ ॥२५१॥
मदिरा पिये बिना ही डोले।
सन्निपात बिना बके–झके।
प्रेम बिना ही उन्मत्त रहे।
पागल जैसे ॥२५२॥
चित्त हो गया समाप्त।
पर उन्मनी नहीं वह।
मादक मोह से मत्त।
मूढ़ ऐसा ॥२५३॥
किम्बहुना ऐसे इन।
चिन्हों से पोषित तम।
जो बढ़ते सामग्री सहित।
अपने आप ॥२५४॥

और ऐसे ही प्रसङ्ग में।
यदि मरण वेला आवे।
तो उस प्रकार निकले।
तम सहित वह ॥२५५॥

राई बीज में राईपन।
छोड़ कर त्यागे अङ्ग।
वह बोने पर क्या उपज।
होगी अन्य? ॥२५६॥

दीपशिखा बन कर भले।
सुखपूर्वक अग्नि बुझे।
पर दीप जहाँ लगे वहाँ।
वही स्थित ॥२५७॥

अतः तम की पोटली में।
सङ्कल्प बाँध कर सारे।
देह जाये तो आगे मिले।
तामस हो ॥२५८॥

अब अधिक क्या कहें।
जो तमोवृद्धि में मृत्यु पाये।
तो पशु या पक्षी बने।
वृक्ष या कृमि ॥२५९॥

अरे इसी कारण से।
जो सत्त्वगुण से निपजे।
उसी को सुकृत कहें।
श्रुतियाँ सब ॥२६०॥

अतः उस निर्मल में।
सुख, ज्ञान नाम के।
सरल अपूर्व फल लगते।
सात्त्विक ॥२६१॥

जो क्रियायें राजस।
उन के इन्द्रायण सम फल।
जो देखने में सुन्दर।
स्वाद में दुःखद ॥२६२॥

या देखने में निंबोली सुपक्व।
सुन्दर पर कसैली विष सम।
वैसे देखो राजस।
क्रियाफल ॥२६३॥

जितने कर्म तामस।
अज्ञान ही उनका फल।
विष का अङ्कुर भी विष।
होता जैसे ॥२६४॥

अतएव अरे अर्जुन।
सत्त्व से ही निपजे ज्ञान।
जैसे सूर्य ही कारण।
दिवस का ॥२६५॥

वैसे ही यह जान।
लोभ का रज कारण।
स्वरूप का विस्मरण।
अद्वैत को जैसे ॥२६६॥

मोह–अज्ञान–प्रमाद।
ये मलिन दोषवृन्द।
इन का जानो प्रवृद्ध।
तम ही मूल ॥२६७॥

ऐसे विचार के नेत्रों से।
तीनों गुण पृथक् दिखाये।
हाथ पर रखा जैसा।
आँवला दिखे ॥२६८॥

यों रज तम उभय।
देखे पतनकारी प्रबल।
न जायें सत्त्व से अन्य।
ज्ञान की ओर ॥२६९॥

अतः सात्त्विक वृत्ति के प्रति।
होते कोई जन्मव्रती।
सर्वत्याग से चतुर्थी भक्ति।
चाहते जैसे ॥२७०॥

वैसे सत्त्व के आचरण में।
आवागमन होते जिन के।
वे तनुत्याग के बाद स्वर्ग में।
बनते नृप ।।२७१।।

ऐसे ही रजोगुण में।
जो जीये और मरे।
वह मनुष्य ही बने।
मृत्युलोक में ।।२७२।।

वहाँ सुख–दुःख की खिचड़ी अरे।
आरोगे देह–पात्र में।
जहाँ इस मरण–पथ में।
पड़ा न छूटे ।।२७३।।

उसी प्रकार तम में।
उत्कर्ष भोगता हुआ मरे।
वह पाता नरकभूमि के।
प्रवेश–पत्र ।।२७४।।

मूलवस्तु की सत्ता ऐसे।
त्रिगुणसहित दिखाई तुझे।
कारणसहित विशद करके।
समस्त ही ।।२७५।।

वस्तु में वस्तुत्व सदा स्थित।
वह स्वयं को ही गुणसदृश।
मानकर करे कार्यविशेष।
तदनुरूप ।।२७६।।

स्वप्न में राजा जैसे।
शत्रु का आक्रमण देखे।
तब हारजीत स्वयं बने।
अपने ही में ।।२७७।।

वैसे मध्य–ऊर्ध्व–अध।
ये जो गुणवृत्ति–भेद।
यह दृष्टि छोड़े तो शुद्ध।
वस्तुरूप ।।२७८।।

पर रहने दो यह प्रवाह।
न देखो वस्तु से अन्य कुछ।
अब सुनो आगे की बात।
कहूँ तुझे ।।२७९।।

तो जानो इस प्रकार से।
तीनों निज सामर्थ्य से।
देह रूप धारण करते।
गुण ही ये ।।२८०।।

इन्धन के आकार में।
अग्नि जैसे अवतरे।
या तरुवर के अङ्कों में।
भूमिरस ।।२८१।।

अथवा दही के रूप में।
परिणमे दूध ही जैसे।
या मूर्त होती ईख में।
मधुरता ।।२८२।।

वैसे अन्तःकरण–सहित।
देह बनते त्रिगुण।
अतएव बन्ध का कारण।
होते सच ही ।।२८३।।

पर आश्चर्य यह अर्जुन।
कि ऐसा इन का गुंफन।
पर मोक्ष नहीं होता न्यून।
जीव का ।।२८४।।

त्रिगुण निज–निज धर्म से।
देह का आधार लेते।
तब भी क्षीण न पड़े।
गुणातीतता ।।२८५।।

ऐसी मुक्ति है सहज।
वह सुनाऊँ तुझे अब।
क्योंकि तू है द्विरेफ।
ज्ञानाम्बुज का ।।२८६।।

और गुणों में गुणवश।
होता नहीं चैतन्य।
पहले कहा था तुझे यह।
वैसा ही समझो ॥२८७॥
तो पार्थ जब ऐसे।
प्रबुद्ध हुआ जीव देखे।
तब स्वप्न जैसा दिखे।
जाग्रत् को ॥२८८॥
अथवा तीर पर खड़े जल में।
निज प्रतिबिम्ब को देखें।
वह कल्लोल के चलन से।
अनेकधा दिखे ॥२८९॥
या नाट्य की कला से।
नट स्वयं ढका जाये।
वैसे गुणजात को देखें।
अतीत रहकर ॥२९०॥
आकाश जैसे ऋतुत्रय।
धारण करके भी अलिप्त।
आने न देता न्यूनत्व।
निर्लेपता में ॥२९१॥
वैसे गुणों में भी गुणातीत।
निज स्वरूप में जो स्वयं सिद्ध।
बैठे उस अहं के आसन पर।
मूलभूत ॥२९२॥
फिर वहाँ से जब देखे।
तब मैं साक्षी-अकर्ता कहे।
ये गुण ही क्रियाजात के।
नियोजक ॥२९३॥
सत्त्व रज और तम।
इन के भेद से प्रसरे कर्म।
उसी से प्रगटे ये सब।
गुण-विकार ॥२९४॥
इन सब में मैं ऐसा।
वन में वसन्त जैसा।
वनलक्ष्मी के विलास का।
हेतुभूत ॥२९५॥
हो तारकों का लोप।
सूर्यकान्त हो उद्दीप्त।
कमल हो विकसित।
अस्त हो तम ॥२९६॥
इन में किसी भी कार्य में।
सविता कुछ न करे जैसे।
वैसे अकर्ता मैं देह में।
सत्तारूप ॥२९७॥
मेरे प्रकाश से गुण दिखते।
गुणता भी पोषित मुझ से।
निःशेष होने पर सब के।
शेष मैं हो ॥२९८॥
जिस में ऐसा विवेक।
उदित होता धनञ्जय।
वह पाता गुणातीतत्व।
और ऊर्ध्वपन्थ ॥२९९॥
कहते जिसे निर्गुण।
उसे जाने वह अचूक।
क्योंकि ज्ञान ने निजनिवास।
बनाया उसे ॥३००॥
पाण्डुसुत किम्बहुना।
ऐसी वह मेरी सत्ता।
पावे जैसे सरिता।
सिन्धुत्व अरे ॥३०१॥
नलिका से उड़ कर।
जैसे शुक बैठे शाखा पर।
वैसे मूल अहन्ता पाकर।
वह मद्‌रूप ॥३०२॥

जो अज्ञान की निद्रा में।
सोया था घनघोर अरे।
वह प्रबुद्ध हुआ स्वरूप में।
जाग कर ॥३०३॥

बुद्धिभेद का दर्पण।
हाथ से गिरा अर्जुन।
अतः प्रतिमुख का आभास।
विसर्जित वहाँ ॥३०४॥

देहाभिमान का झंझावात।
बन्द हुआ अब पार्थ।
तब वीचि–सागर का ऐक्य।
जीव–ईश में ॥३०५॥

अतएव मद्‌भाव में।
समा जाता वह वैसे।
वर्षा बीतने पर आकाश में।
घनजात जैसे ॥३०६॥

तब होकर वस्तुतः मद्‌रूप।
फिर रहने पर भी देहस्थ।
नहीं फँसता देह–सम्भूत।
गुणों में वह ॥३०७॥

अभ्रक के घर में जैसे।
दीप–प्रकाश न अमाये।
अथवा सागर से न बुझे।
बडवानल ॥३०८॥

वैसे गुणों का आवागमन।
बोध को न करता मलिन।
वह देह में, जैसे व्योमस्थित।
चन्द्र जल में ॥३०९॥

त्रिगुण निज–निज बल से।
चाहे जो करें देह में।
पर देखने को भी न आवे।
अहन्ता वहाँ ॥३१०॥

यहाँ तक दृढ़ अरे।
निश्चय रहता अन्तर में।
तब क्या होता शरीर में।
यह भी न जाने ॥३११॥

केंचुली छोड़ कर सर्प ने।
किया प्रवेश बिल में।
फिर वह त्वचा कौन सँभाले।
ऐसा हुआ ॥३१२॥

सौरभ निकल कर जैसे।
आमोद मिले आकाश में।
पुनः कमलकोश में।
न जाता वह ॥३१३॥

अहो स्वरूप–समरस में।
ऐक्य हुआ उस का वैसे।
वहाँ देहधर्म क्या–कैसे?
न जाने वह ॥३१४॥

अतः जन्म–जरा-मरण।
इत्यादि ये छहों गुण।
देह में ही रहते केवल।
न सम्बन्ध उस से ॥३१५॥

जैसे घड़े के ठीकरे।
घट टूटने पर बिखरे।
पर महदाकाश स्वयं में।
रहा सम्पूर्ण ॥३१६॥

वैसे देहबुद्धि जाये।
स्वरूप का स्मरण जागे।
तब अन्य भला क्या रहे।
उस के सिवा ॥३१७॥

ऐसे श्रेष्ठ बोध से युक्त।
वह देह में करे निवास।
मैं कहता उसे गुणातीत।
इसीलिये ॥३१८॥

देव के इस वचन से।
पार्थ भरा सुख-बोध से।
सन्तुष्ट हुआ हो मेघ से।
मयूर जैसे ।।३१९।।
उस तोष से वीर पूछे।
वह दिखता किन चिह्नों से।
जो जिस में आ बसे।
ऐसा बोध ।।३२०।।
वह निर्गुण कैसे आचरे।
कैसे गुणों को निस्तरे।
हे कृपासागर कहिये।
यह मुझे ।।३२१।।
पार्थ के इस प्रश्न पर।
वे षड्गुणों के ईश्वर।
देने लगे जो उत्तर।
वह सुनें अब ।।३२२।।
बोले पार्थ तेरी नवाई।
यह क्या पूछा इतना ही!
वह तो नामात्मक ही।
वहाँ क्या सत्य मिथ्या? ।।३२३।।
नाम जिस का गुणातीत।
वह न होता गुणाधीन।
होने पर भी, न अभिभूत।
गुणों से वह ।।३२४।।
पर है या नहीं अधीन।
इस की क्या हो पहचान।
जब कि गुणों का आवागमन।
चलता रहे ।।३२५।।
यदि हो यह सन्देह तुझे।
तो सुख से पूछो भले।
सुनो अब कहूँ उस के।
चिह्न निरूपित ।।३२६।।

यदि रजोगुण के उत्कर्ष से।
देह में कर्माङ्कुर फूटें।
प्रवृत्ति उसे ले जाये।
घेर कर ।।३२७।।
तो मैं ही हूँ कर्मठ।
नहीं उसमें ऐसा दर्प।
और न होने पर कर्म।
न होता खेद ।।३२८।।
अथवा सत्त्व के आधिक्य से।
जब सर्वेन्द्रियों में ज्ञान प्रसरे।
तब सुविद्यता के तोष से।
फूले नहीं ।।३२९।।
और बढ़ने पर तम।
न ग्रास करता मोहभ्रम।
अज्ञान से न होता श्रमित।
न माने खेद ।।३३०।।
मोह के अवसर पर।
ज्ञान की न करे चाह।
ज्ञान कर्म न मिलने पर।
न होता दुःखी ।।३३१।।
सायं प्रातः मध्याह्न।
गणना से ये काल तीन।
पर न गिनता जैसे तपन।
वैसा वह ।।३३२।।
यदि भिन्न हो कहीं प्रकाश।
तो ज्ञानित्व हो कहीं से प्राप्त।
क्या पावस से जलार्णव।
होता पूरित? ।।३३३।।
क्या प्रवृत्त होने पर कर्म में।
कर्मठता हो प्रतीत उसे।
कहो हिमवन्त हिम से।
काँपे कभी? ।।३३४।।

अथवा मोह आने पर।
क्या छोड़ देगा उसे ज्ञान ?
क्या अग्नि को ग्रीष्म।
जला सकता ? ॥३३५॥

वैसे गुणागुण–कार्य।
सभी हैं अपना–आप।
अतः प्रत्येक का न होता क्षोभ।
गुणोत्कर्ष से ॥३३६॥

ऐसी ही प्रतीति से।
वह देह में निवास करे।
पथिक जैसे पथ में।
ले विश्राम ॥३३७॥

वह न जीते न हारे।
न गुणरूप बने न प्रवृत्त करे।
संग्राम की भूमि जैसे।
अलिप्त सदा ॥३३८॥

या शरीर में स्थित प्राण।
घर में अतिथि ब्राह्मण।
अथवा चौक का स्तम्भ।
उदास जैसे ॥३३९॥

और गुणों के आवागमन से।
पाण्डव वह न हिले–चले।
मृगजल के कल्लोल से।
मेरु जैसे ॥३४०॥

यह बहुत क्या कहूँ।
व्योम वायु से न हिले।
अथवा सूर्य को न निगले।
अन्धकार ॥३४१॥

अथवा जिस प्रकार स्वप्न।
जागृत को न करे भ्रमित।
वैसे गुणों से न होता वह।
बद्ध कभी ॥३४२॥

गुणों से सच ही न बँधे।
दूर से देखे कौतुक से।
गुणदोष कठपुतलियों के।
प्रेक्षक जैसे ॥३४३॥

सत्कर्म सात्त्विक।
रज के रजोविषयक।
तम से मोहादिक।
होते रहते ॥३४४॥

सुनो उसी की सत्ता से।
गुण–कर्म समस्त होते।
जैसे सविता के प्रकाश में।
लौकिक सब ॥३४५॥

समुद्र में उठता ज्वार।
सोमकान्त होता द्रवित।
कुमुद होते विकसित।
पर चन्द्र निश्चल ॥३४६॥

वायु होता शान्त–चञ्चल।
गगन रहता निश्चल।
वैसे गुणों के चाञ्चल्य से।
डोले न जो ॥३४७॥

इन लक्षणों से अर्जुन।
गुणातीत को सकें जान।
अब सुनो आचरण।
उस के तुम ॥३४८॥

वस्त्र के पेट–पीठ में।
सूत के सिवा कुछ न रहे।
वैसे उस की दृष्टि में।
चराचर मद्रूप ॥३४९॥

अतएव सुख-दुःख समान।
जानकर करे आचरण।
रिपु या भक्त को दान।
हरि का जैसे ॥३५०॥

अन्यथा भी तभी सहज।
सुख-दुःख का होता सेवन।
जब देह-जल में बन कर मीन।
जिये जीव ॥३५१॥
अब उस ने सब दिया छोड़।
स्वस्वरूप में हुआ मग्न।
शस्य पक्व होने पर।
बीज जैसे ॥३५२॥
या प्रवाह छोड़कर गङ्गाजल।
हुआ सागर में प्रविष्ट।
तब शान्त होती खलबल।
पहली उस की ॥३५३॥
वैसे स्वरूप में पार्थ।
जिस का हो गया निवास।
उस के देह में समान।
होते सुख-दुःख ॥३५४॥
रात्रि और दिवस।
खम्भे को एकरूप।
आत्मस्थ के देह में द्वन्द्व।
समान वैसे ॥३५५॥
निद्रित के समीप।
जैसी उर्वशी वैसा साँप।
वैसे स्वरूपस्थ को सदृश।
देह में द्वन्द्व ॥३५६॥
अतएव उस के लिये।
अन्तर नहीं गोबर–स्वर्ण में।
रत्न और कङ्कड़ों में न रहे।
कुछ भी भेद ॥३५७॥
घर आ जावे स्वर्ग।
या बाघ से हो भेंट।
पर आत्मबुद्धि में भङ्ग।
नहीं कदापि ॥३५८॥

मृत न होता जीवित।
दग्ध न होता अङ्कुरित।
साम्यबुद्धि न होती खण्डित।
वैसे उसकी ॥३५९॥
कोई ब्रह्मा कह कर स्तुति करे।
या नीच कहकर निन्दा करे।
पर जलना-बुझना न जाने।
राख जैसे ॥३६०॥
वैसे निन्दा और स्तुति।
उस पर परिणाम न लाती।
नहीं अँधेरा या बत्ती।
सूर्य के घर ॥३६१॥
कोई ईश्वर कह कर पूजे।
या चोर कहकर त्रस्त करे।
वृष–गज आदि दे कर चाहे।
बनाये राजा ॥३६२॥
सुहृद निकट आवे।
या वैरी आक्रमण करे।
पर रात्रि-दिवस न देखे।
तेज जैसे ॥३६३॥
छहों ऋतु आते आकाश में।
पर वह लिप्त न होता जैसे।
वैसे वैषम्य न जाने।
मानस उस का ॥३६४॥
और भी देखो एक।
होता उस में आधार।
कर्ममात्र का अभाव।
वहाँ दिखता ॥३६५॥
निःशेष सभी आरम्भ।
प्रवृत्तियाँ पड़ीं शान्त।
सब कर्मफल हुए दग्ध।
वह ऐसा अग्नि ॥३६६॥

दृष्टादृष्ट के नाम से।
विचार हो चित्त में न उठे।
सेवन करता जो स्वभाव से।
होता प्राप्त ॥३६७॥

न सुखों होता न क्षीण।
जिस प्रकार पाषाण।
वैसे भोग-त्याग से मन।
हट चुका ॥३६८॥

अब कितना करें विस्तार।
जानो ऐसा आचार।
जिस में, वही साचार।
गुणातीत ॥३६९॥

गुणों का अतिक्रमण।
हो जिस से घटित।
सुनो कहते वह उपाय।
श्रीकृष्ण नाथ ॥३७०॥

व्यभिचार रहित चित्त से।
जो भक्तियोग द्वारा मुझे।
आराधे वह जला सके।
गुणों को पार्थ ॥३७१॥

तो कौन मैं कैसी भक्ति।
क्या व्याख्या अव्यभिचारको।
विशदता इस सब को।
करनी होगी ॥३७२॥

तो सुनो अब पार्थ।
मैं यहाँ ऐसा स्थित।
जैसे रत्न में बसा तेज।
रत्न होकर ॥३७३॥

या द्रवपन ही नीर।
अवकाश ही अम्बर।
माधुर्य ही शक्कर।
अन्य नहीं ॥३७४॥

वह्नि ही तो ज्वाल।
दलों का ही नाम कमल।
जो वृक्ष वही डाल।
फलादिक ॥३७५॥

अरे हिम जो हुआ सघन।
वही कहाया हिमालय।
अथवा जमा हुआ दूध।
वही दही ॥३७६॥

वैसे विश्व नाम से।
मैं ही सब कुछ अरे।
चन्द्रबिम्ब न छीलना पड़े।
प्रकाश के लिये ॥३७७॥

घृत का जमापन।
न हटे तो भी घृत ही जान।
न ढालने पर भी कङ्कण।
है स्वर्ण ही ॥३७८॥

न उधेड़ने पर भी पट।
तन्तु ही है स्पष्ट।
न तोड़ने पर भी घट।
मृत्तिका जैसे ॥३७९॥

अतः विश्वपन जाये तब ही।
मैं मिलूं ऐसा नहीं।
सर्वत्र सर्वदा मैं ही।
सर्वरूप ॥३८०॥

ऐसा मुझे जाने उसे।
अव्यभिचारी भक्ति कहते।
यहाँ यदि कहीं भेद देखे।
तो व्यभिचार वह ॥३८१॥

अतः भेद को छोड़कर अरे।
अभेदमय चित्त से।
अपने सहित सभी जाने।
मद्रूप ही ॥३८२॥

पार्थ सोने की टिकली।
सोने पर लगाई।
मुझे निज से अन्य नहीं।
माने वैसे ॥३८३॥

तेज में से तेज निकले।
पर तेजोमय ही रहे।
उस रश्मि-सूर्य जैसा जगे।
आत्मबोध ॥३८४॥

जैसे परमाणु भूतल में।
हिमकण हिमाचल में।
मुझ में देखो वैसे।
अपने को ॥३८५॥

भले हो लघु तरङ्ग।
पर सिन्धु से नहीं भिन्न।
वैसे ईश्वर से 'मैं' अन्य।
रहता नहीं ॥३८६॥

ऐसे समरस – भाव से।
दृष्टि जब उल्लासे।
उसे ही भक्ति जानो अरे।
कहता मैं ॥३८७॥

श्रेष्ठता ज्ञान की।
कहलाती यही दृष्टि।
और योग का भी।
सर्वस्व यह ॥३८८॥

सिन्धु और जलधर।
इन में लगे अखण्ड धार।
वैसी ही वृत्ति वीर।
प्रवृत्त वहाँ ॥३८९॥

जैसे गुहा और आकाश।
मिले हुए अनायास।
वैसे परम-पुरुष में वह।
एकरूप ॥३९०॥

प्रतिबिम्ब से बिम्ब–पर्यन्त।
प्रभा रहती उज्ज्वल।
वह 'सोऽहं' वृत्ति सुनो पार्थ।
होती वैसी ॥३९१॥

फिर परस्पर ऐसे।
जब 'सोऽहंवृत्ति' अवतरे।
वह भी विलीन हो अन्त में।
अपने आप ॥३९२॥

जैसे सैन्धव का कण।
सिन्धु में पड़े अर्जुन।
पिघलाना न रहे शेष।
उसका वहाँ ॥३९३॥

अथवा जला कर तृण।
वह्नि भी बुझे तत्क्षण।
भेद नष्ट कर के ज्ञान।
वैसे विलीन ॥३९४॥

मेरा उस पार होना जाये।
भक्त का इस पार रहना मिटे।
अनादि ऐक्य–रूप ही रहे।
शेष तब ॥३९५॥

तब गुणों पर वह करता विजय।
यह कैसे कहूँ धनञ्जय।
जहाँ एकत्व का भी उच्चार।
न सम्भव ॥३९६॥

किम्बहुना ऐसी दशा यह।
वही जानो ब्रह्मत्व सुज्ञ।
यह पाता वहीं जो इस प्रकार।
भजता मुझे ॥३९७॥

पुनः कहूँ इन लिङ्गों से।
युक्त भक्त जो जग में।
यह ब्रह्मता उस के लिये।
पतिव्रता ॥३९८॥

जैसे गङ्गा के प्रवाह में।
कलकल करता जल बहे।
सिन्धुपद से अन्य उसे।
गति नहीं ॥३९९॥

वैसे ज्ञान की दृष्टि से।
किरीटी जो मुझे भजे।
वह हो ब्रह्मता के मुकुट में।
चूडारत्न ॥४००॥

उस के ब्रह्मत्व की पार्थ।
व्यवस्था है सायुज्य।
उसी का नाम चतुर्थ।
पुरुषार्थ अरे ॥४०१॥

पर मेरा आराधन।
ब्रह्मत्व में बने सोपान।
अतः मैं हूँ साधन।
यदि माने तू ॥४०२॥

तो शीघ्र ही इसे।
निकाल दो मन से।
क्योंकि ब्रह्म नहीं मुझ से।
अन्य कोई ॥४०३॥

अरे ब्रह्म इस नाम का।
अभिप्राय मैं ही सखा।
शब्दब्रह्म में निरूपण सारा।
मेरा ही ॥४०४॥

देखो चन्द्रमा और मण्डल।
दो नहीं हे मर्मज्ञ।
मुझ में, ब्रह्म में भेद।
नहीं वैसे ॥४०५॥

करे नित्य जो निष्कम्प।
अनावृत धर्मरूप।
अमाप सुख–स्वरूप।
अद्वितीय ॥४०६॥

विवेक अपना काम।
निपटा कर रहे जिस धाम।
निष्कर्ष वह निःसीम।
किम्बहुना मैं ॥४०७॥

सुनो ऐसे–ऐसे।
अनन्य के सगे वे।
वीर! वहाँ कह रहे।
पार्थ से ॥४०८॥

तब बोला धृतराष्ट्र।
क्या पूछा था तुझे संजय।
और तू क्या–क्या व्यर्थ।
लगा कहने? ॥४०९॥

मेरी शङ्का को मिटा।
विजय किस की यह बता।
उसी में लगा चित्त मेरा।
छोड़ यह सब ॥४१०॥

सञ्जय मानस में विस्मित।
अरे छोड़ कर यह सुख!
कैसे रुचता अहो दैव!
द्वन्द्व इस को ॥४११॥

पर वे कृपालु हों तुष्ट।
इस में जागे विवेक।
मिटे इस का मोहरूप।
महारोग ॥४१२॥

ऐसा सोचे सञ्जय।
और सुने संवाद।
उठे चित्त में हर्षमय।
महापूर ॥४१३॥

अतएव यहाँ वह।
उत्साह का अवतरण।
श्रीकृष्ण का वचन।
कहेंगे अब ॥४१४॥

उन अक्षरों का भाव। पहुँचाऊँगा आप तक।
सुनिये कहे ज्ञानदेव। निवृत्तिसुत ॥४१५॥

इति श्रीमद्ज्ञानेश्वरविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीता – 'भावार्थ-दीपिकायां' गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥

॥ हरिः ॐ तत् सत् ॥

॥ ॐ हरिः ॐ ॥

पञ्चदश अध्याय

अब निज हृदयरूप।
बिछा कर शुद्ध आसन।
करूँ श्रीचरण स्थापित।
श्री गुरु के ॥१॥

ऐक्यभाव की अञ्जलि।
सर्वेन्द्रिय कलियों से भरी।
यही सुरभि-पुष्पाञ्जलि।
अर्घ्यं चढ़ाऊँ ॥२॥

अनन्योदक से धौत।
वासना जो तन्निष्ठ।
वही मानो सुगन्धलेप।
चन्दन का ॥३॥

प्रेम-रूपी स्वर्ण के।
नूपुर शुद्ध किये हुए।
पहनाऊँ सुकुमार उन के।
चरणों में ॥४॥

सुदृढ़ गहन प्रीति।
अव्यभिचार से हुई शुद्धि।
वही पहनाऊँ जोड़ी।
अँगूठों में ॥५॥

आनन्दामोद – बहुल ।
सात्त्विक भाव के मुकुल।
वही विकसित अष्टदल।
रखूँ उन पर ॥६॥

फिर अहं का धूप जलाऊँ।
'नाहं' तेज से आरती उतारूँ।
सामरस्य से आलिङ्गन करूँ।
निरन्तर ॥७॥

मेरे तनु और प्राण।
यह पादुका पहनें श्रीचरण।
वारूँ भोग-मोक्ष राई-नोन।
उन चरणों पर ॥८॥

ऐसी श्रीगुरु-चरण-सेवा।
बनूं पात्र उस भाग्य का।
कि मिलन सकलार्थ का।
हो निश्चित ॥९॥

ब्राह्मी स्थिति पर्यन्त।
उन्मेष होता उज्ज्वल।
जिस से वाचा होती मधुर।
सुधासिन्धु ॥१०॥

पूर्णचन्द्र का सौन्दर्य।
वक्तृत्व पर न्योछावर।
आता ऐसा माधुर्य।
अक्षरों में ॥११॥

सूर्य से अधिष्ठित प्राची।
जग को प्रकाश-साम्राज्य देती।
वाचा करे ज्ञान-दीपावली।
श्रोताओं के लिये ॥१२॥

नादब्रह्म फीका पड़े।
कैवल्य भी वैसा न सजे।
ऐसा शब्दवैभव दिखे।
जिस भाग्य से ॥१३॥

श्रवणसुख के मण्डप में।
विश्व वसन्त-वैभव भोगे।
हुई सुमनभरित वैसे।
वाचावल्ली ॥१४॥

स्थान न पा कर जिस का।
मन–सहित लौटती वाचा।
वह देव बनता शब्द का।
चमत्कार ॥१५॥

जो ज्ञान का न बनता विषय।
ध्यान के भी न लगे हाथ।
वह अगोचर होता प्राप्त।
संवाद में ॥१६॥

ऐसा उत्तम सौभाग्य।
वाचा करती प्राप्त।
श्रीगुरुपद–पद्म–पराग।
मिलता जिसे ॥१७॥

क्या कहूँ अब अधिक।
नहीं आज मुझ से अन्य।
वैसा सौभाग्य – भाजन।
ज्ञानदेव कहे ॥१८॥

मैं सब से नन्हा बालक।
मेरे गुरु का एकमात्र।
अतः कृपा का इकलौता पात्र।
बना उनका ॥१९॥

देखिये भरपूर समस्त।
चातक के लिये बरसता मेघ।
मेरे लिये स्वामी ने आज।
किया वैसा ॥२०॥

अतएव व्यर्थ हो मुख।
करता गया जो बड़बड़।
उसी में गीतार्थ मधुर।
हुआ सम्पन्न ॥२१॥

यदि अदृष्ट हो अनुकूल।
तो बालू भी बनती रत्न।
यदि आयु हो शेष।
तो वधिक बने सदय ॥२२॥

अदहन में डालें रजकण।
वे बनते अमृत के तन्दुल।
यदि भूखे को हों सहायक।
श्रीजगन्नाथ ॥२३॥

श्रीगुरु उसी प्रकार।
करते जिसे अङ्गीकार।
उस को होता संसार।
सब मोक्षमय ॥२४॥

देखो श्रीनारायण ने।
पाण्डवों को विपत्तियों में।
नहीं उबारा क्या अरे।
पुराण–विश्ववन्द्य ने ॥२५॥

वैसे श्रीनिवृत्तिराज ने।
अज्ञानपन को मेरे।
परिणत किया ज्ञान में।
गरिमा से ॥२६॥

पर रहने दें अब।
कहने से घटता प्रेम।
कर सकूँ गुरु–गौरव–वर्णन।
वह ज्ञान कहाँ? ॥२७॥

अब उन्हीं के प्रसाद से।
आप सन्तों के चरणों में।
कहूँगा अभिप्राय में।
श्रीगीता का ॥२८॥

तो पहले चौदहवें।
अध्याय के अन्त में।
निर्णय कैवल्यपति ने।
ऐसा किया ॥२९॥

कि ज्ञान जिस के हाथ में।
वही समर्थ मुक्ति में।
शतमख सम्पत्ति जैसे।
स्वर्ग के लिये ॥३०॥

अथवा शत – जन्म – पर्यन्त।
आचरे जो ब्रह्मकर्म।
वही पाता ब्रह्मपद।
अन्य नहीं ॥३१॥

अथवा सूर्य का प्रकाश।
केवल नयनों को लाभरूप।
वैसे ज्ञानी को ही स्वारस्य।
मोक्ष में ॥३२॥

पर उस ज्ञान के लिये।
योग्यता है किस में?
यह खोजा तो जग में।
देखा एक ॥३३॥

पाताल का भी निधान।
दिखता अवश्य अञ्जन।
किन्तु अपेक्षित लोचन।
पदजन्मा के ॥३४॥

वैसे मोक्ष देता ज्ञान।
इस में नहीं सन्देह जान।
पर वह स्थिर हो ऐसा मन।
चाहिये शुद्ध ॥३५॥

पर विरक्ति के बिना कहीं।
ज्ञान टिकेगा नहीं।
यह था निश्चित पहले ही।
देव के मन में ॥३६॥

विरक्ति किस रीति से।
आकर स्वयं मन को वरे।
वह भी सर्वज्ञ श्रीहरिने।
देखा था विशद ॥३७॥

रसोई विषयुक्त जैसे।
ज्यों ही खानेवाला जाने।
तभी वह थाली छोड़ उठे।
जिस प्रकार ॥३८॥

वैसे यह संसार समस्त।
ज्यों ही जानें अनित्य।
तब लौटाने पर भी वैराग्य।
लगता पीछे ॥३९॥

अब अनित्यत्व कैसे।
वही वृक्षाकार के मिस से।
विश्वेश विशद कह रहे।
पञ्चदश में ॥४०॥

उखड़ने पर अचानक।
उलटा गिरने पर वृक्ष।
जैसे सूख जाता शीघ्र।
यह नहीं वैसा ॥४१॥

इसी एक प्रकार के।
रूपक की कुशलता से।
आवागमन मिटा रहे।
संसार का ॥४२॥

बता कर संसार व्यर्थ।
स्वरूप में अहन्ता स्थित।
करने के लिये अध्याय यह।
पञ्चदश ॥४३॥

अब यही सम्पूर्ण।
ग्रन्थ–गर्भ भली प्रकार।
कहूँगा स्पष्ट, देकर चित्त।
सुनिये जी ॥४४॥

तब महानन्द समुद्र।
जो पूर्ण पूर्णिमा-चन्द्र।
वे द्वारिका के नरेन्द्र।
बोले ऐसे ॥४५॥

अहो सखे पाण्डुकुँवर।
आने में स्वरूप के घर।
कर रहा जो प्रतिबन्ध।
विश्वाभास ॥४६॥

वह यह जगडम्बर।
नहीं यहाँ संसार।
जानो इसे महातरुवर।
अति प्रबल ॥४७॥

पर अन्य वृक्षों के सदृश।
ऊपर शाखा नीचे मूल।
नहीं इस के, अतः माप।
पाये न कोई ॥४८॥

आग या कुल्हाड़ी लगे।
यदि यहाँ वृक्ष के मूल में।
तो कितना भी हो भले।
प्रसार ऊपर ॥४९॥

तो मूल के निकट यदि टूटे।
शाखा सहित नीचे पड़े।
पर नहीं वैसी बात यहाँ रे।
यह सरल नहीं ॥५०॥

अर्जुन यह कौतुक।
कहने में अलौकिक।
कि वृद्धि है अधोमुख।
इस वृक्ष की ॥५१॥

भानु की ऊँचाई न जानें।
रश्मिजाल फैला नीचे।
चमत्कारिक वृक्ष वैसे।
संसार यह ॥५२॥

जो है अथवा नहीं भी अरे!
सब व्याप्त इस एक से।
कल्पान्त के उदक से।
व्योम जैसे ॥५३॥

या रवि के अस्त होने पर।
भरती तम से रजनी सघन।
वैसे इसी से गगनमण्डल।
व्याप्त सारा ॥५४॥

चखने को यहाँ फल नहीं।
सूँघने को फूल नहीं।
जो कुछ है बस वृक्ष ही।
पाण्डुसुत यह ॥५५॥

यह है ऊर्ध्वमूल।
पर नहीं उन्मूलित।
अत एव सदा शाद्वल।
रहता यह ॥५६॥

और ऊर्ध्वमूल ऐसे।
कहा गया अवश्य इसे।
पर नीचे भी प्रभूत इस के।
मूल अवश्य ॥५७॥

फैला है चहुँ ओर।
जैसे वट या पीपल।
कोंपलों में से प्रसूत।
डालियाँ जिस में ॥५८॥

उसी प्रकार धनञ्जय।
संसारतरु ऐसा यह।
कि नीचे ही हो शाखाजाल।
ऐसा नहीं ॥५९॥

ऊपर की भी ओर।
शाखाओं के समूह गुच्छ।
दिख रहे अपार।
फैले हुए ॥६०॥

गगन इस पर चढ़ी बेल।
या पवन ने लिया वृक्षरूप।
अथवा अवस्था-त्रय।
हुई उदित ॥६१॥

ऐसा यह एक।
विश्वाकार विलक्षण।
उदित हुआ मानो वृक्ष।
ऊर्ध्वमूल ॥६२॥

अब ऊर्ध्व इसका कौन ?
मूल का क्या लक्षण।
क्या इसका अधोमुखपन।
शाखायें कैसी ? ॥६३॥

अथवा इस द्रुम के।
मूल जो नीचे बढ़े।
उन की कौन सी कैसे ?
ऊर्ध्वशाखा ॥६४॥

और अश्वत्थ ऐसी।
क्यों प्रसिद्धि इस की।
क्या आत्मविद्–विलासी।
कहते यहाँ ? ॥६५॥

वह सब भली प्रकार।
हो तुम्हारे प्रतीतिगम्य।
कहूँगा वैसा विशद।
विन्यास-सहित ॥६६॥

सुनो उसे अब सुभग।
तेरे ही योग्य यह प्रसङ्ग।
कान बनाकर सर्वाङ्ग।
चीर हृदय से ॥६७॥

ऐसे प्रेमरस से भरे।
जब यादववीर बोले।
तब अवधान अर्जुनाकार में।
हुआ मूर्त ॥६८॥

न्यून पड़े देव का निरूपण।
ऐसा बढ़ा श्रोतापन।
जैसे आकाश ने किया आलिङ्गन।
दस दिशाओं को ॥६९॥

श्रीकृष्णोक्ति है सागर।
यह अगस्त्य ही द्वितीय।
मानो भरता एक घूँट।
सम्पूर्ण का ॥७०॥

ऐसी प्रीति अमर्याद बढ़ी।
अर्जुन में देव ने देखी।
उस पर सन्तुष्टि अपनी।
की न्यौछावर ॥७१॥

फिर बोले धनञ्जय !
इस तरु का वह ऊर्ध्व।
जिस की इस वृक्ष पर निर्भर।
ऊर्ध्वता भी ॥७२॥

अन्यथा मध्य–ऊर्ध्व–अध।
नहीं जिस में ये भेद।
अद्वयत्व ही एकमात्र।
स्थिर जहाँ ॥७३॥

जो श्रवणातीत नाद।
असौरभ्य मकरन्द।
स्वरूपभूत आनन्द।
सुरत विना ॥७४॥

जिस का नहीं ओर–छोर।
न अग्र न पृष्ठभाग।
न दिखते हुए भी दृष्ट।
अदृश्य जो ॥७५॥

उपाधि का आगन्तुक।
आने से सम्बन्ध।
नामरूप का संसार।
होता जिस से ॥७६॥

ज्ञातृ–ज्ञेय–विहीन ।
केवलमात्र जो ज्ञान।
सुख से भरा गगन।
छना हुआ ॥७७॥

जो न कार्य न कारण।
जिस के न द्वितीय न एकपन।
अपने आप में ज्ञान।
जिस में अपना ॥७८॥

ऐसी वस्तु जो सत्य।
वही तरु का ऊर्ध्व।
वहाँ मूल का अङ्कुरण।
इस प्रकार ॥७९॥

कि माया नाम से जो ख्यात।
जो न होकर भी वर्तमान।
अथवा बाँझ की सन्तान।
वर्णित जैसे ॥८०॥

नहीं सत् या असत् वैसे।
जो विचार का नाम न सहे।
ऐसी होते हुए भी कहाये।
अनादि वह ॥८१॥

जो नाना शक्तियों का कोश।
जो जगदभ्र का आकाश।
जो आकारजात का वस्त्र।
तह किया हुआ ॥८२॥

जो भवद्रुमबीजिका।
जो प्रपञ्च-चित्र-भूमिका।
विपरीत-ज्ञान – दीपिका।
प्रज्ज्वलित ॥८३॥

वह माया वस्तु में स्थित।
नहीं वस्तुतः लेशमात्र।
पर वस्तुप्रभा ही प्रगट।
होती दृश्य ॥८४॥

जैसे स्वयं को आयी नींद।
करती स्वयं को ही मुग्ध।
अथवा कालिख ही करती मन्द।
दीप-प्रभा को ॥८५॥

स्वप्न में सम्मुख प्रिय तरुणी।
निद्रित ही सवेग जगाती।
आलिङ्गन-बिना ही सकाम करती।
आलिङ्गन से ॥८६॥

स्वरूप में आई माया वैसे।
और स्वरूप उसे न जाने।
वही इस वृक्ष का सखे।
मूल पहला ॥८७॥

वस्तु में जो अपना अबोध।
वही ऊर्ध्व में प्ररूढ़ कन्द।
वेदान्त में यही प्रसिद्ध।
बीज-भाव ॥८८॥

घन अज्ञान-सुषुप्ति।
वही बीजाङ्कुरभाव कहाती।
दूसरे स्वप्न और जागृति।
फलभाव उसके ॥८९॥

ऐसी वेदान्त में इसके।
निरूपण की भाषा चले।
पर रहे वह, प्रस्तुत में।
अज्ञान मूल ॥९०॥

उसी ऊर्ध्व आत्मा निर्मल में।
अधोर्ध्व मूल निकलते।
बलपूर्वक बाँध देते।
मायायोग ॥९१॥

फिर नीचे जो देहान्तर।
उत्पन्न होते अपार।
वे चहुँ ओर ले कर आधार।
फैल जाते ॥९२॥

ऐसे भवद्रुम का मूल।
ऊर्ध्व में होता प्रबल।
फिर अङ्कुरों के समूह।
नीचे दिखते ॥९३॥

वहाँ चिद्वृत्ति में से।
महत्तत्त्व नाम से पहले।
सुकोमल कोंपल उगे।
एकमात्र ॥९४॥

फिर सत्त्व-रजस्-तमसात्मक।
त्रिविध अहङ्कार जो एक।
वह त्रिदल अधोमुख।
अङ्कुर फूटे ॥९५॥
पकड़कर शाखा बुद्धि की।
वह करता भेदों की वृद्धि।
तब मन रूपी डाली होती।
हरी-भरी ॥९६॥
मूल प्रबल होने पर ऐसे।
विकल्प-रस की कोंपलें।
चित्त–चतुष्टय–शाखायें।
प्रस्फुटित होतीं ॥९७॥
फिर आकाश–वायु–द्योतक।
पृथ्वी–जलादि पञ्चाङ्कुर।
महाभूतरूपों में प्रगट।
होते सरल ॥९८॥
वैसे श्रोत्रादि तन्मात्र।
उन भूतों के गर्भपत्र।
कोमल अति–विचित्र।
निकल आते ॥९९॥
तब शब्दाङ्कुर की ओर।
इधोढ़े बढ़ते श्रोत्र।
तब तना होता प्रगट।
आकांक्षा का ॥१००॥
अङ्ग–त्वचा के बेल--पल्लव।
दौडते स्पर्शाङ्कुर की ओर।
वहाँ उगते अङ्कुर अभिनव।
विकारों के ॥१०१॥
फिर रूप–पत्रों की बाढ़ पर।
चक्षु जाते लम्ब होकर।
तब व्यामोहता भली प्रकार।
बढ़ती जाती ॥१०२॥

फिर रस की शाखा नवल।
बढ़ती संवेग अतिशय।
जिह्वा में कीर्ति की अपार।
निकलतीं कोंपलें ॥१०३॥
वैसे गन्ध के अङ्कुर से।
घ्राण का स्तम्भ बने।
वहाँ तल पाये स्वानन्द से।
प्रलोभ का ॥१०४॥
ऐसे महद् अहं-बुद्धि।
मन, महाभूत समृद्धि।
इन्हीं सब से संसार की।
मर्यादा सजी !॥१०५॥
किम्बहुना इन आठों से।
निर्मित यह इतना फैले।
पर सीप जितना ही दिखे।
रूपा जैसे ॥१०६॥
या समुद्र का जितना प्रसार।
उतना तरङ्गों का विस्तार।
वैसे ब्रह्म ही वृक्षाकार।
अज्ञानमूल ॥१०७॥
अब इसका यही विस्तार।
यही है इस का प्रसार।
जैसा स्वप्न में स्वयं ही परिवार।
एकाकी का ॥१०८॥
पर रहने दें इसे।
अद्भुत यह वृक्ष बढ़े।
जिस से महदादि निकलें।
अधोशाखा ॥१०९॥
और इसे अश्वत्थ।
कहते क्यों विद्वज्जन।
वह भी यहाँ सुनो अब।
कहूँ अर्जुन ॥११०॥

'श्वः' पद का अर्थ है 'कल'।
तब तक भी एक सदृश।
नहीं इस वृक्ष का निर्वाह।
प्रपञ्चरूप का ॥१११॥
जैसे बीतने से पहले क्षण।
मेघ लेता नाना वर्ण।
या विद्युत् न रहती सम्पूर्ण।
एक निमिष भी ॥११२॥
या कांपते पद्मदल पर।
जल न सकता ठहर।
अथवा जैसे चित्त, व्याकुल-।
मनुष्य का ॥११३॥
वैसी ही इस की स्थिति।
नष्ट होता रहे क्षण-प्रति।
अतएव इस की ख्याति।
अश्वत्थ नाम से ॥११४॥
और अश्वत्थ नाम से।
पीपल भी कहा जाये।
पर वह अभिप्राय यहाँ न समझें।
श्रीहरि का ॥११५॥
यों इसे पीपल कहने में।
गहन अर्थ दिखे मुझे।
पर क्या लौकिक अर्थ से।
प्रयोजन यहाँ? ॥११६॥
अतएव यह प्रस्तुत।
सुनें अलौकिक ग्रन्थ।
तो क्षणिकत्व से ही अश्वत्थ।
नाम इस का ॥११७॥
और भी एक प्रबल इस पर।
अव्ययत्व का आरोप।
फिर भी वस्तुतः यह भीतर।
है ऐसा ॥११८॥
मेघों के द्वारा जैसे।
सिन्धु से जल निकले।
फिर सरिताओं द्वारा उस में।
भरता रहे ॥११९॥
सिन्धु न घटे न बढ़े।
ऐसा परिपूर्ण ही दिखे।
जब तक न संयोग टूटे।
मेघ-नदियों से ॥१२०॥
इस वृक्ष का होना-जाना ऐसे।
वेग के कारण न दिखे।
अतएव लोग ऐसा कहते।
कि अव्यय यह ॥१२१॥
यों भी दानशील पुरुष।
व्यय द्वारा ही करे सञ्चय।
वैसे व्यय द्वारा ही यह वृक्ष।
दिखता अव्यय ॥१२२॥
जाते हुए अति वेग से।
भूमि को मानो स्पर्श न करते।
ऐसे रथ के चक्र दिखें।
जिस प्रकार ॥१२३॥
वैसे कालातिक्रम से जो सखे।
वह भूतशाखा गिर पड़े।
वहीं कोटि-कोटि फूटें।
फुनगे नये ॥१२४॥
पर एक कब कहाँ गई?
शाखाकोटि कब उगी?
यह न दिखे जैसे उमड़ती।
अभ्रपंक्ति आषाढ़ में ॥१२५॥
महाकल्प के अन्त में।
उदित सृष्टि विलय पाये।
तभी अन्य के अरण्य उगें।
हरे-भरे ॥१२६॥

प्रचण्ड संहार-वात में।
प्रलयान्त की छाल गिरे।
तभी कल्पादि के फुनगे।
असंख्य उगते ॥१२७॥

होते मनु के बाद मन्वन्तर।
वैसे वंश पर वंशान्तर।
जैसे ईख के पोर पर पोर।
बढ़ते अरे ॥१२८॥

कलियुग के अन्त में सूखी।
चारों युगों की छाल उतरती।
कृतयुग की वृद्धि तभी।
प्रस्फुट होती ॥१२९॥

बीते वर्तमान वर्ष।
तभी अगले का पड़ता मूल।
जैसे जाये कि आये दिवस।
न जाना जाये ॥१३०॥

जैसे वायु के झोंकों का।
सन्विभाग नहीं दिखता।
वैसे उगती गिरती शाखा।
न जाने कितनीं ॥१३१॥

एक देह की टहनी टूटें।
तभी असंख्य देहाङ्कुर फूटें।
इसीलिये भवतरु दिखे।
अव्यय ऐसा ॥१३२॥

बहता जल जाये वेग से।
वैसा ही और मिले आगे।
न होते हुए भी जग को वैसे।
मानते सद्रूप ॥१३३॥

अथवा मींची हुई आँख उघड़े।
तब तक कोटि उमड़ें मिटें।
पर अज्ञानी को वहाँ दिखे।
एक लहर ॥१३४॥

एक पुतली दो आँखों में।
सवेग चलाना वायस जाने।
दोनों हैं ऐसा भ्रम उपजे।
जग को जैसे ॥१३५॥

लट्टू भूमि पर गिरा घूमे।
वहीं गड़ा हुआ सा दिखे।
वेगातिशय भ्रम का ऐसे।
हेतु होता ॥१३६॥

किंबहुना अति सवेग।
अँधेरे में घूमती मशाल।
वह दिखती जैसे स्थिर।
चक्राकार ॥१३७॥

यह संसार-वृक्ष जैसा।
उगता–गिरता सहसा।
न देख कर लोक पगला।
माने अव्यय ॥१३८॥

पर जो इस का वेग देखे।
वह इसे क्षणिक पहचाने।
जाने कि कोटि बार निमिष में।
यह होता–जाता ॥१३९॥

अज्ञान-सिवा न इस का मूल।
मिथ्या ही इस का अस्तित्व।
ऐसे इस वृक्ष को सम्पूर्ण।
देखा जिस ने ॥१४०॥

उस को ही हे पाण्डुसुत।
मैं सर्वज्ञ भी कहता सुज्ञ।
वाग्ब्रह्म–सिद्धान्त भी वन्द्य।
कहता उसी को ॥१४१॥

योगजात के सर्वफल।
उस एक को ही उपलब्ध।
किंबहुना जिये ज्ञान।
उसी के कारण ॥१४२॥

रहने दें अधिक कथन।
कौन कर सके उस का वर्णन।
जिस ने भववृक्ष को लिया जान।
अनित्य ऐसा ॥१४३॥
प्रपञ्च-रूप इसी।
अधोशाख पादप की।
बहुत सी डालियाँ जातीं।
ऊपर भी ॥१४४॥
नीचे फैली डालों में।
पुनः मूल निकलते।
उन के भी तले उगते।
बेल-पल्लव ॥१४५॥
ऐसा जो तुझे मैं ने।
कहा यहाँ उपक्रम से।
उसे सुगम कर के।
कहता सुनो ॥१४६॥
तो बद्धमूल अज्ञान से।
महदादि सृष्टि उपजे।
सघन अरण्य वेदों के।
साथ ले कर ॥१४७॥
पर पहले स्वेदज।
जारज-उद्भिज-अण्डज ।
मूल में से ये महाभुज।
उठते चार ॥१४८॥
इन एक-एक में से।
चौरासी लक्षधा फूटे।
तब जीवशाखा में निकलते।
असंख्य अङ्कुर ॥१४९॥
सरल शाखा प्रसव करे।
नाना सृष्टि की डालें।
आड़ी डालियों से निकलें।
असंख्य जाति ॥१५०॥
स्त्री-पुरुष-नपुंसक ।
ये व्यक्तिभेदों के रूप।
आन्दोलित हुते आङ्गिक।
विकार-भार से ॥१५१॥
जैसे वर्षाकाल गगन में।
फैले नवघन रूप में।
वैसे आकारजात अज्ञान में।
फैलती बेल ॥१५२॥
फिर शाखाओं के अङ्गभार से।
झुक कर परस्पर उलझते।
तब गुणक्षोभ-पवन के।
आते झोंके ॥१५३॥
उन प्रबल झोंकों से।
गुणों के क्षुब्ध रूप से।
तीन स्थानों पर फटे।
वह ऊर्ध्वमूल ॥१५४॥
ऐसा रजोगुण का झोंका।
जब प्रबल होकर लगता।
तब मनुष्यजाति शाखा।
बढ़ती अधिक ॥१५५॥
वह न ऊर्ध्व न अध।
मध्य में ही होती प्रबल।
उस में से होती आड़ी बाढ़।
चतुर्वर्णों की ॥१५६॥
वहाँ विधिनिषेध सपल्लव।
वेदवाक्यों के अभिनव।
इन के विस्तार सुन्दर।
झुकते नीचे ॥१५७॥
प्रसरते अर्थ-काम।
फुनगे होते सघन।
होता क्षणिक विस्तार।
इहभोगों का ॥१५८॥

वहाँ प्रवृत्ति के वृद्धिलोभ से।
शुभाशुभ के अङ्कुर फूटते।
नाना कर्मों के नये-नये।
न जाने कितने ॥१५९॥

पहले कर्म होते क्षीण।
तब देह होता शुष्क काष्ठ।
तभी वृद्धि होती नवीन।
देही की ॥१६०॥

और शब्दादिक के सहाय से।
सहज चित्तरञ्जकों से।
विषय-पल्लव नये-नये।
नित्य होते ॥१६१॥

ऐसे रजोवात प्रचण्ड में।
समूह मनुष्य-शाखा के।
बढ़ते तो यहाँ पनपे।
मनुष्यलोक ॥१६२॥

वैसे ज्यों ही रज का पवन।
क्षणभर हटे एक ओर।
तभी गरजने लगता घोर।
तम-बादल ॥१६३॥

तब मनुष्य शाखा में।
क्षुद्रवासना रूपी नीचे।
अधिक डालियाँ फूटें।
कुकर्मों की ॥१६४॥

अप्रवृत्ति के नुकीले।
अङ्कुर सीधे फूटते।
बढ़कर पत्र-पल्लव छाते।
प्रमाद के ॥१६५॥

बोलते निषेध-नियम।
जो ऋचा यजुः साम।
निकलते वे पल्लव।
अग्रभाग में ॥१६६॥

प्रतिपादित करते अभिचार।
जो आगम परमारक।
उन पत्तों में होती प्रसृत।
वासना वेली ॥१६७॥

तब प्रबल बनते।
मूल अकर्मों के।
जन्मशाखा आगे-आगे।
बढ़ती सवेग ॥१६८॥

तब चाण्डालादि निकृष्ट।
दोषजातियाँ होतीं पुष्ट।
उस जाल में फँसते कर्मभ्रष्ट।
भूलकर ॥१६९॥

पशु पक्षी सूकर।
वृश्चिक सर्प व्याघ्र।
ये आड़े शाखा-प्रकार।
होते प्रबल ॥१७०॥

इस शाखा में पाण्डव।
सर्वाङ्ग से नित्य नव।
लेना पड़ता निरयभोग।
फलरूप ॥१७१॥

हिंसा और विषय प्रमुख।
दृढ़ हुआ कुकर्मसङ्ग।
बढ़ता जाये जन्मोजन्म।
बीजाङ्कुर ॥१७२॥

ऐसे होते तरु तृण।
लोह लोष्ट पाषाण।
यही डाली इसे जान।
फलरूप भी ॥१७३॥

सुनो सखे अर्जुन।
मनुष्य से ले कर यहाँ तक।
वृद्धि स्थावरों में सब।
अधोशाखा की ॥१७४॥

अतएव जो मनुष्यडाल।
वही यहाँ अधोमूल।
क्योंकि यहीं से प्रसृत।
संसारतरु ॥१७५॥

यों ऊर्ध्व का पार्थ।
देखें यदि असली मूल।
तो नीचे शाखाविस्तार।
इस मध्यस्थ से ॥१७६॥

पर तामस और सात्त्विक।
सुकृत – दुष्कृतात्मक ।
इसी शाखा से उद्भूत।
अध-ऊर्ध्व को ॥१७७॥

और वेदत्रयी के पल्लव।
अन्यत्र न लगते अर्जुन।
क्यों कि नहीं मनुष्य से अन्य।
विधान-विषय ॥१७८॥

अतः मनुष्य के ही शरीर में।
ऊर्ध्वमुखी शाखा उगें।
पर कर्मवृद्धि का भी दिखे।
मूल यही ॥१७९॥

और जैसे वृक्षों में।
शाखा बढ़े तो मूल दृढ़ बने।
मूल दृढ़ से शाखा बढ़े।
प्रबल हो कर ॥१८०॥

वैसे इस शरीर में।
कर्म से देह–संसार बढ़े।
देह रहते कर्म चलें।
अनिवार्य होकर ॥१८१॥

अतएव मनुष्य देह में।
मूल उगे बिना न रहे।
जगज्जनक ने ऐसे।
कहा उसे ॥१८२॥

फिर तम का वह दारुण।
मिटता जब प्रबल घन।
तब सत्त्व की छुटती सवेग।
आँधी वहाँ ॥१८३॥

इसी मनुष्याकृति मूल में।
सुवासना–कोंपल फटते।
बढ़ते हुए वे जन्म देते।
सुकृताङ्कुर को ॥१८४॥

विकसित होते उन्मेष से।
प्रज्ञा–कुशलता तीक्ष्ण बने।
निमिष में विस्तार पाते।
ज्ञानाङ्कुर ॥१८५॥

सुमति होती दृढ़।
बढ़ाती स्फूर्ति में बल।
दौड़ता बुद्धि – प्रकाश।
विवेक की ओर ॥१८६॥

तब मेधारस से सगर्भ।
आस्थापत्रों से शोभित।
सरल निकलते अङ्कुर।
सद्वृत्ति के ॥१८७॥

सहसा सदाचार के।
अनेक प्रकार प्रकटते।
विश्व गूंजे घोष से।
वेदपद्यों के ॥१८८॥

शिष्टागम-विधानों में।
विविध यागवितानों में।
इस के पत्तों पर पत्ते।
पनपते आते ॥१८९॥

यम-दम–गुच्छों से भरी।
उगती तप की डाली।
वैराग्य-शाखा में आतीं।
कोंपलें भरपूर ॥१९०॥

विशिष्ट व्रतरूप डालें पार्थ।
धैर्य की तीक्ष्ण नोकों सहित।
जन्मवेग से ऊर्ध्वमुख।
उठती रहतीं ॥१९१॥

मध्य में पत्र सघन।
करते सुविद्या की रुनझुन।
जब तक वहता रहे प्रबल।
सत्त्वानिल ॥१९२॥

धर्म की डाल विस्तरे।
वहाँ जन्म शाखा सरल दिखे।
उसी में फिर आड़े निकलते।
स्वर्गादि फल ॥१९३॥

फिर उपरति तेजस्वी रक्तवर्ण।
धर्म मोक्ष की कोमल डाल।
पल्लवों से नित्य नवीन।
बढ़ती जाती ॥१९४॥

फिर रवि–चन्द्रादि ग्रहवर।
पितृ–ऋषि–विद्याधर ।
ये उपशाखा–प्रकार।
पनपते द्रुत ॥१९५॥

इन से भी ऊँचे।
फलों से मूल ढँके हुए।
इन्द्रादिक गुच्छों वाले।
शाखासमूह ॥१९६॥

और भी ऊँची डालों में।
तपोज्ञान से ऊँचे उठे।
मरीचि–कश्यपादि जहाँ रहते।
ऊर्ध्व शाखा वह ॥१९७॥

ऐसे परस्पर उत्तरोत्तर।
ऊर्ध्व शाखाओं का प्रसार।
मूल में लघु आगे विशाल।
फलाढ्यता से ॥१९८॥

ऊपरी शाखा के ऊपर।
पार्थ आता जो फलभार।
वहाँ ब्रह्मा–ईश–पर्यन्त।
फूटते अङ्कुर ॥१९९॥

फलों के अतिबोझ से।
ऊर्ध्व तब तक झुकता जाये।
जब तक अग्रभाग मूल में।
आ न टिकें ॥२००॥

प्राकृत भी वृक्षों में।
जब शाखा फलों से लदें।
तो झुक कर आतीं वे।
मूल तक ॥२०१॥

वैसे जहाँ से इस सम्पूर्ण।
संसार–तरु का उद्‌भव।
उसी मूल तक आतीं पाण्डव।
ज्ञान–वृद्धि से ॥२०२॥

अतः ब्रह्मा–ईशान से परे।
जीव की वृद्धि नहीं अरे।
वहाँ से आगे एक रहे।
ब्रह्म-मात्र ॥२०३॥

भले यह हो ऐसे।
पर ब्रह्मादिक लोक वे।
ऊर्ध्वमूल की तुलना में।
आते नहीं ॥२०४॥

और भी शाखा प्रसृत।
सनकादिक नाम से विख्यात।
वे फल-मूल से रहित बस।
भरीं ब्रह्म से ॥२०५॥

ऐसी मनुष्यों से लेकर।
ब्रह्मादि पल्लव–पर्यन्त।
शाखाओं की वृद्धि सुन्दर।
ऊँची–ऊँची ॥२०६॥

पार्थ ऊर्ध्व के जो ब्रह्मादि।
मनुष्यत्व ही उन का आदि।
अतः अधोगामी मूल भी।
कहे मैं ने ॥२०७॥

ऐसे तुझे अलौकिक।
यह अधोर्ध्व – शाख।
बताया भववृक्ष।
ऊर्ध्वमूल ॥२०८॥

और नीचे के भी मूल।
बताये उपपत्ति-सहित।
अब सुनो उन्मूलन।
हो कैसे इसका ॥२०९॥

अवश्य तुझे हृदय में।
लगेगा किरीटी ऐसे।
कि इतना बड़ा वृक्ष उखाड़े।
ऐसा कौन? ॥२१०॥

जिस की ब्रह्मलोक पर्यन्त।
ऊपर शाखा प्रसृत।
और निराकार में मूल।
अति ऊर्ध्व ॥२११॥

इस स्थावर के तले।
फैलीं मध्यस्थ डालें।
वहाँ दूसरा मूल उगे।
मनुष्यरूप ॥२१२॥

ऐसा सुदृढ़ और विशाल।
कौन पाये इस का अन्त।
पर न रखो ऐसा क्षुद्र।
भाव मन में ॥२१३॥

इसे उखाड़ फेंकने में।
प्रयास क्या करना पड़े?
क्या हौआ बालक के लिये।
भगाते बाहर? ॥२१४॥

गन्धर्व-दुर्ग गिराना पड़े?
शशविषाण तोड़ना पड़े।
अरे हों तो तोड़े जायें।
खपुष्प कभी ॥२१५॥

वैसे संसार यह वीर।
वृक्ष नहीं वास्तविक।
फिर उन्मूलन में भय।
कैसा भला? ॥२१६॥

मैंने कहा जो विस्तार।
मूल डालियों का वर्णन प्रकार।
वे मानो बाँझ के बालक।
घर में भरे ॥२१७॥

क्या फल जागृति में।
स्वप्न के विवरण से।
वैसी कहानी जानो इसे।
तथ्यहीन ॥२१८॥

फिर भी मैंने कहा जैसे?
इस का मूल अचल वैसे।
वैसा ही यदि वास्तव में।
हो यह ॥२१९॥

तो किस की सन्तान।
कर सके इस का उन्मूलन।
क्या फूंकने से गगन।
उड़ सके? ॥२२०॥

अतएव देखो धनञ्जय।
वह वर्णित रूप मायामय।
ज्यों कछुई-घृत से भोजन।
परोसा नृप को ॥२२१॥

अरे मृगजल के सरोवर।
दूर से ही दर्शनीय।
उस में क्या होती फसल।
धान, कदली की? ॥२२२॥

मूल अज्ञान ही असत्य।
फिर कैसा हो उस का कार्य ?
अतः संसार-वृक्ष समस्त।
मिथ्या ही ।।२२३।।

और इस का नहीं अन्त।
ऐसा जो कथन प्रसिद्ध।
देखो वह भी है सत्य।
एक प्रकार से ।।२२४।।

प्रबोध न हो जब तक।
कहाँ समाप्त निद्रा तब तक ?
रात्रि बीतने तक प्रभात।
क्या होता कभी ? ।।२२५।।

वैसे जब तक पार्थ।
विवेक न उठावे मस्तक।
तब तक नहीं अन्त इस।
भव-अश्वत्थ का ।।२२६।।

बहता पवन शान्त होकर।
जहाँ का तहाँ न हो स्थिर।
तब तक तरङ्गता अनन्त।
रहेगी ही ।।२२७।।

अत एव सूर्य छिपे जब।
तभी लुप्त हो मृगजल।
अथवा दीप बुझने पर।
जाये प्रभा ।।२२८।।

अतः मूल अविद्या को करे ग्रसित।
ऐसा ज्ञान हो जब उदित।
तभी होगा इसका अन्त।
अन्यथा नहीं ।।२२९।।

वैसे हाँ यह अनादि।
ऐसी जो है प्रसिद्धि।
मिथ्यारोप नहीं वह भी।
शब्दार्थयुक्त ।।२३०।।

जब संसारवृक्ष में कभी।
वस्तुतः सत्यता नहीं।
तो असद् वस्तु का आदि।
होगा कैसे ? ।।२३१।।

जो सत्य जहाँ से उपजे।
वह उसका आदि कहलाये।
जो है नहीं उसकी कहाँसे ?
उत्पत्ति कहें ।।२३२।।

अतः जो न जन्मे न होवे।
उसकी जननी किसे कहें।
इस न होने के कारण से।
अनादि यह ।।२३३।।

बाँझ के बेटे की।
जन्मपत्रिका कैसी ?
नभ में भूमिका नीली।
किस ने बनाई ? ।।२३४।।

पाण्डव ! व्योमकुसुमों के।
डण्ठल किसने तोड़े ?
अतः इस भव का कहें।
आदि कैसे ? ।।२३५।।

जैसे घट का न होनापन।
किये बिना ही असत् वर्तमान।
वैसा समूल वृक्ष जान।
अनादि यह ।।२३६।।

यों भी देखें तो अर्जुन।
नहीं इस का आदि-अन्त।
मध्य ही स्थिति आभासित।
वह भी मिथ्या ।।२३७।।

ब्रह्मगिरि से न निकले।
समुद्र में भी न मिले।
मध्य में हो व्यर्थ दिखे।
मृगाम्बु जैसे ।।२३८।।

वैसे आद्यन्त में अवश्य नहीं।
और सच ही कहीं नहीं।
पर असत्यता की नवाई।
कि हो प्रतिभासित ॥२३९॥
झलकता नाना रङ्गों में।
जैसे – इन्द्र धनुष दिखे।
अज्ञानी को ही प्रतीत वैसे।
अस्तित्व इस का ॥२४०॥
ऐसे स्थिति की वेला में।
अज्ञान नेत्र को भ्रमाये।
बहुरुपिया वेश से ठगे।
लोक को जैसे ॥२४१॥
न होती हुई भी श्यामिका।
व्योम में दिखती जैसे सदा।
वैसे क्षणभर में दिखना इसका।
होता मिटता ॥२४२॥
स्वप्न में भासित असत्य।
वह भी न रहता एक सदृश।
वैसे आभास यह क्षणिक।
निरर्थक जानो ॥२४३॥
देखने में तो दिखे।
पकड़ना चाहें तो हाथ न लगे।
वानर चेष्टा करे जैसे।
जल–प्रतिबिम्ब पर ॥२४४॥
तरङ्ग–भङ्ग न्यून पड़े।
विद्युत् भी अधूरी होड़में।
आभास का वैसे वेग से।
होना–जाना ॥२४५॥
ग्रीष्मशेष का पवन जैसे।
सम्मुख या पीछे न जान सकें।
इस भवरूप तरुवर को वैसे।
स्थिति नहीं ॥२४६॥

नहीं आदि–अन्त या स्थिति।
न ही इस का रूप कोई।
फिर भला खटपट कैसी।
उन्मूलन में? ॥२४७॥
अपने अज्ञान के कारण।
न होते हुए भी हुआ स्थिर।
आत्मज्ञान के खड्ग से अब।
काटो इसे ॥२४८॥
एक आत्मज्ञान से अतिरिक्त।
जितने उपाय करोगे अन्य।
उतना उलझोगे अधिक।
इस वृक्ष में ॥२४९॥
फिर कितनी शाखोपशाखा में।
ऊपर नीचे भटकना पड़े।
अतः छेदो सम्यक् ज्ञान से।
मूल अज्ञान को ॥२५०॥
रज्जुसर्प को मारने।
लाठी बनाने के लिये।
कोई लकड़ी का बोझ ढोये।
व्यर्थ जैसे ॥२५१॥
मृगजल की गङ्गा पार करने।
नाव खोजने वन में भटकें।
और डूबें सचमुच के।
नाले में जैसे ॥२५२॥
वैसे न होते हुए संसार के।
मुक्ति का उपाय खोजते।
स्वयं लुप्त होते, व्यर्थ में।
बढ़ता कोप ॥२५३॥
अत: स्वप्न के घाव की जैसे।
जागना हो ओषधि वैसे।
इस अज्ञानमूलक के लिये।
ज्ञान ही खड्ग ॥२५४॥

पर उसे 'लीलया' उठा सके।
इतना वैराग्य का अरे।
अभङ्ग बल होना चाहिये।
वृद्धि में दृढ़ ॥२५५॥

जिस वैराग्य की उत्पत्ति से।
यह त्रिवर्ग ऐसा छूटे।
श्वान का वमन जैसे।
दिखता हेय ॥२५६॥

यहाँ तक पाण्डव।
पदार्थजात के प्रति सब।
दोषबुद्धि से हो स्थिर।
वैराग्य दृढ़ ॥२५७॥

तब देहाहन्ता के वेष्टन।
छोड़ कर एकाएक।
प्रत्यग्बुद्धि करतलगत।
होती पार्थ ॥२५८॥

विवेक शिला पर घिस कर।
ब्रह्माहमस्मि बोध हो तीक्ष्ण।
चढ़ावें पानी फिर उस पर।
अद्वैत का ॥२५९॥

फिर निश्चय का मुष्टिबल।
परख लें एक-दो बार।
तब तौलें अतिशुद्ध।
मनन से उसे ॥२६०॥

फिर स्वयं और हथियार।
निदिध्यास में एक होने पर।
न रहता प्रहार करने योग्य।
द्वितीय कोई ॥२६१॥

आत्मज्ञान का वह खड्ग।
अद्वैत प्रभा से हुआ तीक्ष्ण।
न रहने देता कहीं शेष।
भववृक्ष को ॥२६२॥

ज्यों शरद आने पर पवन।
अम्बर को करता निरभ्र।
या उदित रवि भरता घूँट।
अँधेरे का ॥२६३॥

अथवा होते ही जागरण।
न रहे शेष स्वप्नसंभ्रम।
स्वप्रतीति धारा--प्रवाह।
रहे वैसे ॥२६४॥

तब ऊर्ध्व या ऊर्ध्वमूल।
या अध: के शाखाजाल।
कुछ भी न दिखे जैसे मृगजल।
चाँदनी में ॥२६५॥

ऐसे ही हे वीरनाथ।
आत्मज्ञान का खड्ग।
भव अश्वत्थ को छेद कर।
ऊर्ध्वमूल से ॥२६६॥

फिर इदन्ता से अतीत।
अहन्ता से रहित सिद्ध।
वह दिखता अपना रूप।
अपने-आप ॥२६७॥

पर दर्पण के आधार से।
एक को ही द्वितीय करके।
गँवार जैसे मुख देखते।
ऐसे नहीं ॥२६८॥

यह देखना ऐसा वीर।
जैसे न तोड़ते हुए कूप।
अपने उद्गम में नीर।
भरा रहे ॥२६९॥

अथवा सूखने पर अम्भ।
निजबिम्ब में प्रतिबिम्ब।
ऐक्य पाता या नभ में नभ।
घटाभाव में ॥२७०॥

अथवा इन्धनांश हो समाप्त।
तब वह्नि अपने आप में स्थित।
वैसे निजरूप को धनञ्जय।
निहारना जो ॥२७१॥
जिह्वा अपना स्वाद चखे।
चक्षु अपनी पुतली देखें।
यह निरीक्षण भी वैसे।
अपने–आप में ॥२७२॥
अथवा प्रभा से प्रभा मिले।
गगन गगन पर लोटे।
या नीर नीर के आँचल में।
भरे भरपूर ॥२७३॥
स्वयं को स्वयं ही वैसे।
देखना जो अद्वैत में।
अवश्य हो वह होता ऐसे।
कहूँ निश्चित ॥२७४॥
जो द्रष्टा बिना दर्शन।
ज्ञेय बिना ही ज्ञान।
कहते जिसे आद्यपुरुष।
वह स्थान ऐसा ॥२७५॥
वहाँ आश्रय उपाधि का।
लेकर श्रुति चलाती जिह्वा।
विवरण नाम–रूप का।
करती व्यर्थ ॥२७६॥
पर भव-स्वर्ग से ऊबे हुए।
मुमुक्षु योगज्ञान में लगे।
फिर न आयें इस प्रण से।
निकले जहाँ से ॥२७७॥
संसार को लाँघ कर।
बढ़ते वीतराग प्रणपूर्वक।
ब्रह्मपदके कर्म भी पार कर।
बढ़ते आगे ॥२७८॥

अहन्तादि भाव अपने।
झटक कर सब हटाते।
ज्ञानी आज्ञापत्र लेते।
जिस मूल घर का ॥२७९॥
देखो जहाँ से इतनी बड़ी।
विश्व–परम्परा की वल्लरी।
आशा जैसी खोखली।
निर्दैव की ॥२८०॥
जिस वस्तु का अज्ञान।
उपजाता विपरीत ज्ञान।
जिसने किया प्रचलित।
मिथ्या 'मैं–तू'–पन ॥२८१॥
वही वस्तु जानो पार्थ।
अपना निजी स्वरूप।
जैसे हिम लगने से हिम।
जमे स्वयं में ॥२८२॥
और भी उस का एक।
चिह्न कहूँ धनञ्जय।
जिस के मिलने से आवागमन।
मिटता अरे ॥२८३॥
पर उसे भेंटते ऐसे पुरुष।
जिन्हें ज्ञान से सर्वत्र सदृश।
प्रलयाम्बु का जैसे पार्थ।
भरापन ॥२८४॥
जिस पुरुष का मन।
छोड़ चुका मोह–मान।
वर्षान्त में जैसे घन।
आकाश को ॥२८५॥
निर्धन और निष्ठुर से।
सगे मित्र जैसे ऊबते।
वैसे ही न लिपटते।
विकार उस से ॥२८६॥

फलने पर कदलीतरु गिरे।
वैसे प्रबल आत्मलाभ से।
उस की क्रिया धीरे-धीरे।
होतो विसर्जित ॥२८७॥
जैसे आग लगी वृक्ष में।
देखकर पक्षी उड़ जाते।
छोड़ दिया अशेष वैसे।
विकल्पों ने जिसे ॥२८८॥
सुनो सकल दोषतृण।
उगते जिस मेदिनी पर।
उन भेदबुद्धि की बात तक।
न रहे जहाँ ॥२८९॥
सूर्योदय के साथ ही।
रात्रि स्वयं पलायन करती।
गयो देह-अहन्ता वैसी।
अविद्या सहित ॥२९०॥
आयुष्यहीन का जीव।
सहसा जैसे छोड़ता शरीर।
अविद्यात्मक द्वैत ने पार्थ।
छोड़ा वैसे ॥२९१॥
पारस को लोहे का अभाव।
रवि को न मिलता अन्धकार।
वैसा द्वैत बुद्धि का दुष्काल।
सदा जिसमें ॥२९२॥
अरे सुख-दुःखाकार।
द्वन्द्व जो देह में गोचर।
वे भी जिस के सम्मुख।
आते ही नहीं ॥२९३॥
स्वप्न के राज्य अथवा मरण।
न होते हर्ष-शोक के कारण।
जागने पर जानो अर्जुन।
जिस प्रकार ॥२९४॥
सुखदुःख रूप वैसे।
द्वन्द्वात्मक पुण्य-पाप से।
न पकड़ा जाता सर्प से।
गरुड जैसे ॥२९५॥
और अनात्मक-वर्ग नीर।
छोड़कर, आत्मरस का क्षीर।
सेवन करता जो सविचार।
राजहंस ॥२९६॥
जैसे बरसा कर पृथ्वी पर।
अंशुमाली अपना रस।
फिर रश्मि-जाल से लेता खींच।
निज बिम्ब में ॥२९७॥
वैसे आत्मभ्रान्ति के कारण।
वस्तु नानारूपों से विकीर्ण।
उन्हें करती एकत्र।
अखण्ड ज्ञानदृष्टि ॥२९८॥
किम्बहुना आत्मविषयक।
निर्धारक जिसका विवेक।
डूबा गङ्गा के प्रवाहसम।
सिन्धुमध्य ॥२९९॥
सब अपना आप होने से।
जिसका अभिलाष शेष न रहे।
यहाँ से वहाँ जाना जैसे।
आकाश को नहीं ॥३००॥
जैसे अग्नि का पर्वत।
न जाने क्या हैं बीज-अङ्कुर।
वैसे जिस के मन में विकार।
उदय न पाते ॥३०१॥
जैसे निकालने पर मन्दराचल।
रहे क्षीराब्धि निश्चल।
वसे न उठे जहाँ क्षोभ।
कामोर्मि का ॥३०२॥

चन्द्र कलाओं से पूर्ण।
न दिखे किसी अङ्ग में न्यून।
वैसे अपेक्षा का छिद्र।
न रहे जिस में ॥३०३॥

कितना कहूँ यह निरुपम।
जैसे परमाणु न रहे वायु सम्मुख।
वैसे विषयों का न रुचिकर।
नाम भी जिसे ॥३०४॥

जो–जो कोई ऐसे।
ज्ञानाग्नि में तपे।
वह वहाँ मिलते जैसे।
हेम में हेम ॥३०५॥

वहाँ अर्थात् कहाँ?
यदि तुम पूछो ऐसा।
तो वह पद, जिस का।
व्यय न कभी ॥३०६॥

दृश्यपन से देखें।
ज्ञेय – रूप से जानें।
'अमुक' ऐसा कह सकें।
नहीं जिसे ॥३०७॥

अरे दीप की शिखा से।
या चन्द्र की ज्योत्स्ना से।
किम्बहुना अंशुमाली से।
जो होता प्रकाशित ॥३०८॥

यह समस्त दर्शन।
है जिस का अदर्शन।
विश्व होता भासित।
छिपने से जिस के ॥३०९॥

जैसे सीपीपन खोये।
तब तक हो रूपा दिखे।
रज्जु लुप्त होने से।
सर्प प्रतीत ॥३१०॥

वैसे चन्द्रसूर्यादि श्रेष्ठ।
जिस तेज से तेजोयुक्त।
वह तेज होता सम्भवित।
जिस के अज्ञान से ॥३११॥

वह वस्तु हो तेजोरूप।
सर्वभूतों में सदृश।
चन्द्र-सूर्यों को अन्त: स्थित।
करे प्रकाशित ॥३१२॥

अत: चन्द्रसूर्य तुच्छ।
उस वस्तुप्रकाश के सम्मुख।
अत: तेजस्वियों का तेज।
वस्तु का सत्त्व ॥३१३॥

और जिस के प्रकाश में।
चन्द्रार्क-सहित जग छिपे।
सचन्द्र नक्षत्र जैसे।
दिनोदय में ॥३१४॥

अथवा जैसे जागने पर।
स्वप्न–प्रपञ्च होता समाप्त।
या सांझ समय न रहती शेष।
मृग-तृष्णिका ॥३१५॥

वैसे जिस वस्तु में पार्थ।
नहीं अन्य कोई आभास।
वही मेरा प्रमुख धाम।
जानो सखे ॥३१६॥

तथा जो वहाँ गये।
वे पीछे पाँव न रखते।
मिला हुआ महोदधि में।
स्रोत जैसे ॥३१७॥

अथवा लवण की कुञ्जरी।
लवणसागर में जा मिली।
वह कभी न लौटती।
पीछे जैसे ॥३१८॥

अथवा गई अन्तराल में।
वह्नि-ज्वाला न लौटे।
तप्त लोह पर जल जैसे।
जल न रहे ॥३१९॥

वैसे मुझ में एकरूप।
जो ज्ञान से हुए शुद्ध।
उन का पुनरावृत्ति का पन्थ।
हुआ कुण्ठित ॥३२०॥

तब प्रज्ञा-पृथ्वी का नृप।
बोला प्रसाद से हूँ धन्य।
पर एक विनति पर देव।
दीजिये चित्त ॥३२१॥

जो देव से होते स्वयं एक।
फिर पीछे न आते लौट।
वे देव से हैं भिन्न।
अथवा अभिन्न जी! ॥३२२॥

यदि भिन्न हो अनादि सिद्ध।
तो 'न लौटते' यह असम्बद्ध।
सुमन में सुखमग्न षट्पद।
क्या होता सुमन? ॥३२३॥

पर लक्ष्य से विलक्षण।
जैसे लक्ष्य छू कर बाण।
गिरते आगे उन के समान।
लौटेंगे वे !!३२४॥

यों, तवरूप ही वे स्वभाव से।
फिर कौन मिले किस से?
स्वयं अपने में ही खुभें।
शस्त्र कैसे? ॥३२५॥

तुझ से अभिन्न जीवों का।
तुझ से संयोग-वियोग न होता।
जैसे देव! अवयवों का।
शरीर से ॥३२६॥

और जो तुम से भिन्न।
उन का न कभी होगा मिलन।
पुनः आना-न आना कथन।
है व्यर्थ ही ॥३२७॥

तो कौन हैं वे जो तुझे।
पा कर फिर न लौटते।
यह विश्वतोमुख मुझे।
समझाइये ॥३२८॥

अर्जुन के इस आक्षेप से।
वे शिरोमणि सर्वज्ञों के।
शिष्य के इस बोध से।
हुए तुष्ट ॥३२९॥

फिर बोले महामति अहो।
मुझे पा कर न लौटते जो।
भिन्न-अभिन्न ऐसे दोनों।
प्रकार उन के ॥३३०॥

यदि विवेक से देखें भीतर।
तो मैं ही वे सहज।
ऊपर से तो द्वितीय, भिन्न।
दिखते अरे ॥३३१॥

जैसे पृथक् जल पर।
दिखते चञ्चल कल्लोल।
अन्यथा वहाँ निखिल।
जल ही केवल ॥३३२॥

अथवा सुवर्ण से अन्य।
अलङ्कार दिखते भिन्न।
पर वास्तव में है स्वर्ण।
सब कुछ वहाँ ॥३३३॥

वैसे ज्ञान की दृष्टि से।
किरीटी मुझ से अभिन्न ही वे।
इतर जो भिन्नपन दिखे।
वह अज्ञान से ॥३३४॥

यथार्थतः करें वस्तुविचार।
तो कैसे मुझ एक में द्वितीय।
जहाँ भिन्नाभिन्न व्यवहार।
हो सम्भव ॥३३५॥

सम्पूर्ण व्योम समाकर उदर में।
रविबिम्ब ब्रह्माण्ड को व्यापे।
तो प्रतिबिम्ब कहाँ कैसे?
जायें रश्मि भी? ॥३३६॥

क्या कल्पान्त का जलप्रलय।
नदी–नालों से निर्मित घनञ्जय।
अतः कैसे अंश सम्भव?
मुझ अविक्रिय के ॥३३७॥

जैसे ऋजु भी जल।
प्रवाह के कारण दिखता कुटिल।
या रवि में आता द्वितीयपन।
जलसङ्ग से ॥३३८॥

व्योम में गोल या चौकोर।
होते क्या ये आकार?
पर घट–मठ में व्यापकर।
दिखे वैसा ॥३३९॥

या निद्रा के आधार से।
क्या अकेला ही जग न भरे?
जब वह स्वप्न में बने।
स्वयं राजा ॥३४०॥

या मिलने पर धातु हीन।
स्वर्ण के होते विविध वर्ण।
वैसे निज माया से उपहित।
मैं विशुद्ध ॥३४१॥

तब अज्ञान होता रूढ़।
'मैं कौन' का उठता विकल्प।
फिर कहता निज विवरण।
'मैं देह' ऐसे ॥३४२॥

ऐसे शरीर–परिमाण में।
आत्मज्ञान सीमित बने।
तब मेरा अंश कहलाये।
अल्पत्व से ॥३४३॥

या वायुवश समुद्र में।
तरङ्गाकार उल्लसे।
तब समुद्रांश–सा दिखे।
छोटा जैसे ॥३४४॥

वैसे जड़ को जिलानेवाला।
देह में जो लाता अहन्ता।
पाण्डव मैं जीव कहलाता।
जीवलोक में ॥३४५॥

उस जीव के बोध का।
गोचर जो यह धन्धा।
वही जीवलोक शब्द का।
अभिप्राय ॥३४६॥

अरे उत्पत्ति और प्रलय।
माना जाता जहाँ सत्य।
उसे मैं कहता जीवलोक।
संसार वही ॥३४७॥

एवंविध जीवलोक में।
ऐसा तू समझ मुझे।
जैसा चन्द्र उदक में।
उदकातीत ॥३४८॥

काश्मीर स्फटिक का कण।
रखा हो कुङ्कुम पर।
दिखता भले लोहितवर्ण।
पर न वैसा ॥३४९॥

वैसे अनादिपन न टूटे।
मेरा अक्रियत्व न खण्डे।
पर कर्ता–भोक्तापन दिखे।
वह जानो भ्रान्ति ॥३५०॥

किम्बहुना आत्मा शुद्ध।
हो कर प्रकृति से अभिन्न।
बाँधता प्रकृति-धर्म का पट्ट।
अपने ऊपर ॥३५१॥
मन आदि षडिन्द्रिय।
श्रोत्रादि प्रकृतिकार्य।
होता उन्हें अपना कहकर।
व्यापारारूढ़ ॥३५२॥
जैसे स्वप्न में परिव्राजक।
बने स्वयं अपना कुटुम्ब।
उसी के मोह में दौड़े फिर।
इधर-उधर ॥३५३॥
वैसे निज-विस्मृति के कारण।
आत्मा स्वयं प्रकृति-सदृश।
होकर करने लगता सब।
उसी के कार्य ॥३५४॥
मन के रथ पर चढ़े।
श्रवण-द्वार से निकले।
फिर शब्द अरण्य में।
करे प्रवेश ॥३५५॥
उसी प्रकृति की वागुरा से।
त्वचा को द्वार बनाये।
और स्पर्श के घोर वन में।
लगे भटकने ॥३५६॥
और किसी अवसर पर।
नेत्रद्वार से निकल कर।
रूप के पर्वत पर।
करे विहार ॥३५७॥
अथवा रसना के पथ से।
निकलकर सुभट अरे।
रसों की गुफा को लगे।
भरने स्वैर ॥३५८॥
अन्यथा इस घ्राण से।
देहांश-जीव निकले।
गन्ध के दारुण वन में।
घुसे स्वच्छन्द ॥३५९॥
ऐसे देहेन्द्रिय-नायक।
रखकर मन को समीप।
भोगता शब्दादिक।
विषयजात ॥३६०॥
पर कर्ता-भोक्ता ऐसे।
यह जीव तभी दिखे।
जब किसी शरीर में।
करे प्रवेश ॥३६१॥
सम्पन्नता और विलास जैसे।
तभी पार्थ परखे जाते।
जब राजधानी में आते।
करने निवास ॥३६२॥
वैसे अहंकर्तृत्व की बाढ़।
या विषयेन्द्रियों का ठाठ।
तभी जाना जाता स्पष्ट।
जब मिले देह ॥३६३॥
या शरीर-त्याग के समय।
इन्द्रियों का समुदाय।
निकलकर यह अपने साथ।
ले जाता ॥३६४॥
जैसे अपमानित अतिथि।
ले जाता सुकृत-सम्पत्ति।
अथवा कठपुतली की गति।
सूत्रतन्तु ॥३६५॥
अथवा अस्तमान तपन।
ले जाता लोक का दर्शन।
किम्बहुना सुगन्ध को पवन।
ले जाय जैसे ॥३६६॥

वैसे मनःषष्ठ इन।
इन्द्रियों को अर्जुन।
ले जाता देहराज।
देह में से ॥३६७॥
फिर यहाँ अथवा स्वर्ग में।
जहाँ जो देह धारण करे।
वहाँ वैसे ही प्रसार करे।
मन आदि का ॥३६८॥
जैसे बुझता हुआ दीप।
प्रभा-सहित जाता पाण्डव।
पुनः होने पर प्रज्ज्वलित।
वैसा ही दीप्त ॥३६९॥
तो यहीं क्रम रहने से।
अविवेकियों की दृष्टि में।
ऐसा ही प्रतीत होवे।
हे किरीटी ॥३७०॥
कि आत्मा आया देह में।
उसीने विषय भोगे।
फिर देह छोड़ गया मानें।
यही सत्य ॥३७१॥
अन्यथा यह आना-जाना।
या करना और भोगना।
है प्रकृति का, पर अपना।
माना उसने ॥३७२॥
देह का पिण्ड बने।
और उसमें चेतना आये।
उस की गति देख कहते।
आत्मा आया ॥३७३॥
वैसे उसकी संगति से।
इन्द्रियाँ निज अर्थों में लगें।
उसे भोगना नाम देते।
सुभद्रापति ॥३७४॥

फिर भोग क्षीण होने पर।
न दिखे वह देह जाने पर।
तब गया-गया ऐसा शोक।
करते उसका ॥३७५॥
पर डोलता दिखे वृक्ष।
तब कहें बहता पवन।
जहाँ वृक्ष नहीं, वहाँ पाण्डव।
क्या वायु नहीं ? ॥३७६॥
या सम्मुख दर्पण रखें।
स्वयं को उस में देखें।
तभी स्वयं को उत्पन्न मानें।
पहले न थे क्या ? ॥३७७॥
या हट जाने पर आदर्श।
उस आभास का हुआ लोप।
तब हम नहीं ऐसा निश्चय।
होता क्या ? ॥३७८॥
शब्द होता आकाश में।
माथे आता मेघ के।
या अभ्र का वेग चन्द्र में।
हो आरोपित ॥३७९॥
वैसे होता-जाता देह।
उसे अविक्रिय आत्मसत्ता पर।
मोह से करते आरोपित।
अन्ध वे ॥३८०॥
यहाँ आत्मा को आत्मस्थान में।
देखें देह का धर्म देह में।
जो ऐसा देख सकें वे।
हैं अन्य हो ॥३८१॥
ज्ञानरूप जिनके नयन।
स्थूल देह पर न अवरुद्ध।
सूर्यरश्मि जैसे प्रखर।
ग्रीष्मऋतु में ॥३८२॥

वैसे विवेक के बल से।
जिनकी दृष्टि स्वरूप तक न पहुँचे।
वे ज्ञानी देखते ऐसे।
आत्मा को ॥३८३॥

जैसे ताराओं से भरित।
गगन सिन्धु में प्रतिबिम्बित।
पर वह गिरा नहीं टूटकर।
यह सुज्ञात ॥३८४॥

गगन में ही है गगन।
यह मिथ्या आभास।
वैसे देखते देहस्थ।
आत्मा को ॥३८५॥

तरङ्गों का चाञ्चल्य।
तरङ्गों पर ही डालकर।
जानते चन्द्रिका को स्थिर।
चन्द्र में ज्यों ॥३८६॥

या गड्ढा ही भरे-सूखे।
सूर्य ज्यों का त्यों रहे।
देह के आवागमन में वैसे।
देखते तुझे ॥३८७॥

मानो घट-मठ बनाये।
फिर वे फोड़ डाले।
फिर भी आकाश तो रहे।
सदा वर्तमान ॥३८८॥

वैसे अखण्ड आत्मसत्ता पर।
अज्ञान दृष्टि से कल्पित।
होता जाता देह ही यह।
जानते स्पष्ट ॥३८९॥

चैतन्य न बढ़े न घटे।
न चेष्टा कराये न करे।
शुद्ध आत्मज्ञान से ऐसे।
जानते वे ॥३९०॥

अन्य ज्ञान स्वाधीन होता।
परमाणु भी गिन सके प्रज्ञा।
सर्वस्व सभी शास्त्रों का।
होता करगत ॥३९१॥

ऐसा व्युत्पन्न होने पर भी।
यदि मानस में न हो विरक्ति।
तो सर्वात्मक मुझ से न होती।
भेंट उस की ॥३९२॥

भले मुख में भरे हों विचार।
पर अन्तःकरण में विषय विकार।
तो मैं न मिलता धनुर्धर।
कहूँ त्रिवार ॥३९३॥

अरे स्वप्न में बड़बड़ाये ग्रन्थ से।
क्या संसार-ग्रन्थि छूटे?
या पोथी संभाल रखने से।
होती अधीत? ॥३९४॥

या बाँध कर नेत्र।
घ्राण पर लगायें मुक्ताफल।
तो क्या उस का पड़ता समझ।
मोल मान? ॥३९५॥

चित्त में अहन्ता का निवास।
जीभ को सकल शास्त्राभ्यास।
यों बीतें कोटि गर्भवास।
न पाते मुझे ॥३९६॥

जो मैं समस्त में एक।
भूतजाति में व्यापक।
सुनो उस व्याप्ति का पार्थ।
करूँ निरूपण ॥३९७॥

तो सूर्य-सहित समस्त।
विश्वरचना जिससे प्रकाशित।
वह दीप्ति मेरी ही पार्थ।
जानो आद्यन्त में ॥३९८॥

जल सोख कर रवि जाने पर।
भर देती जो आर्द्ररस।
पाण्डुसुत चन्द्र में वह।
ज्योत्स्ना मेरी ॥३९९॥
और दहन– पचनादि सिद्धि।
करती जो निरवधि।
हुताशन में वह तेजोवृद्धि।
मेरी ही अरे ॥४००॥
में प्रविष्ट इस भूतल में।
अतः समुद्र–महाजल में।
यह मिट्टी को ढेली सखे।
घुलती नहीं ॥४०१॥
और भूत भी सचराचर।
जो धारण करतो यह अपार।
वह मैं ही करता धारण।
प्रविष्ट होकर ॥४०२॥
गगन में मैं ही पाण्डुसुत।
चन्द्र के मिस बना पार्थ।
अमृत से भरा हुआ सचल।
सरोवर ॥४०३॥
वहाँ से निकले रश्मिकर।
वह ओघ बन कर अपार।
सर्वौषधि का आगार।
भरता मैं ही ॥४०४॥
ऐसे सस्यादि सकल।
धान्यजाति का करता सुकाल।
फिर अन्नद्वारा करता रक्षित।
भूतजात को ॥४०५॥
और निपजा हुआ अन्न।
उस का कैसे हो दोपन।
जिस से कर के समाधान।
भोगें जीव ॥४०६॥
अतः प्राणिजात के घट में।
नाभिजात को कुण्ड बनाके।
दीप्ति–पात्र अनल जठर में।
मैं ही बना ॥४०७॥
प्राणापान की भाथी पार्थ।
फूंकता हुआ अहोरात्र।
पचाता उदर में अन्न।
न जाने कितना ॥४०८॥
शुष्क अथवा स्निग्ध।
सुपक्व हो या विदग्ध।
मैं ही अरे चतुर्विध।
पचाता अन्न ॥४०९॥
एवं मैं ही सकल जन।
सब का निर्वाहक मैं जीवन।
और जीवन का मुख्य साधन।
वह्नि मैं ही ॥४१०॥
अब क्या इस से अधिक।
कहूँ व्याप्ति का नयापन।
कि यहाँ नहीं द्वितोय कुछ।
सर्वत्र मैं ही ॥४११॥
फिर कैसे विभिन्न वेश।
सदा सुखी कोई एक।
और कोई दुःखाक्रान्त।
अतीव प्राणी ॥४१२॥
जैसे समस्त नगर में।
एक से सब दीप जलायें।
तो क्या कहीं प्रकाश करे।
कहीं न करे? ॥४१३॥
ऐसे–ऐसे तर्क–वितर्क।
यदि करो मन में पार्थ।
तो सुनो यह भली प्रकार।
मिटाऊँ शङ्का ॥४१४॥

सब कुछ में हो हूँ निश्चित।
नहीं इस में कुछ असदृश।
पर प्राणियों के उल्लास विविध।
कारण इस में ॥४१५॥
एक ही आकाशध्वनि जैसे।
विभिन्न वाद्य–विशेषों में।
बजाने से भिन्न सुने जाते।
नादान्तर ॥४१६॥
या लोकचेष्टाओं में विभिन्न।
जो एक ही भानु उदित।
वह आता अन्य–अन्य।
उपयोगों में ॥४१७॥
नाना बीजधर्मानुरूप।
वनस्पति में उपजे जल।
वैसे परिणमित स्वरूप।
जीवों में मेरा ॥४१८॥
देखें अज्ञानी और चतुर।
नीलमणि के दो पक्ष।
अज्ञानी को दिखे सर्पत्व।
अन्य को सुखद ॥४१९॥
किम्बहुना स्वाति का उदक।
शुक्ति में मोती, व्याल में विष।
वैसे सज्ञान के लिये में सुख।
अज्ञानी को दुःख ॥४२०॥
अन्यथा सभी के हृदय में।
'मैं अमुक हूँ'–ऐसे।
जो बुद्धि अहर्निश स्फुरे।
वह वस्तु मैं हो ॥४२१॥
पर रहते हुए सन्त–समीप।
करें योग–ज्ञानाभ्यास।
हों उपासित गुरुचरण।
वैराग्यसहित ॥४२२॥

इन्हीं सत्कर्मों से।
अशेष अज्ञान विरमे।
जिन का अहं विश्रमे।
आत्मरूप में ॥४२३॥
वह स्वयं को स्वयं देख कर।
सदा सुखी मुझे पा कर।
इस से अन्य सुख का कारण।
क्या होगा भला? ॥४२४॥
सूर्योदय होने पर सूर्य।
दिखे सूर्य से हो धनञ्जय।
त्यों मुझे जानने में पार्थ।
मैं ही हेतु ॥४२५॥
करें शरीर-परायण का सेवन।
संसार–गौरव का श्रवण।
देह में ही अहन्ता निमग्न।
जिन की सदा ॥४२६॥
वे स्वर्ग–संसार–मार्ग के लिये।
कर्म–मार्ग में दौड़ते।
बँटवारे में दुःख के।
भागी होते ॥४२७॥
पर यह होने में भी अर्जुन।
अज्ञान का मैं ही कारण।
जाग्रत् को ही होते स्वप्न।
–निद्रा जैसे ॥४२८॥
देखो अभ्र से छिपता दिनकर।
रवि ही यह कराता ज्ञात।
मुझे न जान कर देखते विषय।
मेरे कारण ॥४२९॥
ज्यों निद्रा या जागृति में।
प्रबोध ही हेतु पार्थ सखे।
त्यों जीवों के ज्ञान-अज्ञान में।
मैं ही मूल ॥४३०॥

सर्पत्व या रज्जुत्व में।
रज्जु ही मूल जैसे।
ज्ञान-अज्ञानमय विश्व में।
मैं ही हेतु ।।४३१।।

अतः मुझे यथार्थ।
न जान कर धनञ्जय।
जब जानने गये वेद।
तो बनीं शाखायें ।।४३२।।

उन के शाखाभेदों में से।
मैं ही जाना जाता अरे।
पूर्व-पश्चिम की नदियाँ जैसे।
पहुँचें समुद्र में ।।४३३।।

महासिद्धान्त के समीप।
श्रुति लीन होती शब्द सहित।
जैसे आकाश में सगन्ध।
वात-लहरी ।।४३४।।

वैसे समस्त श्रुतिजात।
रहते लज्जित से शान्त।
मैं ही करता उन्हें प्रकट।
यथापूर्व ।।४३५।।

अन्त में श्रुतिसहित अशेष।
जग छिपता जहाँ निःशेष।
वह निजज्ञान भी शुद्ध।
जानता मैं ही ।।४३६।।

जैसे निद्रित को जगा दें।
तब स्वप्न का द्वैत अवश्य मिटे।
अपितु एकत्व देख पायें।
अपना आप ।।४३७।।

अपना अद्वयपन।
मैं जानता द्वैतरहित।
ज्ञाता मैं ही जानूँ कारण।
उस बोध का ।।४३८।।

कर्पूर में लगे अनल।
न कालिख न वैश्वानर।
कुछ न रहे वहाँ शेष।
जिस प्रकार ।।४३९।।

वैसे खा कर अविद्या समूल।
वह ज्ञान भी जाता डूब।
तब 'नहीं' भी न रहे शेष।
और न सहे होनापन ।।४४०।।

अरे विश्व ले गया मार्ग सहित।
उस चोर को पकड़े कौन।
ऐसी जो दशा अद्भुत।
शुद्ध वह मैं ।।४४१।।

जड़-अजड़-व्याप्ति को ऐसे।
कैवल्यपति निरूपित करते हुए।
निज निरुपाधिक स्वरूप में।
पहुँचे तब ।।४४२।।

वह सम्पूर्ण बोध सहसा।
अर्जुन में मुद्रित कैसा?
व्योम का चन्द्रोदय जैसा।
क्षीरार्णव में ।।४४३।।

या स्वच्छ प्रतिभित्ति में।
सामने का चित्र झलके।
वैसा अर्जुन और वैकुण्ठ में।
विलसे बोध ।।४४४।।

अजी यह तो वस्तुस्वभाव।
ज्यों-ज्यों मिले बढ़े माधुर्य।
अतएव अनुभवियों में श्रेष्ठ।
बोला अर्जुन ।।४४५।।

जी कहने में व्यापकपन।
अभी जो निरुपाधिक।
स्वरूप यहाँ प्रसङ्गवश।
कहा आपने ।।४४६।।

वह एक बार स्पष्ट रीति से।
कहेंगे क्या मेरे लिये।
तब द्वारिकानाथ बोले।
अहो धन्य ॥४४७॥

अर्जुन मुझे तो कौतुक से।
अखण्ड बोलना भी रुचे।
पर क्या करूँ ऐसा न मिले।
प्रश्नकर्ता ॥४४८॥

आज मनोरथ का फल।
मिला तू ही केवल।
जो जी भर कर गूढ़ तत्त्व।
पूछने आया ॥४४९॥

जो अद्वैतातीत भोग।
उस अनुभव में तू सहाय।
जो वह पूछ कर मेरा सुख।
देता मुझे ॥४५०॥

ज्यों दर्पण आने पर निकट।
नेत्रों से दिखे निजरूप।
वैसे संवादियों में तू निर्मल।
शिरोमणि ॥४५१॥

तू अज्ञानवश करे प्रश्न।
में बैठूं करने समाधान।
ऐसा नहीं यहाँ प्रयोजन।
प्रिय सखे ॥४५२॥

यों कह कर दिया आलिङ्गन।
कृपा दृष्टि से किया निज रूप।
फिर बोले क्या जगदीश्वर।
धनञ्जय से ॥४५३॥

अरे दो ओठों से एक बोलना।
दोनों चरणों से एक चलना।
वैसा पूछना और कहना।
तेरा–मेरा ॥४५४॥

वैसे यहाँ हम–तुम।
देख रहे एक अर्थ।
यहाँ वक्ता–श्रोता यथार्थ।
एकरूप ॥४५५॥

ऐसे हुए देव मोहित।
आलिङ्गन देकर मुग्ध स्थित।
फिर भीत हुए बोले अनुचित।
मोह यह ॥४५६॥

ढलने देना हो इक्षुरस।
तो लवण डालना अनुचित।
यों संवादसुख का रसालपन।
होगा नष्ट ॥४५७॥

पहले ही इस में मुझ में कहीं।
नर–नारायण में भेद नहीं।
पर अब थमे मेरा मुझ में ही।
यह प्रेमवेग ॥४५८॥

इस बुद्धि से सहसा तब।
श्रीकृष्ण बोले वीरेश!
तुमने किया था प्रश्न।
कैसा भला? ॥४५९॥

जो अर्जुन कृष्ण में था विलीन।
वह तब पीछे लौटकर।
प्रश्नावली की कथा सुभग।
सुनने आया ॥४६०॥

वहाँ सगद्‌गद वाणी में।
जो! जो! कहा अर्जुन ने।
कृपया निरुपाधिक कहिये।
रूप अपना ॥४६१॥

वे शार्ङ्गी इस कथन पर।
कहने के लिये वही अब।
उपाधि दोनों हटाकर।
करते निरूपण ॥४६२॥

पूछने पर निरुपहित।
उपाधि क्यों कही तब।
यदि किसी का चित्त यह।
चाहे पूछना ॥४६३॥
तो दही का मथना।
यही नवनीत निपजना।
स्वर्ण शुद्धि के लिये जलाना।
खोट को जैसे ॥४६४॥
काई हटायें हाथ से।
तो वहाँ जल सहज मिले।
अभ्र जायें तो गगन दिखे।
स्वयं सिद्ध ॥४६५॥
ऊपर का तुष-जाल।
फटक कर कर दें अलग।
तब कण लेने में विघ्न।
कहो कैसे? ॥४६६॥
उपाधि-उपहित का वैसे।
अन्त तक विचार करें।
किसी से भी पूछे बिना दिखे।
निरुपाधिक ॥४६७॥
जैसे कुछ न बोल कर।
बाला पति को करती सूचित।
त्यों शब्द के मौन में सङ्केत।
चर्चातीत का ॥४६८॥
जो है कथन से अतीत।
उसे कहने की यही रीत।
अतः करते उपाधिवर्णन।
श्रीपति पहले ॥४६९॥
प्रतिपदा की चन्द्ररेखा।
स्पष्ट दिखाने को शाखा।
दिखाते वैसे औपाधिक का।
वर्णन यहाँ ॥४७०॥

फिर बोले अहो सव्यसाची!
इस संसार-नगरकी।
बस्ती कितनी छोटी सी।
दो पुरुष भर ॥४७१॥
जैसे सम्पूर्ण गगन में।
दिवस-रात्रि दो हो विलसें।
संसार राजधानी में ये।
दो ही वैसे ॥४७२॥
और भी है तृतीय पुरुष।
न सहे इन दो का निर्देश।
जो उदित निगले गाँव सहित।
इन दोनों को ॥४७३॥
पर उसकी बात रहने दो।
पहले इन दोनों की सुनो।
संसार-ग्राम में रहने जो।
आये हुए ॥४७४॥
एक अन्धा पङ्गु अज्ञ।
दूजा सर्वाङ्गपूर्ण स्वस्थ।
पर एक ग्राम के कारण सङ्ग।
हुआ इन का ॥४७५॥
उन में एक का नाम क्षर।
दूसरे को कहते अक्षर।
इन दोनों से संसार।
भरा पूरा ॥४७६॥
अब इन में क्षर कौन।
उस क्षर का क्या लक्षण।
यह अभिप्राय सम्पूर्ण।
करूँ विवेचित ॥४७७॥
तो महद्, अहङ्कार।
इन से ले कर धनुर्धर।
तृण के अग्रभाग।
-पर्यन्त ॥४७८॥

जो कुछ लघु या विशाल।
चल अथवा स्थिर।
किम्बहुना गोचर।
मनबुद्धि का जो ॥४७९॥

जितना कुछ पाञ्चभौतिक।
जो नाम रूप के अन्तर्गत।
गुणत्रय के पंक्तिगत।
आता जो ॥४८०॥

भूताकृति को मुद्रायें।
घड़ी जातीं जिस स्वर्ण से।
काल की द्यूतक्रीडा चले।
जिन कौड़ियों से ॥४८१॥

विपरीत ज्ञान से अरे।
जो कुछ भी जाना जाये।
जो नष्ट होता प्रतिक्षण में।
उत्पन्न हो कर ॥४८२॥

काट कर भ्रान्ति का अरण्य।
रचे गये जो सृष्टि अङ्ग।
किम्बहुना अरे जगत्।
जिस का नाम ॥४८३॥

देखो अष्टधा भिन्न ऐसे।
प्रकृति मिस से जो दिखाये।
क्षेत्र द्वारा जिन के विये।
छत्तीस भाग ॥४८४॥

पहला कहूँ किसलिये।
प्रस्तुत हो अध्याय में।
जो वृक्षाकार रूप से।
किया निरूपित ॥४८५॥

आकार को समस्त।
मान कर अपना पुर।
हो गया तदनुसार।
चैतन्य ही ॥४८६॥

जैसे कूप में स्वयं प्रतिबिम्बित।
उसे देख कर सिंह क्षोभित।
उस क्षोभ से सावेग।
कूदता उस में ॥४८७॥

या सलिल में वर्तमान।
व्योम में आभासे व्योम।
वैसे वस्तुतः सदा अद्वैत।
लेता द्वैतरूप ॥४८८॥

सखे अर्जुन! इस प्रकार।
कल्पित करके पुर साकार।
आत्मा लेता विस्मृतिरूप।
निद्रा वहाँ ॥४८९॥

ज्यों स्वप्न में देखें पर्यङ्क।
उस पर करें स्वयं शयन।
त्यों देह–पुर में शय्याधीन।
देख आत्मा ॥४९०॥

उस निद्रा के आवेगमें।
सुख–दुःख के खर्राटे भरे।
अहं–ममता के आवेग में।
बड़बड़ाये ॥४९१॥

यह माता यह जनक।
यह मैं गौर, हीन, पूर्ण।
यह कान्ता, पुत्र, मित्र।
क्या न मेरे? ॥४९२॥

ऐसे स्वप्न पर आरूढ़।
भव–स्वर्ग अरण्य में जिस की दौड़।
उस चैतन्य का नाम अर्जुन।
क्षर पुरुष ॥४९३॥

अब सुनो क्षेत्रज्ञ।
इस नाम से जो कथित।
जगत् कहता जीव।
जिस दशा को ॥४९४॥

जो अपनी विस्मृति से।
भूतत्व को स्वीकारे।
उसी आत्मा को कहते।
क्षर पुरुष ।।४९५।।
जो पूर्ण वस्तुस्थिति में।
अतः पुरुषता आयी जिस में।
फिर देहपुरी में सोने से।
पुरुष नाम ।।४९६।।
और क्षरपने का झूठा।
आरोप जिस पर आया।
उपाधि से तादात्म्य हुआ।
क्योंकि उस का ।।४९७।।
जैसे लहराते उदक में।
चन्द्रिका भी आन्दोले।
वैसे औपाधिक विकारों से।
दिखे विकारी ।।४९८।।
ताप से जब जल सूखे।
तो चन्द्रिका वहीं खोये।
उपाधिनाश पर न दिखे।
वैसे औपाधिक ।।४९९।।
ऐसे उपाधि के योग से।
क्षणिकत्व इस में आने से।
इसे न्यूनतासूचक मिले।
'क्षर' नाम ।।५००।।
यों जीव चैतन्य समस्त।
यही जानो क्षर पुरुष।
अब सुनो करूँ निरूपण।
अक्षर का ।।५०१।।
तो द्वितीय जो अक्षर।
पुरुष नाम धनुर्धर।
वह मेरु जैसा मध्यस्थ।
गिरिवरों में ।।५०२।।

जो पृथ्वी–पाताल–स्वर्ग-रूप।
इन भेदों से न विभाजित।
ज्ञान–अज्ञान–अङ्गों में गृहीत।
न होता वह ।।५०३।।
न यथार्थज्ञान से होता एक।
न अन्यथात्व से पाये द्वैत।
ऐसा जो न जानना केवल।
वही रूप उस का ।।५०४।।
पाँसुता जाये निःशेष।
पर न बने घट आदि पात्र।
उस मृत् पिण्ड के समान।
मध्यस्थ जो ।।५०५।।
सूख जाने पर सागर।
न रहे तरङ्ग या नीर।
उस के जैसी अनाकार।
जो दशा ।।५०६।।
पार्थ! जागृति हो लुप्त।
पर न हो स्वप्न-प्रारम्भ।
उस सघन निद्रा के समान।
देखना जो ।।५०७।।
विश्व हो सब विलीन।
पर उदित नहीं आत्मबोध।
केवल अज्ञानदशा का नाम।
अक्षर ऐसा ।।५०८।।
'अजा' का जब नहीं जन्म।
तो कैसे उसका नाश सम्भव।
अतएव जानो अक्षर।
अज्ञान घन ।।५०९।।
सब कला छूटने पर जैसे।
अमावस में चन्द्रपन शेष रहे।
जानो वैसा ही रूप अरे।
अक्षर का ।।५१०।।

जब सर्वोपाधि हों विनष्ट।
तब जीवदशा जहाँ प्रविष्ट।
फल पकने पर जैसे वृक्ष।
रहे बीज में ॥५११॥
वैसे उपाधि से उपहित।
रहता जहाँ लीन होकर।
उसी को पार्थ अव्यक्त।
कहते अरे ॥५१२॥
सुषुप्ति में घन–अज्ञान।
वह कहलाता बीज–भाव।
अन्य जागृति और स्वप्न।
फल भाव उस के ॥५१३॥
अथवा जिस को बीज भाव।
दिया वेदान्त ने नाम।
वही उस पुरुष का धाम।
अक्षर नामका ॥५१४॥
जहाँ से अन्यथा ज्ञान।
ले कर जागृति–स्वप्न।
नानाबुद्धि के अरण्य।
हुए विस्तृत ॥५१५॥
किरीटी ! जहाँ से जीवत्व।
और उदित होता विश्व।
दोनों बोधों का जहाँ विलय।
वह अक्षर पुरुष ॥५१६॥
अन्य क्षर पुरुष कहलाये।
जो जागृति–स्वप्न में खेले।
वे दोनों अवस्थायें।
उत्पन्न जिससे ॥५१७॥
अज्ञान–घन–सुषुप्ति ।
ऐसी जिस की ख्याति।
बस एक से हीन प्राप्ति।
ब्रह्म की जो ॥५१८॥

सच हो बाद में पार्थ।
यदि स्वप्न जागृति न हों प्राप्त।
तो वास्तव में ब्रह्मभाव।
कहें इसे ॥५१९॥
पर प्रकृति-पुरुष दोनों ये।
अभ्र आये जिस गगन में।
क्षेत्र–क्षेत्रज्ञ स्वप्न में।
देखे जिस ने ॥५२०॥
किम्बहुना यह अधोशाख।
जो संसार – रूप वृक्ष।
इस का मूल – रूप पुरुष।
अक्षर यह ॥५२१॥
इसे पुरुष क्यों कहते।
क्योंकि निज पूर्णपन से।
मायापुरी में शयन करे।
अतएव ॥५२२॥
और विकारों का खेल।
जो विपरीत ज्ञान का फल।
न देखा जाता जिस के मध्य।
वह सुषुप्ति यह ॥५२३॥
अतः जिस का अपने आप।
नहीं होता क्षरण पार्थ।
अन्य किसी से न पाता नाश।
ज्ञानविना ॥५२४॥
इस कारण यह अक्षर।
वेदान्त में प्रसिद्ध।
जो देशों में श्रेष्ठ।
सिद्धान्त के ॥५२५॥
ऐसे जीव–कार्य–कारण।
मायासङ्ग जिसका लक्षण।
अक्षर पुरुष जान।
चैतन्य वह ॥५२६॥

अब अन्यथाज्ञान से।
जग की दोनों अवस्थायें।
विलीन होतीं जिस घने।
अज्ञान तत्त्व में ॥५२७॥
वह अज्ञान ज्ञान में डूबे।
ज्ञान को कीर्तिमुखत्व मिले।
काष्ठ जलाकर वह्नि जैसे।
स्वयं न रहे ॥५२८॥
वैसे ज्ञान ने अज्ञान मिटाया।
वस्तु देकर स्वयं गया।
यों ज्ञान-ज्ञेय से शून्य रहा।
जो ज्ञाता-मात्र ॥५२९॥
वही है उत्तम पुरुष।
जो तृतीय एवं निष्कर्ष।
जो क्षराक्षर से अन्य।
कहा पहले ॥५३०॥
सुषुप्ति और स्वप्न।
इन से सर्वथा भिन्न।
जागृति जैसे पार्थ।
बोधस्वरूपा ॥५३१॥
या रश्मि और मृगजल।
इन से अर्कमण्डल।
पृथक् वैसे विलक्षण।
उत्तम अरे ॥५३२॥
अथवा काष्ठ में काष्ठ से।
विलक्षण वह्नि जैसे।
क्षर-अक्षर से वैसे।
अन्य ही वह ॥५३३॥
पर ग्रसकर अपनी मर्यादा।
नदी-नदों को एक करता।
उठे ज्वार एकार्णव का।
कल्पान्त में ॥५३४॥
वैसे न स्वप्न या सुषुप्ति।
न जागृति की बात रही।
प्रलयतेज ने दिवारात्रि।
निगले जैसे ॥५३५॥
फिर एकपन या द्वैत।
कुछ भी न होता ज्ञात।
अनुभव भी जाता डूब।
भय से जहाँ ॥५३६॥
ऐसा जो कुछ भी स्थित।
जानो उसे उत्तमपुरुष।
'परमात्मा' नाम से ज्ञात।
जो जग में ॥५३७॥
उस में न मिलते हुए।
रहना होता जीवत्व में।
डूबे हुए की बात जैसे।
तटस्थ कहे ॥५३८॥
वैसे विवेक के तट पर।
किरीटी स्वयं खड़े रहकर।
पारावार की बात।
कहते वेद ॥५३९॥
अतः पुरुष क्षराक्षर।
दोनों को देखकर अवर।
फिर इस को कहते पर।
आत्मरूप ॥५४०॥
अर्जुन इसी रीति से।
'परमात्मा' इस शब्द से।
सूचित हुआ सुनो सखे।
पुरुषोत्तम ॥५४१॥
यों न बोलना ही कथन।
न जानना ही सर्वथा ज्ञान।
कुछ न होना ही होनापन।
जिस वस्तु का ॥५४२॥

सोऽहंभाव हो अस्तगत।
जहाँ वक्ता हो वस्तुरूप।
द्रष्टृत्व-सहित लुप्त।
दृश्य जहाँ ॥५४३॥

बिम्ब और प्रतिबिम्ब में।
न कहो प्रभा कैसी अरे।
यदि वह गोचर दृष्टि के।
हुई नहीं ॥५४४॥

अथवा घ्राण और पुष्प के।
मध्य जो सुगन्ध रहे।
वह न दिखे तो 'नहीं' ऐसे।
कहते नहीं ॥५४५॥

वैसे द्रष्टा-दृश्य ये जायें।
फिर रहा क्या कौन कहे ?
अनुभव से ही देखा जाये।
स्वरूप वह ॥५४६॥

जो प्रकाश्य के बिना प्रकाश।
ईशितव्य के बिना ईश।
निज सत्ता से अवकाश।
भर देता जो ॥५४७॥

जो नाद द्वारा श्रव्य नाद।
स्वाद से आस्वाद्य स्वाद।
जो भोगा जाता आनन्द।
आनन्द द्वारा ॥५४८॥

जो पूर्णता का परिणाम।
पुरुष वह पुरुषोत्तम।
विश्रान्ति का भी विश्राम।
विलीन जहाँ ॥५४९॥

सुख को जिस से मिला सुख।
तेज को प्राप्त हुआ तेज।
शून्य भी हुआ निमग्न जिस।
महाशून्य में ॥५५०॥

जो विकास के बाद भी अवशिष्ट।
ग्रासकों को ग्रसकर पूर्ण।
जो बहुत्व-पङ्क्ति में श्रेष्ठ।
बहुत्व से ॥५५१॥

पर अज्ञानियों के प्रति।
रूपापन को प्रतोति।
रूपा न होते हुए शुक्ति।
कराती जैसे ॥५५२॥

या नाना अलङ्कार-दशा में।
न छिपकर भी स्वर्ण छिपा जैसे।
विश्व न होकर भी वैसे।
जो धारे विश्व ॥५५३॥

किम्बहुना, तरङ्ग और जलमें।
भेद नहीं पार्थ जैसे।
दिखता प्रकाशरूप जग में।
वैसे स्वयं जो ॥५५४॥

अपना सङ्कोच विकास।
अपने आभास में वीरेश।
जल में दिखाता चन्द्र।
समग्र जैसे ॥५५५॥

वैसे न बने कुछ विश्वपन में।
न विश्वलोप से कहीं जाये।
रात्रि-दिवस में नहीं जैसे।
द्विधा रवि ॥५५६॥

वैसे कहीं किसी ओर से।
उस में न्यूनता न आये।
जिस की तुलना हो सके।
केवल उसी से ॥५५७॥

जो अपने को अपने आप।
करे प्रकाशित धनञ्जय।
किम्बहुना जिस से पार्थ।
द्वितीय न कोई ॥५५८॥

वह मैं हूँ निरुपाधिक।
क्षराक्षरोत्तम एक।
अतएव कहता वेदलोक।
पुरुषोत्तम ॥५५९॥
पर, रहने दो यह ऐसे।
मुझ पुरुषोत्तम को सखे।
जाने वही उदित जिस में।
ज्ञानमित्र (सूर्य) ॥५६०॥
जागने पर निजज्ञान।
जैसे 'नहीं' वत् हो स्वप्न।
वैसे आत्मस्फुरण से त्रिभुवन।
मिथ्या जिसे ॥५६१॥
या हाथ में लें माला।
तो मिटे भ्रम सर्प का।
त्यों मेरे बोध से न फँसता।
मिथ्याभास में ॥५६२॥
स्वर्ण ही भूषण जो जाने।
वह भूषणत्व को व्यर्थ कहे।
वैसे मुझे जानकर जिसे।
भेद मिथ्या ॥५६३॥
फिर कहे सर्वत्र सच्चिदानन्द।
मैं ही एक स्वतःसिद्ध।
जो अपने सहित कहीं भेद।
जाने नहीं ॥५६४॥
उसने जाना सब-कुछ।
यह कहना भी अल्प।
क्यों कि उस को न रहा शेष।
द्वैत कहीं ॥५६५॥
अतः मेरे भजन के।
योग्य वही अर्जुन जैसे।
गगन के आलिङ्गन में।
समाये गगन ॥५६६॥
क्षीरसागर का आतिथ्य।
सम्भव क्षीरसागर होकर।
अमृत ही होकर मिलन।
अमृत से जैसे ॥५६७॥
मिलने को शुद्ध स्वर्णमें।
शुद्ध स्वर्ण ही अपेक्षित वैसे।
मद्रूप हो तभी सम्भवे।
भक्ति मेरी ॥५६८॥
(अरे) यदि सिन्धु से अन्य होती।
तो गङ्गा उस में कैसे मिलती।
मद्रूप हुए बिना क्या भक्ति।
होगी अन्वित? ॥५६९॥
इसलिये सर्वप्रकार से जैसे।
कल्लोल अनन्य सागर से।
निश्चित मानो वैसे मुझे।
भजा जिसने ॥५७०॥
सूर्य और प्रभा में
जो ऐक्य जिस प्रेम से।
वही तुल्य उपमा मिले।
उस भजन को ॥५७१॥
ऐसे आरम्भ से लेकर।
यह जो सब शास्त्रैकलभ्य।
उपनिषदों का सौरभ।
कमलदलों का ॥५७२॥
यह शब्दब्रह्म का मथित।
श्रीव्यास-प्रज्ञा के हाथ।
मथ कर निकाला सघन।
सार हम ने ॥५७३॥
जो ज्ञानामृत की जाह्नवी।
आनन्दचन्द्र की सत्रहवीं।
विचार क्षीरार्णव की नई।
लक्ष्मी जो यह ॥५७४॥

अतः अपने पद-वर्ण से।
अर्थ के जीव-प्राण से।
मुझ से अतिरिक्त न जाने।
अन्य कुछ भी ॥५७५॥

क्षर-अक्षर आये सम्मुख।
न देखा उन में पुरुषत्व।
फिर दिया निज सर्वस्व।
मुझ पुरुषोत्तम को ॥५७६॥

नहीं यह निरूपण का शास्त्र।
संसार जीतने को यह शस्त्र।
आत्मा के अवतरण – मन्त्र।
अक्षर इस के ॥५७७॥

अतएव जग में गीता।
मुझ आत्मा को पतिव्रता।
जो प्रस्तुत तुमने यहाँ।
सुनी आज ॥५७८॥

पर कहा तेरे सम्मुख।
यह ऐसा हुआ कुन्तीसुत।
मानो निकाला गोप्य धन।
अपना आज ॥५७९॥

मुझ चैतन्य के माथे पर।
जो निक्षेप था पार्थ।
उस के आस्थानिधि तुम।
बने गौतम ॥५८०॥

अपनी शुद्धता से।
प्रतिबिम्ब जो दिखाये।
उस दर्पण के समान मेरे।
सम्मुख तुम ॥५८१॥

चन्द्रताराओं से भरा नभ।
सिन्धु लाता अपने मध्य।
वैसे गीतासहित मुझे हृदयस्थ।
किया तुमने ॥५८२॥

जो त्रिविध मल।
छोड़े तूने सुभट।
अतः गीता-सहित निवास।
बना मेरा ॥५८३॥

पर क्या कहूँ यह गीता।
जो मेरी उन्मेषलता।
जो ज्ञान पायें समस्त इस का।
वह मोहमुक्त ॥५८४॥

अमृतसरिता का हो सेवन।
तो रोग हटा कर अर्जुन।
वह उचित अमरपन।
देती अवश्य ॥५८५॥

वैसे यह गीता जानने पर।
मोह जायें तो क्या विस्मय।
पर आत्मज्ञान से होता मिलन।
निज स्वरूप से ॥५८६॥

जिस आत्मज्ञान में।
कर्म अपना सुफल देखे।
फिर उतराई बन कर अरे।
पाता विलय ॥५८७॥

खोई वस्तु मिलने पर जैसे।
खोजने का श्रम छूटे।
वैसे ज्ञानरूपी कलश चढ़े।
कर्म-प्रसाद पर ॥५८८॥

अतः ज्ञानी पुरुषों का।
कृत्य कर्म समाप्त होता।
ऐसे अनाथों के सखा।
बोले वे ॥५८९॥

वह श्रीकृष्ण वदनामृत।
पार्थ में भर कर रहा छलक।
फिर व्यासकृपा से हुआ प्राप्त।
संजय को ॥५९०॥

उस ने धृतराष्ट्र राजा को।
परोसा पान करने को।
अतएव शेष जीवन उस को।
न हुआ भारी ।।५९१।।

यों गीताश्रवण के अवसर पर।
दिखता अनधिकारी वह।
पर अन्त में तो उपदेश यह।
आया काम ।।५९२।।

जैसे द्राक्षलता में दूध डालें।
तो व्यर्थ गया ऐसा दिखे।
पर द्विगुणित फल पाक में।
होता जैसे ।।५९३।।

वैसे अक्षर श्रीहरि–वक्त्र के।
कहे संजय ने आदर से।
उन से वह अन्ध अन्त में।
सुखी हुआ ।।५९४।।

वही मराठी विन्यास में।
जिस-तिस प्रकार से मैंने।
निज बुद्धि के अनुरूप किये।
निरूपित ।।५९५।।

अरसिकों को शेवन्ती में।
वृक्ष देख कर विशेष न लगे।
पर सौरभ लिया जिसने।
वह भ्रमर जाने ।।५९६।।

वैसे, उचित प्रमेय स्वीकारिये।
न्यून सब मुझे ही दीजिये।
न जानना ही क्यों कि अरे।
बालक का शील ।।५९७।।

भले ही वह अज्ञान।
पर देख कर उसे माँ-बाप।
हर्ष से न समाते, लाड़।
लड़ाते कितना ।।५९८।।

वैसे सन्त मेरा पीहर।
आप मिलें तो करता लाड़।
ग्रन्थ के व्याज से यह।
जानिये जी ।।५९९।।

अब मेरे ये विश्वात्मक।
स्वामी श्री निवृत्तिराज।
वाक्पूजा करें स्वीकार।
ज्ञानदेव कहें ।।६००।।

इति श्रीमद्ज्ञानेश्वरविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीता – 'भावार्थ-दीपिकायाम्' पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ।।

।। हरिः ॐ तत् सत् ।।

॥ ॐ हरिः ॐ ॥

षोडश अध्याय

अस्त करता विश्वाभास।
नवल चण्डांशु उदित।
अद्वयाब्जिनी – विकासरूप।
वन्दन उसे ॥१॥

जो अविद्या रात्रि समाप्त करे।
ज्ञानाज्ञान – चाँदनी निगले।
ज्ञानियों के प्रति सुदिन करे।
स्वबोधरूप ॥२॥

जिस के उदित होने पर।
पा कर आत्मज्ञान के नयन।
छोड़े देहाहन्ता–नीड़।
जीवपक्षी ॥३॥

लिङ्गदेह – कमल का।
कोश खुला तो चिद्भ्रमर का।
बन्दिमोक्ष सत्वर हुआ।
जिसके उदय से ॥४॥

शब्द–प्रपञ्च में फँसकर।
भेद–नदी के दो तटों पर।
विरहदुःख से करते विलाप।
बुद्धि–बोध ॥५॥

वह चक्रवाकों का मिथुन।
पाये सामरस्य–समाधान।
जब हो प्रकाशित चिद्गगन।
भुवनद्वीप से ॥६॥

जिस की पौ फटने पर।
भागते भेद–चोर।
चलते आत्मानुभव–पथ पर।
पथिक योगी ॥७॥

जिस की विवेक किरण के सङ्गसे।
उन्मेष सूर्यकान्त प्रदीप्त होवे।
फिर सब अरण्य दग्ध करे।
संसार के ॥८॥

जिस का रश्मिपुञ्ज प्रखर।
होता स्वरूप ऊषर पर स्थिर।
आता मृगजल में पूर।
महासिद्धिरूप ॥९॥

प्रत्यग्बोध के माथे पर।
सोहन्ता का मध्याह्न आने पर।
छिपती आत्मभ्रान्तिछाया निज।
पगतल में ॥१०॥

तब विश्वस्वप्न–सहित।
अन्यथामति निद्रा को कौन।
सँभाले, जब न रही शेष।
माया रात्रि ॥११॥

अतः अद्वयबोध नगर में।
महानन्द उत्सव जमे।
तब लेन–देन सुखानुभूति के।
पड़ते मन्द ॥१२॥

किम्बहुना ऐसे-ऐसे।
सुदिवस मुक्तकैवल्य के।
सदा मिलते प्रकाश से।
जिस के सतत ॥१३॥

जो निजधाम–व्योम का नृप करे।
नित्योदित हो इस उदय से।
पूर्वादि दिशाओं से मिटाये।
उदयास्त स्थल ॥१४॥

न देखना देखने सहित अस्त।
दोनों से छिपा हुआ प्रगट।
किम्बहुना सर्वत्र।
खिली उषा ॥१५॥
वह अहोरात्र के अतीत।
दिखे किसे ज्ञान मार्तण्ड।
जो प्रकाश्य के बिना ही सुकाल।
प्रकाश का ॥१६॥
वे चित्सूर्य श्री निवृत्ति।
पुनः पुनः प्रणमूं उनके प्रति।
यद्यपि बाधक बनती स्तुति।
शब्दों द्वारा ॥१७॥
देव की महिमा देख कर।
स्तुति वही होगी प्रशस्यतर।
यदि स्तव्यबुद्धि के सहित लय।
पावे स्तोता ॥१८॥
जो कुछ न जानने से ज्ञात।
मौन मुद्रा से ही वर्णित।
कुछ न होने से हो प्राप्त।
ऐक्य जिस में ॥१९॥
उन आप के उद्देश के लिये।
पश्यन्ती मध्यमा को उदर में।
लिये दूर से ही पीछे।
लौटे वैखरी ॥२०॥
उन आप को मैं सेवकपन से।
सजाउँगा स्तोत्र-भूषणों से।
यह कथन भी न उचित कि सहिये।
हे अद्वयानन्द ॥२१॥
पर रङ्क अमृत का सागर।
देखे तो भूलता उचित।
करने दौड़ता आतिथ्य।
शाक से उसका ॥२२॥
पर शाक भी सचमुच बहुत।
स्वीकारे वह बस हर्षवेग।
दिखायें सूर्यको आरती-दीप।
वह भक्ति देखे ॥२३॥
बालक सब जाने उचित।
तो क्या रहा फिर बालपन।
उसका कुछ भी करे सन्तुष्ट।
माता को ॥२४॥
अरे भरा गाँव के कीचड़ से।
पानी यदि दौड़ता आये।
तो क्या गङ्गा कहती उसे।
"दूर हट !" ॥२५॥
जो भृगु का कैसा अपकार।
पर उसे मानकर प्रियोपचार।
सन्तुष्ट हुए श्रीशार्ङ्गधर।
अनुग्रह मानकर ॥२६॥
अन्धकार से भरा अम्बर।
आये सूर्य के सम्मुख।
तो उस ने उसे क्या 'दूर हट'।
कहा कभी ? ॥२७॥
वैसे भेदबुद्धि की तुला में।
सूर्य–उपमा के बाट से।
तोला तुम्हें जो मैंने उसे।
कीजिये सहन ॥२८॥
जिन्होंने ध्यान-दृगों से देखा।
वेद–वाचा से वर्णन किया।
उन्हें सहा वैसे कृपया।
सहिये मुझे ॥२९॥
मैं आज तुम्हारे गुणों पर।
मोहित हूँ न मानें अपराध।
चाहे जो करें, आधे पेट।
न उठूँगा अब ॥३०॥

लेकर गीता का मिष।
आपका प्रसादामृत।
किया वर्णित तो द्विगुणित।
हुआ देव ॥३१॥

किया सत्यभाषण का तप।
मेरी वाचा ने बहुत बल्प।
फलस्वरूप यह महाद्वीप।
मिला उस को ॥३२॥

पोमे पुण्य असाधारण।
जिस से तुम्हारा गुणवर्णन।
करा के वे उत्तीर्ण।
हुए आज ॥३३॥

जो जीवत्व के अरण्य में।
भटक गया था मरणगाँव में।
वह अवदशा सब आपने।
मिटाई आज ॥३४॥

जो गीता नाम से प्रसिद्ध।
जो अविद्या को जीतकर प्रबल।
वह कीर्ति तुम्हारी मुझ से वर्णित।
करायी आज ॥३५॥

अकस्मात् निर्धन के घर में।
महालक्ष्मी हो आ बैठे।
उसे फिर 'निर्धन' ऐसे।
कहें कैसे ? ॥३६॥

या अन्धकार के स्थान में।
सूर्य आये भाग्य से।
वह अन्धकार ही क्या न बने।
जग में प्रकाश ॥३७॥

जिस देव की महिमा देखें।
तो विश्व परमाणुभर न दिखे।
वह क्या भाव के वश में।
होता नहीं ? ॥३८॥

मैं करूँ गीता का बखान।
यह मानो खपुष्प का घ्राण।
पर समर्थ तुमने की पूर्ण।
लालसा मेरी ॥३९॥

अतः पा कर आप का प्रसाद।
मैं गीता-पद्य अगाध।
करूँगा निरूपित विशद।
कहे ज्ञानदेव ॥४०॥

तो, पन्द्रहवें अध्याय में।
श्रीकृष्ण ने पाण्डव से।
शास्त्र के सिद्धान्त कहे।
पूर्णतया ॥४१॥

जो वृक्ष के रूपक से।
अशेष उपाधिरूप कहे।
सद्वैद्य जैसे दोष बताये।
अङ्गलीन ॥४२॥

और कूटस्थ जो अक्षर।
दिखाया पुरुष – प्रकार।
उपहित चैतन्य का ही आकार।
कहा उसे ॥४३॥

अन्य में उत्तम पुरुष।
इस शब्द का लेकर मिष।
दिखाया वहाँ विशुद्ध।
आत्मतत्त्व ॥४४॥

आत्मविषय में अन्तरङ्ग।
साधन जो बलवत्तर।
वह ज्ञान भी किया स्पष्ट।
निरूपित ॥४५॥

अतः इस अध्याय में कुछ।
निरूप्य न रहा सचमुच।
अब गुरुशिष्य का परस्पर।
प्रेम होगा प्रकट ॥४६॥

इस विषय में इस प्रकार।
ज्ञाता समझ पाये अपार।
किन्तु मुमुक्षु इतर।
हुए साकांक्ष ॥४७॥

उस मुझ पुरुषोत्तम को।
ज्ञान से भेंटे सुभट जो।
वह सर्वज्ञ, वही सीमा अहो।
भक्ति की भी ॥४८॥

त्रैलोक्य नायक ऐसे।
बोले अध्यायान्त श्लोकमें।
वहाँ ज्ञान का ही विशेष रुचि से।
किया वर्णन ॥४९॥

भर कर प्रपञ्च का घूंट।
करें द्रष्टा सहित दर्शन दृष्ट।
आनन्द-साम्राज्य का अभिषेक पट्ट।
बाँधे जीव को ॥५०॥

इतना समर्थ उपाय।
अन्य नहीं, कहते देव।
यह सम्यक् ज्ञान है नृप।
उपायों में ॥५१॥

जो थे आत्मजिज्ञासु ऐसे।
उन्होंने सन्तुष्ट चित्त से।
इस ज्ञान पर सादर वारे।
प्राण अपने ॥५२॥

प्रीति लगे जहाँ पर।
उसी की ओर फिर-फिर।
बढ़ती आगे सवेग।
प्रेम ऐसा ॥५३॥

तो जिज्ञासुओं में से।
ज्ञान में प्रतीति न हो जिसे।
उसे ज्ञान के योगक्षेममें।
उठती शङ्का ॥५४॥

अतएव वह सम्यक् ज्ञान।
कैसे हो पहले स्वाधीन।
होने पर फिर वृद्धियत्न।
हो कैसे? ॥५५॥

या जो उसे उपजने ही न दे।
उत्पन्न हो तो गटका दे।
ज्ञान के विरुद्ध ऐसे।
क्या प्रतिबन्धक? ॥५६॥

तो, विरुद्ध जो ज्ञान के।
उन्हें दूर करूँ वेग से।
ज्ञान, हित का सर्वभाव से।
करूँ विचार ॥५७॥

ऐसा आप सब जिज्ञासुओं ने।
जो भाव रखा हो चित्त में।
पूर्ण करने को उसे।
बोलेंगे श्रीपति ॥५८॥

ज्ञान को सुजन्म मिले।
अपनी विश्रान्ति भी बढ़े।
वह दैवी सम्पत्ति कहेंगे।
सविस्तर ॥५९॥

और ज्ञान के निमित्त से।
जो राग द्वेषादिक को आश्रय दे।
वह घोर आसुरी सम्पत् भी वे।
करेंगे निरूपित ॥६०॥

सहज इष्टानिष्ट करतीं।
कौतुक से ये दोनों ही।
नवमाध्याय में यह किरीटी।
कहा था विवाद ॥६१॥

सम्पूर्ण लेने का था विचार।
पर सम्मुख था अन्यविषय।
अतः वह प्रसङ्ग यहाँ देव।
करते निरूपित ॥६२॥

उस निरूपण के नाम से।
यह सोलहवाँ अध्याय भले।
पर पिछले का ही जानें।
विस्तार इसे ॥६३॥

रहने दो वह, प्रस्तुत में।
ज्ञान के हिताहित में।
समर्थ सम्पत्ति जानो इन्हें।
उभय को ॥६४॥

जो मुमुक्षु-मार्ग की संरक्षिका।
जो धर्मदीप मोहरात्रि का।
पहले उस दैवी सम्पत्ति का।
सुनो वर्णन ॥६५॥

जहाँ एक दूसरे के पोषक।
ऐसे पदार्थ अनेक।
एकत्र होते उसे लोग।
सम्पत्ति कहते ॥६६॥

वह दैवी-सुख – सम्भवी।
जहाँ गुण परस्परोपजीवी।
अतः कहलायी दैवी।
सम्पत्ति यह ॥६७॥

अब उन दैव गुणों में से।
प्रमुख स्थान पर जो बैठे।
उसका नाम सुनो सखे।
उभय वह ॥६८॥

जो बाढ़ में न लगाये छलांग।
उसे डूबने का क्या भय।
घर में घुसते न रोग।
पथ्यसेवी के ॥६९॥

वैसे कर्माकर्म के मार्ग में।
अहङ्कार को जाने न दें।
सकल संसार का जिस से।
मिटे भय ॥७०॥

अथवा ऐक्यभाव की पकड़ से।
पर को आत्मरूप जानने से
भय को सर्वथा देश से।
निकालना जो ॥७१॥

जल जिस लवण को डुबाये।
वह लवण जल ही हो रहे।
त्यों स्वयं समाये अद्वैत में।
तो नाशे भय ॥७२॥

अरे अभय इस नाम से।
सूचित इसे ही करते।
सम्यक् ज्ञान का दृढ़ रहे।
संरक्षक यह ॥७३॥

अब सत्त्वशुद्धि कहते जिसे।
जानो उसे इन चिह्नों से।
कि जो न जले न बुझे।
राख जैसा ॥७४॥

या पड़वा न हुई प्रगट।
पीछे छूटी अमावस।
मध्य में अतिसूक्ष्म होकर।
चन्द्र जैसा रहे ॥७५॥

बीत चुका वर्षा-पूर।
न अभी ग्रीष्म से प्रभावित।
मध्य में निजरूपस्थ।
गङ्गा जैसी ॥७६॥

वैसे सङ्कल्प-विकल्प का खिंचाव।
छोड़ कर रज-तम का भार।
निज धर्म-प्रीति में प्रतिष्ठित।
रहे बुद्धि ॥७७॥

दिखाये जब इन्द्रिय-वर्ग।
अनुकूल-विरुद्ध विषय।
तो भी चित्त में विस्मय।
उठता न लेश ॥७८॥

परग्राम गया हो वल्लभ।
तो पतिव्रता का विरहक्षोभ।
कैसा भी हानि लाभ।
माने न जैसे ॥७९॥

सत्स्वरूप रुचने से वैसे।
जब बुद्धि हो अनन्य ऐसे।
उसे सत्त्वशुद्धि कहते।
केशिहन्ता ॥८०॥

आत्मलाभ के विषय में।
ज्ञान-योग में से किसी में।
अपनी रुचि के अनुसार लगें।
उत्कटता से ॥८१॥

वहाँ चित्तवृत्ति का सकल।
इस रीति से करें त्याग।
दें पूर्णाहुति निष्काम।
अग्नि में जैसी ॥८२॥

या सुकुलीन ने अपनी।
आत्मजा सत्कुल में दी।
अथवा लक्ष्मी स्थिर हुई।
मुकुन्द में जैसी ॥८३॥

वैसे निर्विकल्प-पन से।
एकाग्र होना योग-ज्ञान में।
वही तीसरा गुण कहते।
श्रीकृष्णनाथ ॥८४॥

फिर देह-वाचा चित्त से।
यथा - सम्पन्न वित्त से।
आर्त्त वैरी को भी करे।
निराश न कभी ॥८५॥

छाया-पत्र-पुष्प।
फल-मूल धनञ्जय।
पथिक को देता अवश्य।
वृक्ष जैसे ॥८६॥

वैसे मन से धन-धान्य तक।
यथाशक्ति यथावसर।
श्रान्त के लिये करे मन-भर।
उपयोग ॥८७॥

उसी का नाम जानो दान।
जो मोक्षनिधान का अञ्जन।
यह हुआ, अब सुनो चिह्न।
दम के जो ॥८८॥

विषयेन्द्रियों के मिलन में।
निज का रहे वियोग जिस में।
जैसे फिटकरी काटे।
जल का मैल ॥८९॥

विषयों का पवन वैसे।
न लगने दे इन्द्रिय-द्वार से।
उन्हें बाँध कर सौंपे।
प्रत्याहार को ॥९०॥

भीतर सर्वाङ्ग को चित्त सहित।
छोड़ प्रवृत्ति हो निर्वासित।
दहके अग्नि दश द्वार पर।
वैराग्य की जब ॥९१॥

श्वासोच्छ्वास के भी विविध।
कठिन आचरता व्रत।
तपश्चर्या में रात्रि-दिवस।
न ले विश्राम ॥९२॥

जिसे कहते दम।
उस का जानो स्वरूप यह।
अब संक्षेप में यागार्थ।
कहता, सुनो ॥९३॥

ब्राह्मण से कर के प्रारम्भ।
स्त्रियादिक पर्यन्त।
अधिकार के अन्तर्गत।
अपने-अपने ॥९४॥

जिस का जो सर्वोत्तम।
भजनीय देवता धर्म।
उस में वह करे यथागम।
विधि से यज्ञ ॥९५॥

जैसे द्विज षट्कर्म करे।
शूद्र उसे नमन करे।
दोनों ओर उचित ऐसे।
निपजे याग ॥९६॥

ऐसे अधिकार देख कर।
सभी करें यज्ञ निज–निज।
पर फलाशा का विष।
न मिलायें उस में ॥९७॥

'मैं कर्त्ता' ऐसा भाव।
न आने दे देह के द्वार।
हों ऐसे वेदाज्ञा-पालक।
स्वयं पार्थ ॥९८॥

अर्जुन ऐसे यज्ञ।
हो सर्वत्र आज्ञानुरूप।
कैवल्यमार्ग का अभिज्ञ।
साथी यह ॥९९॥

डालते गेंद धरती पर।
करने को फिर से हस्तगत।
खेत में जैसे बोते बीज।
फसल-हेतु ॥१००॥

खोई वस्तु पाने हित।
दीपक का करते आदर।
शाखा में पाने को फल।
सींचते मूल ॥१०१॥

किम्बहुना जैसे दर्पण।
मुखदर्शन का उपकरण।
पर करते उस का मार्जन।
बारम्बार ॥१०२॥

त्यों वेदप्रतिपाद्य जो ईश्वर।
उसे करने को गोचर।
श्रुतियों का निरन्तर।
करें अभ्यास ॥१०३॥

द्विजों के लिये ब्रह्मसूत्र।
अन्यों को स्तोत्र या नाम मन्त्र।
दोहराना होता पवित्र।
पाने को तत्त्व ॥१०४॥

अरे पार्थ स्वाध्याय।
यही कहाता कहते देव।
तप शब्द का अभिप्राय।
कहूँ सुनो ॥१०५॥

दान सर्वस्व – समर्पण।
व्यय जो प्रयोजन – हीन।
फल दे कर होती शुष्क।
ओषधि जैसे ॥१०६॥

अथवा धूप का अग्निप्रवेश।
स्वर्ण में खोट का नाश।
पितृपक्ष–पोषण में ह्रास।
चन्द्र का जैसे ॥१०७॥

वैसे स्वरूप–प्रसार को।
प्राणेन्द्रिय-सहित शरीर को।
सुखाना ही वीर अहो।
कहलाता तप ॥१०८॥

अथवा इस से असदृश।
यदि हो कोई तप का रूप।
तो दूध में चञ्चु–प्रवेश।
हंस का जैसे ॥१०९॥

त्यों देह–जीव का सम्मिश्रण।
निज उदय से करे विविक्त।
चित्त में ऐसा विवेक।
रहे जागृत ॥११०॥

आत्मा की ओर देखने पर।
बुद्धि–वेग होता कुण्ठित।
डूबता निद्रा–सहित स्वप्न।
जागृति में जैसे ॥१११॥
वैसे आत्मपर्यालोचन।
सत्य में हो प्रवर्तित अर्जुन।
यही तप का अभिव्यञ्जन।
जानो सत्य ॥११२॥
शिशु के हित में स्तन्य।
नाना भूतों में चैतन्य।
त्यों प्राणीमात्र-प्रति सौजन्य।
आर्जव यही ॥११३॥
जगत् के सुखोद्देश से।
शरीर-वाचा-मानस से।
आचरण जो, जानो उसे।
अहिंसा रूप ॥११४॥
तीक्ष्ण होते हुए भी कोमल।
जैसे जाति-पुष्प का मुकुल।
अथवा तेज हो कर भी शीतल।
शशाङ्क का ॥११५॥
जो देखते ही रोग निवारे।
औ, जिह्वा को कटु न लगे।
ऐसी औषधि न दिखे कैसे।
दें उपमा ॥११६॥
तो कोमलता में पुतली से।
टकराने पर भी आहत न करे।
अन्यथा पर्वत भी फोड़े।
जल जैसे ॥११७॥
वैसे तोड़ने को सन्देह।
तीक्ष्ण जैसे लौह।
श्रव्यता से करे लज्जित।
माधुर्य को ॥११८॥
सुनते हुए कौतुक से।
कानों के भी मुख निकलें।
जो सत्यता के बल से।
ब्रह्म-भेदी ॥११९॥
किम्बहुना प्रियता से।
किसी को भी न ठगे।
यथार्थ हो पर न चुभे।
किसी को कभी ॥१२०॥
यों व्याधगीत भी लगता मधुर।
पर यथार्थ में वह घातक।
अग्नि का जलाना प्रगट।
जले ऐसा सत्य ॥१२१॥
कानों को लगे मधुर।
अर्थ हृदय को करे विद्ध।
ऐसी वाचा नहीं सुन्दर।
राक्षसी जैसी ॥१२२॥
अहित में दिखाती व्यर्थ कोप।
लालन में मृदु पुष्प तुल्य।
उस माता का स्वरूप।
होता जैसा ॥१२३॥
वैसे श्रवण-सुख-चतुर।
परिणाम में सदाचार।
बोलना जो अविकार।
वह सत्य यहाँ ॥१२४॥
कितना भी जल सींचें।
पाषाण में अङ्कुर न उगे।
माँड़ मथने से न मिले।
नवनीत ॥१२५॥
केंचुली पर पाँव पड़े।
तब भी वह फन न उठाये।
वसन्त में भी अम्बर में।
न होते फूल ॥१२६॥

अथवा रम्भा के भी रूप से।
शुकदेव में न कन्दर्प जागे।
न भस्म में वह्नि उद्दीपे।
घृत से भी ॥१२७॥

कुमार भी क्रोध से भरे।
ऐसे घोर अपशब्द बोलें।
अन्य अपार प्रकार के।
निमित्त आवें ॥१२८॥

विधाता के भी पाँव पड़े।
तो गतायु न उठे जैसे।
वैसे उकसाने पर भी न उपजे।
क्रोधोर्मि अरे ॥१२९॥

उस दशा का नाम।
अक्रोधत्व पार्थ।
जानो ऐसे श्रीनिवास।
बोले उस से ॥१३०॥

मृत्तिका-त्याग से घट।
तन्तु-त्याग से पट।
त्यागा जाता जैसे वट।
बीज त्याग से ॥१३१॥

या त्यागने से भित्ति-मात्र।
त्यागा जाता पूरा चित्र।
निद्रात्याग से विचित्र।
स्वप्नजाल ॥१३२॥

या जलत्याग से तरङ्ग।
वर्षात्याग से मेघ।
त्यागे जाते जैसे भोग।
धनत्याग से ॥१३३॥

वैसे बुद्धिमान् देह में।
अहन्ता छोड़कर अरे।
अशेष ही छोड़ दे।
संसारजात ॥१३४॥

उस का नाम त्याग।
कहलाता वह यज्ञाङ्ग।
यह मान कर सुभग।
पूछे पार्थ ॥१३५॥

अब शान्ति के चिह्न।
कहिये मुझे सुव्यक्त।
कहा देव ने दो अवधान।
भली प्रकार ॥१३६॥

ज्ञेय को निगल कर।
ज्ञाता ज्ञान लौट कर।
खो जायें सम्पूर्ण।
वही शान्ति अरे ॥१३७॥

जैसे प्रलयाम्बु की बाढ़।
डुबाकर विश्व का प्रसार।
होती स्वयं ही निबिड़।
अपने आप में ॥१३८॥

फिर उद्गम-प्रवाह-समुद्र।
न शेष यह व्यवहार-भेद।
वहां जलैक्य का बोध।
होगा किसे? ॥१३९॥

वैसे ज्ञेय को आलिङ्गन दे।
ज्ञातृत्व भी पड़े उदर में।
किरीटी तब जो शेष।
वही शान्ति ॥१४०॥

व्याधि-पीड़ित को देखे।
तो चिकित्सा से पहले।
अपना-पराया न विचारे।
सद्वैद्य जैसे ॥१४१॥

कीचड़ में फँसी हो गाय।
तो न देखते दुधारु या बाँझ।
उस की ग्लानि से व्याकुल।
होता जीव ॥१४२॥

डूबते को देख सकरुण।
न पूछता अन्त्यज या ब्राह्मण।
निकाल कर बचायें प्राण।
यही जानें ॥१४३॥
या महावन में पापी ने।
नग्न किया हो स्त्री को अरे।
तो वस्त्र दिये बिना न रहे।
शिष्ट जैसे ॥१४४॥
वैसे अज्ञान–प्रमादादि से।
या सदोष प्रारब्ध से।
निन्द्यत्व का सब प्रकार से।
पात्र बना जो ॥१४५॥
उसे अपना सहाय।
दे कर भली प्रकार।
भुला देता सब शल्य।
दुःखों के ॥१४६॥
अरे सामने वाले का दोष।
अपनी दृष्टि से मिटा कर।
तब डालता नयन।
उस पर जो ॥१४७॥
जैसे पूज कर देव को देखें।
बीज बोकर खेत में जायें।
सन्तुष्ट कर के आशीष लें।
अतिथि के ॥१४८॥
वैसे अपने गुण से।
अन्य की न्यूनता मिटायें।
तब प्रेम से देखें।
उसकी ओर ॥१४९॥
और कभी न वेधें मर्म।
न शब्द में लायें अकर्म।
न लें उस के दोष–नाम।
कभी कहीं ॥१५०॥
किसी भी उपाय से।
गिरा हुआ उठ पाये।
वही करें पर घाव में।
न करें प्रहार ॥१५१॥
और किसी उत्तम से।
तुलना कर के नीच न मानें।
किसी को, तथा दृष्टि में।
न लायें दोष ॥१५२॥
अरे अपैशुन्य के लक्षण।
अर्जुन ये मुख्य जान।
मोक्ष मार्ग का सुखासन।
मुमुक्षु का ॥१५३॥
अब दया कहते उसे।
पूर्ण चन्द्रिका जैसे।
ताप हरने में न देखे।
छोटा बड़ा ॥१५४॥
वैसे दुःखितों का दुःख।
दूर करने में करुणावश।
न जाने उत्तम–अधम।
भेद कभी ॥१५५॥
अरे जग में जल सदृश।
वस्तु स्वयं नष्ट हो कर।
रखती जाता हुआ जीवन।
तृण का भी ॥१५६॥
वैसे अन्न के ताप से।
कृपा से कुलमुलाये।
सर्वस्व दे कर भी माने।
अल्प वह ॥१५७॥
निम्न को बिना भरे।
जल कभी आगे न बढ़े।
श्रान्त को तुष्टि देकर वैसे।
पाये चैन ॥१५८॥

देखो पाँव में काँटा चुभे।
व्यथा जीव अनुभवे।
वैसे विकल हो संकट से।
दूसरों के ॥१५९॥

या पांव को शीतलता मिले।
मानो नयन ही शीतल हुए।
वैसे दूसरों के सुख से।
सुखी वह ॥१६०॥

किम्बहुना तृषित के ही लिये।
जल उत्पन्न हुआ जग में।
त्यों दुःख हरने दुःखितों के।
जीवन जिस का ॥१६१॥

उस पुरुष को वीरराज।
जानो दया मूर्तिमन्त।
जन्मते ही बनाता वह।
ऋणी मुझे ॥१६२॥

सूर्य को प्राणपण से।
राजीव सदा अनुसरे।
पर वह तो स्पर्श न करे।
सौरभ को जैसे ॥१६३॥

या वसन्त के आगमन से।
वनश्री में अक्षौहिणी खिले।
उपभोग लिये बिना जाये।
वसन्त जैसे ॥१६४॥

यह रहे, महासिद्धि सहित।
लक्ष्मी भी हो चरणागत।
पर महाविष्णु उदासीन।
उस के प्रति ॥१६५॥

वैसे ऐहिक या स्वर्ग के।
भोग सेवक बने इच्छा के।
पर भोगना न रुचे।
मन में भी ॥१६६॥

अधिक क्या कहूँ कौतुक से।
नहीं विषयाभिलाष चित्त में।
स्थिर अलोलुप्त्व दशा सखे।
जानो उसे ॥१६७॥

मक्खियों को जैसे मधुगृह।
जलचरों को जैसे जल।
या पक्षियों को अन्तराल।
उन्मुक्त यह ॥१६८॥

अथवा बालक के लिये।
माता का स्नेह जैसे।
या वसन्त के स्पर्श से।
मृदु मलयानिल ॥१६९॥

नयनों को भेंट प्रिय की।
कमठ-अण्ड को कूर्मी-दृष्टि।
वैसे भूतमात्र के प्रति।
मृदु आचरण ॥१७०॥

स्पर्श में अतिमृदु।
मुख में लें तो सुस्वादु।
घ्राण के लिये सुगन्ध।
अङ्ग से उज्ज्वल ॥१७१॥

वह चाहे जितना लेने पर।
यदि जरा भी न पड़े विरुद्ध।
तो बने उपमा योग्य।
कपूर कहीं ॥१७२॥

महाभूतों को उदर में वहे।
और परमाणु में भी समाये।
इस विश्व के अनुसार रहे।
गगन जैसे ॥१७३॥

क्या कहें जीवन जैसे।
जग हेतु मन–प्राण से।
उसी का नाम कहूँ सखे।
"मार्दव" ॥१७४॥

राजा होने पर पराजित।
लज्जा से जैसा दुःखित।
या सम्मान्य हो अपमानित।
निकृष्ट द्वारा ॥१७५॥

अथवा चाण्डाल-मन्दिर में।
भूल से संन्यासी आ पहुँचे।
तब लज्जा होती जैसे।
उस उत्तम को ॥१७६॥

क्षत्रिय का रण से पलायन।
यह लज्जास्पद सहे कौन!
या वैधव्यसूचक सम्बोधन।
महासती को ॥१७७॥

रूपवान् को उदित कुष्ठ।
सम्भ्रान्त पर तुच्छ आरोप।
उस लाज से प्राणसङ्कट।
होता जैसे ॥१७८॥

साढ़े तीन हाथ शरीर में।
शव हो कर जीना वैसे।
जन्म ले-ले कर मरना अरे।
बारम्बार ॥१७९॥

गर्भभेद के साँचे में।
मज्जा-रक्त-मूत्र रस में।
उसी की पुतली बनना पड़े।
लज्जास्पद ॥१८०॥

किम्बहुना देहभाव से।
आना नाम-रूप में।
नहीं लज्जाजनक अरे।
इस से अधिक ॥१८१॥

ऐसा-ऐसा सब विचार।
तनु-विषयक उपजाता ऊब।
निर्मल को यह लज्जास्पद।
निर्लज्ज को मधुर ॥१८२॥

सूत्रतन्तु टूटने पर।
कठपुतली होती निश्चेष्ट।
त्यों प्राणजय से गति रुद्ध।
कर्मेन्द्रियों की ॥१८३॥

अन्त होने पर दिनकर।
सिमटे किरणों का प्रसार।
त्यों मनोजय से संवरण।
बुद्धीन्द्रियों का ॥१८४॥

मन-पवन के नियमन से।
होते दशेन्द्रिय अक्षम ऐसे।
उसे ही अचापल्य शब्द से।
कहा जाता ॥१८५॥

मरण जैसा कठिन प्रसङ्ग।
वह भी करना अग्नि प्रवेश।
किन्तु प्राणेश्वर का उद्देश्य।
अतः न गिने सती ॥१८६॥

वैसे आकुलता आत्मा के लिये।
विषय विष को सहज त्यागे।
दौड़ना चाहे प्राणपण से।
शून्य की ओर ॥१८७॥

न आड़े आता निषेध।
न रोके विधियों की भीड़।
चित्त में न उठती चाह।
महासिद्धि की ॥१८८॥

ईश्वराभिमुख चित्त निज।
दौड़ता स्वयं ही सहज।
पार्थ उसी का नाम तेज।
आध्यात्मिक ॥१८९॥

सभी कुछ सहने की गरिमा।
पर गर्व न करे वही क्षमा।
जैसे तनु रोम-वहन करता।
भान बिना ॥१९०॥

प्रमत्त इन्द्रियों के वेग।
या प्रारब्ध से प्राप्त रोग।
अथवा योग–वियोग।
प्रिय–अप्रिय का ॥१९१॥

या इन सब का मिल कर।
एक साथ आवे पूर।
पर अगस्त्य जैसा धीर।
रहता स्थिर ॥१९२॥

धूम की रेखा आकाश में।
कितनी भी फैलकर बढ़े।
उड़ाता एक ही झोंके से।
पवन जैसे ॥१९३॥

वैसे अधिभूत–अधिदैव।
आध्यात्मिकादि उपद्रव।
आ पड़ने पर पाण्डव।
जाये निगल ॥१९४॥

ईश्वर–प्राप्ति के लिये।
प्रवृत्त होते ज्ञान–मार्ग में।
तब धैर्य की सर्वाङ्ग में।
कमी नहीं ॥१९५॥

चित्तक्षोभ के अवसर पर।
जो धैर्य रहे सुदृढ़ स्थिर।
उसे ही धृति कहते पार्थ।
जानो निश्चित ॥१९६॥

स्वच्छ कर के कनक घट।
भरा उस में गङ्गामृत।
उस कलश के सदृश।
होता शौच ॥१९७॥

अङ्गों में निष्काम आचार।
चित्त में विवेक साचार।
वह मानो सबाह्य आकार।
शुचित्व का ही ॥१९८॥

या मिटाता पाप–ताप।
पुष्ट करता तीरस्थ पादप।
सागर में जा मिलता आप।
गङ्गाजल जैसे ॥१९९॥

मिटाता जग का अन्धापन।
श्रीसाम्राज्य करता प्रकट।
निकलता जैसे भास्कर।
प्रदक्षिणा पर ॥२००॥

वैसे बद्धों को करता मुक्त।
डूबों का करता उद्धार।
मिटाता हुआ सङ्कट।
आर्तों के ॥२०१॥

किम्बहुना दिवसरात्रि।
दूसरों की सुख उन्नति।
करते हुए ही स्वार्थ के प्रति।
करता प्रवेश ॥२०२॥

और निज कार्य के लिये।
प्राणिजात के अहितविषय में।
सङ्कल्प तक की न लाये।
बाधा जो ॥२०३॥

अद्रोहत्व की बात ऐसी।
सुनो जहाँ तुम किरीटी।
वहीं यह गुण दृष्टि तेरी।
देखे सहज ॥२०४॥

गङ्गा शम्भु के मस्तक पर।
सकुचाये जैसी पार्थ।
मान्यता से उसी प्रकार।
लजाना जो ॥२०५॥

उसी को बारम्बार।
सुमति जानो अमानित्व।
कहा पहले फिर विस्तार।
कितना उसी का ॥२०६॥

इस प्रकार छब्बीस उसमें।
ये ब्रह्म–सम्पदा बसें।
मोक्ष चक्रवर्ती का जैसे।
हो अग्रहार ॥२०७॥
अथवा यह सम्पत्ति दैवी।
इन गुणतीर्थों की नित्य नई।
निर्विण्ण सगरों की देवी।
गङ्गा आई ॥२०८॥
या गुणकुसुमों की माला।
लायी स्वयं मुक्ति-बाला।
कण्ठ निरपेक्ष वैराग्य का।
रही खोज ॥२०९॥
छब्बीस गुणों की ज्योति।
उस से सजा कर आरती।
आत्मा पति का करने आई।
नीराजन गीता ॥२१०॥
या प्रोज्ज्वल और निर्मल।
ये गुण रूपी मुक्ताफल।
दैवी शुक्ति में से निर्गत।
गीतार्णव की ॥२११॥
बहुत क्या कहूँ ऐसी।
स्वयं होती अभिव्यक्ति।
बताई दैवी गुणराशि।
सम्पत्ति रूप ॥२१२॥
अब भीतर-बाहर दुःखमयी।
लता दोष-काँटों से भरी।
उसे भी जान लो किरीटी।
आसुरी वह ॥२१३॥
त्याज्य को त्यागने के लिये।
अनुपयोगी जानना पड़े।
अतः सुनो भलीभाँति सखे।
एकाग्रता से ॥२१४॥

तो, नरकव्यथा ही भीषण।
लाने के लिये दोष घोर।
हुए एकत्र वही यह।
सम्पत्ति आसुरी ॥२१५॥
अथवा विषवर्ग एकत्र।
उस का नाम कालकूट।
वैसे आसुरी सम्पत्तिपिण्ड।
दोषों का ॥२१६॥
तो उन सब आसुर।
दोषों में से वीर।
प्रमुखपन से प्रसिद्ध।
दम्भ नामक ॥२१७॥
ज्यों निज जननी को पार्थ।
लोक में दिखायें नग्न।
तो पूज्यता के स्थान पर।
होता पतन ॥२१८॥
या विद्या गुरूपदिष्ट।
प्रचारित करें चौराहे पर।
तो इष्ट भी अनिष्ट।
का हेतु जैसे ॥२१९॥
महापूर में डूबता शरीर।
पहुँचाये जो परले तीर।
वह नाव बाँध लें सिर पर।
तो डुबाये जैसे ॥२२०॥
जो जीवन का कारण।
उसी का अधिक करें सेवन।
तो अन्न ही वह अर्जुन।
बनता विष ॥२२१॥
दृष्टादृष्ट का सखा धर्म।
पर प्रदर्शन पूर्वक हो आचरण।
तो तारक भी वह मारक।
होता जैसे ॥२२२॥

अतः वाचा के चौराहे पर।
दिखा कर हो धर्म का प्रसार।
तो धर्म ही अधर्म होता वीर।
वहाँ दम्भ ॥२२३॥

जैसे मूर्ख की जिह्वा पर।
चढ़ जायें चार अक्षर।
तो ब्रह्मसभा को भी तुच्छ।
गिनता वह ॥२२४॥

या सैनिक का घोड़ा।
गजपति को भी माने थोड़ा।
या काँटे पर चढ़ा कीड़ा।
माने नीचा स्वर्ग ॥२२५॥

तृष्णा के ही ईंधन से।
अग्नि दौड़े गगन में।
गड़ही के बल पर तुच्छ गिने।
सिन्धु को मीन ॥२२६॥

वैसे स्त्री–धनादि में मदमत्त।
विद्या, स्तुति को माने बहुत।
एक दिन का परान्न पाकर।
दरिद्री जैसे ॥२२७॥

अभ्रच्छाया मिलने पर।
अभागा जैसे तोड़े घर।
छोड़े मृगाम्बु देख कर।
जलाशय मूर्ख ॥२२८॥

किम्बहुना ऐसे–ऐसे।
उन्मत्त जो सम्पत्ति-मिस से।
उसी को दर्प जानो अरे।
अनायास ॥२२९॥

जग का वेद में विश्वास।
विश्वास में पूज्य ईश्वर।
जग में तेजस्वी एक।
सूर्य ही यह ॥२३०॥

जग की स्पृहा का आस्पद।
एक सार्वभौम पद।
न मरना निर्विवाद।
रुचे जग को ॥२३१॥

अतः जग उत्साह से।
यदि वर्णन प्रशंसा करे।
तो सुन कर मत्सर से।
लगे फूलने ॥२३२॥

कहता ईश्वर को खाऊँ।
उन वेदों को विष दे दूँ।
श्रेष्ठतम रक्षक को दूँ।
पराभव अभी ॥२३३॥

पतङ्ग को न रुचे ज्योति।
खद्योत को भानु से अरुचि।
टिट्टिभ ने माना जल निधि।
वैरी अपना ॥२३४॥

वैसे अभिमान के मोह से।
ईश्वर का भी नाम न सहे।
वेदों को मानने लगे।
सपत्नी-सम ॥२३५॥

यों मान्यता से उद्दण्ड।
अभिमानी परमोन्मत्त।
रौरव का प्रसिद्ध।
मार्ग ही मानो ॥२३६॥

सामने वाले का सुख।
देखना ही बने मिष।
चढ़े क्रोधाग्नि का विष।
मनोवृत्ति में ॥२३७॥

शीतल जल पड़ने से।
तपे तेल में आग भड़के।
चन्द्र देख कर जले मन में।
सियार जैसे ॥२३८॥

विश्व का जीवन उजाले।
उस सूर्य को देख सबेरे।
पापी उलूक के फूटते।
नेत्र जैसे ॥२३९॥

जग का सुख-प्रभात।
चोर को मरण से निकृष्ट।
दूध का भी कालकूट।
बनता व्याल में ॥२४०॥

अगाध समुद्र – जल में।
खाते-खाते भी अधिक जले।
वडवाग्नि को न मिले।
शान्ति कहीं ॥२४१॥

वैसे, विद्या-विनोद-विभव में।
दूसरे को जब अधिक देखे।
तब-तब रोष दुगना बढ़े।
वही क्रोध जानो ॥२४२॥

सर्प की बाँबी मन।
नाराच-कोश नयन।
वृष्टि जैसे वचन।
शोलों की ॥२४३॥

अन्य जो क्रियाजात।
वे आरे की करवत।
ऐसा सबाह्य कष्टप्रद।
जिस का अरे ॥२४४॥

उसे मनुष्यों में अधम जान।
पारुष्य का अवतरण।
और अब सुनो लक्षण।
अज्ञान के ॥२४५॥

शीत-उष्ण स्पर्श का।
अन्तर न जाने पाषाण जैसा।
या रात्रि और दिवस का।
जन्मान्ध ॥२४६॥

अग्नि उठे आरोगने।
तो खाद्याखाद्य न देखे।
या पारस भेद न जाने।
लोह-स्वर्ण में ॥२४७॥

अथवा नाना रसों में।
प्रवेश करे पर कलछी जैसे।
उन रसों का न जाने।
आस्वाद ॥२४८॥

वायु नहीं पारखी जैसे।
मार्गामार्ग-विषय में।
वैसे कृत्याकृत्य-विवेक में।
अन्धपना जो ॥२४९॥

यह शुद्ध यह मलिन।
न जाने यह बालक।
जो देखे उसे केवल।
डाले मुख में ॥२५०॥

वैसे पाप-पुण्य की खिचड़ी।
खाने की चेष्टा करे बुद्धि।
कटु-मधुर न जाने कुछ भी।
जो ऐसी दशा ॥२५१॥

उस का नाम अज्ञान।
नहीं यह अन्यथा वचन।
ऐसे ये दोषों के चिह्न।
कहे गये ॥२५२॥

इन्हीं छः दोषाङ्गों से।
आसुरी सम्पत्ति प्रबल बने।
जैसे भयङ्कर विष सर्प में।
तनु छोटा ॥२५३॥

तीनों वह्नियों की पंक्ति में।
स्थान थोड़ा ही दिखें।
पर विश्व भी प्राणाहुति में।
पूरा न पड़े ॥२५४॥

विधाता की भी लें शरण।
तो त्रिदोष में न टले मरण।
उन तीन से दुगने अर्जुन।
ये देह-दोष ॥२५५॥

ये छै दोष पूर्ण पन से।
फैल कर उभर आवें।
तो आसुरी सम्पदा न रहे।
न्यून कभी ॥२५६॥

सब क्रूर ग्रहों का जैसे।
एक राशि में समूह जुटे।
या निन्दक के पास जायें।
अशेष पाप ॥२५७॥

आसन्न–मृत्यु के शरीर में।
सभी रोग एकत्र होते।
या कुमुहूर्त में दुर्योग होते।
एकत्र सब ॥२५८॥

विश्वासी चोर के हाथ पड़े।
या भ्रमित महापूर में बहे।
वैसे ये दोष करते।
अनिष्ट नर का ॥२५९॥

या आयुष्य जाते समय।
बकरी को डसे कालवृश्चिक।
वैसे ये छहों दोष।
व्यापते उसे ॥२६०॥

मुमुक्षु के जीवन में।
इनका छींटा भी पड़े।
तो 'न चाहिये मुक्ति' कह डूबे।
संसार में वह ॥२६१॥

अधम योनियों की सीढ़ी।
उतरते हुए वह किरीटी।
अन्तिम जो स्थावरों की।
उस पर टिके ॥२६२॥

किम्बहुना उस में पार्थ।
छहों दोष एकत्र होकर।
आसुरी सम्पत्ति निरन्तर।
बढ़ाते रहते ॥२६३॥

ऐसी ये दोनों जग में।
प्रसिद्ध जो सम्पदायें।
कहीं चिह्नों सहित तुझे।
भिन्न-भिन्न ॥२६४॥

इन दोनों में पहली।
जो दैवी नाम से कही।
वह मोक्ष सूर्य की प्रगटाई।
उषा जानो ॥२६५॥

अन्य जो दूसरी।
सम्पत्ति है आसुरी।
वह मोह–लोह की कड़ी।
सांकल जीव पर ॥२६६॥

किन्तु यह सुन कर मत।
भयभीत हो तुम पार्थ।
क्या रात्रि से दिवस।
होता भीत ? ॥२६७॥

आसुरी सम्पत्ति उन के।
बन्ध के लिये पार्थ सखे।
जो इन छै दोषों का अरे।
हो आश्रय ॥२६८॥

किन्तु तू तो पाण्डव।
जो कही गई दैव।
उस गुणनिधि में श्रेष्ठ।
जन्मे हो ॥२६९॥

अतएव पार्थ तुम इस।
दैवी सम्पत्ति के स्वामी होकर।
पाओगे निश्चित सुख।
कैवल्य का ॥२७०॥

और देव तथा आसुर।
सम्पत्तियों से जो युक्त।
उन के ये अनादिसिद्ध।
चलते मार्ग ॥२७१॥

जैसे रात्रि के अवसर।
चलते सब निशाचर।
दिवस में सुख–व्यवहार।
मनुष्यादि का ॥२७२॥

वैसे पथ पर अपने–अपने।
दोनों सृष्टियाँ चलती रहें।
दैवी और आसुरी जिन के।
नाम किरीटी ॥२७३॥

दैवी सविस्तर उन में से।
ज्ञान–कथनादि प्रसङ्ग में।
भली प्रकार ग्रन्थ में।
कही पहले ॥२७४॥

अब आसुरी जो सृष्टि।
कहूँ बात उस की।
अवधान की दृष्टि।
दो भलीभाँति ॥२७५॥

तो वाद्य विना नाद।
न होता श्रवण–गोचर।
या पुष्प विना मकरन्द।
न मिले जैसे ॥२७६॥

वैसे प्रकृति यह आसुर।
अकेली न होती गोचर।
किसी शरीर में न जबतक।
लेती आश्रय ॥२७७॥

काष्ठ का आश्रय पाकर।
प्रकट होता जैसे पावक।
प्राणि देह में प्रकट होकर।
रहती वैसे ॥२७८॥

तब जैसे बढ़ता ईख।
अपने ही रस से पोषित।
वैसा होता देहाकार।
प्राणियों का ॥२७९॥

उन प्राणियों का अब।
निरूपण करूँ धनञ्जय।
जो आसुरी से घटित।
दोषवृन्द से ॥२८०॥

तो पुण्य के लिये प्रवृत्ति।
या पाप–विषय में निवृत्ति।
यह जानने के लिये रात्रि।
जिन के मन में ॥२८१॥

निर्गमन और प्रवेश में।
चित्त न देता आवेश में।
तो कोशकीट जैसे।
फँसता वहीं ॥२८२॥

या दिया हुआ धन पीछे।
लौटे या न लौटे।
यह विचारे बिना दे दे।
चोर को मूर्ख ॥२८३॥

वैसे प्रवृत्ति-निवृत्ति उभय।
न जानते आसुरी जन।
और स्वप्न में भी शौच।
देखते नहीं ॥२८४॥

भले कोयला छोड़ दे कालिख।
या शुभ्र हो जाय वायस।
मांस से जाय ऊब।
राक्षस भले ॥२८५॥

पर आसुर प्राणियों में।
शौच न रहता अरे।
पवित्रता मद्यपात्रों में।
न रहे जैसे ॥२८६॥

मिटाते विधि को आस।
न देखते बड़ों का आचार।
सदाचार की भाषा तक।
न जानते वे ॥२८७॥

जैसे बकरी का चरना।
या वायु का दौड़ना।
या अग्नि का जलाना।
चाहे जैसे ॥२८८॥

वैसे आदर्श मान कर स्वैर।
आचरण करते आसुर।
सत्य से सचमुच वैर।
सदा उन का ॥२८९॥

यदि बिच्छू अपने डङ्क से।
किसी को गुद्गुदी करें।
तभी मानें कि सत्य बोले।
आसुर व्यक्ति ॥२९०॥

यदि अपान–मुख से।
सुगन्ध कभी निकले।
तभी हो सम्बन्ध सत्य से।
आसुरों का ॥२९१॥

न करते हुए भी कुछ।
अङ्ग हो उन के अशुभ।
फिर बोलने का नयापन।
कहूँ तुझे ॥२९२॥

ऊँट का कौन सा सुन्दर।
कहा जाय भला अङ्ग।
वैसा आसुरों का प्रसङ्ग।
सुनो प्रसङ्गवश ॥२९३॥

जैसे चिमनी का मुख।
धुँआ ही उगले केवल।
जानो वैसे ही वचन।
कहते वे ॥२९४॥

अनादि यह विश्व।
यहाँ नियन्ता ईश्वर।
निपटाता न्याय–अन्याय।
वेदानुसार ॥२९५॥

वेद से अन्याय निर्णीत।
तो देता निरय भोग दण्ड।
न्यायी हो तो देता सुख।
स्वर्ग का उसे ॥२९६॥

ऐसी यह विश्व व्यवस्था।
पार्थ जो अनादि सदा।
इसे वे कहते वृथा।
समस्त को ॥२९७॥

"यज्ञमूढ ठगे यज्ञों से।
देवोन्मत्त प्रतिमा–लिङ्गों से।
योगी फँसे भगवे वस्त्र में।
समाधि–भ्रम से ॥२९८॥

यहाँ अपने ही बल से।
जो कुछ भी भोग पालें।
अलग कोई उस से।
पुण्य है क्या? ॥२९९॥

आङ्गिक अशक्तता से।
विविध भोग न ले सकें।
विषयसुख-हीन जीयें।
यही पाप ॥३००॥

लेना धनिकों के प्राण।
यदि यह पाप हो सचमुच।
तो हाथ आना धन समस्त।
क्यों पुण्य नहीं? ॥३०१॥

बली अबल को खाये।
यदि यह हो बाधित अरे।
तो मछलियाँ क्यों न होवें।
निस्सन्तान? ॥३०२॥

और, उभय-कुल विचारें।
वधूवर के शुभ लग्न में।
प्रजाहेतु से करायें।
मिलाप यदि ॥३०३॥

तो पशु–पक्षि–जातियों में।
जहाँ सन्तति अमित उपजे।
वहाँ मुहूर्त देख किस ने।
किये विवाह ? ॥३०४॥

चोरी का धन आने से।
हुता विषरूप भला किसे ?
सकाम परद्वार जाने से।
कोढ़ी कौन ? ॥३०५॥

कहना कि स्वामी ईश्वर।
वह देता धर्माधर्म के फल।
और दूसरे लोक में फिर।
देता भोग ॥३०६॥

पर न कहीं परत्र देव।
न दिखता, अतः व्यर्थ।
और, कर्ता के मरने पर।
भोगे कौन ! ॥३०७॥

सुखी इन्द्र उर्वशी से।
जैसे स्वर्ग लोक में।
वैसा ही कृमि विष्ठा में।
सुख से डोले ॥३०८॥

अतएव नरक–स्वर्ग।
नहीं हैं पाप–पुण्य–भोग।
क्योंकि उभयत्र सुखभोग।
काम का ही ॥३०९॥

इस कारण काम–वश।
स्त्री–पुरुष–युग्म जब।
मिलें तो पाये जन्म।
सारा जग ॥३१०॥

जो-जो कुछ अभिलाषा से।
स्वार्थ के लिये जुटाये।
उस का परस्पर द्वेष से।
नाश करे काम ॥३११॥

यों काम से अतिरिक्त कुछ।
नहीं अन्य जग का मूल।"
ऐसे बोलते गर्ववचन।
आसुर वे ॥३१२॥

अब रहने दो यह निन्द्य।
बोल कर न करूँ विस्तार।
कहने में ही श्रमित।
होती वाचा ॥३१३॥

ईश्वर का तिरस्कार।
होता केवल वाणी–विषय।
और चित्त में केवल।
निश्चय एक ॥३१४॥

किम्बहुना मानो प्रगट।
स्वीकार कर पाखण्ड।
नास्तिकता की नींव।
डालते चित्त में ॥३१५॥

तब स्वर्ग के लिये आदर।
या नरक के प्रति भय।
इस वासना का अङ्कुर।
हुआ भस्म ॥३१६।

तब देहगर्त में केवल।
अमेध्यजल का बुद्बुद होकर।
विषय पङ्क में गहन।
डूबे रहते ॥३१७॥

अन्त के निकट हों जलचर।
तो जलाशय पर आता धीवर।
या जाने के समय शरीर।
रोग–ग्रस्त ॥३१८॥

उदय केतु का जैसे।
विश्व-अनिष्ट के लिये।
इन का जन्म लेना वैसे।
लोकक्षयसूचक ॥३१९॥

बोया जाये अशुभ।
तो फूटते वहीं अङ्कुर।
पाप के कीर्तिस्तम्भ।
जङ्गम वे ॥३२०॥

जलाना आगे-पीछे।
इस के सिवा न अग्नि जाने।
वैसे विरुद्ध ही सब करते।
चाहे जैसे ॥३२१॥

पर वैसे ही कर्म वे।
जिस उत्साह से करते।
वह सुनो पार्थ! कहते।
श्रीनिवास ॥३२२॥

जाल पानी से न भरे।
अग्नि इन्धन से न तोषे।
ऐसी दुर्भर वस्तुओं में।
अग्रणी वे ॥३२३॥

वे काम का आधार।
मन में पकड़ कर पाण्डव।
दम्भ-मान का मिलन।
कराते पूर्ण ॥३२४॥

पहले ही उन्मत्त कुञ्जर।
हो मदिरा पीने से आतुर।
ऐसा वृद्ध होने पर।
चढ़ता मद ॥३२५॥

आग्रह का वही आवास।
फिर मौढ्य का पूरा साथ।
तब क्या कहूँ निर्वाह।
निश्चय का ॥३२६॥

जिस से हो परोपताप।
दूसरा जीव हो वञ्चित।
उन्हीं कर्मों में प्रवृत्ति विशेष।
ले कर जन्मे ॥३२७॥

अपने कृत्य का करे बखान।
और जग को दे धिक्कार।
दसों दिशाओं में स्पृहाजाल।
फैलाये अपना ॥३२८॥

ऐसे प्रबल आटोप से।
बढ़ाता जाता पाप अपने।
ज्यों धर्मधेनु खुली चरे।
जहाँ चाहे ॥३२९॥

इसी एक सिद्धि के लिये।
उस की कर्मवृत्तियाँ चलें।
और आजीवन घिरा रहे।
चिन्ताओं से ॥३३०॥

जो पाताल से भी निम्न।
ऊँचाई में छोटा दिखे गगन।
जिसकी तुलना में त्रिभुवन।
अणु भी नहीं ॥३३१॥

'योगपट' का होता नियम।
पर इसके चित्तमें चिन्ता अनियम।
मरण पर भी न छोड़े देह।
वल्लभा जैसे ॥३३२॥

वैसे चिन्ता अपार।
बढ़ाता रहे निरन्तर।
चित्त में लिये असार।
विषयादिक ॥३३३॥

सुनें स्त्रियों का गायन।
स्त्रीरूप देखें नयन।
सर्वेन्द्रिय करें आलिङ्गन।
स्त्रियों का ही ॥३३४॥

अमृत भी करें न्योछावर।
ऐसा स्त्रीजनित सुख।
यही चित्त में निश्चय।
किया मानो ॥३३५॥
फिर उस स्त्रीभोग के लिये।
पाताल–स्वर्ग एक करें।
दौड़ते दिग्‌विभागों में।
चाहे जहाँ ॥३३६॥
तीव्र इच्छा से आमिषकवल।
बिना विचारे निगले मत्स्य।
वैसे विषयाशा नाश।
कराती उसका ॥३३७॥
पाता नहीं ही वाञ्छित।
पर आशा–सन्तति केवल।
बढ़ा-बढ़ा कर कोषकीट।
बन जाता ॥३३८॥
बढ़ा हुआ अभिलाष।
अपूर्ण हो तो वही द्वेष।
ऐसे काम–क्रोध से अधिक।
नहीं पुरुषार्थ ॥३३९॥
दिन में पहरा रात जागरण।
प्रहरी को जैसे पाण्डव।
वैसे अहोरात्र विश्राम।
मिले न उसको ॥३४०॥
ऊँचे से गिराये काम।
पटके क्रोध की शिला पर।
पर राग-द्वेष का प्रेम।
न समाता कहीं ॥३४१॥
वैसे ही प्राणपण से।
विषयवासना फैलाये।
पर उन भोगों के लिये।
चाहिये अर्थ न! ॥३४२॥
अतः भोगने के योग्य।
पाने को भरपूर अर्थ।
चाहे जहाँ करते स्वैर।
विचरण जग में ॥३४३॥
किसी को साधकर मारते।
किसी का सर्वस्व लूटते।
किसी के लिये बनाते।
अपाय यन्त्र ॥३४४॥
जैसे पाश, थैली, जाल।
शिकारी कुत्ते, भाला, ढाल।
इन सब का लेकर भार।
निकले पारधी ॥३४५॥
वह तो पालने को पेट।
मारकर प्राणि–समूह।
लाता, ऐसे ही निकृष्ट।
करते वे भी ॥३४६॥
पर–प्राणघात से।
जो वित्त प्राप्त करते।
उस से चित्त कैसे।
हो सन्तुष्ट? ॥३४७॥
कहता "आज मैंने।
बहुतों की सम्पत्ति अरे।
कर ली अपने हाथ में।
धन्य नहीं मैं? ॥३४८॥
ऐसी श्लाघा जब करें।
तब मन अन्यत्र दौड़े।
कहता "इसी उपाय से।
और भी लाऊँ? ३४९॥
यह जितना जुटाया आज।
इसे बनाकर मूलधन।
कमाऊँगा इस से ब्याज।
चराचर ॥३५०॥

ऐसे विश्वंभर के धन का।
मैं ही स्वामी बनूँगा।
मेरी दृष्टि पड़े वहाँ।
न रहे कुछ शेष ॥३५१॥

ये कुछ वैरी लिये मार।
औरों को भी करूँ समाप्त।
फिर गरजूँगा कीर्ति पाकर।
अकेला मैं ॥३५२॥

सब को मारूँ, छोड़ूँ उन्हें।
जो बनें सेवक मेरे।
किम्बहुना चराचर में।
ईश्वर मैं ही ॥३५३॥

मैं भोगभूमि का नृप।
सब सुखों का आवास आज।
अतः इन्द्र भी तुच्छ।
मेरे सम्मुख ॥३५४॥

मैं मन वाचा देह से।
करूँ जो वह न हो कैसे।
मेरे सिवा कौन अरे।
आज्ञासिद्ध ॥३५५॥

तब तक ही बली काल।
जब तक न दिखूँ मैं महाबल।
सुखों की सचमुच निखिल।
राशि मैं ही ॥३५६॥

होगा कुबेर सम्पन्न।
पर नहीं मेरे तुल्य।
सम्पत्ति नहीं मेरे समान।
श्रीनाथ को भी ॥३५७॥

मेरे कुल का यश प्रताप।
या जाति-गोत्र का समूह।
देखें तो ब्रह्मा भी अल्प।
न्यून दिखे ॥३५८॥

अतः इतराते नाम से।
ईश्वरादि सब व्यर्थ ये।
मेरी तुलना में आवे।
ऐसा न कोई ॥३५९॥

लुप्त हुआ जो अभिचार।
करूँगा उसका जीर्णोद्धार।
करूँगा प्रतिष्ठित परमारक।
यागादि अब ॥३६०॥

करें मेरा ही ज्ञान-वर्णन।
जो रिझाने को नट-नर्तन।
वे जो माँगें करूँ दान।
वह वस्तु मैं ॥३६१॥

मदमत्त अन्न-पान से।
प्रमदाओं के आलिङ्गन से।
मैं होऊँगा त्रिभुवन में।
आनन्दमय ॥३६२॥

अधिक क्या कहूँ ऐसे।
पागल आसुरी प्रकृति से।
फूल सूँघते फिरते।
वे गगन के ॥३६३॥

ज्वर के तीव्र आवेग में।
रोगी जैसे बड़बड़ाये।
सङ्कल्प बड़बड़ाया करे।
यह वैसे ॥३६४॥

अज्ञान की धूल में लोटे।
आशा की आँधी में फँसे।
चकराये अन्तराल में।
मनोरथों के ॥३६५॥

अनियम आषाढ़ मेघ।
या समुद्रोर्मि अभङ्ग।
वैसे बढ़ते अखण्ड।
अनेक काम ॥३६६॥

फिर कामना ही चित्त में।
बढ़ कर वल्लरी बने।
काँटों से ढके जायें।
कमल जैसे ॥३६७॥
या पाषाण के माथे पर।
हाँडो फूटे पार्थ।
वैसे सर्वथा होता चित्त।
चूर-चूर ॥३६८॥
जैसे जब रजनी चढ़े।
तम सब ओर छाये।
वैसे मोह अन्तःकरण में।
लगता बढ़ने ॥३६९॥
और, जब-जब बढ़ता मोह।
तब–तब विषयों का प्रसार।
जहाँ विषय वहीं स्थान।
पातकों का ॥३७०॥
पाप जहाँ होते प्रबल।
और आ जुटते एकत्र।
जीते जो जाता तब।
नरक में वह ॥३७१॥
अतएव सुमति पार्थ।
पालते जो कुमनोरथ।
वे आसुर पाते वास।
उस स्थान में ॥३७२॥
जहाँ असिपत्र तरुवर।
खदिराङ्गार के पर्वत।
तपे तेल के सागर।
उबलते ॥३७३॥
यातना की शृङ्खला जहाँ।
नित्य नई यम-वेदना।
पड़ते उस दारुण महा।
नरकलोक में ॥३७४॥

ऐसे नरक के योग्य पात्र।
जन्मे जो—जो पार्थ।
वे ही जानो हुए भ्रमित।
यज्ञयागादि में ॥३७५॥
जो फल यागादि क्रिया-जन्य।
वह यों दे स्वधर्माचरण।
पर बनाते उसे निष्फल।
मिथ्याचार से ॥३७६॥
वल्लभ के आश्रय से।
कुस्त्री व्यभिचार करे।
पर चित्त में निज को माने।
सौभाग्यवती ॥३७७॥
वैसे अपने में आप।
मानें निज को महन्त।
और फूलें असाधारण।
उस गर्व से ॥३७८॥
तब झुकना न जानें कैसे।
ढले लोहे के स्तम्भ जैसे।
या ऊँचे उठें आकाश में।
गिरिशिखर ॥३७९॥
वैसे अपनी ही प्रतिष्ठा से।
आप रीझता चित्त में।
और सब को नीच माने।
तृण से भी ॥३८०॥
फिर धन की मदिरा से होकर।
मत्त वह धनुर्धर।
कृत्य–अकृत्य–विचार ।
त्यागे सब ॥३८१॥
ऐसी वृत्ति जिस के चित्त में।
वहाँ यज्ञ की बात क्या कहें।
क्या–क्या नहीं पागलपन में।
करता फिर वह ॥३८२॥

अतः किसी समय में।
मौढ्य-मद्य के बल से।
याग के भी स्वांग रचते।
उत्साह से ॥३८३॥

पर, न कुण्ड-मण्डप-वेदी।
न उचित साधन-समृद्धि।
और विधि से तो सदा ही।
द्वन्द्व उन का ॥३८४॥

देव-ब्राह्मणों के नाम से।
वायु भी न सुहाये जिसे।
ऐसे के यहाँ आवे।
कौन भला? ॥३८५॥

मृत बछड़े में भूसा भर के।
गाय के सम्मुख रखते जैसे।
ऐसे ही दूध दुह लेते।
धूर्त जन ॥३८६॥

वैसे याग के नाम से।
जग को बुला कर चाव से।
उन सब को फँसाते।
भेंट ले कर ॥३८७॥

ऐसे कोई निज स्वार्थ से।
हवन कराते दम्भ से।
वे प्राणियों का चाहते।
सर्वनाश ॥३८८॥

फिर सामने भेरी निषाण।
बजा कर निज दीक्षितपन।
करते प्रदर्शित शान।
व्यर्थ अपनी ॥३८९॥

उस महत्त्व से अधमों पर।
गर्वमहिमा चढ़ती द्विगुण।
जैसे तम पर किया लेप।
काजल का ॥३९०॥

सघन होता मौढ्य।
ऊँचे चढ़ता औद्धत्य।
अहङ्कार होता द्विगुणित।
अविवेक भी ॥३९१॥

फिर दूसरे की बात।
करने को निःशेष।
बलीयता पर अधिक।
बढ़ाता बल ॥३९२॥

ऐसे अहङ्कार-बल से।
ऐश्वर्य हो जाने से।
मर्यादा-तट छोड़ उभरे।
दर्पसागर ॥३९३॥

दर्प बढ़ने पर ऐसे।
काम का भी पित्त उछले।
और धकधका कर भड़के।
क्रोधाग्नि ॥३९४॥

प्रखर अग्नि ग्रीष्म में।
घी-तेल के भाण्डार में।
लगे और पवन छूटे।
उच्छृङ्खल ॥३९५॥

वैसे बली अहङ्कार।
दर्प काम-क्रोध से गूढ़।
इन दोनों का हुआ मेल।
जिस में अरे ॥३९६॥

वह अपनी इच्छानुसार।
कौन-कौन सा हिंसा प्रकार।
वीरेश! इन प्राणियों पर।
साधता नहीं? ॥३९७॥

पहले तो धनुर्धर।
अपना ही माँस-रुधिर।
बहाता वह अभिचार।
कर्म हेतु से ॥३९८॥

जलाता जीवित देह।
उस में जो मैं हूँ स्थित।
उस मुझ आत्मा पर।
लगते घाव ॥३९९॥
अभिचार कर्मों के कारण।
जिन-जिन को होता दुःख।
उन में बसा मैं चैतन्य।
होता श्रमित ॥४००॥
और इन अभिचारों से।
बच जाय जो भाग्य से।
उस पर दुरारोप लगाये।
पैशुन्य के ॥४०१॥
सती और सत्पुरुष।
दानशील याज्ञिक।
तपस्वी अलौकिक।
संन्यासी जो ॥४०२॥
या भक्त और महात्माजन।
जो मेरे निजधाम।
श्रौतादिक होमधर्म।
से परिशुद्ध ॥४०३॥
उन पर द्वेष का कालकूट।
लगा कर अति तीक्ष्ण।
कुवचनों के प्रबल।
मारते बाण ॥४०४॥
ऐसे सभी प्रकार से।
जो वैर में प्रवृत्त मेरे।
उन पापियों के प्रति मैं।
जो करता सुनो ॥४०५॥
मनुष्य देह की डोर पकड़।
करे जो जग का अपकार।
उन से वह पदवी छीनकर।
रखता ऐसे ॥४०६॥
कि जो क्लेशगाँव का कूड़ाढेर।
भवपुरी का मलवाहक।
ऐसी तमोयोनि में देता जन्म।
उन मूढ़ों को ॥४०७॥
फिर आहार के नाम से।
तृण भी जहाँ न जुटे।
व्याघ्र—वृश्चिक ऐसे वन में।
बनाता उन्हें ॥४०८॥
जहाँ बहुत क्षुधा दुःख से।
अपने ही अङ्ग खाने पड़ें।
मर-मरकर पुनः वैसे।
पाते शरीर ॥४०९॥
या अपनी गरलज्वाला से।
शरीर की त्वचा जलाते।
बनाता ऐसे सर्प उन्हें।
बिलों में रुँधे ॥४१०॥
लिया हुआ श्वास छोड़े।
इतने भी समय के लिये।
कभी विश्राम न मिले।
उन दुर्जनों को ॥४११॥
ऐसे कल्पों की कोटि।
गिनने में संख्या पड़े थोड़ी।
न निकालूँ तब तक उन्हें।
उन क्लेशों से ॥४१२॥
पर जाना उन्हें जहाँ पार्थ।
उस का यह पहला चरण।
पाने पर वह दारुण।
यह दुःख अल्प ॥४१३॥
इस सीमा पर्यन्त।
वह आसुरी सम्पत्ति घोर।
दिलाती अधोगति पार्थ।
उन्हें, सुनो ॥४१४॥

फिर व्याघ्र आदि तामस।
योनियों में थोड़ा – बहुत।
देहाधार का विश्राम।
मिलता जो ॥४१५॥

वह भी मैं लेता छीन।
होता जाता तम सघन।
जहाँ चढ़ता पुट अँधेरे पर।
कालिख का ॥४१६॥

जहाँ पाप को आती ऊब।
नरक को होता भय।
दुःख भी होता मूर्छित।
जिस श्रम से ॥४१७॥

मल भी होता जिस से मलिन।
ताप को होती जलन।
जिस के नाम से भयभीत।
महाभय ॥४१८॥

पाप को जिस से घृणानुभव।
उपजे अमङ्गल को अमङ्गल।
अशुद्धि को भी लगे भय।
अशुद्ध होने का ॥४१९॥

ऐसे विश्व में जो दुःखमय।
अधमाधम धनञ्जय।
वह वह होता भोग कर।
तामसयोनि ॥४२०॥

कहने में वाचा करे रुदन।
स्मरण से मन होता खिन्न।
हाय कैसे-कैसे निरय।
कमाये मूर्खों ने ॥४२१॥

क्यों भला वे आसुर।
सम्पत्ति जुटाते भयङ्कर।
जिसने दिया घोर।
पतन ऐसा ॥४२२॥

अतएव तू धनुर्धर।
न जाना कभी उस ओर।
जहाँ करते वास आसुर।
सम्पत्तिवन्त ॥४२३॥

दम्भ आदि छहों दोष।
जहाँ रहते ये सम्पूर्ण।
उसका ही करो त्याग।
क्या कहना पड़े? ॥४२४॥

फिर काम क्रोध लोभ।
इन तीनों का योग।
हो जहाँ वहाँ अशुभ।
फले अवश्य ॥४२५॥

स्वयं अपने दुःख सब।
देखने को धनञ्जय।
ये भले स्थान–दर्शक।
दिये गये ॥४२६॥

या पापियों को नरक भोग।
दिलाने को जग में एक।
पातकों की प्रबल।
सभा ही यह ॥४२७॥

रौरव आदि वहीं तक।
सुने जाते पुराणगत।
जब तक अन्तस् में ये तीन।
उठते नहीं ॥४२८॥

अपाय इन को सुलभ।
यातना सस्ती सहज।
इन से हानि न कहो मूर्त।
हानिरूप ये ॥४२९॥

क्या बहुत बोलूँ सुभट।
कहे ये अतिनिकृष्ट।
नरक की देहली विकट।
त्रिशङ्कु यह ॥४३०॥

इन काम–क्रोध–लोभ में।
जीव जो खड़ा रहे।
तो निरय–पुरी की सभा में।
सन्मान पावे ॥४३१॥
अतः कहूँ त्रिबार–किरीटी।
यह कामादि दोष–त्रिपुटी।
त्यागो इसे जो अशुभकारिणी।
सभी विषय में ॥४३२॥
धर्मादि चारों पुरुषार्थ।
इन की तभी हो सके बात।
जब कि यह सङ्घात।
छोड़े पार्थ ॥४३३॥
ये तीनों जब तक जागृत।
कल्याण की प्राप्ति तब तक।
न सुनते मेरे कान, देव।
स्वयं कहते ॥४३४॥
जिसे अपनापन प्रिय।
आत्मनाश से जिसे भय।
वह न करे इन की संगत।
हो सावधान ॥४३५॥
उदर पर बाँध पाषाण।
बाहुबल से समुद्रतरण।
या जीने के लिये भक्षण।
कालकूट का ॥४३६॥
इन काम–क्रोध–लोभ से।
कार्यसिद्धि जानो वैसे।
अतः स्थान ही भुला दे।
इन का अरे ॥४३७॥
यदि कभी अचानक।
इन तीन की टूटे साँकल।
तो सुख से अपने पथ पर।
चलना मिले ॥४३८॥

त्रिदोष छोड़ दें शरीर।
त्रिकुटी से रहित नगर।
त्रिदाह शान्त हों तब अन्तर।
होता जैसा ॥४३९॥
वैसे कामादिक तीनों से।
छूटा हुआ जग सुख पाये।
सङ्ग मिले मोक्षमार्ग में।
सज्जनों का ॥४४०॥
फिर प्रबल सत्सङ्ग से।
सत्–शास्त्रों के बल से।
जन्म–मृत्यु के पार होते।
दुस्तर अरण्य ॥४४१॥
तब आत्मानन्द से भरपूर।
जो सर्वदा सुन्दर।
मिलता वह नगर।
गुरुकृपा का ॥४४२॥
वहाँ प्रियता की परम सीमा।
मिलती मातृरूप आत्मा।
उसीक्षण मिटती डिण्डिमा।
'सांसारिक' की ॥४४३॥
ऐसे जो काम–क्रोध–लोभ।
झाड़ कर रहे स्थिर।
वही पा कर यह लाभ।
बनता स्वामी ॥४४४॥
अथवा यह कुछ न रुचे।
कामादिकों में प्रवृत्त रहे।
गर्दन फँसाता विषयों में।
आत्मचोर ॥४४५॥
जो जग में समान सरूप।
हिताहित दिखाता दीप।
उस वेद को किया अमान्य।
पितृतुल्य को ॥४४६॥

न देखे विधि की मर्यादा।
न रखे अपनी चिन्ता।
केवल बढ़ाता इन्द्रियों का।
लाड़ दुलार ॥४४७॥

काम–क्रोध–लोभ का पथ।
न छोड़ने की ली शपथ।
भटके स्वच्छन्दता के विकट।
अरण्य में जो ॥४४८॥

वह मुक्ति के प्रवाह में।
जल भी न पीना चाहे।
स्वप्न में भी दूर रखे।
कथा उस की ॥४४९॥

परत्र जाने की बात।
तो रही सर्वथा समाप्त।
किन्तु न पाये ऐहिक।
भोग भी वह ॥४५०॥

जैसे मत्स्याहार के लोभ में।
ब्राह्मण धीवरों में जा रहे।
और वहाँ फिर बड़बड़ाये।
नास्तिकवाद ॥४५१॥

वैसे विषयों के लालच में।
परलोक खो कर भटके।
जब तक न मृत्यु झपटे।
उस पर अहो ॥४५२॥

ऐसे न परत्र स्वर्ग।
न यहाँ विषयभोग।
उस को कैसा प्रसङ्ग।
मोक्ष का भला ॥४५३॥

अतएव काम के बल से।
जो विषय सेवे हठ से।
उसे न विषय न स्वर्ग मिले।
न उद्धार उस का ॥४५४॥

इस कारण अरे तात!
जो निजपर कृपावन्त।
वह वेदाज्ञा के विरुद्ध।
न चले कभी ॥४५५॥

जैसे पति के मत का।
अनुसरण करे पतिव्रता।
तो अनायास आत्महित का।
होता लाभ ॥४५६॥

अथवा श्रीगुरु वचन पर।
दृष्टि रखे यत्नपूर्वक।
तो आत्मभुवन में शिष्य।
पाता प्रवेश ॥४५७॥

किम्बहुना अपना निधान।
करना हो यदि प्राप्त।
तो आगे करना दीपक।
होता वाञ्छित ॥४५८॥

वैसे पुरुषार्थों का अशेष।
स्वामी होना चाहें, पार्थ।
तो श्रुति-स्मृति को मस्तक पर।
करें धारण ॥४५९॥

शास्त्र जिस को कहे त्याज्य।
वह राज्य भी माने तृणतुल्य।
जिसे कहें ग्राह्य, न माने उस।
विष को मारक ॥४६०॥

वेदैक–निष्ठा ऐसे।
जागे सुभट यदि चित्त में।
तो अनिष्ट फिर कैसे।
हो कभी? ॥४६१॥

जो अहित से निकाले।
हित दे कर पोषित करे।
उस श्रुति के सिवा न जग में।
माता अन्य ॥४६२॥

अतः ब्रह्मेश से मिलने तक।
श्रुति कदापि नहीं त्याज्य।
अरे तुम भी ऐसे सविशेष।
भजो उसे ॥४६३॥

क्योंकि अर्जुन यहाँ तू आज।
करने को सत्य सार्थ शास्त्र।
जन्मा है पुण्य बल पा कर।
धर्म का ही ॥४६४॥

और तू बना 'धर्मानुज'।
अपने आप सहज।
अतः न करो कर्म।
धर्मविरुद्ध ॥४६५॥

कार्याकार्य–विवेक में।
परख करना शास्त्र से।
अकृत्य का सदा जग में।
करना त्याग ॥४६६॥

और जो दिखे कृत्य शुद्ध।
उसे पूरा बल लगाकर।
करो अवश्य आदर सहित।
पूर्णतया ॥४६७॥

जो विश्व-प्रामाण्य का हार्द।
तेरे हस्तगत आज पार्थ।
इस से लोकसंग्रह–योग्य।
अवश्य हुआ तू ॥४६८॥

ऐसे आसुरवर्ग समस्त।
और वहाँ से मुक्ति का पथ।
वह देव ने किया निरूपित।
पाण्डव के प्रति ॥४६९॥

इस प्रकार वह पाण्डुकुँवर।
सद्भाव सहित हृदयगत।
पूछेगा जो वह सावधान।
श्रवण करें ॥४७०॥

व्यासाज्ञा से सञ्जय ने।
नृप के प्रति कहा, वैसे।
मैं भी श्रीनिवृत्ति कृपा से।
कहूँ आप से ॥४७१॥

आप सन्त मेरे प्रति।
कीजिये जो कृपादृष्टि।
तो उस से सुयोग्य मैं भी।
होऊँ आज ॥४७२॥

अतएव निज अवधान। दीजिये मुझे प्रसाददान।
जिस से होऊँ सनाथ। ज्ञानदेव कहें ॥४७३॥

इति श्रीमद्ज्ञानेश्वरविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीता – 'भावार्थ-दीपिकायां' दैवासुरसम्पद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥

॥ हरिः ॐ तत् सत् ॥

॥ ॐ हरिः ॐ ॥

सप्तदश अध्याय

विश्व–विकासित– मुद्रा।
जिसे प्रगटावे तव योगनिद्रा।
ऐसे जीवगणेन्द्र–सद्गुरु को।
करूँ प्रणाम ॥१॥

त्रिगुण–त्रिपुर से घिरे हुए।
जीवत्व–दुर्ग में फँसे हुए।
आत्मा को मुक्त किया शिवने।
तव स्मरण द्वारा ॥२॥

अतएव शिव की तुलना में।
अधिक आप गुरुत्व में।
किन्तु लघु क्यों कि तारते।
मायाजल से ॥३॥

जो आप के विषय में मूढ़।
उन के लिये हैं वक्रतुण्ड।
ज्ञानियों के लिये अखण्ड।
सन्मुख सहज ॥४॥

दिखते लघु नयन आपके।
पर उन्हीं के मीलनोन्मीलनसे।
उत्पत्ति–प्रलय उभय करते।
लीलया आप ॥५॥

प्रवृत्ति–कर्ण हिलाने से।
उठे मद–गन्धानिल से।
जीवभृङ्ग–नीलोत्पलों से।
होते पूजित ॥६॥

फिर निवृत्ति–कर्णताल से।
वह सजी हुए पूजा बिखरे।
तव विशुद्ध झलकते आपके।
अङ्ग–भूषण ॥७॥

वामाङ्गी का लास्य–विलास।
जो यह जगद्रूप आभास।
वह ताण्डवकला निज।
दिखाते आप ॥८॥

यह रहने दें, हे विस्मयदाता।
आप हों जिन के बन्धुसखा।
'निज'–'पर' व्यवहार ही उनका।
होता लुप्त ॥९॥

आप बन्धन सब छुड़ाते।
फिर जगद्बन्धु कहलाते।
यह विलक्षणता शोभे।
आप पर ही ॥१०॥

'द्वितीयता'–नाम से जिस के।
देह–भाव भी बच न रहे।
एकमात्र द्वितीय जिसने।
बनाया तुम्हें ॥११॥

जो तुम्हें मानकर विषय।
प्राप्ति–हेतु करते उपाय।
उन से रहते सदा दूर।
देवेश तुम ॥१२॥

जो करते तुम्हारा ध्यान मन में।
समीप तुम न कभी उन के।
बसारे ध्यान भी वे होते।
तेरे प्रियजन ॥१३॥

न जाने तुझे जो स्वयं सिद्ध।
कहलाये वे जग में सर्वज्ञ।
उन वेदों के भी शब्द।
न सुनते तुम ॥१४॥

मौन तुम्हारा राशि–नाम।
फिर स्तोत्र का क्या करूँ चाव।
जो दिखे यह माया तव।
पूजूँ किसे? ।।१५।।

चाहूँ होना तुम्हारा सेवक।
तो भेद द्वारा करूँ द्रोह।
अत रहूँ 'कुछ भी न' होकर।
तव समीप ।।१६।।

जब सर्वथा न होऊँ कुछ।
तभी अद्वय तुम होते प्राप्त।
जाना यह तुम्हारा मर्म।
हे आराध्यलिङ्ग ।।१७।।

न शेष रहा पृथक्पन।
रस में घुल गया लवण।
वैसा ही जानो यह नमन।
क्या कहूँ बहुत ।।१८।।

समुद्र में जाये रोता कुम्भ।
छलकता हुआ निकले बाहर।
या दीप–सङ्ग से होती दीप्त।
बाती जैसे ।।१९।।

आप के प्रति प्रणति से।
मैं पूर्ण हुआ श्रीनिवृत्ति वैसे।
अब करूँ अभिव्यक्त सुख से।
गीतार्थ यह ।।२०।।

तो 'षोडशाध्याय' के अन्त में।
समापन के ही श्लोक में।
जो ऐसा निर्णय देव ने।
रखा निश्चित ।।२१।।

कि कृत्याकृत्य–व्यवस्था।
अनुष्ठित करने को पार्थसखा।
शास्त्र ही एक सर्वथा।
प्रमाण तेरा ।।२२।।

वहाँ अर्जुन ने मन में।
कहा भला ऐसे कैसे।
कि कर्म भी न कर सकते।
शास्त्र बिना ।।२३।।

तो तक्षक के फन में से।
कैसे कोई मणि निकाले?
फिर कैसे नासिका–केश जुटे।
सिंह का अरे? ।।२४।।

यदि कोई कर सके यह।
तभी पाये अलङ्कार।
नहीं तो क्या रिक्त-कण्ठ।
रहना पड़े? ।।२५।।

वैसे शास्त्रों के अनन्त।
कथन करे कौन एकत्र।
फिर उन में एकवाक्यताफल।
पाये कैसे? ।।२६।।

होने पर भी एकवाक्यता।
अनुष्ठान का समय कहाँ?
जीवन का प्रसार इतना।
लायें कहाँ से? ।।२७।।

फिर, शास्त्र-अर्थ-देश-काल।
इन चारों से जो साध्य फल।
कैसे मिले वह उपाय।
सब को अरे? ।।२८।।

अतः शास्त्रानुरूप साधन।
कर न सकते बहुत जन।
तो मूढ़ मुमुक्षुओं की फिर।
क्या हो गति? ।।२९।।

यह पूछने के अभिप्राय से।
अर्जुन जो प्रस्ताव करे।
वही सत्रहवें अध्याय में।
विषय यहाँ ।।३०।।

सब विषयों में वितृष्ण।
जो सकल कलाओं में प्रवीण।
कृष्ण का भी नवल कृष्ण।
जो अर्जुनत्व से ॥३१॥
शौर्य को मिला आधार।
जो सोमवंश का शृङ्गार।
सुख आदि सब उपकार।
जिस की लीला ॥३२॥
जो प्रज्ञा का प्रियोत्तम।
ब्रह्मविद्या का विश्राम।
सहचर बना मनोधर्म।
देव का जो ॥३३॥
वह अर्जुन बोला–तमालश्याम !
हे इन्द्रियों के गोचर ब्रह्म।
तुम्हारे वचन के प्रति हम।
साकाङ्क्ष जो ॥३४॥
कि शास्त्र के सिवा किसी से।
प्राणी मोक्ष न पा सकते।
क्यों तुम ऐसा पक्ष करते।
प्रतिपादित ? ॥३५॥
यदि न सुलभ वह देश।
न पूरा काल–अवकाश।
जो कराये शास्त्राभ्यास।
वह भी दुर्लभ ॥३६॥
तथा सहाय अभ्यास में।
होता जिस सामग्री से।
वह भी न हो पास अपने।
उस समय ॥३७॥
अनुकूल न हो प्राचीन।
न हो प्रज्ञा–संवाहन।
ऐसा हो आपादन।
शास्त्र का जिससे ॥३८॥
किम्बहुना शास्त्र-विषय में।
एक निश्चय न मिले।
अतः उस का विचार जिस ने।
छोड़ दिया ॥३९॥
पर, निर्धारित कर के शास्त्र।
करके अनुष्ठान पवित्र।
सुख भोगते परत्र।
साचार जो ॥४०॥
'हम भी हों वैसे' ऐसा।
चाव ले कर चित्त में।
उन के मार्ग से करते।
आचरण जो ॥४१॥
जैसे ऊपर मोटे अक्षर।
नीचे लिखना सीखे बालक।
या सुचक्षु को आगे रखकर।
चले अक्षम ॥४२॥
वैसे, जो सर्वशास्त्र–निपुण।
उन के जो हों आचरण।
उन्हीं को मानते प्रमाण।
निज श्रद्धा से ॥४३॥
फिर शिवादिक–पूजन।
भूमि आदि के महादान।
अग्निहोत्र आदि यजन।
करें श्रद्धा से ॥४४॥
सत्त्व–रज–तम में से।
पुरुषोत्तम ! कौन-सी उन्हें।
गति मिलती–यह करें।
निरूपित ॥४५॥
तब वैकुण्ठपीठ के लिङ्ग।
जो निगम-पद्म के पराग।
जिन की अङ्ग–छाया से जग।
जिये यह ॥४६॥

जो स्वयं ही काल-रूप।
लोकोत्तर प्रौढ़।
अद्वितीय गूढ़।
आनन्दघन ॥४७॥

जिस बल से यह प्रशंसित।
वह भी जिस पर आश्रित।
स्वमुख से वे श्रीकृष्ण।
कहने लगे ॥४८॥

यह तेरी कला पार्थ।
जानते हैं हम सब।
जो शास्त्राभ्यास को कठिन।
मान रहे ॥४९॥

केवल श्रद्धा-सम्बल से।
परमपद पाना चाहते।
पर, प्रबुद्ध ! वह भी ऐसे।
सुलभ नहीं ॥५०॥

श्रद्धा कहने से ही।
विश्वास न करो किरीटी।
क्या अन्त्यजसङ्ग से ब्राह्मण।
होता न अन्त्यज ? ॥५१॥

भले हो गङ्गोदक।
पर मद्यपात्र में स्थित।
वह न होता सेव्य।
विचार देखो ! ॥५२॥

भले है चन्दन शीतल।
पर, पाये अग्नि का मेल।
तो हाथ में रखने पर।
जलाता न क्या ? ॥५३॥

ढलते हुए अशुद्ध पुट में।
किरीटी ! शुद्ध सोना पड़े।
फिर शुद्ध मान कर लेने में।
क्या हानि नहीं ? ॥५४॥

वैसे श्रद्धा का स्वरूप।
वस्तुतः भले है शुद्ध।
पर जैसे प्राणी का भाग।
बने वह ॥५५॥

उन प्राणियों का स्वभाव।
अनादि माया-प्रभाव।
त्रिगुण से ही निर्मित।
सभी पार्थ ॥५६॥

वहाँ दो गुण होते न्यून।
एक होता उन्नत।
वैसी होती वृत्ति निश्चित।
जीवों की ॥५७॥

वृत्ति के अनुसार मन।
क्रिया होती मन के समान।
क्रियानुरूप गति का वरण।
देहान्त में ॥५८॥

बीज मिट कर वृक्ष बने।
वृक्ष बीज में जा समाये।
कल्पकोटि जाये ऐसे।
जाति न मिटे ॥५९॥

इसी प्रकार ऐसे अपार।
होते जाते जन्मान्तर।
पर बदले नहीं त्रिगुणत्व।
प्राणियों का ॥६०॥

प्राणियों के भाग में।
पड़ी श्रद्धा देखो सखे।
वह इन्हीं तीन गुणों के।
सदृश होती ॥६१॥

कदाचित् बढ़े सत्त्व शुद्ध।
वह ज्ञान को देता आवाहन।
पर उस का अन्य दो गुण।
करते प्रतिबन्ध ॥६२॥

यदि सत्त्व के आधीन रहे।
तो श्रद्धा मोक्षपथ पर बढ़े।
पर तब तक रज-तम कैसे।
रहें निष्क्रिय ? ॥६३॥

तोड़कर सत्त्व का बल।
चढ़े आकाश में रजोगुण।
वही श्रद्धा बनती तब।
मार्जनी कर्म की ॥६४॥

फिर तम की उठती आग।
तब वही श्रद्धा भग्न हो कर।
जहाँ-तहाँ होती प्रवृत।
भोग के लिये ॥६५॥

ऐसे सत्त्व-रज-तम से।
पृथक् श्रद्धा न रहे।
इस जीवलोक में अरे।
सुवर्मा कहीं ॥६६॥

अतः श्रद्धा स्वाभाविक।
होती किन्तु त्रिगुणात्मक।
राजस, तामस, सात्त्विक।
इन भेदों से ॥६७॥

जैसे जीवन-रूप उदक।
पर विष में बनता मारक।
या मिर्ची में तीक्ष्ण।
ईख में मधुर ॥६८॥

वैसे अधिकतर तम में।
जो सदा जन्मे मरे।
वहाँ श्रद्धा परिणमे।
वैसी हो कर ॥६९॥

फिर काजल और कालिख में।
भेद न दिखे जैसे।
तामसी श्रद्धा तम से।
भिन्न न वैसे ॥७०॥

वैसे राजस जीव में।
रजोमय जानो उसे।
और समस्त सात्त्विक में।
सात्त्विकी श्रद्धा ॥७१॥

ऐसे ही यह सकल।
जगदाडम्बर निखिल।
श्रद्धा से ही केवल।
ओत-प्रोत ॥७२॥

पर गुणत्रय के वश से।
त्रिविधपन के कलङ्क पड़ते।
श्रद्धा में, यह इन्हीं से।
पहचान तू ॥७३॥

वृक्ष को पहचाने फूलों से।
मनुष्य को परखें वाणी से।
भोग से कर्म जाने जाते।
पूर्वजन्म के ॥७४॥

वैसे जिन चिह्नों से।
तीन रूप श्रद्धा के।
दिखते वह कहूँ तुझे।
सुन सावधान ॥७५॥

तो, सात्त्विक श्रद्धा-युक्त।
हो जिस को देह निर्मित।
उस की मेधा चले अधिक।
स्वर्ग की ओर ॥७६॥

वे पढ़ते विद्याजात।
सम्पन्न करते यज्ञकर्म।
किम्बहुना करते गमन।
देवलोक में ॥७७॥

और राजस श्रद्धा से।
वीरेश जो घड़े गये।
राक्षसों खेचरों को वे।
भजते रुचि से ॥७८॥

जिनकी श्रद्धा तामस।
वे, कहूँ तुझे पार्थ।
होते पापराशि केवल।
निर्दय, कर्कश ॥७९॥

जीववध से बलि देते।
भूत-प्रेत मलिन जितने।
सन्ध्याकाल श्मशान में।
पूजते उन्हें ॥८०॥

वे तमोगुण का सार।
निकाल बनाये गये नर।
तामसी श्रद्धा के घर।
जानो उन्हें ॥८१॥

ऐसे इन तीन लिङ्गों से।
त्रिविध श्रद्धा जगत् में।
किन्तु यह मैं इस लिये।
बता रहा ॥८२॥

कि इस श्रद्धा का सात्त्विक।
जतन करो हे प्रबुद्ध।
अन्य दोनों विरुद्ध।
जानो त्याज्य ॥८३॥

जहाँ सात्त्विक मति यह।
संरक्षित हो धनञ्जय।
उस के लिये नहीं दुर्लभ।
कैवल्य वह ॥८४॥

तो भले न पढ़ो ब्रह्मसूत्र।
न हो गुढ़ो सर्वशास्त्र।
भले न हो सिद्धान्त स्वतन्त्र।
हस्तगत ॥८५॥

पर श्रुति-स्मृति का अर्थ।
मानो स्वयं होकर मूर्त।
अनुष्ठान कराता बनकर।
गुरुजन जैसे ॥८६॥

उन के आचरण-चिह्नों पर।
सात्त्विकी श्रद्धा चले सहज।
तो वही फल स्वतःसिद्ध।
जैसा मिले ॥८७॥

कोई दीप जलाये सायास।
कोई आकर बैठे पास।
तो क्या उसे वह प्रकाश।
मिलता नहीं? ॥८८॥

किसी ने धन अपार।
व्यय कर बनाया प्रासाद।
रहने वाला पाता न सुख।
क्या वहाँ? ॥८९॥

किम्बहुना जो तालाब बनाये।
वह क्या उसी की तृषा हरे।
सूपकार को ही अन्न मिले।
अन्यों को नहीं? ॥९०॥

अधिक क्या कहूँ अब।
क्या गौतम को ही गङ्गोदक।
और सब को क्या वह मलिन।
प्रवाह होता? ॥९१॥

अरे अपनी शक्ति भर।
शास्त्रानुष्ठान करते कुशल।
करके श्रद्धा से आचरण।
तरते मूर्ख भी ॥९२॥

अन्यथा शास्त्र के नाम से।
श्रीगणेश भी न जानते।
और शास्त्रज्ञ को न करने देते।
सीमा-प्रवेश ॥९३॥

बड़ों का क्रियानुष्ठान।
देखकर मानें वृथाचरण।
पण्डितों का उपहास।
करते सदा ॥९४॥

अपने ही घटाटोप में।
घनित्वादि के दर्प में।
पाखण्डियों के तप का करते।
सन्मान वे ॥९५॥

सामने स्थित जीवों के।
अङ्ग काटते शस्त्र से।
उस रक्त-मांस से भरते।
यज्ञकपाल ॥९६॥

जलते कुण्ड में आहुति देते।
तान्त्रिकों को मुंह लगाते।
मनौती मानकर बलि देते।
बालकों की ॥९७॥

दुराग्रह के बल से।
क्षुद्र-देवों का वरण करते।
अन्न त्याग कर बिताते।
सप्ताह कोई ॥९८॥

आत्म-पर-पीड़ा का अरे।
सुभट! बीज तम-क्षेत्र में।
बोते तो वहाँ फलते।
वही फल ॥९९॥

न हों समर्थ बाहू अपने।
और नाव भी पार्थ जिसने।
न पकड़ी हो, उस की जैसे।
समुद्र में दशा ॥१००॥

या वैद्य से कर के द्वेष।
औषध को मारे ठोकर।
वह रोगी जैसे खोता निज।
जीवन ही ॥१०१॥

सुनयनों से द्वेष के कारण।
जो नष्ट कर ले अपने नयन।
वह रहता घर में अन्ध होकर।
मूर्ख जैसे ॥१०२॥

आसुर दशा होती वैसे।
जो शास्त्रों की निन्दा कर के।
द्वेष-वश स्वैर भटकते।
मोहारण्य में ॥१०३॥

कामवश हो कर्म करते।
क्रोध-प्रेरित हो मारते।
किम्बहुना मुझ को दबाते।
दुःख-पाषाण से ॥१०४॥

अपने-पराये देहों में।
जो-जो दुःख देते वे।
मुझ आत्मा को करते।
उतना ही क्षीण ॥१०५॥

न उचित कि वाणी-अञ्चल में।
पापी-वर्णन का स्पर्श लगे।
पर प्रसङ्गवश त्याग के लिये।
करूँ वर्णन ॥१०६॥

निकालने को शव घर से बाहर।
हटाने अन्त्यज को वाणीसे स्पर्श।
अथवा क्षालन-हेतु स्पर्श।
कश्मल का जैसे ॥१०७॥

वहाँ शुद्धि की आशा से।
अमङ्गल न मानते जैसे।
वैसे छोड़ने के हेतु से।
अनुवाद यह ॥१०८॥

यदि हो तुझे उन का दर्शन।
तो मेरा स्मरण करो अर्जुन।
प्रायश्चित्त इस से अन्य।
नहीं वहाँ ॥१०९॥

अतः श्रद्धा जो सात्त्विक।
एक उस का ही भली प्रकार।
करो रक्षण-यत्न अर्जुन।
सब से अधिक ॥११०॥

रखो ऐसा ही सत्त्व शुद्ध।
जिस से सात्त्विक हो पुष्ट।
सत्त्व बुद्धि के ही योग्य।
लो आहार ॥१११॥

देखो अन्यथा भी।
करने को स्वभावशुद्धि।
आहार से अन्य नहीं।
बली हेतु ॥११२॥

प्रत्यक्ष भी देखो और।
मदिरा लेता जो जान कर।
वह होता ही मदमत्त।
उसी क्षण ॥११३॥

जो नित्य अन्न-रस-सेवन-करे।
वात-श्लेष्म सहज व्यापें उसे।
क्या ज्वर आने पर शान्ति दें।
पयादिक ? ॥११४॥

अथवा जिस प्रकार अमृत।
पीने पर हरे मरण।
या देता निज फल निश्चित।
जैसे विष ॥११५॥

वैसे, लें जैसा आहार।
होता वैसा ही आकार।
फिर, जैसा धातु वैसा भाव।
होता पुष्ट ॥११६॥

जैसे पात्र का पा कर ताप।
भीतर का उदक होता तप्त।
वैसे बनती धातुवश।
चित्तवृत्ति ॥११७॥

अतः सात्त्विक रस का करें सेवन।
तो सत्त्व की वृद्धि हो अर्जुन।
राजस-तामस होगा मन।
अन्य रसों से ॥११८॥

तो, कौन सा सात्त्विक आहार।
राजस-तामस का क्या आकार।
यह कहूँगा करो सादर।
श्रवण पार्थ ॥११९॥

तथा, एक ही आहार के।
तीन प्रमुख प्रकार कैसे।
वीर ! वह भी स्पष्ट तुझे।
दिखाऊँगा अब ॥१२०॥

भोक्ता की रुचि से।
अन्न-पाक के प्रकार होते।
और गुणों की दासी रहे।
भोक्ता रुचि ॥१२१॥

जो जीव कर्ता भोक्ता।
वह गुणों से ही स्वभावतः।
पा कर त्रिविधता, करता।
त्रिधा चेष्टा ॥१२२॥

अतः त्रिविध आहार।
यज्ञ भी त्रिविध प्रकार।
तप, दान और व्यापार।
सब त्रिविध ॥१२३॥

पर पहले आहार-लक्षण।
कहूँ जो कहे प्रथम।
ध्यानपूर्वक सुनो अर्जुन।
करूँ निरूपण ॥१२४॥

तो सत्त्वगुण की ओर।
यदि भाग्य से भोक्ता प्रवृत्त।
जो मधुररसमें अधिकतर।
बढ़े प्रीति ॥१२५॥

जो प्रकृति से ही सुरस द्रव्य।
स्वभाव से ही मधुर पदार्थ।
और स्वयं ही सुस्निग्ध।
सुपक्व जो ॥१२६॥

आकार में नहीं विशाल।
स्पर्श में अति-मृदुल।
जिह्वा के लिये स्नेहिल।
स्वाद जिन का ॥१२७॥

रस से समृद्ध कोमल।
द्रवभाव से सम्पन्न।
अग्निताप से न शुष्क।
न दग्ध कहीं ॥१२८॥

परिमाण में लघु परिणाम में श्रेष्ठ।
जैसे गुरुमुख के अक्षर।
वैसे जिस अल्प में भी अपार।
तृप्ति मिले ॥१२९॥

और मुख में जैसे मधुर।
वैसे उदर में सुखद।
ऐसे अन्न में बढ़ता प्रेम।
सात्त्विकों का ॥१३०॥

जहाँ ऐसे गुण-लक्षण।
वह सात्त्विक भोज्य जान।
जिस से आयुष्य का त्राण।
नित्य नवीन ॥१३१॥

ऐसे सात्त्विक रस का जब।
देह में बरसता मेघ।
तब आयुष्यनदी होती समृद्ध।
दिन-प्रतिदिन ॥१३२॥

जो करे सत्त्व का पालन।
सुमति! वह यही कारण।
दिवस की उन्नति का साधन।
भानु जैसे ॥१३३॥

और, शरीर तथा मानस में।
जो बल का निवास कराये।
वह आहार हो तो रोग कैसे।
पायें प्रवेश? ॥१३४॥

यह सात्त्विक हो भोग्य।
तो, उसे भोगने को आरोग्य।
ऐसा शरीर का भाग्य।
उदित जानो ॥१३५॥

और, सुख का ही लेन-देन।
सभी कृत्य होते सुखपूर्ण।
किम्बहुना आनन्द के साथ।
बढ़े मित्रभाव ॥१३६॥

ऐसा सात्त्विक आहार।
परिणाम में समृद्धिकर।
करता वह उपकार।
बाहर-भीतर ॥१३७॥

अब, राजस की प्रीति।
जिन रसों से होती।
करूँ व्यक्त उन्हें भी।
प्रसङ्गवश ॥१३८॥

मारण-रहित कालकूट।
पर उतना ही कटु-तिक्त।
या चूने से भी दाहक।
अम्लता में ॥१३९॥

आटा गूँधने में जितना जल।
मिलाते उतना ही लवण।
और उतना ही मिश्रण।
अन्य रसों का ॥१४०॥

ऐसा अतिशय लवणमय।
राजस को लगता प्रिय।
उष्णता-मिस निगलता मुख।
अनल मानो ॥१४१॥

उठते हुए बाष्प से।
दिये की बाती जला लें।
इतना उष्ण भोजन चाहे।
राजस वह ॥१४२॥

आँधी को भी परास्त करे।
बँसल–मार को लजाये।
ऐसा तीक्ष्ण–अम्ल खाते।
जो घाव बिना चुभे ॥१४३॥
और राख से भी शुष्क।
एक–जैसा भीतर–बाहर।
वह जिह्वादंश रुचिकर।
बहुत उन्हें ॥१४४॥
दाँत परस्पर टकरायें।
जिस वस्तु को खाते हुए।
वह मुख में डालने में।
होते तुष्ट ॥१४५॥
पहले ही द्रव्य चटपटे।
राई-मिर्च का छौंक उस में।
खाने में फिर धुँआ निकले।
नाक–मुख से ॥१४६॥
किंवा बढ़कर आग से।
ऐसे चटपटे रायते।
प्राणों से भी प्रिय लगते।
राजस को ॥१४७॥
कितना भी खा कर मन न भरे।
ऐसे जिह्वा से पागल बने।
अन्न नाम से अग्नि भरते।
उदर में जैसे ॥१४८॥
सोंठ–लवंग खा कर ऐसे।
भूमि या शय्या पर लोटते।
फिर पानी का न छूटे।
पात्र मुख से ॥१४९॥
आहार न लिया उन्होंने।
व्याधि–व्याल जो सोये हुए।
जगाने को उन्हें, उदर में।
डाला मादक ॥१५०॥
फिर परस्पर स्पर्धा भरे।
एक साथ ही रोग उठते।
ऐसा राजस आहार फले।
केवल दुःख ॥१५१॥
यह राजस आहार।
किया निरूपित धनुर्धर।
परिणाम के विचार-सहित।
कहा तुम से ॥१५२॥
अब तामस को प्रिय।
लगता जो आहार!
कहूँगा, जो घृणित।
लगेगा तुम्हें ॥१५३॥
सड़ा–जूठा खाने में।
अहित का न विचार जिसे।
चाहे जो डालने पर जैसे।
भैंस खाये ॥१५४॥
सुबह बना अन्न वैसे।
शाम या दूसरे दिन में।
रुचिपूर्वक खाये।
तामस भोक्ता ॥१५५॥
किम्बहुना अर्ध–पक्व।
अथवा निपट दग्ध।
ऐसा विकृत रस-विहीन।
करे भोजन ॥१५६॥
जो पूर्णतया सुपक्व।
जहाँ रस सुव्यक्त।
न लगता वह भोज्य अन्न।
तामस को ॥१५७॥
यदि कदाचित् भाग्य से।
सदन्न मिले भी उसे।
तो गन्ध छूटने की राह देखे।
व्याघ्र जैसा ॥१५८॥

बासी बहुत दिनों का।
स्वादरहित सड़ा-गला।
पड़े हों जीव जिस में ऐसा।
सूखा अन्न ॥१५९॥

वह भी बच्चों के हाथ से।
मसला गया कीचड़ जैसे।
पत्नी-बच्चों के साथ उसे।
खाये रुचि से ॥१६०॥

ऐसे घिचपिच में खाये।
तभी सुखमय भोजन माने।
इतने से भी तृप्ति न मिले।
उस पापी को ॥१६१॥

और देखो चमत्कार।
निषेध-मुद्रा हो जिस पर।
सदोष रूप से प्रसिद्ध।
कुद्रव्य जो ॥१६२॥

उस अपेय के पान में।
अखाद्य के भोजन में।
उत्कण्ठा बढ़ती रहे।
तामस की ॥१६३॥

ऐसे तामस भोक्ता की।
ऐसी वस्तुओं पर प्रीति।
मिलता उस का फल भी।
उसी क्षण ॥१६४॥

क्यों कि ज्योंही वह अपवित्र।
स्पर्श करता उस का वक्त्र।
तभी पाप का पात्र।
बनता वह ॥१६५॥

इस पर भी जो भोजन-रीति।
वह भोजन कहने योग्य नहीं।
उदर भरना भी होती।
यातना मानो ॥१६६॥

क्या होता शिरच्छेद से।
कैसा लगता अग्निप्रवेश से।
यह क्या कहीं जानना पड़े?
सहना केवल ॥१६७॥

अतः तामसी अन्न के।
परिणाम पृथक् कैसे।
अर्जुन यह न कहना पड़े।
कहते देव ॥१६८॥

अब इस के अनन्तर।
आहार के समान।
यज्ञ भी सुनो पार्थ।
होते त्रिधा ॥१६९॥

उन तीनों में प्रथम।
सात्त्विक यज्ञ का मर्म।
सुनो हे सुमहिम-।
-शिरोमणि ॥१७०॥

पहला लक्षण, प्रियोत्तम।
अन्यत्र न बढ़े काम।
जैसे कि मनोधर्म।
पतिव्रता का ॥१७१॥

या गङ्गा सिन्धु में मिलकर।
फिर आगे न करती गमन।
या आत्मा को देखकर मौन।
हुए वेद ॥१७२॥

वैसे जो निज हित में।
चित्तवृत्ति का व्यय कर के।
फिर अहङ्कृति न बचाते।
फल के लिये ॥१७३॥

वृक्ष-मूल में पड़ने पर।
पीछे न लौटता जल।
समाता वहीं केवल।
साङ्गोपाङ्ग ॥१७४॥

वैसे मन और देह।
यजन-निश्चय में निमग्न।
चाहते न और कुछ।
उसके सिवा ॥१७५॥
उस फल वाञ्छा-त्याग से।
स्वधर्मातिरिक्त विराग से।
करते जो यज्ञ सर्वाङ्ग से।
अलङ्कृत ॥१७६॥
अपना आप दर्पण में।
निज नयनों से देखें जैसे।
या हाथ के रत्न को देखें।
दीप लेकर ॥१७७॥
अथवा उदित हो दिवाकर।
तब दिखता अभीष्ट मार्ग।
वैसे वेदकृत निर्धारण।
देखकर ॥१७८॥
वैसा कुण्ड-मण्डप-वेदी।
और भी सम्भार-समृद्धि।
एकत्र हो यथाविधि।
मानो स्वयं ही ॥१७९॥
सकल अवयव उचित।
यथा-योग्य अलङ्कृत।
वैसे पदार्थों का यथास्थान।
विनियोग कर के ॥१८०॥
कितना कहूँ शब्दों में।
सज्जित सर्वाभरणों से।
यज्ञविद्या हो मूर्त जैसे।
यजन-मिष से ॥१८१॥
वैसा साङ्गोपाङ्ग।
निष्पन्न हो जो याग।
न बाँधे सम्बन्ध।
महत्त्व का ॥१८२॥
प्रतिपालन करते पूरा।
जैसे तुलसी-पादप का।
पर फल-फूल छाया का।
नहीं अभिलाष ॥१८३॥
किम्बहुना फलाशा-रहित।
यथा विधि जिस का निर्माण।
ऐसे याग को तू जान।
सात्त्विक ॥१८४॥
दूसरा यज्ञ वीरेश।
होता ऐसा हो विधिपूर्ण।
पर श्रद्धा में आमन्त्रित।
राजा जैसा ॥१८५॥
यदि राजा आये घर।
तो हों बहुत से उपयोग।
कीर्ति भी फैले और।
न छूटे श्राद्ध ॥१८६॥
वैसे फलाशा रखकर।
सोचे मिलेगा स्वर्गसुख।
दीक्षित होने से लोकमें यश।
याग भी सिद्ध ॥१८७॥
ऐसे केवल फल के लिये।
महत्त्व बढ़ाने को लोक में।
प्रवृत्ति हो जिस याग में।
वह राजस ॥१८८॥
और, पशु पक्षियों के विवाह में।
काम के सिवा पुरोहित न जैसे।
पार्थ! तामस यज्ञ में वैसे।
आग्रह ही मूल ॥१८९॥
वायु को मार्ग न मिले।
या मरण मुहूर्त देखे।
या निषिद्ध से डरे।
आग यदि ॥१९०॥

तो तामस आचार पर।
विधि का हो प्रतिबन्ध।
अतएव वह धनुर्धर!
उच्छृङ्खल ॥१९१॥

न विधि वहाँ अपेक्षित।
न मन्त्रादि उस के समीप।
अन्नग्रास न पाता मुख।
मक्खी का भी ॥१९२॥

ब्राह्मण से वैर-क्रोध।
वहाँ दक्षिणा का कहाँ प्रवेश।
अग्नि को वायु ही सहाय।
प्रज्वलन के लिये ॥१९३॥

व्यर्थ ही बाँटे सर्वस्व।
श्रद्धा का न देखे मुख।
लुटता जैसे घर-बार।
निपुत्रिक का ॥१९४॥

ऐसा जो यज्ञाभास।
उस का नाम याग तामस।
सुनो, कहते श्रीनिवास।
पार्थ से ॥१९५॥

एक ही गङ्गाजल।
करें विभिन्न उपयोग।
तो, एक मलिन और शुद्धत्व।
एक में जैसे ॥१९६॥

वैसे तीन गुणों से तप।
यहाँ होता त्रिरूप।
एक उपजाये पाप।
उद्धारे एक ॥१९७॥

तो, वे तीन भेद।
कैसे होते, सुबुद्धि पार्थ।
जानना चाहो तो प्रथम।
तप को जानो ॥१९८॥

यहाँ तप का क्या अर्थ।
दिखाऊँ तुझे उसका स्वरूप।
फिर त्रिगुण से हुआ भेद।
कहूँगा पीछे ॥१९९॥

तो जो है सम्यक् तप।
वही होता त्रिविध।
शारीरिक तथा मानसिक।
एवं शाब्द ॥२००॥

ऐसे इन तीनों में से।
शारीर वह, सुनो ध्यान से।
जब शम्भु या श्रीहरि होते।
विशेष प्रिय ॥२०१॥

उन प्रियदेव के आलय में।
उत्सव, यात्रादि करने में।
आठों पहर पाँवों में बँधे।
चक्र जैसे ॥२०२॥

देवाङ्गण स्वच्छ करने में।
अङ्गोपचार बनाने में।
भाँति-भाँति से सजाने में।
शोभते हाथ ॥२०३॥

लिङ्ग या प्रतिमा दिखे।
तो दिखते ही सर्वाङ्ग से।
प्रणाम करें काष्ठ जैसे।
भूमि पर ॥२०४॥

और विधि-विनयादि से।
गुणी गुरुजन जो लोक में।
उन ब्राह्मणों की सब प्रकार से।
करें सेवा ॥२०५॥

अथवा प्रवास या पीड़ा से।
किसी को दुःख में देखे।
उस जीव को सुख पहुँचाये।
सहाय दे कर ॥२०६॥

सभी तीर्थों में श्रेष्ठ।
जो माता-पिता-गुरुजन।
उन की सेवा में न्योछावर।
करे शरीर ॥२०७॥

संसार जैसा दारुण।
दुःख हरे जिन का मिलन।
ऐसे ज्ञानदानी सकरुण।
गुरु को भजे ॥२०८॥

स्वधर्म की अँगीठी में।
देह जड़ता की खोट जलाये।
आवृत्ति-पुट से शुद्ध करे।
हे सुभट ॥२०९॥

भूतमात्रमें 'वस्तु' को प्रणमे।
परोपकार द्वारा भजे।
स्त्री-विषय को नियमित करे।
धीरे-धीरे ॥२१०॥

जन्म लेने के समय।
स्त्री-देह का होता स्पर्श।
फिर करता नहीं स्पर्श।
मृत्युपर्यन्त ॥२११॥

भूतमात्र के नाम से।
तृण को भी न तोड़े।
किम्बहुना सब छोड़े।
छेद-भेद ॥२१२॥

ऐसे जब शरीर में।
सहज वृत्ति ही बन जाये।
तब जानो शारीर तप में।
आया अङ्कुर ॥२१३॥

पार्थ यह सब करने में।
देह ही प्रधान रहे।
अतः मैं कहता इसे।
शारीर तप ॥२१४॥

ऐसा जो शारीर तप।
दिखाया उस का रूप।
अब देखो, निष्पाप।
वाङ्मय तप ॥२१५॥

लौह का भार-आकार।
न बदलते हुए कनक।
बनाता उसे पारस।
देखो जैसे ॥२१६॥

वैसे, किसी को भी दुःख न पहुंचे।
निकटवर्त्ती को सुख मिले।
ऐसा सौम्य साधुत्व दिखे।
जिस वचन में ॥२१७॥

वृक्ष में पानी सींचें।
तृण उसी में जीवन पाये।
ऐसे हो एक वचन से।
सब का हित ॥२१८॥

अमृत की सुरसरि मिले।
तो प्राणों को अमर करे।
स्नान से पाप-ताप हरे।
दे माधुर्य ॥२१९॥

वैसे मिटे अविवेक।
मिले अपना अनादित्व।
सुनने में रुचि न हो न्यून।
पीयूष से जैसे ॥२२०॥

यदि कोई करे प्रश्न।
तो निकलें ऐसे वचन।
अन्यथा करे आवर्तन।
निगम या नाम का ॥२२१॥

ऋग्वेदादि-त्रय ।
वाङ्मन्दिर में प्रतिष्ठित।
बना हो जैसे वदन।
ब्रह्मशाला ॥२२२॥

अथवा एकाध नाम।
शैव हो या वैष्णव।
वाचा में बसे, उसे वाग्भव।
तप जानो ॥२२३॥

अब जो तप मानसिक।
वह कहूँगा सुनो पार्थ।
कहते लोकनाथ-नायक।
-नायक वे ॥२२४॥

तरङ्गमुक्त सरोवर।
मेघरहित आकाश।
या उरगरहित उद्यान।
चन्दन का जसे ॥२२५॥

कलावैषम्य-रहित चन्द्र।
या चिन्ता से मुक्त नरेन्द्र।
अथवा मन्दराचल-रहित।
क्षीरसमुद्र ॥२२६॥

वैसे नाना विकल्प-जाल।
छोड़ जाने पर सकल।
मन रहता जब केवल।
स्वरूप में ॥२२७॥

ताप विना प्रकाश।
जाड्य विना अन्न में रस।
रिक्तता रहित अवकाश।
हो जैसा ॥२२८॥

वैसे अपना स्वरूप देखे।
और निज स्वभाव छोड़े।
हिम निज अङ्गों को जैसे।
करता न कम्पित ॥२२९॥

अचल और कलङ्कहीन।
शशिबिम्ब जैसे परिपूर्ण।
वैसे शुद्ध शृङ्गार-पन।
मन का जो ॥२३०॥

वैराग्येच्छा भी गई बुझ।
शान्त हुआ मन का कम्प।
रहा वहाँ केवल बाष्प।
निज-बोध का ॥२३१॥

अतः विचारने को शास्त्र।
अभ्यस्त था जो वक्त्र।
उस वाचा का भी सूत्र।
न लेता हाथ में ॥२३२॥

स्वरूपोपलब्धि के कारण।
मन ही न धरे मन-पन।
जैसे विलोपित लवण।
जलस्पर्श से ॥२३३॥

वहाँ कैसे उठें भाव।
जिन से इन्द्रियों के पथ पर।
दौड़ कर पहुँचे गाँव।
विषयों के ॥२३४॥

अतएव उस मानस में।
भावशुद्धि ही सहज रहे।
रोम-शून्यता रहे जैसे।
करतल में ॥२३५॥

अर्जुन अधिक कहें क्या।
जिस मन की हो यह दशा।
वही 'मानसतप'-नाम का।
पात्र होता ॥२३६॥

अब रहने दो, यही जान।
मानस तप के लक्षण।
देव बोले सम्पूर्ण।
कहे मैंने ॥२३७॥

ऐसे देह-वाचा-चित्त से।
त्रिविधत्व आया जिस में।
वह सामान्य तप सखे।
सुना तुम ने ॥२३८॥

गुण–त्रय के सङ्ग से।
यह भी पुनः त्रिविध बने।
वह सुनो प्रज्ञाबल से।
कहूँ विशद ॥२३९॥
यह जो तप त्रिविध।
बताया तुझे प्रबुद्ध !
वह करे पूर्णश्रद्धासहित।
छोड़ फलाशा ॥२४०॥
जब पूर्ण सत्त्वशुद्धि से।
आचरे आस्तिक्य–बुद्धि से।
तब उसे ही सात्त्विक कहते।
तप प्रबुद्ध ॥२४१॥
अन्यथा तपस्थापना के लिये।
जग में द्वितीयपन प्रतिष्ठित करे।
श्रृङ्ग पर महत्त्व–अद्रि के।
बैठने हेतु ॥२४२॥
त्रिभुवन का सन्मान।
न बाँट ले कोई अन्य।
चाहे प्रमुख आसन।
भोजन के लिये ॥२४३॥
विश्वभर के स्तोत्रों का।
पात्र स्वयं चाहे होना।
चाहे कि सब करें यात्रा।
उसके यहाँ ॥२४४॥
विविध पूजा का आश्रय।
न बने कोई भी अन्य।
चाहे भोगना सब भोग।
महत्त्व के ॥२४५॥
तप का बाह्य प्रदर्शन करे।
तपी कहलाने के लिये।
कुरूप खूब सजे–धजे।
जिस प्रकार ॥२४६॥
धन–मान में ही आस।
बढ़ाकर तप करे सायास।
उसी को तप राजस।
कहते पार्थ ॥२४७॥
पर, शोषण से रोगी गाय।
ब्याने पर भी न देती दूध।
अथवा चरे जाने पर खेत।
न मिले धान्य ॥२४८॥
वैसे प्रदर्शनपूर्वक तप।
किया जाय यदि साक्षेप।
वह फलने पर व्यर्थ।
होता निःशेष ॥२४९॥
ऐसे निष्फल देख उसे।
मध्य में ही छोड़ देते।
अतः स्थिरता न रहे।
उस तप में ॥२५०॥
यों भी आकाश में घिरकर।
ब्रह्माण्ड फोड़ता गरजकर।
वह अकाल–मेघ क्या घड़ीभर।
रहता स्थिर ? ॥२५१॥
ऐसा होता जो राजस तप।
वह फल के प्रति तो रहे वन्ध्य।
पर आचरण में भी निर्वाह।
न होता उस का ॥२५२॥
अब जो कहूँगा आगे।
तामस तप की रीति से।
न परलोक, न कीर्ति उस से।
मिलती यहाँ ॥२५३॥
केवल मूर्खता की वायु से।
भरे चित्त से धनुर्धर वे।
शरीर का ही नाम रखते।
वैरी–रूप ॥२५४॥

पञ्चाग्नि सुलगाते।
शरीर के सब ओर वे।
इन्धन बनाते इसे अग्नि के।
भीतर रखकर ॥२५५॥

माथे पर जलाते गुग्गल।
पीठ में भोंकते शूल।
अङ्गारे रखते अङ्गों पर।
जलती दीवारों में ॥२५६॥

रोककर श्वासोच्छ्वास।
करते व्यर्थ ही उपवास।
या खाते धूम्र के ग्रास।
अधोमुख ॥२५७॥

आकण्ठ डूबे हिमोदक में।
या तट की शिलापर बैठते।
जीवित ही मांस चिमटियों से।
तोड़ते जहाँ ॥२५८॥

नाना प्रकार से ऐसे पार्थ।
देते काया को विविध कष्ट।
तप करते करने को नष्ट।
दूसरों को ॥२५९॥

पर्वत से लुढ़कता पत्थर।
स्वयं होता खण्ड-खण्ड।
और सामने पड़े को चकनाचूर।
करता जैसे ॥२६०॥

वैसे स्वयं कष्ट पाकर।
सुखी प्राणियों को दुःख।
देने की इच्छा को तुष्ट।
करते वे ॥२६१॥

किंबहुना इस भीषण क्लेश।
पाने की युक्ति से निर्दय।
किरीटी जो निष्पन्न तप।
वह तामस ॥२६२॥

ऐसे सत्त्वादि की जाति में।
बँटा तप तीन भागों में।
इसे भलीभाँति तुझे।
दिखाया व्यक्त ॥२६३॥

अब बोलने में प्रसङ्गवश।
हुआ जो विषय प्राप्त।
वह कहूँ दान के चिह्न।
त्रिविध जो ॥२६४॥

इन्हीं गुणों के कारण।
दान भी हुआ त्रिविध।
उन में से सुनो प्रथम।
सात्त्विक जो ॥२६५॥

स्वधर्म के आचरण से।
जितनी आजीविका मिले।
उसी का यथाविधि दान करे।
सन्मान सहित ॥२६६॥

मिलने पर भी सुबीज।
खेत, ऋतु न मिले अनुकूल।
वैसे ही दान के लिये दुर्लभ।
होती परिस्थिति ॥२६७॥

अनर्घ्य रत्न आये हाथ।
तो मिलता नहीं शुद्ध स्वर्ण।
ये दोनों जुटे तो योग्य।
तनु न मिले ॥२६८॥

उत्सव, सुहृद, सम्पत्ति।
एकत्र मिले सुभद्रापति।
तो अपने भाग्य की उन्नति।
हुई जानो ॥२६९॥

वैसे, निष्पन्न करने को दान।
यदि हो सत्त्व का संवाहन।
और देश—काल—भाजन।
द्रव्य भी मिले ॥२७०॥

तो पहले प्रयत्न सहित।
देखे काशी या कुरुक्षेत्र।
नहीं तो इन के सदृश।
कोई देश ॥२७१॥
वहाँ रवि-चन्द्र-राहु का मेल।
ऐसा देखे पुण्यकाल।
या उसके समान निर्मल।
अन्य कोई ॥२७२॥
उस काल और देश में।
पात्र-सम्पत्ति हों ऐसे।
मूर्ति धरो हो शुचित्वने।
स्वयं मानो ॥२७३॥
आचार का मूल पीठ।
वेदों का निवासधाम।
ऐसा विशुद्ध द्विजरत्न।
पाकर ॥२७४॥
उसके सम्मुख रखे वित्त।
स्वसत्ता करे निवृत्त।
जैसे कान्ता प्रिय के समीप।
समर्पित ॥२७५॥
स्वामी को लौटाकर न्यास।
हों जैसे भार-मुक्त।
या सेवक दे ताम्बूल।
राजा को जैसे ॥२७६॥
वैसे निष्काम चित्त से।
भूमि आदि अर्पण करे।
किम्बहुना लेश न उठे।
फलेच्छा मन में ॥२७७॥
तथा, जिस को दे दान।
उस की स्थिति ऐसी अर्जुन।
कि न सोचे कभी प्रतिदान।
लिये का वह ॥२७८॥

पुकारने पर आकाश में।
प्रतिध्वनि न उठती जैसे।
दर्पण की दूसरी ओर देखे।
तो नहीं प्रतिबिम्ब ॥२७९॥
या उदक की भूमिका में।
गेंद फेंकने पर कौतुक से।
उछल कर हाथ न आये।
जैसे पार्थ ॥२८०॥
उत्सर्जित सांड को दिया भोजन।
कृतघ्न पर किया उपकार।
न करता कोई प्रत्युपकार।
जैसे पाण्डव ॥२८१॥
वैसे दिया हुआ दान।
न आये दाता के किसी काम।
वही होता श्रेयस्कर।
पूर्णतया ॥२८२॥
ऐसी सब सम्पत्ति से।
हे वीरेश जो दान निपजे।
उसे ही सात्त्विक दान में।
श्रेष्ठ जानो ॥२८३॥
और, वही हो देश-काल।
मिले वैसा ही पात्र-मेल।
दान-भाग भी निर्मल।
न्यायगत ॥२८४॥
पर, मन में ले कर दोहन।
जैसे चरायें गोधन।
या फसल पर दृष्टि रखकर।
बोयें बीज ॥२८५॥
या, उपहारों की आशा से।
सगों-मित्रों को निमन्त्रित करें।
या, व्रती को भोजन भेजें।
जो आये लौट ॥२८६॥

या रिश्वत को गाँठ बाँधें।
तब किसी का काम करें।
द्रव्य लेकर औषध दें।
पीड़ित को ॥२८७॥
ऐसा जो देते दान।
बनाते उसी को जीविका-साधन।
और लौटे होकर द्विगुण।
यह आशा रखते ॥२८८॥
अथवा राह चलते कहीं।
लौटा न सके ऐसा कभी।
मिले निर्धन अत्यन्त कोई।
द्विजोत्तम ॥२८९॥
तो एक कौड़ी के बदले में।
अपने सम्पूर्ण गोत्र के।
सभी प्रायश्चित डाले उसके।
हाथ पर ॥२९०॥
ऐसे ही पारलौकिक।
फल चाहते अनेक।
देते इतना कि न मिटे भूख।
एकबार भी ॥२९१॥
उतना भी ब्राह्मण ले ले।
तो हानि जैसा दुःख माने।
जैसे सर्वस्व चोर ने।
लिया हो लूट ॥२९२॥
सुमति! क्या कहूँ बहुत।
जो दिया ऐसी मनोवृत्तियुक्त।
त्रिजगत् में वह दान।
राजस ही ॥२९३॥
फिर म्लेच्छों की बस्ती में।
अरण्य या अपवित्र स्थल में।
चौराहे पर, या शिबिर में।
नगरी के ॥२९४॥
ऐसे स्थान में मिलकर।
सन्ध्या या रात्रि के समय।
उदार होना वहाँ धन पर।
चोरी के ॥२९५॥
भाट–बाजीगर पात्र होते।
वाराङ्गना या जुआरी जैसे।
जो मूर्तिमन्त ठगने वाले।
स्वयं भ्रान्त ॥२९६॥
रूप, नृत्य का बाजार।
कटाक्षों का व्यापार।
मिथ्या स्तुति का गायन।
करते जो ॥२९७॥
वहीं पर थोड़ा बहुत।
पुष्प गन्ध का ले कर गुग्गल।
अवतरे भ्रम का वेताल।
मानो उन पर ॥२९८॥
वहाँ जगत् को ठग कर।
लाये हुए पदार्थ अनेक।
उँडेलने लगते जैसे व्याध।
शिकार अपना ॥२९९॥
ऐसा जो कुत्सित दान।
उसे मैं कहता तामस।
कभी भाग्य से होता घटित।
और भी एक ॥३००॥
अचानक ही घुणाक्षर घटे।
कङ्कड़ मारने से कौआ गिरे।
कभी तामस को पर्व मिले।
पुण्यदेश में ॥३०१॥
वहाँ देखकर इसे सम्पन्न।
माँगने आये योग्यजन।
तो दर्प से फूलकर।
कुछ चाहे देना ॥३०२॥

पर, न मन में श्रद्धालेश।
न झुकावे उस के प्रति मस्तक।
न दे, न दिलाये अर्घ्यादिक।
स्वयं या अन्यद्वारा ॥३०३॥
आगत को "बैठो" न कहे।
गन्धाक्षत की बात कहाँ से।
ऐसा अपमान करे पहले।
तामस नर ॥३०४॥
ऋणी के प्रति जैसे वचन।
बोल कुछ रखता हाथ पर।
और 'तू' शब्द का ही अधिक।
करता प्रयोग ॥३०५॥
फिर जितना सा देता धन।
उस से कहीं अधिक अपमान।
अपशब्द न कहता न्यून।
उस के प्रति ॥३०६॥
किम्बहुना इस प्रकार।
व्यर्थ ही लुटाता धन।
चराचर में इस का नाम।
तामस दान ॥३०७॥
ऐसे चिन्हों से निज-निज।
जो तीनों हैं अलङ्कृत।
दिखाये तुझे दान, सात्त्विक।
रज-तम नाम से ॥३०८॥
यहाँ ऐसा होता प्रतीत।
कि कदाचित् तेरे मन में उदित।
होगी कल्पना या प्रश्न यह।
हे विचक्षण ॥३०९॥
कि जो भव-बन्ध-मोचक।
अकेला कर्म सात्त्विक।
तो फिर क्यों अन्य सदोष।
कहे सविस्तर ॥३१०॥

पर हटाये बिना पिशाच।
मिलता नहीं निधान।
धुँआ सहे बिना प्रज्ज्वलित।
दीप न जैसे ॥३११॥
वैसे शुद्ध सत्त्व की आड़।
बनते रज तम के किवाड़।
उन्हें हटाना अयुक्त।
कहेंगे क्या? ॥३१२॥
मैंने श्रद्धादि-दान-पर्यन्त।
जो समस्त क्रियाजात।
कहे यहाँ पर जो व्याप्त।
तीन गुणों से ॥३१३॥
निश्चय हो वे तीन।
न कहे होते, मानो अर्जुन।
सत्त्व दिखाने को ही अन्य।
कहे दोनों ॥३१४॥
जिन दो में रहे तृतीय।
वे दो छोड़ने पर ही दृश्य।
जैसे अहोरात्र त्यागने पर।
सन्ध्या रूप ॥३१५॥
वैसे रज-तम-विनाश से।
तीसरा जो उत्तम दिखे।
वह सत्त्व अपने-आप अरे।
होता प्राप्त ॥३१६॥
यों दिखाने को सत्त्व तुझे।
वैसे रज-तम निरूपित किये।
उन्हें छोड़ कर सत्त्व से।
करो निज कार्य ॥३१७॥
इसी शुद्ध-सत्त्व से।
करो यज्ञादिक सब अरे।
तो पाओगे करतल में।
निज-स्वरूप ॥३१८॥

स्वयं सूर्य हो सहाय।
तो भला क्या न हो दृश्य।
वैसे सत्त्व से आचरित।
क्यों न हो सफल ॥३१९॥

भले ही सर्वोपरि।
सत्त्व में है शक्ति भरी।
पर मोक्ष पाने को और भी।
जो अपेक्षित ॥३२०॥

वह है कुछ अन्य।
उस का मिले सहाय।
तो मोक्ष के भी गाँव।
पहुँचें सहज ॥३२१॥

भले हो स्वर्ण शुद्ध।
पर राजमुद्रा हो अङ्कित।
तभी व्यवहार के योग्य।
होता जैसे ॥३२२॥

स्वच्छ, शीतल, सुगन्ध।
जल होता सुखप्रद।
पर पवित्रत्व का सम्बन्ध।
तीर्थ से ही ॥३२३॥

कैसी भी हो नदी श्रेष्ठ।
पर गङ्गा करे जब अङ्गीकार।
तभी होता उस का प्रवेश।
सागर में ॥३२४॥

वैसे सात्त्विक कर्म से।
किरीटी! मोक्ष पाने में।
विघ्न न आये जिस से।
वह कुछ अन्य ॥३२५॥

सुनते ही यह वचन।
न थमा अर्जुन का आतुर मन।
बोला देव! कृपया शीघ्र।
कहिये उसे ॥३२६॥

कृपालु-चक्रवर्ती तब।
बोले सुनो करूँ व्यक्त।
जिससे देखे सात्त्विक कर्म।
मुक्ति-रत्न ॥३२७॥

अनादि जो परब्रह्म।
जगदादि-विश्रामधाम।
उन का ही एक नाम।
त्रिधा प्रसिद्ध ॥३२८॥

वह वस्तुतः अनाम-अजाति सखे।
पर अविद्या-वर्ग की रात्रि में।
उसे पहचानने को किया श्रुतिने।
उपाय-निर्देश ॥३२९॥

नवजात शिशु का अपना।
नाम कुछ भी नहीं होता।
किन्तु वह प्रतिसाद देता।
रखे नाम पर ॥३३०॥

संसार कष्ट में व्यथित शान्त।
जब होते देव के शरणागत।
तब जिस नाम से पाते उत्तर।
वह सङ्केत यह ॥३३१॥

हटे ब्रह्म का मौन।
ऐक्य रूप से हो मिलन।
दिखाया ऐसा मन्त्र सकरुण।
तात वेद ने ॥३३२॥

जिस एक का उच्चार।
कौतुक से भी करने पर।
परोक्ष भी होता प्रत्यक्ष।
सामने ब्रह्म ॥३३३॥

पर निगमाचल-शिखर पर।
उपनिषदार्थ-नगर में स्थित।
जो ब्रह्म के ही पंक्तिगत।
वे समझते ॥३३४॥

किम्बहुना प्रजापति।
जिस शक्ति से करते सृष्टि।
वह पाते इस नाम की।
एक आवृत्ति से ॥३३५॥
देखो सृष्टि के उपक्रम से।
पहले वीरोत्तम अरे।
ब्रह्मा था असमञ्जस में।
निपट अकेला ॥३३६॥
मुझ ईश्वर को न पहचाने।
न सृष्टि ही कर सके।
वह सामर्थ्य आया उस में।
जिस एक नाम से ॥३३७॥
चित्त में जिस के अर्थ-ध्यान से।
जिन वर्ण-त्रय को जपने से।
विश्व-सृजन-योग्यता उस में।
आयी जब ॥३३८॥
तब रचे पहले ब्रह्मजन।
उन्हें वेद का दिया शासन।
और दिये यज्ञादि कर्म।
जीविका हेतु ॥३३९॥
फिर न जाने कितने अन्य।
सिरजे लोक अपार।
बने ब्रह्मदत्त अग्रहार।
तीनों भुवन ॥३४०॥
ऐसे जिस नाम मन्त्र से।
धाता समर्थ हुए सृष्टि में।
उस का स्वरूप सुन, कहते।
श्रीकान्त ॥३४१॥
तो सब मन्त्रों का नृप।
जानो आदिवर्ण प्रणव।
'तत्' शब्द हुआ द्वितीय।
सत् तृतीय ॥३४२॥

ऐसे ॐ तत् सदाकार।
ब्रह्म नाम यह त्रिप्रकार।
यह सुमन सुगन्ध सुन्दर।
उपनिषदों का ॥३४३॥
इस से हो कर एक।
यदि कर्म चले सात्विक।
तो कैवल्य सेवक।
होता घर का ॥३४४॥
पर कर्पूर के आभूषण।
भाग्य से यदि हों प्राप्त।
तो कैसे करें धारण।
जानना कठिन ॥३४५॥
वैसे आचरें सत्कर्म।
उच्चारें ब्रह्म–नाम।
पर न जानें यदि मर्म।
विनियोग का ॥३४६॥
जैसे महन्त को चाव से।
घर बुलायें प्रेम से।
पर आदर-विधि न जानें।
तो होता पुण्यक्षय ॥३४७॥
या ला कर अति उत्तम।
शुद्ध स्वर्ण के आभूषण।
एकत्र कर के बाँधें गाँठ।
गले में जैसे ॥३४८॥
वैसे मुख में ब्रह्मनाम।
हाथ में सात्त्विक कर्म।
पर विनियोग बिना काम।
होता विफल ॥३४९॥
अरे अन्न और भूख।
पास रहते भी देख।
खाना न जाने वह बालक।
करता लङ्घन ॥३५०॥

स्नेह, सूत्र, वैश्वानर।
होने पर भी एकत्र।
युक्ति न जानें तो वीर।
न मिले प्रकाश ॥३५१॥

वैसे यथासमय करे कृत्य।
उसका मन्त्र भी करे व्याहृत।
पर वह सब होता व्यर्थ।
विनियोग बिना ॥३५२॥

अतः वर्ण-त्रयात्मक।
जो परब्रह्म नाम एक।
सुनो यह तुम विनियोग।
उस का पार्थ ॥३५३॥

तीन अक्षर इस नाम के।
कर्म के आदि-मध्य-अन्त में।
विनियुक्त करे इन्हें।
उन तीन स्थानों में ॥३५४॥

यही एक युक्ति अरे।
किरीटी लेकर हाथ में।
ब्रह्मविद् मिल आये।
ब्रह्म से ॥३५५॥

ब्रह्म से होने को एक।
वे न त्यागते यज्ञादिक।
जिन्होंने जाना मर्म।
शास्त्रों का ॥३५६॥

तो पहले ॐकार।
ध्यान में करते गोचर।
फिर करते उच्चार।
वाचा से भी ॥३५७॥

ऐसे ध्यान से सिद्ध।
कर के प्रणवोच्चार स्पष्ट।
फिर ग्रहण करते पथ।
क्रियाओं का ॥३५८॥

अँधेरे में अक्षय दीपक।
अरण्य में साथी समर्थ।
वैसा ही जानो प्रणव।
कर्मारम्भ में ॥३५९॥

उचित देवोद्देश से।
धर्माजित प्रभूत द्रव्य से।
द्विज-द्वारा हुताशन में।
करते यजन ॥३६०॥

आहवनीयादि वह्नियों में।
निक्षेप रूपी हव्यों से।
यथाविधान यज्ञ करते।
निष्णात होकर ॥३६१॥

किम्बहुना नाना याग।
कर के स्वयं निष्पन्न।
करते अप्रिय का त्याग।
उपाधियों का ॥३६२॥

या न्यायार्जित पवित्र।
भूम्यादिक स्वतन्त्र।
शुद्ध देश-काल-पात्र देख।
देते दान ॥३६३॥

अथवा एकान्तर कृच्छ्र।
चान्द्रायण मासोपवास।
इत्यादि से करके धातुशोष।
करते तप ॥३६४॥

ऐसे यज्ञ-दान-तप।
जो कहलाते बन्धरूप।
उन से ही होता सुलभ।
मोक्ष उन्हें ॥३६५॥

भूमि पर नाव लगे बोझ।
जल में तरने को वही उपाय।
बन्धक कर्म भी देते मोक्ष।
नाम सहित वैसे ॥३६६॥

पर रहने दो यह, ऐसे।
यज्ञदानादि क्रियायें।
ॐकार के साहाय्य से।
प्रवृत्त होतीं ॥३६७॥
होने लगतीं जब फलित।
उस के लक्षण होते प्रकट।
उसी समय करते प्रयुक्त।
तत् शब्द ॥३६८॥
जो समस्त जगत् से पर।
जो सब का द्रष्टा एक।
जो तत् शब्द से अभिहित।
परम तत्व ॥३६९॥
चित्त में उसका सर्वादिकत्व।
चिन्तनकर सुमति हों तद्रूप।
फिर करते उसे सुव्यक्त।
उच्चार से भी ॥३७०॥
तद्रूप ब्रह्म से कहते तब।
ये क्रिया हों फलरूप।
हमारे भोगने को शेष।
न रहे कुछ ॥३७१॥
ऐसे तदात्मक ब्रह्म में।
सकल कर्म समर्पित करके।
उन से सर्वथा मुक्त होते।
'न मम' कहकर ॥३७२॥
ॐकार से प्रारम्भ किये।
'तत्'कार से समर्पित किये।
देखो आया इस रीति से।
ब्रह्मत्व कर्म में ॥३७३॥
कर्म हुआ अवश्य ब्रह्माकार।
पर पूरा न हुआ यहाँ कार्य।
क्यों कि करने वाला द्वितीय।
रहा शेष ॥३७४॥
जल में घुल जाता लवण।
पर क्षारता रहती शेष।
वैसे कर्म हुआ ब्रह्माकार।
यह द्वैत शेष ॥३७५॥
और, द्वैत रहे जब तक।
तब तक रहे संसार-भय।
निजमुख से यह बोले देव।
कहते वेद ॥३७६॥
अतः परत्व से से जो ब्रह्म स्थित।
वह आत्मत्व से अनुभूत।
इस न्यूनता का परिमार्जन।
किया सत्शब्द से ॥३७७॥
तो, ओङ्कार–तत्कार सहित।
देह में जो कर्म ब्रह्मरूप।
उसे ही प्रशस्तादि शब्द।
करते वर्णित ॥३७८॥
प्रशस्त कर्म में उस।
सत्शब्द का है विनियोग।
वह होता कैसे यह।
सुनो कहूँ ॥३७९॥
उक्त सत् शब्द से।
समस्त असत् का बाध करके।
दिखाया अव्यङ्ग रूप से।
सत्ता का रूप ॥३८०॥
कि सत् देश–काल में।
अन्यत्व कभी न पाये।
अपने आप में सदा रहे।
अखण्डित ॥३८१॥
यह जितना कुछ है दृश्य।
असत् है वह समस्त।
इस के न दिखने पर उपलब्ध।
जो स्वरूप सहज ॥३८२॥

उस से युक्त जो प्रशस्त कर्म।
वह हुआ सर्वात्मक ब्रह्म।
देखें उस से निज का ऐक्य।
बोधदृष्टि से ।।३८३।।

जो ॐकार तत्कार से।
कर्म दिखाये ब्रह्माकार से।
उन्हें निगल कर स्वयं रहे।
सद्रूप ही केवल ।।३८४।।

ऐसा यह अन्तरङ्ग।
सत् शब्द का विनियोग।
जानो, कह रहे श्रीरङ्ग।
मैं नहीं जो ! ।।३८५।।

क्यों कि 'मैं कहता' कहूँ यदि।
श्रीरङ्ग–प्रति हो द्वैत–दृष्टि।
अतः कथन सब देव का ही।
नहीं न्यूनता यहाँ ।।३८६।।

अब और एक प्रकार से।
सुनो सत् शब्द के विषय में।
सात्त्विक कर्म का करता अरे।
उपकार जो ।।३८७।।

करते हुए सत्कर्म शुद्ध।
चलें अधिकारानुसार।
पर एकाध अङ्ग से न्यून।
रहते जो ।।३८८।।

पर एक अवयव भी हो न्यून।
तो पङ्गु कहाता जैसे शरीर।
या रथ की गति हो प्रतिबद्ध।
अङ्गहीनता से ।।३८९।।

वैसे, एक भी गुण से रहित।
सत् में आवे असत्-पन।
कर्म में ऐसा जाने।
जिस समय ।।३९०।।

वहाँ ॐकार तत्कार।
करते भलीभाँति सहाय।
करता सत्शब्द जीर्णोद्धार।
कर्म का तब ।।३९१।।

मिटा कर असत्-पन।
लाता उस में सद्भाव।
देता निजसत्त्व-सामर्थ्य।
सत् शब्द यह ।।३९२।।

दिव्यौषध जैसे रोगी को।
या सहायता पराजित को।
सत्शब्द अपूर्ण कर्म को।
सहायक वैसे ।।३९३।।

अथवा कहीं प्रमाद से।
कर्म अपनी मर्यादा से।
हटकर निषिद्ध पथ में।
पड़े यदि ।।३९४।।

चलते–चलते मार्ग छूटे।
पारखी भी भ्रम में पड़े।
राह में क्या-क्या न घटे।
पार्थ देखो ।।३९५।।

अतएव यदि कर्म वैसे।
प्रमाद से सीमा छोड़े।
असाधुत्व–दुर्नाम में।
जाने लगे ।।३९६।।

तो वहाँ यह सच्छब्द।
अन्य दोनों से प्रबुद्ध।
प्रयुक्त हो तो करता शुद्ध।
उस कर्म को ।।३९७।।

लोहा पाये पारस-स्पर्श।
नाले को मिले गङ्गा–प्रवेश।
या वृष्टि हो जैसे मृत पर।
पीयूष की ।।३९८।।

असाधु कर्म भी वैसे।
सत् शब्द–प्रयोग से।
गौरव ऐसा कितना कहूँ।
इस नाम का ।।३९९।।
समझ कर यहाँ से मर्म।
यदि विचारोगे यह नाम।
तो केवल इसी को ब्रह्म।
जानोगे तुम ।।४००।।
देखो 'ॐ तत् सत्' यह।
उच्चार ले जाता वहाँ तक।
जहाँ से होता प्रकाशित।
यह दृश्य-जात ।।४०१।।
वह जो निर्विशिष्ट।
विशुद्ध पर-ब्रह्म।
उस के अन्तरङ्ग का व्यञ्जक।
नाम यह ।।४०२।।
पर आकाश का आश्रय।
आकाश ही जैसे पार्थ।
इन नाम–नामी में आश्रय।
अभिन्न वैसे ।।४०३।।
उदित हो कर आकाश में।
रवि ही रवि को प्रकाशित करे।
यह नाम व्यक्त करे वैसे।
ब्रह्म को ही ।।४०४।।
अतएव त्र्यक्षर यह नाम।
नहीं, जानो इसे केवल ब्रह्म।
इसलिये जो–जो कर्म।
करो तुम ।।४०५।।
वह याग हो या दान।
अथवा तपादिक गहन।
वे निष्पन्न हों या अपूर्ण।
रहें यदि ।।४०६।।
तो, पारस की कसौटी में।
खोटा–खरा भेद न आवे।
वैसे ब्रह्मार्पण करने से।
होते ब्रह्म ही ।।४०७।।
न्यून–पूर्ण का अन्तर।
न रहता वहाँ सुनो पार्थ।
न रहें पृथक्, सागर में आकर।
जैसे नदियाँ ।।४०८।।
ऐसे तेरे प्रति पार्थ।
ब्रह्म नाम की शक्ति यह।
कही उपपत्ति–सहित।
हे सुनयन ।।४०९।।
और एक--एक अक्षर का।
वीर! पृथक्--पृथक् पूरा।
विनियोग तुझे बताया।
भलीभाँति ।।४१०।।
इस प्रकार सुमहिम।
इसीलिये यह ब्रह्म नाम।
अब जाना क्या सुमर्म।
तुम ने इस का? ।।४११।।
तो इस नाम पर श्रद्धा।
प्रतिष्ठित हो सर्वदा।
जिस की, उस के बन्ध का।
न रहता हेतु ।।४१२।।
जिस कर्म में इसका प्रयोग।
अनुष्ठान में सद् विनियोग।
वह अनुष्ठित हुआ साङ्ग।
वेद जानो ।।४१३।।
अन्यथा यह पथ छोड़ कर।
श्रद्धा–सम्बन्ध तोड़ कर।
दुराग्रह का बढ़ा कर।
बल केवल ।।४१४।।

फिर करें कोटि अश्वमेध।
रत्नभरी भूमि दें दान।
एक अंगूठे पर करें तप।
सहस्र वर्ष ॥४१५॥

जलाशय के नाम पर।
समुद्र ही बनायें नवीन।
पर, किम्बहुना, वह सब।
रहता व्यर्थ ॥४१६॥

वर्षा हुई शिला पर।
या भस्म में किया हवन।
या दिया आलिङ्गन।
निज छाया को ॥४१७॥

अथवा पाषाण--खण्ड से।
आकाश को मारा जैसे।
समारम्भ वह वैसे।
जाता व्यर्थ ॥४१८॥

घानी में डाले पत्थर।
न मिलो खली न निकला तेल।
वैसे श्रम व्यर्थ, दारिद्र्य।
लगता हाथ ॥४१९॥

गाँठ में बाँध कर खप्पर।
जायें यहाँ या अन्य देश।
द्रव्य न मिलने से उपवास।
करना पड़ता ॥४२०॥

वैसे ही इस कर्मजात से।
ऐहिक भोग भी नहीं मिलते।
फिर पारलौकिक की कैसे।
करें आशा ॥४२१॥

अतः श्रद्धा ब्रह्म नाम पर।
न रख कर करें जो कार्य।
वह श्रम ही रहता केवल।
दृष्ट-अदृष्ट ॥४२२॥

ऐसे कलुषकरि--केसरी।
त्रिताप--तिमिर--तमारि।
श्रीवीरवर नरहरि।
बोले उस से ॥४२३॥

वहाँ, निजानन्द--बाहुल्य में।
सुभद्रापति सहसा अरे।
खो गया चन्द्रमा जैसे।
चाँदनी में ॥४२४॥

अहो वणिक् यह सङ्ग्राम।
नाराच-अग्र से लेता माप।
मापता प्राणान्त--पर्यन्त।
सम्मुख को ॥४२५॥

ऐसे कर्कश समय में कैसे।
भोग रहा स्वानन्द-राज्य अरे।
ऐसा भाग्योदय नहीं मिले।
अन्यत्र आज ॥४२६॥

संजय कहे कौरवराज।
रीझा रिपु के इस गुण पर।
अहो यह हमें मिला गुरुवर।
सुखद यहाँ ॥४२७॥

यह न पूछता यह सब बात।
तो देव क्यों खोलते गाँठ।
फिर हमारा क्यों आता योग।
परमार्थ का ॥४२८॥

हम थे अज्ञान-- अँधेरे में।
पड़े जन्म-मृत्यु के फेरे में।
सो आत्म-प्रकाश के मन्दिर में।
लाये भीतर ॥४२९॥

ऐसा हम दोनों का महत्तर।
इस ने किया है उपकार।
अतएव यह प्यारा सहोदर।
गुरु-सम्बन्ध से ॥४३०॥

सञ्जय ने कहा मन में तभी। इस नृपति को यह स्तुति।
चुभेगी, अतः कितनी। कहूँ यहाँ ।।४३१।।

यह सोचकर छोड़ दी। बात दूसरी ही उठाई।
जो पार्थ ने पूछी थी। श्रीकृष्ण से ।।४३२।।

तो जैसा उसका मधुर प्रश्न। वैसा ही करूँगा व्याख्यान।
सुनिये, कहे ज्ञानदेव। श्रीनिवृत्तिदास ।।४३३।।

इति श्रीमद्ज्ञानेश्वरविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीता –'भावार्थ-दीपिकायाम्' श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ।।

।। हरिः ॐ तत् सत् ।।

॥ ॐ हरिः ॐ ॥

अष्टादश अध्याय

जय जय देव निर्मल !
निजजन–अखिल–मङ्गल !
जन्म–जरा–जलद–जाल !
–प्रभञ्जन ॥१॥

जय–जय देव प्रबल !
विदलिताभङ्गलकुल !
निगमागम–द्रुमफल ।
–फलप्रद ! ॥२॥

जयजय देव सकल !
विगत–विषय–वत्सल !
कलित–काल–कौतूहल !
कलातीत ! ॥३॥

जयजय देव निश्चल !
चलितचित्त-पान – तुन्दिल !
जगदुन्मीलन–अविरल !
–केलिप्रिय ॥४॥

जयजय देव निष्कल !
स्फुरदमन्दानन्द–बहुल !
नित्य–निरस्ताखिल–मल !
मूलभूत ! ॥५॥

जय जय देव स्वप्रभ !
जगदम्बुद–गर्भ–नभ !
भुवनोद्भव–आरम्भस्तम्भ !
भवध्वंस ॥६॥

जयजय देव विशुद्ध !
विदुदयोद्यान–द्विरद !
शम–दम–मदन–मद–भेद !
दयार्णव ! ॥७॥

जय जय देव एकरूप !
अतिकृत कन्दर्प–सर्प–दर्प !
भक्तभाव-भुवन-दीप !
तापापह ॥८॥

जयजय देव अद्वितीय !
परिणत–उपरमैकप्रिय !
निज-जन जित ! भजनीय !
मायागम्य ! ॥९॥

जय जय देव श्रीगुरो !
अकल्पनाख्य-कल्पतरो !
स्वसंविद्द्रुम-बीज !
–प्ररोहणावनी ॥१०॥

एक एक कितने ऐसे ।
नाना परिभाषाओं से ।
स्तवन करूँ तव उद्देश से ।
हे निर्विशेष ! ॥११॥

जिन विशेषणों से करूँ विशेषित ।
वे दृश्य नहीं तव स्वरूप ।
यह जानते हुए हूँ लज्जित ।
इस वर्णन में ॥१२॥

पर मर्यादा में सागर ।
यह विरुद तभी तक स्थिर ।
जब तक नभ में सुधाकर ।
उदित नहीं ॥१३॥

सोमकान्त निज निर्झर से ।
चन्द्र को अर्घ्यादिक दे ।
चन्द्र ही करवाता उस से ।
सुनिये वह ॥१४॥

न जाने कैसे वसन्तसङ्ग से।
सहसा वृक्ष में कोंपलें खिलें।
न रोक रुके उन को जैसे।
स्वयं वृक्ष ॥१५॥
रविकिरण पाये पद्मिनी।
फिर खिलने में लाज कैसी।
या जलस्पर्श से लवणडली।
सर्वाङ्ग घुले ॥१६॥
वैसे जब करूँ तुम्हारा स्मरण।
तब विस्मृत होता 'मैं"–पन।
तृप्ति होती जैसे घोषित।
सहज डकार से ॥१७॥
मुझ से किया वही आपने।
मैंपन मिटाया चित्त से।
उन्मत्त बनाई स्तुति मिष से।
वाणी मेरी ॥१८॥
अन्यथा भान में भी।
करें यदि स्तुति आप की।
तो तुलना गुण-गुणातीत की।
होगी मुझ से ॥१९॥
आप हैं एकरस के लिङ्ग।
कैसे करूँ गुण–अगुण विभाग।
मोती फोड़ कर जोड़ना युक्त?
या भला अखण्ड ॥२०॥
और तुम ही माँ-बाप।
इस से भी स्तुति न सम्भव।
क्योंकि रहता डिम्भोपाधिक।
दोष वहाँ ॥२१॥
यदि स्वयं को कहूँ सेवक।
स्वामित्व होगा आरोपित।
ऐसे उपाधि–उच्छिष्ट वर्णन।
करूँ कैसे? ॥२२॥
यदि आत्मा तुम अन्तर्गत।
यह कहूँ तो हे प्रभुवर।
अन्तर्यामी तुम विश्व-समस्त।
व्याप रहे ॥२३॥
अतः सच ही तुम्हारे लिये।
स्तुति नहीं सम्भव जग में।
आभूषण आप सह न सकें।
मौन से इतर ॥२४॥
कुछ न बोलना ही स्तुति।
कुछ न करना पूजा तुम्हारी।
कुछ न होना है सन्निधि।
तुम में अहो ॥२५॥
तो उन्माद से भ्रमित जैसे।
व्यर्थ हो आलाप करे।
आप का वर्णन माँ! वैसे।
कीजिये सहन ॥२६॥
अब प्रमाणमुद्रा गीतार्थ पर।
लगाकर वाग्वृद्धि कीजिये आप।
जिस से वह हो मान्य।
सज्जन-सभा में ॥२७॥
तब बोले श्रीनिवृत्तिनाथ।
न कहो यह बारम्बार।
घिसते लोहे को पारसपर।
कितनी बार? ॥२८॥
तब प्रणत हुए श्रीज्ञानदेव।
बोले जो यह मिला प्रसाद।
अब दीजिये अवधान।
व्याख्यान पर ॥२९॥
जो गीतारत्न-प्रासाद का।
कलश अर्थ चिन्तामणि का।
सम्पूर्ण गीता दर्शन का।
बोधक जो ॥३०॥

लोक में भी प्रथा ऐसी।
कि कलश दिखे जब दूर से भी।
तो प्राप्त हुए हों देवता ही।
मानते ऐसा ॥३१॥

यहाँ पर भी स्थित वैसे।
कि इस एक ही अध्याय में।
सम्पूर्ण देखा जाये।
यह गीतागम ॥३२॥

इसी कारण कलशरूप।
कहूँ अठारहवाँ अध्याय।
बादरायण ने किया स्थापित।
गीता-प्रासाद पर ॥३३॥

कलश चढ़ने के उपरान्त।
प्रासाद का न शेष काम।
वैसे कहता यह अध्याय।
गीता सम्पूर्ण ॥३४॥

व्यास सहज स्थपति कुशल।
जिसने निगम–रत्नाचल पर।
उपनिषदार्थ का पठार।
खोज कर खोदा ॥३५॥

वहाँ त्रिवर्गरूप करकट।
कङ्कड़ जो निकले अपार।
उन से महाभारत-प्राकार।
चहुँ ओर बनाया ॥३६॥

फिर आत्मज्ञान की अखण्ड।
शिला करके विशुद्ध।
पार्थ–वैकुण्ठ का संवाद।
कुशलता से घड़ा ॥३७॥

निवृत्ति-सूत्र तान कर।
सब शास्त्रार्थ भर कर।
रखो सुदृढ़ नींव।
मोक्षरेखा की ॥३८॥

ऐसे करते हुए निर्माण।
पन्द्रहवें अध्याय तक।
भूमिशुद्धि से लेकर पूर्ण।
हुआ प्रासाद ॥३९॥

उस पर सोलहवाँ अध्याय।
बना ग्रीवा–घण्टा–रूप।
सप्तदश आधार प्रतिष्ठित।
कलश का ॥४०॥

उस पर यह अष्टादश।
चढ़ा मानो कलश।
जिस में व्यास ने गीतारूप।
लगाई ध्वजा ॥४१॥

अतः पहले जो अध्याय।
वे मंजिलें एक पर एक।
उन की पूर्णता दिखाता यह।
निज सत्त्व से ॥४२॥

कार्य हुआ समीचीन।
कलश से दिखता वह पूर्ण।
वैसे अष्टादश देता विवरण।
साद्यन्त गीता का ॥४३॥

ऐसे व्यास ने कुशलता से।
गीता–प्रासाद रच कर के।
वहाँ प्राणी सुरक्षित किये।
नाना-विध ॥४४॥

कोई प्रदक्षिणा जप से।
करते इस की बाहर से।
कोई श्रवण–व्याज से करते।
छाया-सेवन ॥४५॥

एक अवधान का पूर्ण।
ले कर दक्षिणा–ताम्बूल।
करते गर्भगृह में प्रवेश।
अर्थज्ञान के ॥४६॥

वे निज बोध से सत्वर।
आत्मा श्रीहरि से होते मिलित।
पर मोक्ष-प्रासाद में प्रवेश।
पाते सभी ॥४७॥

समर्थ गृह के भोज में।
सबको एक ही पक्वान्न मिलें।
वैसे श्रवण-पठन-अर्थज्ञान से।
मिले मोक्ष ही ॥४८॥

ऐसे गीता वैष्णव प्रासाद।
अठारहवाँ अध्याय कलश विशद।
मैं ने कहा यह भेद।
जान बूझ कर ॥४९॥

अब सप्तदश के बाद।
कैसे उठा नया अध्याय।
कहूँगा वह सम्बन्ध।
दृष्टिगोचर ॥५०॥

गङ्गा-यमुना के उदक।
प्रवाहवश से दिखें भिन्न।
एक हो कर दिखाते ऐक्य।
जल-रूप से ॥५१॥

न छोड़ते हुए दो आकार।
घटित हुआ एक शरीर।
यह अर्धनारी-नटेश्वर।
-रूप में दिखे ॥५२॥

या बढ़ने पर दिवस।
कलायें बिम्ब में प्रविष्ट।
न बनतीं पृथक् आभूषण।
चन्द्र में जैसे ॥५३॥

चार चरणों में दिखे विभक्त।
श्लोकावच्छेद से श्लोक एक।
वैसे ही अध्यायों का भेद।
दिखे भले ॥५४॥

पर प्रमेय का प्रकाश।
न धरता नाना रूप।
या रत्नमणियों में पिरोया सूत्र।
एक जैसे ॥५५॥

बहुत से मोती पिरोकर।
एकावली का बना रूप।
पर शोभा का होता स्वरूप।
एक ही वहाँ ॥५६॥

पुष्प बहुसंख्यक माला में।
सुगन्ध तो एक ही रहे।
श्लोक, अध्याय उसी प्रकार से।
जानें यहाँ ॥५७॥

यहाँ सात सौ श्लोक।
संख्या में अठारह अध्याय।
पर देव तो बोले एक।
अद्वितीय ॥५८॥

मैंने भी न छोड़ा वह मार्ग।
किया ग्रन्थ व्याख्यात।
उसी रीति से अब प्रस्तुत।
निरूपण सुनें ॥५९॥

तो सत्रहवाँ अध्याय।
पूर्ण होने के समय।
अन्तिम श्लोक में देव।
बोले ऐसे ॥६०॥

अर्जुन! ब्रह्म नाम के विषय में।
आस्तिक्य-बुद्धि छोड़कर के।
कर्म किये जाते जितने।
वे असत् होते ॥६१॥

सुन कर देव का यह वचन।
प्रसन्न हुआ अर्जुन।
समझा कि कर्मनिष्ठ में दोष।
बताया गया ॥६२॥

वे बेचारे अज्ञानान्ध।
न देख पाते ईश्वर व्यापक।
फिर भला नामादिक।
कैसे सूझे ? ॥६३॥

और रज-तम उभय।
न होते जब तक क्षय।
वह कैसे हो अभिमुख।
ब्रह्म नाम के ॥६४॥

शस्त्र को आलिङ्गन देना।
ऊँचो डोरी पर दौड़ना।
घातक होता खेलना।
नागिन से जैसे ॥६५॥

वैसे वे दुष्ट कर्म।
ले जाते जन्मान्तर की ओर।
और कितने ही दुर्योग।
आते कर्म में ॥६६॥

कभी भाग्य से सीधे पड़ें।
तो ज्ञान की योग्यता मिले।
अन्यथा इन्हीं के पथ से जाते।
निरयालय में ॥६७॥

कर्मों के इस पथ में।
बहुत से कुअवसर आते।
फिर कर्मठ को कैसे।
मिले मोक्ष ॥६८॥

अतः छूटे कर्म-मोह।
करो सर्वथा ऐसा त्याग।
जिस से मिले अव्यङ्ग।
संन्यास यह ॥६९॥

कर्मबाधा का जिस में।
कहीं भयस्थान न रहे।
वह आत्मज्ञान जिस से।
हो स्वाधीन ॥७०॥

ज्ञान का आवाहन मन्त्र।
ज्ञान-वृद्धि का सुक्षेत्र।
ज्ञान-आकर्षण का सूत्र।
तन्तुरूप जो ॥७१॥

वे दोनों संन्यास, त्याग।
अनुष्ठित हों तो छूटे जग।
उन्हीं को कहें स्पष्ट व्यक्त।
पूछूं वही ॥७२॥

इस विचार से पार्थ ने।
त्याग-संन्यास-व्यवस्थायें।
सुस्पष्ट करने के लिये।
किया प्रश्न ॥७३॥

तब प्रत्युत्तर में जो वचन।
बोले उस से श्रीकृष्ण।
उन्हीं में हुआ व्यक्त।
अष्टादश ॥७४॥

ऐसे जन्य-जनक-भाव से।
अध्याय में से अध्याय प्रसरे।
अब भली प्रकार सुनिये।
जो पूछा गया ॥७५॥

तब उस पाण्डुकुंवर ने।
अन्तिम वचन पर देव के।
लक्ष्य कर के अन्तःकरण में।
उठायी शङ्का ॥७६॥

यों तो तत्त्व-विषय में सुविज्ञ।
अर्जुन वह निश्चित अवश्य।
पर देव रहें निःशब्द।
न सहे वह ॥७७॥

तृप्त हो कर भी वत्स।
न जाता धेनु से दूर।
अनन्य प्रीति का रूप।
होता ऐसा ॥७८॥

उस से बुलवाता अकारण।
देख कर भी देखता अनिमिष।
भोगते हुए भी दुगना चाव।
प्रिय समीप ॥७९॥
ऐसी यह प्रेम की जाति।
और पार्थ है उसी की मूर्ति।
अतः न सहता तूष्णीं स्थिति।
देव की ॥८०॥
और संवाद के मिस से।
जो अव्यवहार्य वस्तु अरे।
लेता उस का भोग जैसे।
दर्पण में रूप का ॥८१॥
यदि यह संवाद रुके।
तो सुखास्वाद न रहे।
यह सहन हो कैसे?
सुखाभिरत को ॥८२॥
इसलिये त्याग-संन्यास।
पूछने का लेकर व्याज।
पुनः खोला उस ने वस्त्र।
गीता का ॥८३॥
नहीं अठारहवाँ अध्याय।
एकाध्यायी गीता यह।
जब बछड़ा ही दुहे गाय।
तब कैसा विलम्ब? ॥८४॥
वैसे सम्पूर्ति के अवसर पर।
पुनः गीता का आरम्भ।
स्वामी-भृत्य-संवाद में यह।
अद्भुत क्या? ॥८५॥
पर रहने दें अब यह।
अर्जुन कर रहा प्रश्न।
विश्वेश से विनतिपूर्वक।
सुनिये वह ॥८६॥
जी संन्यास और त्याग।
ये दोनों ही एकार्थक।
जैसे सङ्घात और सङ्घ।
समूहवाची ॥८७॥
वैसे त्याग और संन्यास।
त्याग को ही करते व्यक्त।
प्रभो! मेरा तो मानस।
समझता यही ॥८८॥
यदि इन में कुछ अर्थभेद।
तो देव! कीजिये विशद।
तब बोले श्री मुकुन्द।
हैं भिन्न ही ॥८९॥
पर अर्जुन तेरा मन।
त्याग-संन्यास को उभय।
मानता जो एकार्थक।
वह भी सत्य ॥९०॥
इन दोनों शब्दों से।
वस्तुतः त्याग ही कहा जाये।
पर कारण इन के भेद में।
इतना ही ॥९१॥
कि सर्वथा छोड़ना कर्म।
वही कहलाता संन्यास।
और छोड़ना फलमात्र।
त्याग का अर्थ ॥९२॥
तो किन कर्मों का फल।
छोड़े, कौन से कर्म केवल।
यह कहूँगा सविवरण।
दो अवधान ॥९३॥
अरण्य-पर्वत में अपनेआप।
वनस्पति उगते अपार।
किन्तु वैसे शालिधान्य।
उगते नहीं ॥९४॥

न बोने पर भी तृण सहज।
उगते, वैसे सुगन्धि धान।
उगते नहीं, जुताई रहित।
भूमि में जैसे ॥९५॥

या, शरीर तो होता सहज।
पर उद्यम से बनते अलङ्कार।
नदी होती स्वयं, पर नाव।
बनानी पड़ती ॥९६॥

वैसे नित्य–नैमित्तिक।
कर्म होते स्वाभाविक।
पर न चाहें तो कामिक।
कर्म न होते ॥९७॥

कामना के समुदाय से।
घड़ना पड़ता जिन्हें।
अश्वमेधादि बड़े-बड़े।
याग जैसे ॥९८॥

वापी कूप आराम।
अग्रहार, महाग्राम।
और भी नाना संभ्रम।
व्रतों के जो ॥९९॥

ऐसे इष्टापूर्त सकल।
कामना ही जिन का मूल।
जो करने पर भोगवाते फल।
विवश बना के ॥१००॥

देहग्राम में आने पर।
जन्म–मृत्यु का उपक्रम।
रोका न जा सके धनञ्जय।
जिस प्रकार ॥१०१॥

अथवा ललाट पर लिखित।
न मिटे कुछ भी करने पर।
धोने से काला–गोरापन।
छूटता नहीं ॥१०२॥

वैसे करने पर काम्य कर्म।
भोगना ही पड़ता फल।
न चुकाने पर जैसे ऋण।
छोड़ता नहीं ॥१०३॥

कामना न भी करने पर।
संयोग से घटित हो काम्य कर्म।
तो भी छूटा हुआ बाण।
लगता जैसे ॥१०४॥

अनजाने भी मुख में गुड़।
आये तो लगता मधुर।
पाँव रखें राख मान कर।
पर जलाती आग ॥१०५॥

काम्य कर्म में यह एक।
सामर्थ्य है स्वाभाविक।
अतः न रखें कौतुक।
मुमुक्षु यहाँ ॥१०६॥

किम्बहुना पार्थ ऐसे।
जो काम्य कर्म हों अरे।
उन्हें विष के समान त्यागे।
वमन कर के ॥१०७॥

इस त्याग को जग में।
'संन्यास' इस नाम से।
अन्तरङ्ग पुरुष कहते।
सर्वद्रष्टा ॥१०८॥

यह काम्य कर्मों का त्याग।
कामना का ही निरास।
जैसे द्रव्य-त्याग से निरास।
होता भय का ॥१०९॥

और सोम–सूर्य–ग्रहण।
आकर कराते जो पर्व–कर्म।
या मातृ–पितृ–निर्वाण।
का दिवस जो ॥११०॥

अथवा अतिथि के आने पर।
करना पड़ता जो आचार।
कहलाते वे सब कर्म।
नैमित्तिक ॥१११॥
वर्षा में क्षुब्ध होता गगन।
वसन्त में विकसित वन।
देह को करे शृङ्गारित।
यौवन जैसे ॥११२॥
या सोम से पिघले सोमकान्त।
सूर्योदय से खिलते कमल।
ऐसे वर्तमान ही होता व्यक्त।
अन्य नहीं ॥११३॥
वैसे जो नित्य कर्म।
आने पर निमित्त का नियम।
बढ़ कर उन का नाम।
होता नैमित्तिक ॥११४॥
और सायं प्रातः मध्याह्न।
जो करणीय प्रतिदिन।
दृष्टि जैसे लोचनगत।
भार नहीं ॥११५॥
सम्पादन किये बिना ही।
चरणों में जैसे निहित गति।
अथवा रहती दीप्ति।
दीप-बिम्ब में ॥११६॥
न लगाने पर भी जैसे।
चन्दन में सौरभ्य रहे।
कर्माधिकार का वैसे।
जानो रूप ॥११७॥
इसी को लोग नित्य कर्म।
कहते जानो पार्थ।
ऐसे नित्य-नैमित्तिक उभय।
बताये तुझे ॥११८॥
ये नित्य-नैमित्तिक।
अनुष्ठेय आवश्यक।
कोई देखते इन्हें निष्फल।
बांझ केवल ॥११९॥
पर, भोजन से होता जैसे।
तृप्ति मिले, भूख जाये।
वैसे नित्य-नैमित्तिक में।
सर्वाङ्ग में फल ॥१२०॥
मिश्रित स्वर्ण आग में पड़े।
तो मल हटे और कस बढ़े।
उस के समान इस कर्म से।
जानो फल ॥१२१॥
प्रत्यवाय होता ध्वस्त।
स्वाधिकार होता उज्ज्वल।
तब मिलती हाथों-हाथ।
सद्गति भी ॥१२२॥
इतना उत्तम विशाल।
नित्य नैमित्तिक से होता फल।
किन्तु त्यागें उसे 'मूल-।
नक्षत्री'-तुल्य ॥१२३॥
लता सर्वाङ्ग कुसुमित।
आम्र नव-पल्लव-भरित।
पर स्पर्श बिना ही माधव।
छोड़ता उसे ॥१२४॥
वैसे कर्म रेखा न लाँघ कर।
चित्त दें नित्य-नैमित्तिक पर।
अन्त में मानें सब फल।
वमन तुल्य ॥१२५॥
ऐसा जो कर्मफल-त्याग।
वही कहलाया त्याग।
ऐसे संन्यास और त्याग।
समझाये तुझे ॥१२६॥

यह संन्यास जब होता संभव।
तब काम्य न सकते बाँध।
निषिद्ध का स्वभाववश।
होता निषेध ॥१२७॥

और जो नित्यादिक।
वे फलत्याग से नष्ट।
शिरच्छेद से अन्य अङ्ग।
निष्प्राण जैसे ॥१२८॥

फल पकने पर जैसे सस्य।
वैसे जिस के कर्म शुष्क।
खोजता आता आत्मज्ञान।
स्वयं उसे ॥१२९॥

जो ऐसी युक्ति से उभय।
त्याग-संन्यास करते अनुष्ठित।
वे आत्मज्ञान का निश्चित।
पाते अधिकार ॥१३०॥

अन्यथा यह युक्ति चूक कर।
मनमाना यदि करे त्याग।
तो त्याग न होता उलटे उलझन।
बढ़ती उस की ॥१३१॥

व्याधि जाने बिना औषधि।
लें तो उलटे होता विष।
अन्न से रूठे को भूख।
न मारे क्या? ॥१३२॥

अतएव जो नहीं त्याज्य।
वहाँ त्याग में न हों प्रवृत्त।
और न रखें त्याज्य पर।
लोभ कभी ॥१३३॥

त्याग की युक्ति चूकने पर।
सर्वत्याग भी होता भार।
अतएव सर्वत्र सावधान।
रहते वीतराग ॥१३४॥

न छूटे जिन का फलाभिलाष।
वे कर्म को कहते बन्धक।
जग को कहे कलहप्रिय।
नग्न कोई ॥१३५॥

या रोगी जिह्वा-लम्पट।
अन्न को दोष दे धनञ्जय।
कोढ़ी निज अङ्ग पर न रुष्ट।
मक्खी पर क्रुद्ध ॥१३६॥

वैसे फल-कामी दुर्बल।
कर्म को कहते बुरा बन्धक।
फिर निर्णय देते केवल।
त्यागने का ॥१३७॥

कोई कहते यागादिक।
करना है आवश्यक।
इन से अतिरिक्त शोधक।
नहीं अन्य ॥१३८॥

यदि मन-शुद्धि के मार्ग पर
विजयी होना हो सवेग।
तो कर्म के प्रति तबल।
न करे आलस ॥१३९॥

स्वर्ण को करना हो शुद्ध।
तो उचित नहीं अग्नि से ऊब।
करने को दर्पण स्वच्छ।
सँभालें रज जैसे ॥१४०॥

अथवा वस्त्र हों शुद्ध स्वच्छ।
चित्त में हो इच्छा यह।
तो भट्ठीपात्र को मलिन।
न मानें जैसे ॥१४१॥

वैसे कर्मों को क्लेशकर।
मान कर उपेक्षा अनुचित।
क्या मिलता सुन्दर अन्न।
राँधे बिना? ॥१४२॥

ऐसे–ऐसे शब्दों से।
कोई कर्म को जोड़ते बुद्धि से।
ऐसे त्याग विसंवाद में।
पड़ जाता ॥१४३॥
मिटे वह विसंवाद।
त्याग का हो निश्चय।
वैसे कहूँगा सुस्पष्ट।
दो अवधान ॥१४४॥
उस त्याग को भी पाण्डव।
जानो तुम त्रिविध।
उस त्रिविध का भली प्रकार।
करूँ विभाग ॥१४५॥
त्याग के तीनों प्रकार।
कराऊँगा यद्यपि गोचर।
पर तुम इन सब का सार।
जानो इतना ॥१४६॥
मुझ सर्वज्ञ को बुद्धिगत।
हुआ जो सर्वथा स्पष्ट।
पहले वही निश्चय तत्त्व।
सुनो सखे ॥१४७॥
तो अपनी मुक्ति के लिये।
मुमुक्षु जो उत्सुक अरे।
उसे करणीय सर्वस्व-बल से।
यही एक ॥१४८॥
जो यज्ञ–दान–तप–आदिक।
ये जितने कर्म आवश्यक।
उन्हें न छोड़े, पथिक।
मार्ग को जैसे ॥१४९॥
खोई वस्तु न मिलने तक।
छोड़ी न जाती खोज।
तृप्त न होने तक परोसा थाल।
न सरकाते जैसे ॥१५०॥

तट पाने तक नाव न छोड़ें।
फलने से पूर्व कदली न काटें।
वस्तु दिखने तक न हटायें।
दीप जैसे ॥१५१॥
वैसे आत्मज्ञान–विषय में।
निश्चित नहीं जब तक हृदय में।
तब तक न हों यागादि से।
उदासीन ॥१५२॥
अतः स्वाधिकार के अनुरूप।
जो–जो यज्ञ–दान–तप।
वे करें यथाविधि अनुष्ठित।
अधिकाधिक ॥१५३॥
यदि पहले चलें सवेग।
तो बैठने को मिले अधिक।
वैसे उपयोगी कर्मातिशय।
नैष्कर्म्य के लिये ॥१५४॥
ज्यों–ज्यों औषधि के प्रति।
सेवन को तत्परता बढ़ती।
त्यों–त्यों छूटती व्याधि।
रोगी की ॥१५५॥
वैसे कर्म बारम्बार।
किये जायें विधि–पूर्वक।
तो झड़ जाते रज–तम।
सत्वर ॥१५६॥
अथवा एक पर एक।
सोने को दें क्षार के पुट।
तो शीघ्र ही छूटता मल।
होता शुद्ध ॥१५७॥
वैसे निष्ठा–सहित करें कर्म।
तो शीघ्र छूटते रज तम।
सत्त्वशुद्धि का धाम।
देखते नयन ॥१५८॥

अतएव घनञ्जय।
जो सत्त्वशुद्धि का इच्छुक।
उस के लिये तीर्थ-सदृश।
उपकारी कर्म ॥१५९॥
तीर्थ धोते बाह्य मल।
कर्म से अभ्यन्तर उज्ज्वल।
ऐसे तीर्थ जानो निर्मल।
सत्कर्म को ॥१६०॥
तृषार्त को मरु देश में।
अमृतनिर्झर मिले जैसे।
या अन्धे के नेत्रों में।
आये सूर्य ॥१६१॥
डूबते को बचाने नदी दौड़े।
गिरते हुए को पृथ्वी सँभाले।
आसन्नमृत्यु को मृत्यु ही दे।
आयुष्यवृद्धि ॥१६२॥
कर्म ही कर्मबद्धता वैसे।
पार्थ मुमुक्षु की छुड़ाते।
जैसे मरते को रसायन क्रिया से।
बचाता विष ॥१६३॥
वैसे कोई युक्तिपूर्वक।
कर्म करते घनञ्जय।
तो बन्धक ही बनते उपाय।
छुड़ाने में ॥१६४॥
अब वही उत्तम युक्ति।
कहता हूँ तेरे प्रति।
जिस कर्म से किरीटी।
नष्ट हों कर्म ॥१६५॥
तो महायाग-प्रमुख कर्म।
निपजते हुए भी अचूक।
निज में न रहता अभिमान।
कर्तापन का ॥१६६॥
जो मूल्य ले कर तीर्थ जाये।
'मैं यात्रा कर रहा' – ऐसे।
निज श्लाघ्यताभिमान उस में।
रहता नहीं ॥१६७॥
या समर्थ राजा की ओर से।
कोई रिपु से अकेला लड़े।
तो 'मैं विजेता' ऐसा उसे।
न होता गर्व ॥१६८॥
जो किसी के कन्धे पर तैरे।
वह तैरने का गर्व न धरे।
पुरोहित स्वयं में न माने।
दातापन ॥१६९॥
वैसे कर्तृत्वाहङ्कार।
न रख कर जो यथावसर।
यथाविधि सब कृत्य प्रमुख।
सम्पन्न करे ॥१७०॥
किये हुए कर्म का पाण्डव।
जो होने वाला फल।
उस की इच्छा न करे जब।
मनोरथ ॥१७१॥
पहले ही फलाशा छोड़ कर।
कर्मारम्भ करे पार्थ।
ज्यों परायें शिशु का धाय।
करती पोषण ॥१७२॥
पिपली की आशा से रहित।
पीपल में ज्यों सींचते जल।
फल के प्रति निराश रह कर।
करें कर्म वैसे ॥१७३॥
दूध में आशा न रख के।
ग्वाला गांव की धेनु चराये।
किम्बहुना, कर्म में रहे।
वही भाव ॥१७४॥

ऐसी यह सुयुक्ति।
लेकर जो क्रिया होती।
उसे भेंट निज रूप की।
होती सहज ॥१७५॥
अतएव फलाभिलाष।
छोड़ कर देह-सङ्ग।
कर्म करणीय, यही स्पष्ट।
निर्देश मेरा ॥१७६॥
जो जीव बन्ध से क्षीण।
चाहे अपना मोक्ष।
वह इस वचन से अन्य।
न करे कभी ॥१७७॥
अँधेरे में न दिखने के रोष से।
कोई आँख में नख चुभा ले जैसे।
वैसे ही छोड़ना कर्म–द्वेष से।
अशेष कर्म ॥१७८॥
ऐसों का जो कर्मत्याग।
उसे में कहता तामस।
ज्यों आघासीसी पर कर के क्रोध।
काटना सिर ॥१७९॥
अरे मार्ग हो ऊबड़–खाबड़।
तो चल कर ही पड़ता पार।
क्या तोड़ दिये जायें पाँव।
मार्गापराध से ? ॥१८०॥
भूखे के सम्मुख अन्न।
आवे कितना भी उष्ण।
वह बुद्धि छोड़ कर मारे लात।
तो होगा लंघन ॥१८१॥
वैसे कर्म का बाध कर्म से।
होगा सयुक्ति करने से।
यह न समझता तामस भ्रम से।
मत्त हुआ ॥१८२॥

जो स्वभाव से आये निज भाग में।
वे कर्म ही छोड़ देता अरे।
न जाना भूल कर भी त्याग के।
इस तामसपथ पर ॥१८३॥
अथवा समझता स्वाधिकार।
विहित की भी है सूझ।
पर करने में न होता प्रवृत्त।
कष्ट-भय से ॥१८४॥
कर्म का जो प्रारम्भ।
वह पहले दिखता कठिन।
जैसे यात्रारम्भ के समय।
भोजन का भार ॥१८५॥
ज्यों जीभ को कड़वा लगे नीम।
पहले कसैली लगे हरड़।
वैसे कर्म का पहला दौर।
लगता कठिन ॥१८६॥
या धेनु के पहले सींग।
शेवन्ती के कँटीले अङ्ग।
भोजन–सुख कष्ट लभ्य।
पाक के कारण ॥१८७॥
वैसे ही सभी कर्म।
आरम्भ में अतिविषम।
अतएव वह मानता श्रम।
करने में ॥१८८॥
अन्यथा करता विहितारम्भ।
पर करने में देख कर कष्ट।
हाथ जलने पर पात्र के समान।
छोड़ता मध्य में ॥१८९॥
कहता वस्तु देहसदृश।
बड़े भाग्य से हुई प्राप्त।
इसे कर्मादि से क्यों दूँ कष्ट।
पापी जैसा ॥१९०॥

जो देंगे किये हुए कर्म।
वह भावी भले न हो प्राप्त।
पर आज जो हाथ लगा भोग।
वह क्यों न भोगूं ? ॥१९१॥
शरीर के क्लेश-भय से।
छोड़ते जो कर्म ऐसे।
सुनो वीरेश वह कहलाये।
राजस त्याग ॥१९२॥
यों तो वह भी छोड़ता कर्म।
किन्तु न मिलता त्यागफल।
जैसे आग में पड़े कुछ उबल कर।
तो होम नहीं ॥१९३॥
या डूबने से प्राण गये।
तो 'जलसमाधि ली उस ने'।
न होता यह, वह कहलाये।
दुर्मरण ही ॥१९४॥
जैसे देह के लोभ से।
कर्म को जलाञ्जलि दी जिस ने।
न मिलता सचमुच उसे।
त्याग का फल ॥१९५॥
किम्बहुना निजस्वरूपगत।
ज्ञान जब होता उदित।
तब नक्षत्रों को प्रभात।
निगलता जैसे ॥१९६॥
वैसे सकारण क्रिया सब।
लुप्त होतीं धनञ्जय।
वह कर्म-त्याग देता फल।
जो मोक्षरूप ॥१९७॥
अज्ञानियों को वह मोक्षफल।
त्याग से न मिलता अर्जुन।
अतः न जानो उसे त्याग।
जो राजस ॥१९८॥
तो फिर किस त्याग से।
वह मोक्षफल घर आये।
वही सुनो प्रसङ्ग से।
कहूँगा अब ॥१९९॥
स्वाधिकार के नाम से।
जो स्वभावतः भाग में आये।
उस का आचरण करे विधि से।
सुसज्जित ॥२००॥
पर मैं कर रहा इसे।
यह स्मरण न हो मानस में।
वैसे ही जलाञ्जलि दे।
फलाशा ॥२०१॥
देखो अवज्ञा या कामना।
माँ के प्रति हों यदि सखा।
हो दोनों हो पतन का।
कारण होतीं ॥२०२॥
अतः दोनों का करे त्याग।
पर माता का करे भजन।
क्या अशुद्ध मुख के कारण।
त्यागें पूरी गाय ॥२०३॥
प्रिय रुचिकर फल में।
यदि असार छाल गुठली रहें।
तो छोड़ते क्या इसी से।
फल कोई ? ॥२०४॥
वैसे कर्तृत्व का मद।
और कर्मफल का आस्वाद।
इन दोनों का नाम बन्ध।
कर्मजन्य ॥२०५॥
ये दोनों ही भाव।
पिता न रखे सन्तति पर।
वैसे ही कर के न दुःखित।
विहिता क्रिया ॥२०६॥

यह वह त्याग तरुवर।
जो दे मोक्षफल श्रेष्ठ।
इसी का नाम सात्त्विक।
प्रसिद्ध जग में ॥२०७॥
अब जैसे जला कर बीज।
वृक्ष किया हो निर्वंश।
फल त्यागकर वैसे कर्म।
त्यागा जिस ने ॥२०८॥
लोहा लगते ही पारस पर।
धातु का जंग और कालापन।
जाते, वैसे रज तम।
होते विलीन ॥२०९॥
फिर शुद्ध सत्त्व की स्थिति में।
आत्मबोध के नयन खुलते।
तब मृगाम्बु सन्ध्या में।
होता जैसे ॥२१०॥
वैसे बुद्धि आदि के सम्मुख।
असत् होता सब विश्वाभास।
न दिखता फिर किसी ओर।
आकाश जैसे ॥२११॥
अतः प्रारब्ध-बल से प्राप्त।
कुशल–अकुशल कर्मफल।
वे व्योम में अभ्र–सदृश।
होते लुप्त ॥२१२॥
वैसे उसकी दृष्टि में।
कर्म सभी शुद्ध हुए।
अतः सुख–दुःख के द्वन्द्व में।
वह पड़ता नहीं ॥२१३॥
करते हुए शुभ कर्म।
होता नहीं अति हर्षित।
न हो अशुभ से द्वेष।
होता उसे ॥२१४॥
इन सब विषयों के प्रति।
न रहता उसे सन्देह कुछ भी।
जैसे स्वप्न का भेद न कोई।
जागने पर ॥२१५॥
अतः कर्म और कर्ता।
इस द्वैत भाव की वार्ता।
न रहती पाण्डुसुत तत्त्वतः।
वह सात्त्विक त्याग ॥२१६॥
ऐसे हो कर्म पार्थ।
त्यागे तो सर्वथा त्याग।
अन्यथा बाँधते अधिक।
छोड़ने पर भी ॥२१७॥
और हे सव्यसाची।
मूर्ति बनकर देह की।
ऊब रखते कर्म की।
वे मूर्ख गँवार ॥२१८॥
मिट्टी से ऊब कर।
जायेगा कहाँ घट ?
कहाँ रहेगा पट।
तन्तु त्यागकर ॥२१९॥
वह्नित्व से बना अङ्ग।
तो उष्णता से कैसी ऊब ?
या प्रभा से करे क्या द्वेष।
दीप कभी ? ॥२२०॥
हींग निज गन्ध से हो त्रस्त।
तो लाये कहाँ से सुगन्ध।
पानी द्रवपन छोड़कर।
रहे कैसे ? ॥२२१॥
वैसे शरीर के रूप में।
स्थिति जब तक बनी रहे।
तब तक कर्म का त्याग कैसे।
उचित हठ ? ॥२२२॥

अपना लगाया तिलक।
मिटा सकते चाहे जब।
किन्तु क्या बदलना सम्भव।
निज ललाट को? ।।२२३।।
वैसे स्वयं आरब्ध विहित।
चाहें तो सहते त्याग।
पर कर्मरूप ही बना देह।
छूटे कैसे? २२४।।
जैसे श्वासोच्छ्वास।
सोने पर भी चलते नियत।
कुछ न करना ही जब।
दशा रहती ।।२२५।।
इस शरीर के व्याज से।
कर्म हो साथ लगे हुए।
जोते–मरते न छूटे।
इन का क्रम ।।२२६।।
इन कर्मों का त्याग।
एक ही रीति से सम्भव।
कि करते हुए न हों अधीन।
फलाशा के ।।२२७।।
ईश्वर को अर्पे कर्मफल।
प्रसाद से बोध उद्दीपित।
तब रज्जुज्ञान से जैसे लुप्त।
व्यालशङ्का ।।२२८।।
उस आत्मबोध से वैसे।
अविद्या सहित कर्म विनसे।
पार्थ त्याग हो यदि ऐसे।
तो कहलाये त्याग ।।२२९।।
अतः जग में इसी प्रकार।
कर्म करें मान त्याग कर।
अन्यथा मूर्च्छा को कहें विश्राम।
रोगी का जैसे ।।२३०।।

वैसे एक कर्म हो श्रान्त।
तो विश्रामरूप पकड़े अन्य।
मानो डण्डों की मार का स्थान।
मुक्कों ने लिया ।।२३१।।
पर रहने दो यह विस्तार।
त्रिजगत् में वही त्याग।
जो फल त्याग कर नैष्कर्म्य।
लाया कर्म में ।।२३२।।
इस प्रकार धनञ्जय।
ये त्रिविध कर्मफल।
भोगने में वे सफल।
जो न छोड़े आशा ।।२३३।।
स्वयं उत्पन्न की दुहिता।
फिर 'न मम' कहकर पिता।
छूटे, वह पड़े प्रतिगृहीता।
जमाई पर ।।२३४।।
जो विष का करते व्यापार।
वे बेच कर रहते सुखसहित।
मरते वे जो मूल्य दे कर।
लेते उसे ।।२३५।।
वैसे कर्ता कर्म करे।
अकर्ता फलाशा न धरे।
किन्तु रुक नहीं सकते।
दोनों के कर्म ।।२३६।।
पथ के वृक्षों के पके फल।
जो चाहे उसके प्राप्य।
वैसे साधारण कर्मफल।
चाह से मिलते ।।२३७।।
पर, करके भी जो न लेता फल।
उस का जग में नहीं प्रवेश।
क्योंकि त्रिविध सम्पूर्ण जग।
है कर्मफल ही ।।२३८।।

देव–मनुष्य–स्थावर ।
इसी का नाम जग आडम्बर ।
और यही तीनों प्रसार ।
कर्मफल के ॥२३९॥
इन में एक है अनिष्ट ।
एक केवल इष्ट ।
और एक इष्टानिष्ट ।
त्रिविध ऐसे ॥२४०॥
विषयासक्त बुद्धि से ।
अविधि भी स्वीकार करके ।
प्रवृत्त होते जो निषिद्ध – ।
कुव्यापार में ॥२४१॥
वे कृमि कीट लोष्ट ।
ये देह पाते निकृष्ट ।
इसी का नाम अनिष्ट ।
कर्मफल ॥२४२॥
या स्वधर्म को मान देकर ।
स्वाधिकार के अनुरूप ।
सुकृत करते पूछ कर ।
आम्नाय से ॥२४३॥
वे इन्द्रियादिक देवों की ।
देह पाते सव्यसाची ।
उस कर्मफल की प्रसिद्धि ।
इष्ट नाम से ॥२४४॥
और खट्टा–मीठा मिलने पर ।
बनता रसान्तर रुचिकर ।
जो होता दोनों से विलक्षण ।
बढ़ कर ॥२४५॥
रेचक ही योगवश से ।
स्तम्भित करके कुम्भक बने ।
सत्य–असत्य के समरस से ।
बने सत्यासत्य ॥२४६॥

अतः समभाग में शुभाशुभ ।
मिलकर दोनों हों अनुष्ठित ।
उस से मिलता मनुष्यत्व ।
मिश्रफल ॥२४७॥
ऐसे इन त्रिविध भागों में ।
कर्मफल फैला जग में ।
इन का भोग न छोड़े उन्हें ।
जो आशासक्त ॥२४८॥
जो जिह्वा को रुचिकर ।
वह खाते समय ही सुखद केवल ।
फिर अन्त में आता परिणाम ।
अवश्य मरण ॥२४९॥
सभ्य चोर की मैत्री तब तक ।
भली, जब तक न आये वन ।
स्पर्श न करें तभी तक ।
सामान्या सुन्दर ॥२५०॥
वैसे कर्म करते हुए तन में ।
महत्त्व का अभिमान भरे ।
फिर निधन के बाद मिले ।
फल सब का ॥२५१॥
जैसे द्वार पर ऋणी के ।
माँगने महाजन आये ।
तो खाली न लौटे, प्राणी को वैसे ।
भोगना पड़ता ॥२५२॥
भुट्टे में से दाने गिरें ।
पुनः उगकर भुट्टे बनें ।
यों फिर–फिर कण भूमि में ।
गिरें उगें ॥२५३॥
वैसे भोगने को जो मिला शरीर ।
उस में फिर उगते फलान्तर ।
जैसे चलते समय पाँव के बाद ।
बढ़ता पाँव ॥२५४॥

पार उतारने वाली नाव।
रहती हमेशा इस पार।
वैसे न आता अन्त।
भोग्यों का ॥२५५॥

यों साध्य-साधन प्रकार से।
फल भोग प्रसरता जाये।
ऐसे फँसे रहते संसार में।
अत्यागी वे ॥२५६॥

ज्यों जुही के पुष्पों का खिलना।
उसी का नाम जैसे सूखना।
वैसे कर्म-व्याज से भी न करना।
किया जिन्होंने ॥२५७॥

बीज ही सब खर्च किये।
तो बढ़ती खेती रुके।
वैसे फल त्यागने पर कर्मों के।
बनता काम ॥२५८॥

तब सत्त्वशुद्धि के सहकार से।
गुरु-कृपामृत-तुषार से।
उदित हुए बोध से लय पाये।
द्वैत-दैन्य ॥२५९॥

जगदाभास रूप से न स्फुरित।
त्रिविध फल होता नष्ट।
जहाँ भोक्ता भोग्य अपने-आप।
हुए लुप्त ॥२६०॥

ज्ञान-प्रधान घटित।
संन्यास जिन में वीरेश।
मुक्त हुए फलभोग रूप।
कष्ट से वे ॥२६१॥

और इसी संन्यास से।
जब आत्मस्वरूप में दृष्टि पहुँचे।
तब कर्म और कर्ता ऐसे।
दिखे क्या भेद? ॥२६२॥

गिर जाने पर भित्ति।
चित्र बनता केवल मिट्टी।
क्या बीतने पर रात्रि।
अँधेरा रहे ॥२६३॥

रूप ही नहीं अरे।
तब छाया किस की पड़े।
दर्पण विना वदन कैसे?
हो प्रतिबिम्बित ॥२६४॥

निद्रा टूट जाने पर।
कैसे दिखेंगे स्वप्न।
फिर वे सत्य या व्यर्थ।
कहे कौन? ॥२६५॥

वैसे इस संन्यास से।
मूल अविद्या हो न बचे।
फिर उस के कार्यों का अरे।
क्या ठौर कहीं? ॥२६६॥

अतः संन्यासी के समीप।
कर्म की क्या करें बात।
पर अपने देह में जब तक।
शेष अविद्या ॥ २६७॥

जिस कर्तापन के बल से।
आत्मा शुभाशुभ में दौड़े।
दृष्टि भेद के हो राज्य में।
रची हुई ॥२६८॥

तब भी हे सुभट।
आत्मा कर्म से भिन्न।
विपरीत ही दिशा पश्चिम।
पूर्व से जैसे ॥२६९॥

या आकाश और अभ्रों में।
सूर्य और मृगजल में।
भूतल और वायु में।
भेद जैसा ॥२७०॥

ओढ़ कर नदी का उदक।
मध्य में रहता पाषाण।
पर जाना जाता सर्वथा वह।
पृथक् जल से ॥२७१॥
भले हो उदक के निकट।
पर भिन्न ही सेंवार।
क्या सङ्ग के कारण काजल।
कहलाता दीप ? ॥२७२॥
भले चन्द्र में है कलङ्क।
पर चन्द्र से वह नहीं एक।
दृष्टि और नेत्र में विवेक।
अतीव जैसे ॥२७३॥
अथवा मार्ग और पथिक।
बहती वस्तु और प्रवाह।
दर्पण और मुखदर्शक।
भिन्न जितने ॥२७४॥
उतने हो प्रमाण में पार्थ।
आत्मा से भिन्न कर्म।
पर अज्ञान से होते प्रतीत।
एक ही जैसे ॥२७५॥
विकास से रवि का उदय बताती।
अलि से मकरन्द-पान कराती।
पर सरोवर में निष्क्रिय रहती।
अब्जिनी जैसे ॥२७६॥
पुनः पुनः क्रिया आत्मा में।
अन्य कारणों से ही वैसे।
करूँगा उन पाँच कारणों के।
निरूपण अब ॥२७७॥
सम्भव है वे पाँचों कारण।
जानता ही हो तू अर्जुन।
क्योंकि शास्त्रों में स्पष्ट वर्णन।
मिलता उन का ॥२७८॥
वेद राजा की राजधानी में।
सांख्य–वेदान्त के भवन में।
निरूपण के निषाण बजते।
गरजती ध्वनि ॥२७९॥
कि सर्व–कर्म–सिद्धि के लिये।
ये ही कारण प्रसिद्ध जग में।
असङ्ग आत्मा को उन में।
डालो नहीं ॥२८०॥
इन वचनों की डौंडी।
जग में प्रसिद्ध हुई।
तेरे कान में भी किरीटी।
पड़ें ये कारण ॥२८१॥
सुना दूसरों के मुख से।
ऐसा तुझे क्यों कहना पड़े।
जब कि मैं चिद्रत्न तेरे।
हाथ में स्थित ॥२८२॥
अपने सम्मुख दर्पण हो।
तो दूसरों के नेत्रों को।
भला मान दें हम क्यों ?
स्वयं देख लें ॥२८३॥
भक्त जैसे जहाँ देखे।
वहाँ वैसा ही होता जाये।
वह मैं बना खिलौना तेरे।
हाथ में आज ॥२८४॥
ऐसे प्रीति के वेग में।
देव बोलते भान भूले।
उधर मग्न आनन्द में।
डोले अर्जुन ॥२८५॥
चाँदनी का आया पूर।
वहाँ सोमकान्त का गिरिवर।
पिघल कर बना सरोवर।
दिखता ऐसा ॥२८६॥

वैसे सुख और अनुभूति।
इन भावों की टूटी भित्ति।
बन गया अर्जुनाकृति।
सुख ही वहाँ ॥२८७॥
समर्थ होने से देव।
पहले हुए सभान।
तब हुए उबारने को प्रवृत्त।
डूबते को ॥२८८॥
अर्जुन जैसा प्रज्ञावन्त।
डूब रहा था ज्ञानसहित।
ऐसी बाढ़ में से बाहर।
निकाल कर उसे ॥२८९॥
बोले देव अरे पार्थ।
तू स्वयं को सर्वथा देख।
तब श्वास ले कर मस्तक।
उठाया उसने ॥२९०॥
बोला दाता तुम जानते।
मैं तुम से द्वैत भाव से।
त्रस्त हुआ अब ऐक्य में।
चाहूँ आना ॥२९१॥
उसी में करते इस प्रकार।
लालसा पूर्ण सत्वर।
फिर क्यों डालते अवरोध।
जीवत्व का ॥२९२॥
तब बोले श्रीकृष्ण सहास।
अब भी न तू ने पाया रहस्य।
चन्द्र और चन्द्रिका में विरह।
है कहाँ रे? ॥२९३॥
और शब्दों में यह भाव।
दिखाने में तुझे में सभय।
क्योंकि रूठने में होता द्विगुणित।
अपना प्रेम ॥२९४॥
यहाँ परस्पर के रहस्य में।
विसंवाद रहे तो ही जियें।
अतएव अब रहने दे।
ऐक्य-विषय ॥२९५॥
कहो तो भला क्या प्रसङ्ग।
कह रहा था में पाण्डुसुत।
कि सर्व कर्मों से भिन्न।
आत्मा, यही न! ॥२९६॥
तब अर्जुन बोला देव!
मेरे मन में जो सहज।
वही प्रारम्भ किया प्रमेय।
आपने जी ॥२९७॥
कि सकल कर्मों का बीज।
जो कारण-पञ्चक।
कहूँगा तुझे, वचन यह।
दिया आपने ॥२९८॥
और आत्मा का यहाँ कहीं।
सर्वथा सम्बन्ध नहीं।
कहा था आपने, वही।
दीजिये मुझे ॥२९९॥
इस कथन से विश्वेश।
बोले अति-सन्तुष्ट।
इस विषय पर धरना दे कर।
बैठे कौन? ॥३००॥
अतः करूँगा निरूपण।
सरल भाषा में अर्जुन।
पर वस्तुतः हूँ मैं आप।
ऋणी तेरा ॥३०१॥
तब अर्जुन बोला देव।
भूल गये क्या पहला भाव।
यह बात क्यों कहते अब।
मैं-तू-पन-की ॥३०२॥

अजी हाँ! बोले श्रीकृष्ण।
अब दो पूरा अवधान।
कहता हूँ सुनो अर्जुन।
प्रतिज्ञात ॥३०३॥

तो सत्य ही धनुर्धर।
सभी कर्मों का प्रसार।
होता बाहर–बाहर।
पाँच कारणों से ॥३०४॥

पञ्च–कारण–समुदाय।
जिन से कर्माकार।
होता घटित वे पाँच।
हेतु ये ही ॥३०५॥

अन्यथा आत्मतत्त्व उदासीन।
वह न हेतु न उपादान।
न करता वह कभी संवाहन।
कार्य–सिद्धि का ॥३०६॥

शुभ–अशुभ अंशों से।
कर्म निपजते ऐसे।
रात्रि–दिवस आकाश में।
जिस प्रकार ॥३०७॥

तोय तेज धूम।
इन का वायु से सङ्गम।
होने पर होता अभ्रागम।
न जाने व्योम ॥३०८॥

अथवा काष्ठ से नाव बने।
काठ के चप्पू से वह चले।
अनिल उसे चलाये।
उदक साक्षी ॥३०९॥

किसी एक मिट्टी के।
पिण्ड को घुमाने से।
पात्र बने, दण्ड घुमाये।
घूमे चक्र ॥३१०॥

वहाँ कर्तृत्व कुलाल का।
पृथ्वी का वहाँ क्या गया?
आधार होने के सिवा।
करो विचार ॥३११॥

रहने दो यह, लोक के।
व्यापार सब चलते हुए।
कौन सा काम सविता के।
भाग में आता? ॥३१२॥

वैसे मिलने से हेतु पाँच।
ये ही पाँच कारण।
करते कर्मलता का रोपण।
पृथक् आत्मा ॥३१३॥

उन का अलग-अलग अब।
करूँ पाँचों का विवेचन।
लेते जैसे तौल–परखकर।
मोती पार्थ ॥३१४॥

वैसे यथा–लक्षण।
सुनो कर्म–कारण।
मैं कहता, यह देह।
पहला उन में ॥३१५॥

इस देह को अधिष्ठान।
कहने का यही कारण।
कि रहता स्वभोग्य–सहित।
भोक्ता यहाँ ॥३१६॥

इन्द्रियों के दस हाथ।
कष्ट करते दिन–रात।
प्रकृति के योग से सुख-दुःख।
जुटाते जो ॥३१७॥

उन्हें भोगने को अन्य।
स्थान नहीं कुछ होता प्राप्त।
अतएव अधिष्ठान नाम।
दिया देह को ॥३१८॥

चौबीसों तत्त्वों का।
कुटुम्ब घर बस्ती यहाँ।
बन्धमोक्ष की ग्रन्थियाँ।
खुलतीं यहाँ ॥३१९॥
किम्बहुना अवस्थात्रय।
रहतीं यहीं धनञ्जय।
इस देह का अतएव।
अधिष्ठान नाम ॥३२०॥
और कर्ता यह द्वितीय।
जानो कर्म का कारण।
जो कहलाता प्रतिबिम्बित।
चैतन्य का ॥३२१॥
आकाश से ही बरसे नीर।
डबरा बनता भूमि पर।
उस में प्रतिबिम्बित तदाकार।
होता नभ ॥३२२॥
या निद्रा के आवेग में।
राजा अपने को भूले।
समाता तब स्वप्न ही के।
रङ्कपन में ॥३२३॥
अपने को भूल कर वैसे।
चैतन्य ही देहाकार में।
आभासित होकर प्रकट करे।
देहपना ॥३२४॥
विपरीत ज्ञान के देश में।
प्रसिद्ध होता जीव नाम से।
फिर देह का ही सब विषयों में।
रहे वाग्दत्त ॥३२५॥
प्रकृति ही कर्म करे।
'मैं करता' वह भ्रम से कहे।
इसीलिये कर्ता नाम से।
कहलाता जीव ॥३२६॥

बरौनियों के केशों से।
वस्तुतः एक ही दृष्टि जैसे।
विभक्त बिखरी हुई दिखे।
चँवरी जैसी ॥३२७॥
अथवा घर में एक।
दीपक का आलोक।
गवाक्षभेद से अनेक।
होता प्रतीत ॥३२८॥
वैसे बुद्धि का एक ज्ञान।
श्रोत्रादि का भेद पाकर।
विविध इन्द्रियों से जन्य।
दिखता जिस से ॥३२९॥
वह पृथग्विध करण।
इस कर्म का कारण।
तीसरा इसे जान।
नृपनन्दन ॥३३०॥
पूर्व-पश्चिम दिशाओं से।
बहते हुए प्रवाह मिलें।
तो नदी-नद का पानी जैसे।
होता एक ॥३३१॥
या जैसे एक पुरुष।
नौ रसों का करे अनुसरण।
तो देखने में नवविध।
होता प्रतीत ॥३३२॥
जैसे पवन में क्रियाशक्ति।
स्थित जो अनपायिनी।
वह नाना स्थानों में पड़ी हुई।
होती विविध ॥३३३॥
वह वाचा में आये।
तब वाणी कहलाये।
जब आये हाथों में।
बने लेन-देन ॥३३४॥

चरणों में आने पर।
गति कहलाती वह।
अधोद्वारों में क्षरण।
बनती वही ॥३३५॥
कन्द से हृदय पर्यन्त।
करती प्रणव को विशद।
तब कहलाती प्राण।
वह देह में ॥३३६॥
गति ऊर्ध्व की ओर।
उसी शक्ति की पार्थ।
तब होता उदान नाम।
उस का ही ॥३३७॥
अधोरन्ध्रों की ओर बढ़े।
तब अपान नाम पड़े।
बनती व्यापक-पन से।
व्यान वही ॥३३८॥
खाये हुए अन्न का रस।
भरती शरीर में समभाव।
न छोड़ते हुए रहती स्थिर।
सब सन्धियों में ॥३३९॥
ऐसी इस वृत्ति से।
वही क्रिया बाद में।
किरीटी 'समान' नाम से।
कही जाती ॥३४०॥
जँभाई, छींक, डकार।
ये सब होते व्यापार।
जिस से नाग कूर्म कृकर।
इत्यादि नाम ॥३४१॥
पवन की यह क्रियाशक्ति।
सुभट! वस्तुतः एक ही।
वर्तन से ही होती रहती।
रूपान्तरित जो ॥३४२॥

वह वृत्तिरीति से विविध।
वायुशक्ति यहाँ पार्थ।
चौथा कर्म-कारण।
जानो उसे ॥३४३॥
ऋतु हो सुन्दर शारद।
फिर शरद में हो चन्द्र।
उस चन्द्र में हो सम्बन्ध।
पूर्णिमा का ॥३४४॥
या वसन्त में सुभग आराम।
आराम में हो प्रिय-सङ्गम।
सङ्गम – समय हो आगम।
सुखसाधनों का ॥३४५॥
अथवा कमल में पाण्डव।
जैसे हो विकास सुन्दर।
विकास में हो उद्भव।
पराग का ॥३४६॥
वैसे वाचा में सुकवित्व।
कवित्व में भरा रसिकत्व।
रसिकत्व में हो जैसे स्पर्श।
परतत्त्व का ॥३४७॥
सर्व-वृत्ति-वैभव से।
बुद्धि हो श्रेष्ठ वैसे।
बुद्धि को नया सौन्दर्य दे।
इन्द्रिय-प्रौढि ॥३४८॥
हो इन्द्रिय सामर्थ्य का मण्डल।
वहाँ एक ही शृङ्गार निर्मल
कि अधिष्ठातृ देवों का मिलन।
घटित वहाँ ॥३४९॥
अर्थात् चक्षु आदि दश।
इन्द्रियों पर स्वानुग्रह।
करता सूर्यादि-वृन्द।
देवों का ॥३५०॥

वह देव-वृन्द श्रेष्ठ।
कर्म-कारण-पञ्चम ।
जानो यहाँ अर्जुन।
कहते देव ॥३५१॥

तेरी बुद्धि कर सके ग्रहण।
वैसा कर्मजात का मर्म।
पञ्चविध कारण - रूप।
किया निरूपित ॥३५२॥

अब ये कारण जुटने से।
कर्मों की सृष्टि बढ़े।
जिन हेतुओं से वे तुझे।
बताऊँ स्पष्ट ॥३५३॥

निज समय में माधव आये।
वह नव-पल्लवों का हेतु बने।
पल्लव पुष्प-पुञ्ज दिखाते।
पुष्पों से फल ॥३५४॥

वर्षा लाती मेघ।
मेघों से वृष्टि-प्रसङ्ग।
वृष्टि से होता भोग।
सस्य-सुख का ॥३५५॥

अथवा प्राची से अरुण-जन्म।
अरुण से सूर्योदय।
सूर्य से प्रकाशित सर्वत्र।
दिवस जैसे ॥३५६॥

वैसे मन हेतु पाण्डव।
कर्म सङ्कल्प भावों का सब।
वह सङ्कल्प होता प्रकट।
वाणी द्वारा ॥३५७॥

फिर वाणी का वह दीपक।
दिखाता कृत्यों का पथ।
तब कर्ता होता कर्मठ।
कर्तृत्व से ॥३५८॥

यों शरीरादि समुदाय।
शरीरादि के हेतु पार्थ।
जैसे लोहा घड़ने का काम।
लोहा करे ॥३५९॥

या तन्तु का ताना।
और तन्तु का हो बाना।
उन से हो पट बनता।
हे विचक्षण ॥३६०॥

वैसे मन वाचा देह के।
कर्म मन आदि हेतु से होते।
रत्न के पहलू घड़े जाते।
रत्न से जैसे ॥३६१॥

यहाँ शरीरादि जो कारण।
वह हेतु कैसे यह प्रश्न।
पूछना चाहो तो सुन।
रहस्य यह ॥३६२॥

सूर्य के प्रकाश में।
सूर्य ही हेतु जैसे।
या ईख के बढ़ने में।
हेतु ईख ही ॥३६३॥

करना हो वाग्देवी का वर्णन।
तो वाणी ही बनती उपाय।
या वेद-वचन से प्रतिष्ठापन।
वेदों का ॥३६४॥

वैसे शरीरादि का कारण।
कर्म ही वस्तुतः अर्जुन।
पर शरीरादि ही हेतु सचमुच।
कर्म में ॥३६५॥

और देहादि कारणों से।
देहादि हेतु मिलने से।
होता जिन कर्मों का अरे।
उद्भव वहाँ ॥३६६॥

वह शास्त्रादि के मान्य।
पथ पर चलें यदि धनञ्जय।
तो न्याय का वह न्याय्य।
हेतु होता ॥३६७॥
जैसे पर्जन्योदक का पूर।
धान-खेत में हो सञ्चित।
तो सूखने पर भी उपयुक्त।
होता बहुत ॥३६८॥
या रोष में घर से निकलकर।
चल पड़ा द्वारिका के पथ पर।
कष्ट होने पर भी न व्यर्थ।
वह मार्ग-क्रमण ॥३६९॥
वैसे हेतु--कारण मिलने से।
उपजते जो कर्म अन्धे।
वे नयन पाकर शास्त्र के।
कहलाते न्याय्य ॥३७०॥
पर परोसने के समय दूध।
अग्नि में गिरे उफन कर।
तो व्यय होने पर भी व्यय।
न कहाता वह ॥३७१॥
वैसे शास्त्र सम्मति--रहित।
कर्म यदि न कहाये व्यर्थ।
तो चुराया धन भी दान।
कहाये पार्थ ॥३७२॥
अरे बावन वर्णों से रहित।
कौन सा मन्त्र है पाण्डुसुत।
न करे बावनों का उच्चारण।
कौन जीव ? ॥३७३॥
पर मन्त्रोच्चार की पद्धति।
न जाने जब तक सुभद्रापति।
तब तक उच्चारफल वाणी।
न पाये जैसे ॥३७४॥
वैसे हेतु-कारण-योग से।
जो सामान्य कर्म निपजे।
वह शास्त्र के न लगे।
किनारे जबतक ॥३७५॥
कर्म होते हुए भी वह।
कहलाता नहीं किया कर्म।
अन्याय का ही वह अन्याय।
बनता हेतु ॥३७६॥
ऐसे कर्मों के पाँच कारण।
और पाँच ही हेतु सुमहिम !
कहो कहाँ इन में प्राप्त।
आत्मा कहीं ॥३७७॥
भानु स्वयं न हो कर रूप।
चक्षु और रूप को करे प्रकाशित।
वैसे आत्मा न हो कर कर्म।
करता प्रकट ॥३७८॥
स्वयं न प्रतिबिम्ब न दर्पण।
दोनों न हो कर वीरेश।
दोनों को करता प्रकाशित।
स्वयं द्रष्टा ॥३७९॥
या सविता स्वयं अहोरात्र।
न बन कर इन्हें करता प्रकट।
वैसे आत्मा कर्ता कर्म।
न हो कर दिखाता ॥३८०॥
पर देहाभिमान से भ्रमित।
जिस की बुद्धि देहनिष्ठ।
उसे आत्मविषय में हुई जान।
मध्यरात्रि ॥३८१॥
जिसने चैतन्य ईश्वर ब्रह्म।
देह को बनाया परम सीमा।
उसे आत्मा ही कर्ता यह प्रमा।
होती दृढ़ ॥३८२॥

आत्मा ही कर्मकर्ता।
वह भी न निश्चय तत्त्वतः।
देह ही में कर्मकर्त्ता।
मानता सत्य ॥३८३॥

जिस ने 'आत्मा मैं कर्मातीत।
सर्व कर्मों का साक्षिभूत'।
यह सब अपनी बात।
न सुनी कान से ॥३८४॥

अतः आत्मा को अमाप।
देहनाप से मापता वह।
विचित्र क्या ? रात्रि को दिवस।
न मानता उलूक ? ॥३८५॥

पर जिसने आकाश का कहीं।
सत्य सूर्य देखा नहीं।
वह डबरे के प्रतिबिम्ब को ही।
सच माने न क्या ? ॥३८६॥

डबरे के बनने से।
सूर्य की उत्पत्ति माने।
नाश उसके नाश से।
कम्प से कम्प ॥३८७॥

जागें न जब तक निद्रित।
तब तक स्वप्न लगता सत्य।
रज्जु न जाने तो साँप से भीत।
विस्मय क्या ? ॥३८८॥

नेत्रों में जब पित्तदोष।
तब पीला दिखता चन्द्र।
क्या मृग को मृगजल।
भरमाता नहीं ॥३८९॥

शास्त्र गुरु के नाम का वैसे।
वायु भी जो न छूने दे।
केवल मौढ्य की ही जीविका से।
जो रहा जो ॥३९०॥

उसने देहात्म दृष्टि के कारण।
आत्मा पर डाला देह का जाल।
जैसे अभ्रों का वेग श्रृगाल।
चन्द्र में माने ॥३९१॥

उस मानने के कारण।
देह–कारा में अर्जुन।
कर्म की वज्रगाँठ से बद्ध।
पड़ा रहता ॥३९२॥

अरे देखो बद्ध भावना से दृढ़।
नली पर बेचारा शुक।
खुले भी पाँवों का पंजा वह।
खोलता नहीं ॥३९३॥

अतःनिर्मल आत्मस्वरूप पर।
जो प्रकृति का करता आरोप।
वह कल्प–कोटि–पर्यन्त।
फँसता कर्म में ॥३९४॥

उधर जो रहता कर्म–मध्य।
पर कर्म उसे न करता स्पर्श।
वडवानल को जैसे उदक।
समुद्र का ॥३९५॥

पृथक्‌पन से वैसे।
जो कर्मों के मध्य रहे।
उस की हो पहचान कैसे।
वह कहूँ अब ॥३९६॥

ज्यों मुक्त का करें विचार।
तो अपनी मुक्ति होती प्राप्त।
जैसे दिखे दीपसे देखने पर।
अपनी वस्तु ॥३९७॥

या दर्पण को करें स्वच्छ।
तो निजरूप से होती भेंट।
या तोय में पड़े तो बनता तोय।
लवण जैसे ॥३९८॥

यह रहे, उलटकर पीछे।
प्रतिबिम्ब बिम्ब को देखे।
तो देखना और प्रतिबिम्ब मिटे।
रहे बिम्ब ही ॥३९९॥
खोया निज रूप पाने को वैसे।
सन्तों को देखें, चिन्तन करें।
और उन्हीं का वर्णन सुनें।
सदा सभान ॥४००॥
रहते हुए भी कर्म में।
जो लिप्त न हो सम विषम से।
चर्म–चक्षु के चर्म से।
दृष्टि जैसे ॥४०१॥
वैसा जो है कर्ममुक्त।
देखो उस का रूप।
उपपत्ति बाहुओ से स्पष्ट।
कहूँगा अब ॥४०२॥
तो, अविद्या की नींद में।
घन्धे विश्व–स्वप्न के।
भोग रहा अनादिकाल से।
प्रबुद्ध जो ॥४०३॥
वह महावाक्य के स्मरण से।
श्रीगुरु-कृपा के बल से।
माथे पर हाथ या थपकी से।
जगाया हो जैसे ॥४०४॥
वैसे विश्वस्वप्न सहित माया।
नींद छोड़कर सहसा।
अद्वयानन्द–पन से जागा।
जो धनञ्जय ॥४०५॥
तब मृगजल का पूर।
दिखता नहीं निरन्तर।
जैसे चन्द्रोदय होने पर।
होता लुप्त ॥४०६॥

या बालपन बीतने पर।
'हौए' से न लगता डर।
अथवा इन्धन जल जाने पर।
न होता रन्धन ॥४०७॥
अथवा जागृति आने पर।
दृष्टि न देखती स्वप्न।
वैसे अहं-ममता अर्जुन।
न रहती शेष ॥४०८॥
सूर्य अँधेरे के लिये।
चाहे जिस सुरङ्ग में घुसे।
पर वह उस के भाग्य में।
नहीं जैसे ॥४०९॥
वैसे जो आत्मत्व से वेष्टित।
वह देखे जो भी दृश्य।
वह दृश्य द्रष्टापन-सहित।
हो उसी का रूप ॥४१०॥
जसे वह्नि जहाँ लगे।
वह वह्नि ही बन जाये।
दाह्य–दाहक–विभाग छूटे।
वहाँ तब ॥४११॥
वैसे कर्माकार द्वैत।
जो कर्तापन आत्मा पर।
लाया था वह मिथ्यारोप।
सर्वथा लुप्त ॥४१२॥
इस आत्मस्थिति का जो नृप।
वह क्या देहको जाने निजस्थान ?
क्या प्रलयाम्बु की बाढ़।
देखे ओघपात्र ? ॥४१३॥
वैसी वह अहन्ता पूर्ण।
क्या देहपन से अर्जुन।
होगी रुद्ध ? क्या सूर्य।
प्रतिबिम्ब में फँसे ? ॥४१४॥

मथकर निकाला माखन।
फिर छाछ में दिया डाल।
वह अलिप्तपन से स्थित।
क्या मिले उस में ? ॥४१५॥

अथवा काष्ठ में से वीरेश।
पृथक् करके हुताशन।
रखा जाये सँभालकर।
काठ के सन्दूक में ? ॥४१६॥

या रात्रि के उदर से निर्गत।
उदित हुआ भास्कर।
नाम भी जाने क्या वह।
रात्रि का कभी ? ॥४१७॥

वैसे वेद्य-वेदकता–सहित।
बन गया जिस का ग्रास।
उस को देह में अहन्ता फिर।
रहे कैसे ? ॥४१८॥

आकाश जहाँ से जहाँ भी जाये।
वहाँ पहले से भरा ही रहे।
अतः सब ओर अपनेआप में।
व्याप्त वह ॥४१९॥

वैसे वह जो भी करे करावे।
वह स्वयं ही है स्वभाव से।
फिर लिप्त हो किस कर्म में।
कर्तापन से ? ॥४२०॥

न कहीं गगन-रहित स्थान।
न रहते समुद्र में प्रवाह।
न जाना पड़े ध्रुव को अन्यत्र।
वैसी स्थिति यह ॥४२१॥

ऐसे अहङ्कृति–भाव।
जिसके बोध में हुआ व्यर्थ।
उस का जब तक देह-निर्वाह।
तब तक कर्म ॥४२२॥

वायु का बहना हुआ बन्द।
पर वृक्ष का डोलना रहा शेष।
या डिबिया में रह जाती सुगन्ध।
कपूर उड़ने पर ॥४२३॥

थमने पर भी गीत के स्वर।
शेष रहे चित्त में स्पन्द।
बह जाने पर भी भूमि से जल।
आर्द्रता शेष ॥४२४॥

अस्त होने पर अर्क सखे।
सन्ध्या की भूमिका में।
ज्योति--दीप्ति कौतुक से।
दिखती जैसी ॥४२५॥

लक्ष्य भेदने के बाद।
दौड़ता बाण तब तक।
भरी हुई गति जब तक।
शेष उस में ॥४२६॥

चक्र पर पात्र बनने पर।
उठा लेता उसे कुम्हार।
किन्तु पहले वेग से रहता शेष।
भ्रमण चक्र का ॥४२७॥

वैसे देहाभिमान जाने पर।
जिस स्वभाव से मिला देह।
वही अपने आप धनञ्जय।
कराता चेष्टा ॥४२८॥

सङ्कल्प बिना ही दिखते स्वप्न।
न लगाने पर भी अरण्य में वन।
न रचने पर भी गन्धर्वभुवन।
उदित जैसे ॥४२९॥

आत्मा के उद्यम विना वैसे।
देहादि पञ्च कारणों से।
अपने आप होते जाते।
क्रियाजात ॥४३०॥

पर प्राचीन संस्कार–वश।
पाँचों कारण सहेतुक।
उपजाते रहते अनेक।
कर्माकार ॥४३१॥
उस कर्म में फिर।
संहृत हो सारा जग।
या नया हो अङ्कुरित।
जगत् वहाँ ॥४३२॥
पर कुमुद कैसे कुम्हलाये।
या कैसे कमल खिल उठे।
ये दोनों रवि न देखे।
जिस प्रकार ॥४३३॥
चाहे वज्रपात कर के मेघ।
करे भूतल को खण्ड खण्ड।
अथवा करे शस्य शाद्वल।
प्रसन्न वृष्टि से ॥४३४॥
पर इन दोनों ही से।
अनजाना आकाश जैसे।
वैसे देह में रहते भी रहे।
विदेह दृष्टि ॥४३५॥
देहादि की चेष्टा से जो।
सृष्टि की उथल–पुथल को।
न देखता, स्वप्न-सृष्टि को।
जागृत जैसे ॥४३६॥
यों चर्म-चक्षुओं से।
जो केवल देह ही देखते।
कर्म करता हुआ उसे।
मानते वे ॥४३७॥
अरे तिनकों से बना बबुआ।
जो खेत के बीच खड़ा।
उसे रखवाला नहीं मानता।
क्या सियार ? ॥४३८॥
पागल नग्न या वस्त्र पहने।
यह दूसरे ही जानते।
रणभूमि में पड़े शव के।
घाव गिनें अन्य ॥४३९॥
महासती का श्रृङ्गार।
देखे सारा संसार।
पर वह न देखे अग्नि या देह।
या इतर जनों को ॥४४०॥
वैसे स्व–स्वरूप में जो जागृत।
उस का दृश्य–सहित द्रष्टा लुप्त।
यह न जाने कैसा चेष्टित।
इन्द्रियग्राम ॥४४१॥
बड़े में छोटा कल्लोल।
समाता तो सामान्य जन।
मानें कि निगल गया एक।
दूसरे को ॥४४२॥
पर उदक के प्रति अरे।
कौन किस को निगले।
द्वितीय नहीं पूर्ण के लिये।
जिसे वह मारे ॥४४३॥
सुवर्णमयी चण्डिका ने।
सुवर्णमय ही शूल से।
नाश किया सुवर्ण के।
महिष का ॥४४४॥
देव–पूजकों को यह।
व्यवहार दिखता स्पष्ट।
पर चामुण्डा, शूल, महिष।
है स्वर्ण ही ॥४४५॥
चित्र के जल–हुताशन।
वे दृष्टि के ही आभास।
पट में आर्द्रता या अनल।
दोनों नहीं ॥४४६॥

वैसे मुक्त का देह।
हिलता संस्कारवश।
यह देख कर कहते मूढ़।
कर्त्ता उसे ॥४४७॥

और, उस के करणों से।
त्रिलोक-घात हो भले।
पर 'उस ने किया' यह कथन।
मिथ्या अरे ॥४४८॥

अरे! सूर्य को दिखे तिमिर।
तब तो उसे वह करे नष्ट।
ज्ञानी को नहीं द्वितीय भाव।
वैसे पार्थ ॥४४९॥

उस की बुद्धि अतएव।
न जाने पाप-पुण्य की गन्ध।
नदी गङ्गा में मिलने पर।
अपवित्र कैसे? ॥४५०॥

आग को लगे आग।
तो दाह किसे धनञ्जय।
क्या शस्त्र करे घाव।
अपने आप में ॥४५१॥

वैसे अपने से भिन्न।
न मानता जो क्रियाजात।
तो भला क्या करेगा लिप्त।
उसकी बुद्धि को ॥४५२॥

अतः कार्य-कर्ता-क्रिया।
स्वरूप ही बने जिस का।
नहीं शरीरादि से उस का।
कर्म-बन्ध ॥४५३॥

क्योंकि कर्ता जीव बड़ेपन से।
पाँचों को साधन बना के।
कारण और हेतुओं से।
करता कर्म ॥४५४॥

वहाँ न्याय और अन्याय।
ये द्विविध ले कर आकार।
खड़ा होते न लगता विलम्ब।
कर्म-भुवन को ॥४५५॥

इस इतने बड़े काम में।
आत्मा का सहाय नहीं अरे।
कहोगे तुम वह उपक्रम में।
लगाता हाथ ॥४५६॥

तो वह साक्षी चिद्रूप।
देखे कर्म-प्रवृत्ति का सङ्कल्प।
उठने पर पर भी न हस्तक्षेप।
करे उस में ॥४५७॥

अतः कर्मप्रवृत्ति के लिये भी।
उस में कहीं आयास नहीं।
खटपट सब प्रवृत्ति की।
करते लोक ही ॥४५८॥

अतः आत्मा हो केवल।
जिस का रूप हुआ निखिल।
उस के लिये न कारागार।
कर्म का यह ॥४५९॥

किन्तु अज्ञान के पट पर।
अन्यथा-ज्ञान के उठे चित्र।
उस का कर्तृत्व प्रसिद्ध।
इस त्रिपुटी में ॥४६०॥

जो ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय।
इस जग के बीज-त्रय।
वे कर्म की ही निःसन्देह।
प्रवृत्ति जानो ॥४६१॥

अब इन्हीं तीनों की।
पृथक्-पृथक् अभिव्यक्ति।
सुनो सुभद्रापति।
करूँ निरूपण ॥४६२॥

तो, जीव-सूर्यबिम्ब की।
रश्मियां पाँच श्रोत्रादि।
दौड़ कर विषय-पद्म की।
खिलातीं कली ॥४६३॥
जीव-नृप का छूटा सवार।
इन्द्रियों के भाले ले कर।
विषय-देश को लूट कर।
ले आता ॥४६४॥
जिस से, इसी इन्द्रिय पथ पर।
सुख-दुःख से मिलता जीव।
वह सुषुप्तिकाल में होता लुप्त।
ज्ञान जहाँ ॥४६५॥
उस जीव का नाम ज्ञाता।
और अभी जो यहाँ कहा।
उसी को पाण्डुसुत यहाँ।
जानो ज्ञान ॥४६६॥
जो अविद्या के उदर में।
उत्पन्न होने के ही क्षण में।
स्वयं को विभक्त करे।
तीन रूपों में ॥४६७॥
स्वयं को मध्य में रखता।
ज्ञेय को सीमा बनाता।
दूसरी ओर उठाता।
ज्ञातृत्व को ॥४६८॥
फिर ज्ञाता और ज्ञेय का।
सम्बन्ध बनाता हुआ।
मध्य में स्वयं रहता।
सूत्र जैसा ॥४६९॥
ज्ञेय को सीमा बना कर।
रुकती जिस की दौड़।
सभी पदार्थों को नाम।
देता जो ॥४७०॥
वही अरे सामान्य ज्ञान।
इस वचन से नहीं अन्य।
ज्ञेय के भी चिह्न।
सुनो अब ॥४७१॥
तो शब्द और स्पर्श।
रूप गन्ध रस।
यह पञ्चविध आभास।
ज्ञेय का जो ॥४७२॥
जैसे एक ही आम्र-फल में।
भिन्न-भिन्न इन्द्रिय जायें।
रस-वर्ण-परिमल-स्पर्श से।
लें आस्वाद ॥४७३॥
वैसे ज्ञेय हो भले एक।
पर इन्द्रिय-द्वारों से ज्ञान।
होता, अतः पाँच प्रकार।
होते उस के ॥४७४॥
प्रवाह समुद्र तक आने पर।
लक्ष्य के प्रति रुकती दौड़।
रुकती वृद्धि फल आने पर।
शस्य की जैसे ॥४७५॥
वैसे इन्द्रिय-द्वारों से।
दौड़ता ज्ञान जहाँ थमे।
किरीटी सीमा-रूप वे।
विषय ज्ञेय ॥४७६॥
ऐसे ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय।
तीनों निरूपित धनञ्जय।
क्रिया-प्रवर्तक त्रिविध।
जानो इन्हें ॥४७७॥
जो शब्दादि विषय।
यही पञ्चविध ज्ञेय।
वे प्रिय या अप्रिय।
होते एक ॥४७८॥

ज्ञान ज्ञाता को विषय।
दिखाये-न दिखाये तब तक।
स्वीकार या त्याग में प्रवृत्त।
होता वह ॥४७९॥

ज्यों मीन को देख कर बक।
या निधान के प्रति रङ्क।
स्त्री को देख कर कामुक।
होता प्रवृत्त ॥४८०॥

नीचे की ओर दौड़े जल।
पुष्प-सौरभ की ओर भ्रमर।
अथवा छूटा साँझ-समय।
गोवत्स जैसे ॥४८१॥

स्वर्ग की उर्वशी की बात।
सुन कर जैसे मनुष्य।
बनाते आकाश में सोपान।
यागों के ॥४८२॥

या किरीटी! जैसे कपोत।
हुआ नभ पर आरूढ़।
कपोती को देख सर्वाङ्ग।
झोंकता नीचे ॥४८३॥

या मेघ-गर्जन सुन कर।
उड़ान भरता मयूर।
वैसे ज्ञाता ज्ञेय देख कर।
दौड़े उधर ॥४८४॥

अतः ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय।
ये त्रिविध पाण्डुसुत।
सभी कर्मों में निमित्त।
प्रवृत्ति-हेतु ॥४८५॥

फिर यदि वह ज्ञेय।
ज्ञाता का हो प्रिय।
तो भोग में न सहे विलम्ब।
क्षण का भी ॥४८६॥

अन्यथा कहीं वह।
मिले रुचि के विरुद्ध।
तो लगता युगान्त-सम।
छूटने में ॥४८७॥

व्याल अथवा हार।
मनुष्य को दिखने पर।
भय अथवा हर्ष।
होते साथ ही ॥४८८॥

वैसे ही देख कर ज्ञेय।
ज्ञाता मानता प्रिय-अप्रिय।
त्याग या स्वीकार में फिर।
होता प्रवृत्त ॥४८९॥

तब अभीप्सु प्रतिमल्ल का।
भले हो सेनापति दल का।
रथ छोड़कर आगे बढ़ता।
पैदल जैसे ॥४९०॥

वैसे ज्ञाता जो निज स्थान में।
वह कर्ता की दशा में।
भोजन के लिये बैठा जैसे।
करे रन्धन ॥४९१॥

या भौंरा ही बाग लगाये।
सोनार स्वयं कसौटी बने।
या देव ही बनाने चले।
देवालय ॥४९२॥

वैसे ज्ञेय की कामना से।
ज्ञाता इन्द्रिय-समुदाय चलाये।
पाण्डव वह उसी से।
बने कर्ता ॥४९३॥

फिर स्वयं हो कर कर्ता।
ज्ञान में लाता करणता।
तब ज्ञेय ही स्वभावतः।
होता कार्य ॥४९४॥

ऐसे ज्ञान की निज गति।
उलटी जाती है सुमति।
जैसे रात्रि में नेत्रों की।
शोभा बदलती ॥४९५॥

या अदृष्ट होने पर उदास।
पलटे श्रीमन्तों का विलास।
शीतांशु पूर्णिमा के बाद।
पलटता जैसे ॥४९६॥

वैसे चलाने पर करण।
ज्ञाता में आता कर्तापन।
तब के उस के लक्षण।
सुनो अब ॥४९७॥

तो बुद्धि और मन।
चित्त तथा अहंपन।
ये चतुर्विध चिह्न।
अन्तःकरण के ॥४९८॥

बाह्य – त्वचा श्रवण।
चक्षु रसना घ्राण।
ये पञ्चविध जान।
इन्द्रियाँ अरे ॥४९९॥

तब भीतर के करण से।
कर्ता कर्तव्य का विचार करे।
यदि उस से सम्भव देखे।
सुखप्राप्ति ॥५००॥

तो वहिरङ्ग इन्द्रिय जो।
चक्षु आदि दश, उन को।
उठाकर करता अहो।
प्रवृत्त कर्म में ॥५०१॥

फिर उस इन्द्रिय–समुदाय से।
तब तक कार्य कराता रहे।
जब तक कर्तव्य से मिले।
इष्टलाभ ॥५०२॥

यदि उसे वह कर्तव्य।
दिखे दुःखदायक।
तो करता उन्हें प्रवृत्त।
कर्मत्याग में ॥५०३॥

जब तक न मिटे दुःखलेश।
तब तक चलाता रात्रिदिवस।
कराये क्षीण कृषक से काम।
राजा जैसे ॥५०४॥

यों त्याग या स्वीकार में।
इन्द्रियों को लगाते हुए।
ज्ञाता ही कहलाये।
कर्ता पार्थ ॥५०५॥

कर्ता के सब कर्मों में।
खेती के उपकरण जैसे।
लगते इन्द्रिय, अतः उन्हें।
कारण कहूँ मैं ॥५०६॥

और उन करणों से।
कर्ता जो क्रिया करे।
जो होता व्याप्त उस से।
वह कर्म यहाँ ॥५०७॥

गहने सुनार की बुद्धि से।
व्याप्त चाँदनी चन्द्रकरों से।
अथवा छायी विस्तार से।
बेल जैसे ॥५०८॥

प्रभा से व्याप्त प्रकाश।
या मधुरता से इक्षुरस।
जैसे व्याप्त अवकाश।
आकाश से ॥५०९॥

कर्ता की क्रिया से।
व्याप्त जो पार्थ वैसे।
वही 'कर्म' शब्द से।
कहा जाता ॥५१०॥

ऐसे कर्ता–कर्म–करण।
इन तीनों के लक्षण।
कहे तुझे विचक्षण।
–शिरोमणि ! ॥५११॥

यहाँ ज्ञाता–ज्ञान–ज्ञेय।
ये कर्म के प्रवृत्तित्रय।
वैसे कर्ता–करण–कार्य।
यह कर्मसंचय ॥५१२॥

वह्नि में स्थित धूम।
या बीज में जैसे द्रुम।
या मन के भीतर काम।
सदा जैसे ॥५१३॥

वैसे कर्ता–क्रिया–करण में।
कर्म का जीवन रहे।
सोना जैसे खान में।
सुवर्ण की ॥५१४॥

अत: यह कार्य में कर्त्ता।
ऐसी स्थिति पाण्डुसुत जहाँ।
समस्त क्रियाओं से आत्मा।
दूर वहाँ ॥५१५॥

इसलिये बारम्बार।
कितना कहूँ धनञ्जय।
आत्मा पृथक् यह भली प्रकार।
जानते तुम ॥५१६॥

पर बताया तुझे जो ज्ञान !
तथा कर्ता – कर्म तीन।
वे तीनों त्रिविध भिन्न।
त्रिगुण से ॥५१७॥

अतः ज्ञान कर्म और कर्ता पर।
विश्वास न करो क्योंकि पार्थ।
दो बाँधते एक ही समर्थ।
छुड़ाने में ॥५१८॥

वह सात्त्विक स्थान में स्थित।
कहूँ तुझे गुणभेद।
जो सांख्य–शास्त्र में वर्णित।
विशद रूप से ॥५१९॥

जो विचार–क्षीर–समुद्र।
स्वबोध–कुमुदिनी–चन्द्र ।
ज्ञानचक्षुओं के नरेन्द्र।
शास्त्रों के ॥५२०॥

या प्रकृति–पुरुष उभय।
मिश्रित दिवो–रात्र।
त्रिभुवन में उन्हें करता विविक्त !
मार्तण्ड जो ॥५२१॥

जहाँ मोह-राशि अपार।
चौबीस तत्त्वों में मापी जा कर।
रहे परतत्त्व के साथ।
सुखपूर्वक ॥५२२॥

अर्जुन वह सांख्यशास्त्र।
पढ़ता जिस का स्तोत्र।
वह गुण–भेद–चरित्र।
है ऐसा ॥५२३॥

जिसने निज सामर्थ्य से।
विविधपने की मुद्रा से।
समस्त दृश्यजात को अरे।
किया अङ्कित ॥५२४॥

ऐसे सत्त्व–रज–तम की।
महिमा तीनों को इतनी।
कि आदि–ब्रह्मा अन्त में कृमि।
जिस त्रैविध्य के ॥५२५॥

पर सारा विश्वसमुदाय।
जिस गुण-भेद से विभक्त।
उस भेद का आदि ज्ञान।
कहूँ तुझे ॥५२६॥

दृष्टि हो यदि शुद्ध।
तो सभी कुछ दिखता स्पष्ट।
वैसे शुद्ध ज्ञान से शुद्ध।
दिखता सब ॥५२७॥
अतएव वह सात्त्विक ज्ञान।
कहूँगा अब दे अवधान।
कैवल्य-गुण-निधान।
श्रीकृष्ण बोले ॥५२८॥
तो अर्जुन वही स्फुट।
सात्त्विक ज्ञान विशुद्ध।
जिस के उदय से ज्ञेय।
डूबे ज्ञाता में ॥५२९॥
जैसे सूर्य न देखे अन्धकार।
सरिता न जाने क्या सागर।
या, न हो सकती आलिङ्गित।
अपनी छाया ॥५३०॥
जिस ज्ञान से उस प्रकार।
शिवादि तृणावसान।
ये भूताभिव्यक्तियाँ भिन्न।
न होतीं प्रतीत ॥५३१॥
हाथ से चित्र छूकर देखें।
या पानी में लवण धोयें।
या जागकर फिर स्वप्न देखें।
सम्भव न जैसे ॥५३२॥
वैसे जिस ज्ञान से।
ज्ञातव्य को देखने चलें।
तो न ज्ञाता न ज्ञान रहे।
न ज्ञेय शेष ॥५३३॥
परन्तु आभूषण गलाकर स्वर्ण।
न परखते बुद्धिमन्त।
तरङ्ग को हटाकर जल।
न लेता कोई ॥५३४॥
जिस ज्ञान के होते ही उदित।
सकल दृश्य हो निःशेष।
जानो सर्वथा वह ज्ञान।
सात्त्विक ही ॥५३५॥
दर्पण को देखने चलें।
तो द्रष्टा ही सम्मुख दिखे।
ज्ञेय उलटकर जहां बने।
ज्ञाता ही ॥५३६॥
पुनः वही सात्त्विक ज्ञान।
जो मोक्ष-लक्ष्मी का भुवन।
यह रहे, अब सुनो चिह्न।
राजस के ॥५३७॥
तो सुनो हे पार्थ!
वही ज्ञान राजस।
भेद का आश्रय पकड़कर।
चलता जो ॥५३८॥
भूत-वैचित्र्य के कारण।
जो स्वयं हो छिन्नभिन्न।
ज्ञाता को भी उद्भ्रान्त।
बनाये जो ॥५३९॥
वैसे निज स्वरूप पर।
डाल विस्मृति का आँचल।
स्वप्न का उठाती भार।
निद्रा अरे ॥५४०॥
वैसे स्वज्ञान सीमा से बाहर।
जहाँ मिथ्या माया का प्रसार।
वहाँ अवस्थात्रय का खेल।
दिखाती जीव को ॥५४१॥
अलङ्कारपन से आवृत।
स्वर्ण को न पहचाने मूढ़।
वैसे नाम-रूप से आच्छन्न।
अद्वैत जिस का ॥५४२॥

घड़े मटके बनने पर।
पृथ्वी को न पहचाने मूढ़।
दीप बनकर अपरिचित।
होता वह्नि ॥५४३॥
या वस्त्रपन के आरोप से।
मूर्ख के लिये तन्तु लोपे।
पट लुप्त होता चित्राङ्कन से।
मुग्ध के लिये ॥५४४॥
वैसे जिस ज्ञान से पार्थ।
भूत-व्यक्ति को भिन्न मानकर।
ऐक्य बोध की भावना लुप्त।
हुई मानो ॥५४५॥
इन्धन-भेद से भिन्न अनल।
पुष्पों के भेद से परिमल।
या जल-भेद से चन्द्रखण्ड।
लगे भिन्न ॥५४६॥
वैसे पदार्थभेद विविध।
जानकर स्वयं हुआ भेद।
हुआ जो वही राजस।
ज्ञान यहाँ ॥५४७॥
अब तामस के लक्षण।
कहूँगा पार्थ सुस्पष्ट।
त्याग-हेतु जैसे चिह्न।
मातङ्ग गृह के ॥५४८॥
तो किरीटी जो ज्ञान।
भटके विधिवस्त्र से हीन।
श्रुति पीठ मोड़े, नग्न।
जान कर जिसे ॥५४९॥
और शास्त्र भी बहिष्कार।
करते उसे निन्द्य मानकर।
भेज देते देशान्तर।
म्लेच्छ धर्म के ॥५५०॥
अरे जो ज्ञान ऐसे।
तामस गुण-ग्रह से।
उन्मत्त सा हुआ भटके।
इधर-उधर ॥५५१॥
जो निज-पर का बोध न जाने।
किसी पदार्थ का निषेध न माने।
श्वान जैसे खुले घूमे।
शून्य ग्राम में ॥५५२॥
जो मुँह में न समाये।
या खाते में मुँह जले।
वहीं बस बाकी रहे उसके।
भक्षण से ॥५५३॥
चुराने में मूषक सोना।
न देखे खरा या खोटा।
माँस-भक्षी न देखता।
काला-गोरा ॥५५४॥
जैसे वन में दावानल।
न रखता कुछ भी विवेक।
मृत-जीवित का न विचार।
करती मक्षिका ॥५५५॥
परोसा हुआ या वमित।
सड़ा हुआ या नवनिर्मित।
काक को यह विवेक।
नहीं जैसे ॥५५६॥
वैसे निषिद्ध का वर्जन।
विहित का सादर ग्रहण।
विषयों के नाम पर यह।
न जाने जो ॥५५७॥
जितना जो दृष्टिगोचर उसके।
उतना विषय भोग के लिये जुटाये।
फिर उस द्रव्यादि का व्यय करे।
शिश्नोदर-हेतु ॥५५८॥

तीर्थ–अतीर्थ ये शब्द।
जल–विषय में न जाने वह।
तो तृषा बुझाये वही सुखद।
अन्य नहीं कुछ ॥५५९॥

उसी प्रकार खाद्याखाद्य।
न माने कुछ निन्द्यानिन्द्य।
मुख को रुचे वही मेध्य।
यही समझे ॥५६०॥

जितनी भी स्त्रीजाति।
उसे माने बस भोग्य ही।
उन से करने को मैत्री।
सदा तत्पर ॥५६१॥

स्वार्थ में जो करे उपकार।
उसी का नाम सम्बन्धी प्रिय।
न मान्य देह–सम्बन्ध।
जिस ज्ञान में ॥५६२॥

मृत्यु के लिए सभी अन्त।
अग्नि को सब कुछ इन्धन।
वैसे समस्त जग अपना धन।
तामस ज्ञान में ॥५६३॥

ऐसे ही विश्व सकल।
जिस ने विषय ही माना केवल।
वह जाने एकमात्र फल।
देहभरण ॥५६४॥

आकाश से गिरे नीर के लिये।
सिन्धु ही एक गम्य जैसे।
वैसे उदर के लिये ही समझे।
सब कृत्यजात ॥५६५॥

स्वर्ग-नरक भी हैं कुछ।
प्रवृत्ति–निवृत्ति जिन के द्वार।
इस विषय में अँधेरी रात।
जिस ज्ञान में ॥५६६॥

इस देह-खण्ड का नाम आत्मा।
ईश्वर पाषाण–प्रतिमा।
इस से आगे जिन की प्रमा।
नहीं गतिशील ॥५६७॥

कहते शरीर मरने पर।
आत्मा भी कर्मसहित नष्ट।
फिर भोगने के लिये शेष।
रहा कौन? ॥५६८॥

देखने वाला है ईश्वर।
वही देता सब भोग।
यह कहें तो खायें बेच कर।
देव को भी वे ॥५६९॥

गांव के मन्दिर के ईश्वर।
यदि हैं जग के नियामक।
तो उसी देश के पर्वत।
क्यों निष्क्रिय ॥५७०॥

यदि कदाचित् मानें देव।
तो वही पाषाण–मात्र।
और कहते आत्मा इस।
देह को ही ॥५७१॥

और जो पाप–पुण्यादिक।
सब कुछ मानते झूठ।
जो पड़े अग्नि जैसे मुख में।
वही हितकर ॥५७२॥

जो चर्म–चक्षु से गोचर।
जो इन्द्रियों को लगे मधुर।
वही सत्य, यह निश्चित।
प्रतीति जिस की ॥५७३॥

किम्बहुना ऐसी बुद्धि।
देखो पार्थ जहाँ बढ़ती।
धूम्रवेलि जैसे चढ़ती।
आकाश में ॥५७४॥

जो सूखा हो या आर्द्र।
आता नहीं किसी काम।
बढ़ता रहता जैसे व्यर्थ।
एरण्ड वृक्ष ।।५७५।।
गन्ने के ऊपर लगें बाल।
या नपुंसक मनुष्य।
अथवा बढ़ता अरण्य।
करील का जैसे ।।५७६।।
अथवा बालक का मन।
या चोर के घर का धन।
अथवा गले के स्तन।
बकरी के ।।५७७।।
वैसे जो निरर्थक।
स्वैर होने से अनर्थक।
उस को मैं कहता पार्थ।
तामस ज्ञान ।।५७८।।
उस को कहने में 'ज्ञान'।
भाव इतना ही अर्जुन।
जैसे जात्यन्ध के नयन।
विशाल कहें ।।५७९।।
या बधिर के सुन्दर कान।
अपेय का नाम पान।
वैसे केवल सूचक नाम।
'ज्ञान' तामस में ।।५८०।।
रहने दो यह कितना कहूँ।
तो ऐसा जहाँ कहीं दिखे।
वह ज्ञान नहीं, जानें उसे।
प्रत्यक्ष तम ।।५८१।।
ऐसे तीन गुणों से।
यथालक्षण भेद कर के।
हे श्रोता–शिरोमणि तुझे।
दिखाया ज्ञान ।।५८२।।

इन्हीं तीनों प्रकार के।
ज्ञान के प्रकाश से।
गोचर होतीं क्रियायें।
कर्त्ताओं की ।।५८३।।
अतएव करता कर्म।
तीन भागों का अनुसरण।
बँट जाने पर ओघ।
पानी जैसे ।।५८४।।
उस ज्ञान–त्रय के वश।
होते जो त्रिविध कर्म।
उन में जो सात्त्विक।
वह सुनो प्रथम ।।५८५।।
तो स्वाधिकार के मार्ग में।
जो आये उस का आचरण करे।
पतिव्रता का परिष्वङ्ग जैसे।
प्रिय के प्रति ।।५८६।।
साँवले तनु में चन्दन।
प्रमदा–लोचनों में अञ्जन।
वैसे अधिकार का मण्डन।
नित्यपन से ।।५८७।।
ऐसे नित्य कर्मों में।
नैमित्तिक भी आ जुटते।
सोने में आ मिले।
सौरभ जैसे ।।५८८।।
तनु–प्राण की सम्पत्ति।
लुटा कर सन्तति का रक्षण करती।
पर उस में कभी न ऊबती।
माता जैसे ।।५८९।।
सर्वस्व से कर्मानुष्ठान।
फल पर न जिस का ध्यान।
क्रियाभाव करे अर्पण।
ब्रह्म को जो ।।५९०।।

प्रिय व्यक्ति आवे घर।
तो व्यय-शेष का न होता भान।
वैसे सत्-प्रसङ्ग के समय।
यदि छूटे नित्य कर्म ॥५९१॥

तो अकरण के खेद से।
द्वेष से जी न जलाये।
और होने के आनन्द से।
फूले नहीं ॥५९२॥

ऐसी-ऐसी सुयुक्ति से।
धनञ्जय जो कर्म निपजे।
जानो उसी का अरे।
सात्त्विक नाम ॥५९३॥

इसी प्रकार राजस के।
लक्षण कहूँगा सच्चे।
न लाना अवधान में।
न्यूनता ॥५९४॥

घर में माता पिता से।
सीधे मुँह बात न करे।
और सारे संसार का करे।
आदर मूर्ख ॥५९५॥

नहीं तुलसी के पौधे पर।
डाले दूर से भी छींटा जल।
अङ्गूर बेल में बहाये धार।
दूध की ॥५९६॥

वैसे नित्य नैमित्तिक।
कर्म जो आवश्यक।
उन के लिये पलभर।
बैठक न छोड़े ॥५९७॥

और काम्य के नाम पर।
सारा देहादि सर्वस्व।
लुटाते हुए भी बहुत।
माने नहीं ॥५९८॥

डयोढ़ा लाभ मिलने पर।
धन देने में न होते तृप्त।
ज्यों बोते समय बीज अधिक।
न कहता कोई ॥५९९॥

या पारस हाथ लगने पर।
लोहे के लिये सम्पत्ति सब।
खरचने में हर्षोत्कर्ष।
साधक जैसा ॥६००॥

वैसे फल देखकर सम्मुख।
कठिन भी काम्य कर्म।
करता पर मानता अल्प।
किया ऐसा ॥६०१॥

उस-उस फल की कामना-वश।
यथा-विधि अखण्डित।
करता जाता काम्य यथेष्ट।
क्रियाजात ॥६०२॥

और उन कर्मों की।
मुख से पीटता डौंडी।
कर्मीपन की ख्याति।
फैलाता जग में ॥६०३॥

कर्माहङ्कार से भरा वह।
पिता या गुरु को न माने कुछ।
जैसे न माने काल-ज्वर।
औषध को ॥६०४॥

वैसे अहङ्कार-युक्त।
फलाभिलाषा से मनुष्य।
करता आदर-सहित।
जो जो भी ॥६०५॥

पर वह करने में भी बहुत।
कष्ट करता सायास।
जैसे कि जीवनोपाय।
मदारी का ॥६०६॥

एक कण के लिये मूषक।
खोद डालता पर्वत।
या शेवाल के लिये मेंढक।
कूदे समुद्र में ॥६०७॥
भीख से अधिक न पाता कुछ।
पर गारुड़ी ढोता साँप का बोझ।
क्या करें श्रम हो मधुर।
लगता किसी को ॥६०८॥
अरे परमाणु–लाभ के लिये।
दीमक पाताल लाँघे।
वैसे स्वर्ग–सुख–लोभ से।
करना श्रम ॥६०९॥
वे काम्य कर्म सक्लेश।
जानो उन्हें राजस।
अब तुम सुनो चिह्न।
तामस के ॥६१०॥
तो, सुनो जो तामस कर्म।
वे निन्दा के काले धाम।
निषेध ही लेता जन्म।
सचमुच जहाँ ॥६११॥
जो निष्पन्न होने पर।
कुछ भी न होता दृष्टिगोचर।
पानी में बनाने पर।
रेखा जैसे ॥६१२॥
या माँड को मथने से।
राख को फूँकने से।
या कुछ न मिलता पेरने से।
बालू जेसे ॥६१३॥
या भूसा फटकने से।
आकाश को बींधने से।
अथवा पाश बाँधने से।
वायु को ॥६१४॥

जैसे यह समस्त।
व्यर्थ होता नष्ट।
जो करने पर व्यर्थ।
होता अन्त में ॥६१५॥
यों नरदेह के समान।
व्यय कर के अमूल्य धन।
निपजे जो कर्म करते नष्ट।
जग का सुख ॥६१६॥
जसे कमल–वन पर।
डाले कोई कँटीला जाल।
तो स्वयं भी पाता कष्ट।
नष्ट होते कमल ॥६१७॥
या स्वयं होता दग्ध।
जग में करता अन्धकार।
द्वेष के कारण पतङ्ग।
दीपक से ॥६१८॥
वैसे सर्वस्व जाये व्यर्थ।
भले देह भी हो आहत।
पर दूसरे का अपाय।
होता जिस से ॥६१९॥
मक्खी स्वयं निगली जाती।
दूसरे को वमन कष्ट देती।
ऐसी दशा की कराता स्मृति।
आचरण जो ॥६२०॥
वह दूषित करने को भी।
सामर्थ्य है या नहीं।
न देखता इतना भी।
करने लगता ॥६२१॥
कितना सा मेरा उपाय।
करने में कितना प्रसार।
और, करने से होगा लाभ।
क्या इससे ॥६२२॥

यह समस्त विचार।
पैरों तले रौंद कर।
अविवेक से ही सत्वर।
करता कर्म ॥६२३॥
अपना आश्रय जला कर।
फैलता जैसे अनल।
या स्वमर्यादा लाँघ कर।
सिन्धु उठता ॥६२४॥
न जानता अधिक-अल्प।
न देखता पीछे-सम्मुख।
मार्ग – अमार्ग एकत्र।
करता चलता ॥६२५॥
वैसे न सोच कर कृत्याकृत्य।
न रख कर निज–पर मान।
किया कर्म वह जानो निश्चित।
तामस ही ॥६२६॥
ऐसा गुण–त्रय से भिन्न।
कर्मों का यहाँ अर्जुन।
किया गया विवेचन।
उपपत्ति–सहित ॥६२७॥
यही कर्म करते हुए।
कर्ता–कर्माभिमान से।
वे जीव भी त्रिविध होते।
तदनुसार ॥६२८॥
चार आश्रम के वश से।
एक पुरुष चतुर्धा दिखे।
कर्ता का त्रैविध्य वैसे।
कर्मभेद से ॥६२९॥
उन तीनों के अन्तर्गत।
जो सात्त्विक अब प्रस्तुत।
कहूँगा तू दत्तचित्त।
हो कर सुन ॥६३०॥

फलोद्देश से रहित।
बढ़ती जैसे सरल।
शाखायें मलयगिरि पर।
चन्दन की ॥६३१॥
न फलते हुए भी सार्थक।
जैसे कि नागबेल।
वैसे करता नित्यादिक।
क्रियायें जो ॥६३२॥
किन्तु फल – शून्यता।
नहीं उनकी विफलता।
क्योंकि फल को ही भला।
लगें फल कैसे ? ॥६३३॥
करता समादर–पूर्वक।
पर 'मैं करता' यह न गर्व।
जैसे कि वर्षा – कालिक।
मेघवृन्द ॥६३४॥
परमात्मा के प्रति वैसे।
समर्पण करने के लिये।
कर्म – कलाप वह करे।
निष्पन्न सब ॥६३५॥
न लाँघता उचित काल।
साधता देश—शुद्धि सब।
करता शास्त्राज्ञा के अनुसार।
क्रिया—निर्णय ॥६३६॥
वृत्ति करके एकाग्र।
न जाने दे चित्त फल की ओर।
नियमों की श्रृङ्खला दृढ़।
रखता सदा ॥६३७॥
साधने को यह निरोध।
उत्तम स्तर का हो धैर्य।
तद्विषयक जाग्रत् चिन्तन।
रखता जो ॥६३८॥

और आत्मा के प्रीत्यर्थ।
कर्म जो होते सहज प्राप्त।
उन में देह-सुख की आड़।
न आने देता ॥६३९॥

आलस-निद्रा रहते दूर।
क्षुधा का न होता स्मरण।
सुखेच्छा न पाती स्थान।
शरीर में ॥६४०॥

तब कर्म अधिकाधिक।
करे उत्साह पूर्वक।
सुवर्ण का जैसे बढ़े कस।
अग्नि में ॥६४१॥

यदि प्रीति हो सत्य।
तो जीवन भी लगता तुच्छ।
अग्निप्रवेश समय रोमाञ्च।
होता सती को? ॥६४२॥

आत्मा जैसे प्रियतम पर।
मुग्ध हुआ जो धनञ्जय।
देहक्षय से भी उसे खेद।
होगा कैसे? ॥६४३॥

अतः छूटता विषय-सुख।
ज्यों-ज्यों देहबुद्धि होती लुप्त।
त्यों त्यों आनन्द द्विगुणित।
कर्म में जिसे ॥६४४॥

ऐसे करते हुए कर्म।
यदि आये ऐसा अवसर।
कि आरम्भ किया भी रहे अपूर्ण।
कभी पार्थ ॥६४५॥

तो पर्वत से लुढ़कता टूटे शकट।
पर न अनुभवे कोई कष्ट।
वैसे कुण्ठित होने पर भी कर्म।
दुःखी न जो ॥६४६॥

अथवा जो करना आरब्ध।
वह समाप्त हो निर्विघ्न।
तो उस से न होता गर्वित।
हर्ष से ॥६४७॥

इस युक्ति से करते कर्म।
देखो जिन्हें पाण्डुसुत।
उन को जानो वास्तविक।
सात्त्विक कर्ता ॥६४८॥

राजस कर्ता की अब।
पहचान सुनो धनञ्जय।
जगत् भर की अभिलाषा का।
पीहर वह ॥६४९॥

जैसे गांवभर का कश्मल।
कूड़े के ढेर पर एकत्र।
या श्मशान में अमङ्गल।
सभी कुछ ॥६५०॥

इसी प्रकार जो अशेष।
अभिलाषाओं का आश्रय।
पाँव धोने का स्थान।
सब दोषों का ॥६५१॥

अत एव फल का लाभ।
देखे जिस में सहज।
वही कर्म करता प्रारम्भ।
उत्साह से ॥६५२॥

अपना कमाया धन।
व्यय न करता कौड़ी भर।
वारता क्षण-क्षण उस पर।
जीवन अपना ॥६५३॥

कृपण का चित्त अपनी निधि पर।
और दक्ष पराये माल पर।
बगुला जैसा ध्यान-मग्न।
मछली के लिये ॥६५४॥

फँसाती जाने पर निकट।
छूने पर अङ्ग हो क्षताहत।
फलों से जलाती जीभ।
बेरी जैसे ॥६५५॥
वैसे मन वाचा काया से।
सब को दुःख ही देता रहे।
स्वार्थ साधने में न देखे।
पर का हित ॥६५६॥
कर्म करने की शरीर में।
क्षमता न हो भले।
पर हटता नहीं उस से।
हठपूर्वक ॥६५७॥
कनक(धतूरे)के फल में।
भीतर मद बाहर काँटे।
भीतर-बाहर रंक वैसे।
शुचित्व में ॥६५८॥
और कर्म करने पर।
फल यदि मिले धनञ्जय।
तो हर्ष से उन्मत्त हो कर।
जग को हँसे ॥६५९॥
अथवा जो कर्म आरब्ध।
वह हो जाय निष्फल।
तब जो धिक्कारे जीवन।
शोक से ॥६६०॥
कर्म में ऐसा व्यवहार।
देखो जहाँ धनञ्जय।
जानो उसे निश्चित।
राजस कर्ता ॥६६१॥
अब इस के बाद अन्य।
जो कुकर्म का ही आगर।
वह कराता हूँ गोचर।
तामस कर्ता ॥६६२॥

तो, मेरे लगने से।
सामने आया जले कैसे।
हुताशन यह न जाने।
जिस प्रकार ॥६६३॥
निज तीक्ष्णता न जाने शस्त्र।
कहे क्यों होता मुझ से घात।
या न जानता कालकूट।
निज परिणाम ॥६६४॥
अपना-दूसरों का वैसे।
धनञ्जय जो घात करे।
सदा अमङ्गल हो करे।
क्रिया जो ॥६६५॥
करते समय उसे।
क्या हुआ न विचारे।
चले आँधी में भटके।
वायु जैसा ॥६६६॥
उस का उस के कर्म से।
धनञ्जय मेल न बैठे।
उसे देखें तो पागल से।
दिखे अधिक ॥६६७॥
इन्द्रियों के चबाये हुए।
विषयों से ही जीवित रहे।
बैल की त्वचा में चिपके।
कीड़े जैसा ॥६६८॥
हँसने–रोने में विलम्ब।
न लगाता जैसे बालक।
रहता सदा उच्छृङ्खल।
उसी प्रकार ॥६६९॥
प्रकृति के वश हो कर।
कृत्याकृत्य का न करे विचार।
फूले कूड़े से भर कर।
कूड़े का ढेर जैसे ॥६७०॥

न झुके सम्मान्य मानकर।
ईश्वर के भी सम्मुख।
जो पर्वत से भी अधिक।
स्तब्धता में ॥६७१॥

छली-कपटी जिसका मन।
व्यवहार कुटिल प्रख्यात।
दृष्टि जिस की छलना-मय।
वाराङ्गना जैसी ॥६७२॥

किम्बहुना कपटमय।
घटित उसका देह।
मानो वह जीवित घर।
छूत का हो ॥६७३॥

अथवा उसका प्रादुर्भाव।
साभिलाष भीलों का गाँव।
अतः न जाना-आना उचित।
उसके पथ से ॥६७४॥

यदि हो दूसरे का हित।
तो मानो आ पड़ा सङ्कट।
जैसे दूध होता अपेय।
लवण से ॥६७५॥

हिम जैसा शीतल पदार्थ।
डालें यदि अग्नि के मध्य।
तो शीघ्र ही धधक कर।
हो अग्नि रूप ॥६७६॥

अथवा कितने भी सुद्रव्य।
शरीर में कर के प्रवेश।
अन्ततः बनते मल।
किरीटी जैसे ॥६७७॥

वैसे दूसरे का हित।
उसके कान में जाने पर।
निकलता विरुद बनकर।
वाणी से ॥६७८॥

जो गुण लेकर देता दोष।
अमृत को बनाता विष।
देखो पिलाने पर दूध।
व्याल जैसे ॥६७९॥

इहलोक में जो करने पर।
परलोक मिलता निश्चित।
वह उचित कृत्य हो प्राप्त।
जिस समय ॥६८०॥

तब जिसे अपने आप।
निद्रा घेर लेती घोर।
दुर्व्यवहार के अवसर पर।
छोड़ती अस्पृश्यसम ॥६८१॥

द्राक्ष या आम के रस में।
वायस की चोंच सड़े।
या दिवस में फूटती आँखें।
उलूक को ॥६८२॥

वैसे कल्याण–कालमें।
उसको आलस घेरे।
प्रमाद के समय रहे।
आज्ञाकारी ॥६८३॥

जैसे सागर के उदर में।
अखण्ड सिगड़ी जले।
वैसे विषाद वहन करे।
सदा चित्त में ॥६८४॥

लींडी की आग में धुँआ अन्त तक।
अपान–अङ्ग में सदा दुर्गन्ध।
वैसे जो जीवन–पर्यन्त।
विषादग्रस्त ॥६८५॥

और कल्पान्त के पार तक।
लाभ की आशा से वीर।
व्यापार का पकड़ता सूत्र।
साभिलाष ॥६८६॥

अरे जगत् के पार तक।
चिन्ता में ही रहता मग्न।
करने के नाम पर हाथ।
तृण भी न लगे ॥६८७॥

ऐसा लोगों के मध्य।
पाप-पुञ्ज मानो मूर्त।
देखो वही अव्याहत।
तामस कर्ता ॥६८८॥

ऐसे कर्म, कर्ता, ज्ञान।
इन तीनों के त्रिधा चिह्न।
दिखाये तुझे हे सुजन।
–चक्रवर्ती ॥६८९॥

अब अविद्या के गाँव में।
वस्त्र पहनकर मोह के।
सन्देह के सजाकर सारे।
अलङ्कार ॥६९०॥

आत्म-निश्चय का सौन्दर्य।
जिस दर्पण में दिखे सावयव।
उस बुद्धि की भी त्रिविध।
होती गति ॥६९१॥

अरे इन सत्त्वादि गुणों ने।
तीन भेद जिस एक के।
न किये हों ऐसा जगमें।
रहा न कुछ ॥६९२॥

आग न हो भीतर जिस के।
ऐसा कौन सा काष्ठ जगत् में।
वैसा क्या भला दृश्य कोटिमें।
जो त्रिविध नहीं ॥६९३॥

अतएव तीन गुणों से।
बुद्धि भी त्रिगुणी अरे।
धृति का भी विभाजन ऐसे।
हुआ त्रिविध ॥६९४॥

वे दोनों पृथक् अब।
लक्षणों से अलङ्कृत।
कहूँगा तुझे विशद।
भेदसहित ॥६९५॥

पर बुद्धि और धृति इन।
दोनों में से धनञ्जय।
पहले करूँ निरूपित।
भेद बुद्धि के ॥६९६॥

तो, उत्तम मध्यम निकृष्ट।
संसार में अरे सुभट।
प्राणियों के गमन पथ।
हैं तीन ॥६९७॥

अकरण, काम्य निषिद्ध।
ये तीनों मार्ग प्रसिद्ध।
संसार-भय से सबाध।
जीवों के लिये ॥६९८॥

अत: अधिकार के अनुरूप।
जो विधि के पथ से प्राप्त।
वह एक ही करने योग्य।
नित्य कर्म ॥६९९॥

वह भी आत्मप्राप्ति-रूप।
दृष्टि-सम्मुख रखकर केवल।
करें, जैसे पिये जल।
प्यासा कोई ॥७००॥

इतना हो वह कर्म।
छुड़ाकर जन्मभय विषम।
करा देता अतिसुगम।
मोक्ष-सिद्धि ॥७०१॥

ऐसे करे जो सुजन।
उस का छूटे संसारभय।
अवश्य आता मुमुक्षुत्व।
तब भाग्य में ॥७०२॥

वहाँ जो बुद्धि ऐसा।
प्रबल बाँधती भरोसा।
कि मोक्ष रखा ही हुआ।
मिलेगा यहाँ ॥७०३॥

अतः निवृत्ति हो स्थित।
प्रवृत्ति के तल में दृढ़।
ऐसे कर्म में डुबकी पार्थ।
लगाई न लगाई ॥७०४॥

कि तृषित को जल जैसे।
बाढ़ में पड़े को नाव मिले।
अन्धकूप में पहुँचें किरणें।
सूर्य की मानो ॥७०५॥

पथ्य–सहित औषध पाये।
तो रोग–ग्रस्त भी जी जाये।
या मीन को आश्रय मिले।
जल का यदि ॥७०६॥

उस के जीने में फिर।
नहीं जैसे सन्देह।
वैसे इस कर्म में प्रवृत्त।
पाये मोक्ष ॥७०७॥

करणीय–कर्म–विषयक।
यह है ज्ञान विशद।
अकरणीय को भी स्पष्ट।
जानो ऐसे ॥७०८॥

कि कर्म काम्यादिक।
संसार–भय–दायक।
अकृत्यता की अङ्कित।
मुद्रा जिन पर ॥७०९॥

उन अकरणीय कर्मों से।
जन्म–मरण—समय में।
प्रवृत्ति को कराये।
परावृत्त ॥७१०॥

प्रवेश न करें अग्नि में।
अथाह जल में न कूदें।
धधकता न पकड़ा जाये।
त्रिशूल जैसे ॥७११॥

फुफकारता काला नाग।
देखकर न करें स्पर्श।
न बढ़ायें गुफ़ा में पाँव।
व्याघ्र की ॥७१२॥

वैसे कर्म अकरणीय।
देख कर महाभय।
उपजे निःसन्देह।
जिस बुद्धि में ॥७१३॥

विष में सिद्ध परोसें अन्न।
तो मृत्यु होती निश्चित जान।
वैसे निषिद्ध से बन्धन।
देखे जो ॥७१४॥

उस बन्ध-भय से भरित।
निषिद्ध कर्म हों जब प्राप्त।
तब निवृत्ति का विनियोग।
करे वहाँ ॥७१५॥

ऐसे कार्याकार्य–विवेक से।
जो प्रवृत्ति–निवृत्ति को मापे।
खरे–खोटे रत्न परखे।
पारखी जैसे ॥७१६॥

वैसे कृत्याकृत्य–शुद्धि।
समझे जो निरवधि।
उसी को सात्त्विक बुद्धि।
जान तू ॥७१७॥

और, बगुलों के गाँव में।
नीर–क्षीर मिश्रित बिके।
या अहोरात्र न जाने।
अन्ध जैसे ॥७१८॥

जो सेवे पुष्पों का मकरन्द।
वही काष्ठ कुरेदे सानन्द।
पर नहीं होता भ्रष्ट।
भ्रमरत्व उसका ॥७१९॥
वैसे इस कार्य-अकार्य में।
धर्म-अधर्म रूप से।
जो विवेक न करे।
जानते हुए भी ॥७२०॥
परखे बिना लें मौक्तिक।
मिल जाये भले कभी शुद्ध।
पर सम्भावना रहे अधिक।
न मिलने की ॥७२१॥
अकरणीय स्वयं ही वैसे।
न आवे तभी न करें।
अन्यथा समान जाने।
दोनों को ॥७२२॥
वह भले-बुरे के विषय में।
समान बुद्धि राजस अरे।
निमन्त्रण दिये जायें जैसे।
जनसमूह में ॥७२३॥
राजा जिस पथ से जाये।
चोरों का वह कुमार्ग बने।
राक्षस दिन हुआ मानें।
रात होने पर ॥७२४॥
या निर्दैवों को निधान।
लगता कोयले की खान।
समीप का धन भी प्राप्त।
होता न जिसे ॥७२५॥
ऐसे ही जितने धर्मजात।
वे लगते उसे पातक।
सत्य को ही असत्य।
समझता वह ॥७२६॥
यों जितने भी हित-अर्थ।
सब को मान लेता अनर्थ।
गुणों को ही व्यवस्थित।
दोष माने ॥७२७॥
किम्बहुना श्रुतिजात।
कहते जिसे अनुष्ठेय।
उन सब को विपरीत।
कहे जो बुद्धि ॥७२८॥
किसी से भी न पूछते हुए।
पाण्डव तामसी जानो उसे।
रात्रिरूप धर्मार्थ के लिये।
उचित काल ॥७२९॥
ऐसे बुद्धि के भेद।
तीनों तुझे विशद।
स्वबोध-कुमुद-चन्द्र।
कहे मैंने ॥७३०॥
अब जिस की बुद्धिवृत्ति।
कर्मों में दृढ़ रहती।
उन्हीं के अनुरूप धृति।
जानो त्रिविध ॥७३१॥
उस धृति के भी विभाग।
तीनों यथालिङ्ग।
कहेंगे भली प्रकार।
दो अवधान ॥७३२॥
जैसे उदित होने पर दिनकर।
चोरी सहित जाये अन्धकार।
या राजाज्ञा से दुर्व्यवहार।
हो कुण्ठित जैसे ॥७३३॥
अथवा पवन का वेग।
लगने पर प्रबल।
छोड़ जाते आकाश।
जैसे मेघ ॥७३४॥

होने पर अगस्त्य–दर्शन।
समुद्र पड़ता जैसे मौन।
चन्द्रोदय से कमलवन।
होता मुकुलित ।।७३५।।

अथवा उठा हुआ चरण।
नीचे न रखता मदमुख।
यदि गरजता हुआ सिंह।
आये सम्मुख ।।७३६।।

वैसे जो धैर्य।
अन्तर में आने पर।
मन आदि के व्यापार।
छूटते सत्वर ।।७३७।।

इन्द्रिय-विषयों की ग्रन्थि।
स्वयं खुल जाती किरीटी।
मन–माता के उदर में ही।
प्रविष्ट दशेन्द्रिय ।।७३८।।

अध–ऊर्ध्व के भेद छोड़कर।
नौ प्राणों को बाँधकर।
लगाता डुबकी मन।
मध्यमा में ।।७३९।।

सङ्कल्प–विकल्प के वस्त्र।
उतार कर मन अनावृत।
बुद्धि के पीछे जा कर।
बैठे स्तब्ध ।।७४०।।

ऐसा धैर्यराज जो।
मन–प्राण–करणों को।
स्वचेष्टा के बन्ध से अहो।
छुड़ा देता ।।७४१।।

फिर सब इन्द्रियों को एकत्र।
ध्यान–कोठरी में दृढ़।
युक्ति से कर देता बन्द।
योग से ।।७४२।।

परमात्मा चक्रवर्ती जब तक।
हाथ में न ले तब तक।
न लेते हुए कोई लोभधन।
पकड़े रखता ।।७४३।।

जिस धृति से वही निश्चित।
यहाँ कहलाती सात्त्विक।
सुनो कहते श्रीकान्त।
अर्जुन से ।।७४४।।

जो स्वयं शरीरी हो कर रहे।
स्वर्ग–संसार दोनों घरों में।
वहीं यथेष्ट सुख माने।
त्रिवर्गोपाय से ।।७४५।।

वह मनोरथ के सागर में।
धर्मार्थ–काम की नौका में।
करता जिस धैर्य–बल से।
वाणिज्य–क्रिया ।।७४६।।

जो कर्म का मूल लगाये।
चौगुने लाभ की आशा से।
इतना श्रम और धोखा सहे।
जिस धृति से ।।७४७।।

वही धृति राजस।
कहलाती यहाँ पार्थ।
अब सुनो तामस।
जो तीसरी ।।७४८।।

सभी अधम गुण मिल कर।
बनता जिस का रूप।
कालिख से ही घटित।
कोयला जैसे ।।७४९।।

अहो प्राकृत और हीन।
कैसे दें उसे गुण का मान।
पर न कहते क्या 'पुण्यजन'।
राक्षसों को ।।७५०।।

ग्रहों में अङ्गार–सदृश।
नाम उसका मङ्गल।
वैसे तम के प्रति अयोग्य।
गुणशब्द ॥७५१॥

जो सर्वदोषों का आश्रय।
वह तम ही जिस में एकत्र।
होकर बना मनुष्य रूप।
जिस का सुभट ॥७५२॥

आलस को रखे कुक्षि में।
अतः निद्रा कभी न छोड़े।
पाप पोसने से न छोड़ते।
दुःख जैसे ॥७५३॥

और देह–धन की प्रीति से।
सदा भयभीत रहे।
पाषाण को कभी न छोड़े।
काठिन्य जैसे ॥७५४॥

पदार्थजात से स्नेह।
बाँधे अतः शोकग्रस्त।
छोड़कर न जाता पाप।
कृतघ्न को जैसे ॥७५५॥

चित्त को असन्तोष।
पकड़े रहता अहर्निश।
अतः मैत्री करता विषाद।
स्वयं उस से ॥७५६॥

लहसुन को न छोड़े गन्ध।
या अपथ्यशील को रोग।
वैसे रहता मरण–पर्यन्त।
विषाद उस में ॥७५७॥

और यौवन, वित्त, काम।
इन का बढ़ा कर संभ्रम।
मद बनाता आश्रम।
अपना उसे ॥७५८॥

अग्नि को न छोड़े ताप।
वैर को जातिवर साँप।
या जगत् का वैरी अखण्ड।
भय जैसे ॥७५९॥

अथवा शरीर को काल।
न छोड़ता कभी क्षणभर।
वैसे रहता अटल।
तामस में मद ॥७६०॥

ऐसे पाँचों निद्रादिक।
तामस में रहते दोष।
जिस धृति के कारण सबल।
पकड़े हुए ॥७६१॥

उसी धृति का नाम।
तामसी यहाँ जान।
बोले उस से देव।
जगत् के ॥७६२॥

ऐसी जो बुद्धि त्रिविध।
पहले से करती कर्म–निश्चय।
उसे देती सिद्धि यह।
धृति पार्थ ॥७६३॥

सूर्य से मार्ग होता गोचर।
पर चलते पाँव उस पर।
वह चलना होता सम्भव।
धैर्य से जैसे ॥७६४॥

वैसे बुद्धि दिखाती कर्म।
वे करण-सामग्री से निष्पन्न।
पर निपजाने को आवश्यक।
धीरता जो ॥७६५॥

उसी को अरे तेरे प्रति।
कहा मैंने त्रिविध धृति।
कर्मत्रय को निष्पत्ति।
होती जिस से ॥७६६॥

निपजता जो एक फल।
उस को कहते सुख।
उसे भी जानो त्रिविध।
कर्मवश ॥७६७॥

तो फलरूप वह सुख।
त्रिगुण से भेदित देख।
करूँ विवेचन विशद।
शुद्ध वचन से ॥७६८॥

पर वह शुद्धता अरे।
ग्रहण करें यदि शब्दपथ से।
तो श्रवण के भी स्पर्श से।
होगी सदोष ॥७६९॥

अत: जिस के योग से।
अवधान भी बाहर रहे।
अन्तरतम वृत्ति से।
सुनो उसे ॥७७०॥

ऐसा कह कर देव।
त्रिविध सुख का प्रस्ताव।
करने लगे, वह निरूपण।
करूँ वर्णित ॥७७१॥

कहा सुख–त्रय–संज्ञा।
कहूँगा ऐसी प्रतिज्ञा।
की थी तुझ से प्राज्ञ सखा।
सुनो अब ॥७७२॥

तो किरीटी वह सुख।
कराऊँगा दृष्टिगोचर।
जो आत्म-मिलन से प्राप्त।
होता जीव को ॥७७३॥

पर मात्रा के नाप से।
दिव्यौषध लेते जैसे।
या लोहे से रूपा बनाते।
रस–पुट दे कर ॥७७४॥

अथवा लवण से जल।
करने को दो चार बार।
छिटकाते उस पर बूंद।
जल की जैसे ॥७७५॥

वैसे होने पर सुखलेश।
जीव बढ़ाता अभ्यास।
तो जीवपन का होता नष्ट।
दुःख जहाँ ॥७७६॥

वह भी यहाँ आत्मसुख।
हो रहता त्रिगुणात्मक।
कहूँगा अब एक–एक।
रूप उस के ॥७७७॥

चन्दन–तरु के मूल।
सर्पों के कारण भयङ्कर।
या निधान का मुख।
पिशाच से जैसे ॥७७८॥

अरे स्वर्ग के सुन्दर।
भोग में याग सङ्कट।
या बालपन क्लेशदायक।
कष्ट के समय ॥७७९॥

यह रहे; जलाना हो दीप।
तो पहले सहन करें धूम।
या औषधि जैसे कष्टकर।
जिह्वा को ॥७८०॥

उसी प्रकार पाण्डव।
जिस सुख का प्रारम्भ।
यम–दम के कारण।
होता विषम ॥७८१॥

सर्व स्नेह को निगले।
अङ्गों में ऐसा वैराग्य उपजे।
स्वर्ग–संसार के तोड़े।
बन्धन सब ॥७८२॥

विवेक–श्रवण प्रखर।
जहाँ व्रताचरण कर्कश।
करने में होते खण्ड–खण्ड।
बुद्धि आदि के ।।७८३।।
सुषुम्णा के मुख से।
प्राणापान के ग्रास निगलें।
प्रारम्भ में ही इतने।
कष्ट जहाँ ।।७८४।।
सारस-युगल करें वियुक्त।
दुहते समय हटायें वत्स।
या भूखे को उठायें परोस कर।
थाली पर से ।।७८५।।
या माँ से इकलौता बालक।
छीन ले यदि काल।
अथवा उदक से दूर।
करें मीन को ।।७८६।।
वैसे ही विषयों का घर।
छोड़ने में इन्द्रियों को घोर।
कष्ट युगान्तसम, पर विराग।
सहाता वह ।।७८७।।
ऐसे जिस सुख का आरम्भ।
दिखाता काठिन्य का क्षोभ।
फिर क्षीराब्धि से लाभ।
अमृत का जैसे ।।७८८।।
पहले वैराग्य गरल।
धैर्य शम्भु करे प्राशन।
फिर ज्ञानामृत आनन्द।
होता गोचर ।।७८९।।
कमरख को भी करे मात।
कच्चे अङ्गूर की खटास।
वहीं परिपाक से माधुर्य।
आता जैसे ।।७९०।।
वैसे ही वैराग्यादिक।
आत्म–प्रकाश से हों पक्व।
फिर वैराग्य–सहित होता नष्ट।
अविद्याजात ।।७९१।।
तब सागर में गङ्गा जैसे।
आत्मा में मिले बुद्धि वैसे।
अद्वयानन्द की खान उघड़े।
अपने–आप ।।७९२।।
ऐसे स्वानुभव विश्राम में।
वैराग्यमूल जो परिणमे।
उसे ही सात्त्विक नाम से।
कहते सुख ।।७९३।।
इन्द्रिय और विषय।
मिलने से धनञ्जय।
बह निकलता जो सुख।
तट छोड़ दोनों ।।७९४।।
गाँव में अधिकारी आवे।
दिखता तब उत्साह जैसे।
या ऋण कर के विवाह में।
उत्साह जैसे ।।७९५।।
रोगी की जिह्वा के निकट।
केला, शक्कर जैसे मधुर।
या बचनाग का मीठापन।
जैसा पहले ।।७९६।।
सभ्य चोर की मैत्री प्रथम।
पण्याङ्गना का प्रथम मिलन।
या बहुरुपिये के विचित्र।
विनोद जैसे ।।७९७।।
वैसे विषयेन्द्रिय–मिलने से।
जो सुख जीव को हर्ष दे।
फिर शिला पर झपट कर मरे।
हंस जैसे ।।७९८।।

वैसे व्यय हो जब सारा संग्रह।
आयु का हो जाय क्षय।
सुकृत की भी खुले गाँठ।
अर्जित धन की ॥७९९॥

और भोगा हुआ सब कुछ।
पल-भर में हो स्वप्न-सम।
फिर हानि के घाव।
दुःखें उर में ॥८००॥

ऐसी आपत्ति में जो सुख।
परिणमे इहलोक में देख।
देख परलोक में वही विष।
होकर लौटे ॥८०१॥

जो इन्द्रिय-लालन के लिये।
धर्म का खेत दे दे।
फसल जलाकर भोगा जाये।
विषय-सुख जहाँ ॥८०२॥

वहाँ पातक होते प्रबल।
जो दिलाते नरक में स्थान।
जिस सुख से होता अपाय।
परत्र ऐसा ॥८०३॥

नाम से विष 'मधुर'।
पर अन्त में देता मरण।
वैसे पहले जो मधुर।
अन्त में कटु ॥८०४॥

रजस् से ही निर्मित।
पार्थ! वह सुख सचमुच।
अतः न करने दो स्पर्श।
निज को कभी ॥८०५॥

और अपेय के पान में।
अखाद्य के भोजन में।
स्वैर स्त्री की सन्निधि म।
ज. होता सुख ॥८०६॥

या दूसरे के घात से।
परधन के अपहरण से।
अथवा जो सुख मिले।
भाट की स्तुति से ॥८०७॥

जो आलस से होता पोषित।
या निद्रा में अनुभूत।
जिस के आदि-अन्त में पथ।
भूले अपना ॥८०८॥

उस सुख को अरे पार्थ।
सर्वथा जानो तामस।
न कहूँगा बहुत, इसे सुख।
कहना असम्भव ॥८०९॥

ऐसे मूल-कर्म-भेद से।
फल-सुख भी त्रिधा हुए।
वे यथागम कराये।
गोचर तुझे ॥८१०॥

वे कर्ता-कर्म-कर्मफल।
यह त्रिपुटी एक केवल।
इस के सिवा नहीं कुछ स्थूल।
या सूक्ष्म यहाँ ॥८११॥

और यह त्रिपुटी।
तीनों गुणों से किरीटी।
वैसे ही बुनी हुई जैसे।
तन्तु से पट ॥८१२॥

अतः प्रकृति के अवलोक में।
इन सत्त्वादि से न बँधे।
ऐसी स्वर्ग या मृत्युलोक में।
न कोई वस्तु ॥८१३॥

ऊन बिना कम्बल कैसा?
मिट्टी बिना कैसा ढेला?
कल्लोल क्या जल-बिना।
हो सकता? ॥८१४॥

वैसे गुणों से न निर्मित।
सृष्टि–रचना में पार्थ।
नहीं कदापि सम्भव।
प्राणिजात ।।८१५।।

इस कारण यह सकल।
तीनों गुणों का ही केवल।
घटित है निखिल।
जानो पार्थ ।।८१६।।

गुणों से बनी देव–त्रयी।
गुणों से हुई लोक–त्रिपुटी।
बने चतुर्वर्णों के भी।
विभिन्न कर्म ।।८१७।।

वे चारों वर्ण।
यदि पूछो कौन–कौन।
तो जिन में मुख्य ब्राह्मण।
धुरीण जानो ।।८१८।।

अन्य दो क्षत्रिय–वैश्य।
जो ब्राह्मण के समान मान्य।
क्योंकि वे कहलाये योग्य।
वैदिक विधान में ।।८१९।।

धनञ्जय चौथा जो शूद्र।
उसे नहीं वेदाधिकार।
और वर्णत्रय के अधीन।
वृत्ति उस की ।।८२०।।

वृत्ति के सामीप्य से।
ब्राह्मणादि के आगे।
शूद्र भी वर्णों में।
चौथा हुआ ।।८२१।।

जैसे फूलों के सङ्ग से।
तन्तु भी सूँघे जाते।
वैसे शूद्र को द्विज–सङ्ग से।
स्वीकारे श्रुति ।।८२२।।

ऐसे–ऐसे हो पार्थ।
चातुर्वर्ण्य–व्यवस्था यह।
करूँ कर्म–पथ का निरूपण।
इन सब का ।।८२३।।

जिन गुणों से ये वर्ण चार।
जन्म–मृत्यु का चक्र।
पार करके पाते प्रवेश।
ईश्वर में ।।८२४।।

जिस आत्मप्रकृति के।
सत्वादि तीन गुणों से।
चारों में चार प्रकार से।
बांटे वर्णों में ।।८२५।।

पिता सन्तति में धन बाँटे।
सूर्य पथिकों को पथ दिखाये।
अथवा सेवकों को कार्य जैसे।
देता स्वामी ।।८२६।।

वैसे प्रकृति के गुणानुसार।
जिन कर्मों का विस्तार।
इन चारों वर्णों में पार्थ।
किया गया ।।८२७।।

वहाँ सत्त्व ने निज अङ्ग से।
सम–विषम भागों से।
ये दोनों उत्पन्न किये।
ब्राह्मण–क्षत्रिय ।।८२८।।

जो रजोगुण सात्त्विक।
उस से बना वैश्यलोक।
और रज जो तम–मिश्रित।
उस से शूद्र ।।८२९।।

एक ही प्राणिवृन्द के।
भेद चतुर्वर्ण में ऐसे।
जानो गुणों ने ही किये।
हे प्रबुद्ध ! ।।८३०।।

फिर स्वयं रखी वस्तु जैसे।
दीपक द्वारा सहज दिखे।
गुण-भिन्न कर्म वैसे।
दिखाता शास्त्र ॥८३१॥
तो अब वे कौन-कौन।
वर्ण-विहित के लक्षण।
कहूँगा सुनो हे श्रवण।
–सौभाग्यनिधि ॥८३२॥
तो सर्वेन्द्रियों की वृत्ति सखे।
ले कर हाथ में अपने।
बुद्धि आत्मा से मिले एकान्तमें।
प्रिया जैसे ॥८३३॥
ऐसा बुद्धि का उपरम।
उस को नाम मिला शम।
वह गुण हो उपक्रम।
जिस कर्म का ॥८३४॥
और बाह्येन्द्रियों का समुदाय।
विधि का दण्ड लेकर।
न जाने देता कभी पार्थ।
अधर्म की ओर ॥८३५॥
तो शम को सदा सहायक।
जहाँ दम होता गुण द्वितीय।
स्वधर्म का करता अनुसरण।
जो जीवन ॥८३६॥
जैसे छठो को रात में।
दीपक को न बुझने दें।
वैसे ईश्वर-निर्णय चित्त में।
रहे सदा ॥८३७॥
उसी का नाम तप।
जो तीसरा गुण का रूप।
और शुचिता हो निष्पाप।
द्विविध जहाँ ॥८३८॥
भाव-शुद्धि से भरित मन।
क्रिया से अलङ्कारित तन।
ऐसा सबाह्य जीवन।
रुचिपूर्ण जिसका ॥८३९॥
उस का नाम शौच पार्थ।
वह कर्मों में गुण चतुर्थ।
और पृथ्वीसम करना सहन।
सर्वथा सब कुछ ॥८४०॥
तो वह क्षमा पाण्डव।
गुण जहाँ पञ्चम।
स्वरों में मधुरतम।
पञ्चम जैसा ॥८४१॥
और कुटिल प्रवाह में से।
गङ्गा ऋजु ही बहे जैसे।
या पोरों पर टेढ़े गन्ने में।
मिठास जैसी ॥८४२॥
विषम जीवों के प्रति भी वैसे।
ऋजु हो व्यवहार रहे।
वह आर्जव नाम का अरे।
छठा गुण जहाँ ॥८४३॥
माली श्रमपूर्वक पानी सींचे।
अखण्ड वृक्षों के मूल में।
उस सब का परिणाम फल में।
जाने जैसे ॥८४४॥
वैसे शास्त्राचार द्वारा।
एक ईश्वर ही प्राप्य सदा।
स्पष्टतया यह जानना।
यही ज्ञान ॥८४५॥
वही जानो कर्म का।
सातवाँ गुण होता।
और देखो विज्ञान का।
रूप यह ॥८४६॥

कि सत्त्वशुद्धि की वेला में।
शास्त्र या ध्यान–बल से।
ईश्वर–तत्त्व में ही मिले।
निष्टङ्क बुद्धि ॥८४७॥

यह उत्तम विज्ञान।
जहाँ आठवाँ गुणरत्न।
और जानो आस्तिक्य।
गुण नवम ॥८४८॥

जैसे राजमुद्रा से युक्त।
कोई भी प्रजा का मान्य।
वैसे शास्त्र से स्वीकृत।
मार्ग–मात्र को ॥८४९॥

मानना आदर पूर्वक।
उसे मैं कहता आस्तिक्य।
इस नवम गुण से युक्त।
कर्म सत्य ॥८५०॥

ऐसे नवों शमादिक।
गुण हों जहाँ निर्दोष।
वह कर्म जानो स्वाभाविक।
ब्राह्मण का ॥८५१॥

वह नव–गुण–रत्नाकर।
इन नवरत्नों का हार।
पहने रहता सदा दिनकर।
प्रकाश जैसे ॥८५२॥

या चम्पातरु चम्पा से पूजित।
चन्द्र चन्द्रिका से धवलित।
या चन्दन जैसे चर्चित।
निज सौरभ से ॥८५३॥

वैसे नवगुण अलङ्कार।
ब्राह्मण के अव्यङ्ग।
कभी न छोड़ते अङ्ग।
ब्राह्मण का ॥८५४॥

अब क्षत्रिय को जो उचित।
वे सब कर्म धनञ्जय।
कहूँ सुनो देकर चित्त।
प्रज्ञापूर्ण ॥८५५॥

तो भानु प्रकाशन के लिये।
सहाय न चाहे जैसे।
या सिंह न कभी खोजे।
साथ किसी का ॥८५६॥

ऐसा स्वयं ही जो दृढ़चित्त।
सहाय–बिना ही उद्भट।
वह शौर्य जहाँ श्रेष्ठ।
गुण प्रथम ॥८५७॥

तथा सूर्य के प्रकाश में।
कोटिक नक्षत्र छिप जाते।
पर सूर्य कभी न लोपे!
चन्द्रताराओं से ॥८५८॥

वैसे अपनी प्रौढिमा से।
जो जग को विस्मित करे।
पर स्वयं कभी किसी से।
न हो क्षोभित ॥८५९॥

वह प्रागल्भ्य–रूप तेज।
जिस कर्म का गुण द्वितीय।
और धैर्य तृतीय।
गुण जिस का ॥८६०॥

भले टूट पड़े आकाश।
पर मन बुद्धि के नेत्र।
झपकें नहीं वह धैर्य।
सुनो जहाँ ॥८६१॥

कितना भी गहरा हो जल।
विजयी पद्म खिलता ऊपर।
आकाश रहता उच्चतम।
सदा सब से ॥८६२॥

प्राप्त अवस्थायें विविध।
जीतकर वैसे पार्थ।
भेदन कर के स्थिर।
निष्पन्न अर्थ का ॥८६३॥

वह दक्षत्व-रूप श्रेष्ठ।
देखो जहाँ गुण चतुर्थ।
और युद्ध-पटुता अलौकिक।
गुण पञ्चम ॥८६४॥

सूरजमुखी आदित्य-प्रिय।
सदा रहे सूर्य के सम्मुख।
वैसे शत्रु के अभिमुख।
होना जो ॥८६५॥

जैसे सगर्भा सप्रयत्न।
बचाती सेज पर शयन।
रिपु को न दिखाये वैसे पीठ।
समराङ्गण में ॥८६६॥

क्षत्रियाचार में यह।
सुनो पाँचवाँ गुणेन्द्र।
चारों पुरुषार्थों में श्रेष्ठ।
भक्ति जैसे ॥८६७॥

और भरें जब फूल-फल।
शाखायें होतीं अवनत।
या परिमल देने में उदार।
पद्माकर ॥८६८॥

जैसे सब को जीभर।
चाँदनी लुटाती सुख।
वैसे इच्छुक को इच्छानुरूप।
देना जो ॥८६९॥

वह अमर्याद दान।
जहाँ छठा गुणरत्न।
और आज्ञा का एकायतन।
होना जो ॥८७०॥

पुष्ट बनाये हों अवयव।
तो करा सकते यथेष्ट काम।
वैसे सप्रेम कर के पालन।
भोगना जग को ॥८७१॥

ईश्वर-भाव उस का नाम।
जो सर्व-सामर्थ्य का धाम।
वह गुणों में नृप-तुल्य।
सप्तम यहाँ ॥८७२॥

जो शौर्यादिक ऐसे।
इन सात गुणविशेषों से।
अलङ्कृत सप्त ऋषियों से।
आकाश जैसे ॥८७३॥

वैसे सप्त गुणों से विचित्र।
कर्म जो जग में पवित्र।
उसे जानो सहज क्षात्र।
क्षत्रिय का ॥८७४॥

अथवा क्षत्रिय नहीं नर।
सत्त्व-स्वर्ण का मेरु वह।
अतः सप्त स्वर्ग के आधार।
ये सप्त गुण ॥८७५॥

अथवा सप्त-गुणार्णव से।
घिरी हुई भली प्रकार से।
क्रिया रूप पृथ्वी का वे।
लेते भोग ॥८७६॥

या सातों गुणों के ओघ में।
क्रिया यह गङ्गा जग में।
उस महोदधिरूप पुरुष में।
विलसे मानो ॥८७७॥

पर रहने दो यह बहुत।
शौर्यादि गुणात्मक।
कर्म हैं नैसर्गिक।
क्षत्रजाति के ॥८७८॥

अब वैश्य की जाति में।
महामति ! जो उचित दिखे।
सुनो वह क्रिया तुझे।
कहूँ विशद ॥८७९॥

तो भूमि बीज और हल।
इस सामग्री का आधार।
ले कर लाभ अपार।
पाना जो ॥८८०॥

किम्बहुना कृषि-निर्भर जीवन।
गोधन का संरक्षण–वर्धन।
अल्प मूल्य से वस्तु का क्रय।
विक्रय अधिक में ॥८८१॥

इतना ही पाण्डव।
वैश्य का कर्म–समुदाय।
वैश्य जाति के स्वभावगत।
जानो इसे ॥८८२॥

वैश्य, क्षत्रिय, ब्राह्मण।
जो द्विजन्मा तीन वर्ण।
इन का सम्यक् शुश्रूषण।
यह शूद्र कर्म ॥८८३॥

द्विजसेवा से अन्य।
नहीं शूद्र का कर्तव्य।
ऐसे चतुर्वर्णोचित।
दिखाये कर्म ॥८८४॥

ये ही विचक्षण सखे।
भिन्न–भिन्न वर्णों के।
उचित, जैसे करणों के।
शब्दादिक ॥८८५॥

अथवा जलद से च्युत।
पानी को सरिता उचित।
सरिता को फिर पाण्डुसुत।
उचित सिन्धु ॥८८६॥

वैसे वर्णाश्रम–वश।
जो करणीय हो प्राप्त।
जैसे गौर अङ्ग में निहित।
गौर वर्ण ॥८८७॥

उस स्वभाव–विहित कर्म का।
वीर ! शास्त्रमुख कहे जैसा।
प्रवर्तन करने के लिये वैसा।
करें प्रज्ञा अटल ॥८८८॥

अपने रत्न की भी कराते।
परीक्षा जैसे पारखी से।
वैसे स्वकर्म को समझें।
शास्त्रमुख से ॥८८९॥

जैसे दृष्टि अपने में स्थित।
पर दीप बिना न होता भोग।
मार्ग न मिले तो पाँव।
होने से क्या ? ॥८९०॥

अतः ज्ञातिवश से साचार।
सहज हो जो अधिकार।
वह अपना भी शास्त्र से गोचर।
कर लें पार्थ ॥८९१॥

घर में ही स्थित वस्तुजात।
नेत्रों को दिखाता दीपक।
तो लेने में उसे पाण्डव।
बाधा क्या ? ॥८९२॥

वैसे स्वभाव से आया भाग में।
फिर शास्त्र उसे उचित कहें।
ऐसे विहित का अपने।
करें आचरण ॥८९३॥

पर आलस छोड़ कर।
फल–कामना न रख कर।
तन–मन सब लगा कर।
करें सविधि ॥८९४॥

प्रवाह में पड़ा जल।
न जाने बहना इधर-उधर।
वैसे करे आचरण।
व्यवस्थित ॥८९५॥

इस प्रकार जो अर्जुन।
करे अपने विहित कर्म।
वह मोक्ष द्वार में प्रवेश।
पाता अवश्य ॥८९६॥

जो अकरण और निषिद्ध।
न रहे उन से सम्बन्ध।
अतः विरुद्ध भाव से मुक्त।
हुआ वह ॥८९७॥

और, काम्य कर्म की ओर।
चाव से न डाले नेत्र।
जैसे चन्दन के भी बेड़ी-बन्धन।
न लेता कोई ॥८९८॥

और सभी नित्य कर्म।
फल-त्याग से हुए समाप्त।
अतः मोक्ष की सीमा तक।
जा पहुँचे ॥८९९॥

ऐसे शुभाशुभ संसार से।
छूटा हुआ वह सखे।
द्वार पर वैराग्य-मोक्ष के।
आ पहुँचे ॥९००॥

जो सकल भाग्य की सीमा।
मोक्षलाभ की जो प्रमा।
या कर्म—मार्ग के श्रम का।
अन्त जहाँ ॥९०१॥

मोक्ष—फल ने दिया निधान।
जो सुकृत—तरु का सुमन।
उस वैराग्य में करता प्रवेश।
भ्रमर जैसा ॥९०२॥

देखो आत्मज्ञान सुदिन।
घोषित करे जो अरुण।
उस वैराग्य का उदय।
प्राप्त जिसे ॥९०३॥

किम्बहुना जो आत्मज्ञान।
हस्तगत कराता निधान।
वह वैराग्य—दिव्याञ्जन।
हो हृदयस्थ ॥९०४॥

ऐसी योग्यता मोक्ष की।
पाण्डुसुत उसे सिद्ध होती।
अनुसरण करके विहित कर्म की।
पद्धति यह ॥९०५॥

यह विहित कर्म हो पाण्डव।
अपना कल्याण अनन्य।
और यही सेवा परम।
मुझ सर्वात्मक की ॥९०६॥

समस्त भोगों सहित।
पतिव्रता का रमण प्रियार्थ।
और यही कहलाता तप।
उस के लिये ॥९०७॥

या बालक को माँ के सिवा।
जीवन भला और कहाँ?
अतः उसी की सेवा उस का।
अनन्य धर्म ॥९०८॥

अथवा जल मान कर ही मत्स्य।
रहे सदा गङ्गा—मध्य।
तो सब तीर्थों का सहवास।
सहज उसे ॥९०९॥

वैसे अपना विहित कर्म।
न छोड़ना है उपाय उत्तम।
वह ऐसा करें कि उपकृत।
हों जगन्नाथ ॥९१०॥

अरे जिस का जो विहित।
वह ईश्वर का मनोगत।
अतः करने पर निश्चित।
मिलें ईश्वर ।।९११।।
सेवा से चित्त प्रसन्न करे।
वह दासी भी स्वामिनी बने।
सिर दे कर सेवक पाये।
पुरस्कार जैसे ।।९१२।।
वैसे स्वामी का मनोभाव।
न चूकें यह सेवा परम।
अन्य तो सब पाण्डव।
वाणिज्य ही ।।९१३।।
विहित क्रिया का आचरण।
यही उन का आज्ञापालन।
जिन से हुए निष्पन्न।
भूतमात्र ।।९१४।।
जो अविद्या रूप चिथड़ों से।
जीवरूप गुड़ियाँ बनाये।
फिर त्रिगुण-रज्जु से नचाये।
अहङ्कार-रूप ।।९१५।।
जिस से यह जगत् समस्त।
भीतर-बाहर पूर्ण भरित।
जैसे दीप का निर्माण।
तेज से पार्थ ।।९१६।।
सर्वात्मक ईश्वर के प्रति।
वीर! स्वकर्म-कुसुमों की।
पूजा की जाय तो देती।
अपार तोष ।।९१७।।
अतएव उस पूजा से।
रीझ कर आत्मराज वे।
वैराग्यसिद्धि-रूप देते।
प्रसाद अपना ।।९१८।।

जिस वैराग्य-दशा में।
ईश्वर की लगन से।
यह सब न सुहाये, लगे।
वमन-सम ।।९१९।।
प्राणनाथ की चिन्ता में।
विरहिणी को जीना न रुचे।
वैसे सच ही सब सुख लगते।
दुःख रूप ।।९२०।।
सम्यक् ज्ञान के उदय तक।
वह प्रीति से ही रहता तन्मय।
जिस से योग्यता श्रेष्ठ।
पाता बोध की ।।९२१।।
अतः मोक्षलाभ के लिये।
जो व्रतस्थ हो कर जिये।
वह आस्था से स्वधर्म का करे।
अनुष्ठान ।९२२।।
अरे अपना यह स्वधर्म।
आचरण में यदि लगे विषम।
तो देखो उस का परिणाम।
जो होगा फलित ।।९२३।।
यदि अपने सुख-हेतु औषध।
नीम ही हो धनञ्जय।
तो उस की कटुता से ऊब।
नहीं उचित ।।९२४।।
फलने से पूर्व निराश।
करे यदि केले का वृक्ष।
तब काट दें तो स्वादुफल।
मिले कैसे? ।।९२५।।
वैसे स्वधर्म को कठिन।
मान कर यदि दिया त्याग।
तो साथ ही मोक्षसुख।
त्यागा गया न! ।।९२६।।

अरे अपनी माता।
भले हो वह कुब्जा।
पर उस का स्नेह न होता।
कुरूप कभी ॥९२७॥
भले हो माँ पराई।
रम्भा से भी सुन्दरी।
पर वह किस काम की?
बालक के लिये ॥९२८॥
अरे पानी से कहीं अधिक।
भले हों घृत में गुण।
पर मीन को क्या जीवन।
मिले उस से? ९२९॥
सारे जग को जो विष।
वही विषकीट को पीयूष।
और जग का गुड़ निश्चित।
मरण उस का ॥९३०॥
अतः जिस को जो विहित।
उसी से मिटता संसार-दुःख।
क्रिया हो कठोर पर उचित।
करना वही ॥९३१॥
पराचार को सुन्दर।
देख कर करें अङ्गीकार।
तो पाँव से चलना छोड़कर।
शिर से चलें जैसे ॥९३२॥
इसलिये अपना कर्म।
जो जाति-स्वभाव से प्राप्त।
वही करें तो हो उद्धार।
कर्म-बन्ध से ॥९३३॥
और स्वधर्म का पालन।
तथा परधर्म का वर्जन।
यह नियम यदि पाण्डव।
पालें नहीं ॥९३४॥

आत्मदर्शन नहीं जब तक।
करने होंगे ही कर्म तब तक।
और करने में आयास।
सदा है ही ॥९३५॥
यदि किसी भी कर्म में।
आयास होता उपक्रम में।
तो स्वधर्माचरण में।
दोष क्या ॥९३६॥
अरे ऋजुपथ से कोई चले।
चरण में हो श्रम उस के।
और कुटिल पथ से चले।
तो भी वही ॥९३७॥
पत्थर बाँधा हो या पाथेय।
भार दोनों का लगता समान।
जिस के वहन से मिटे श्रम।
उचित लेना वही ॥९३८॥
ऐसे ही कण या भूसा।
फटकने में श्रम एकसा।
जो श्रम श्वानमाँस-रन्धन का।
वही हविषान्न का ॥९३९॥
दधि या जल का मन्थन।
व्यापार एक हो विचक्षण।
घानी में हो बालू या तिल।
पेरना समान ॥९४०॥
नित्य होम करने में।
या यों ही अग्नि सुलगाने में।
धुँवा सहना फूंकने में।
समान पाण्डव ॥९४१॥
यदि धर्मपत्नी और उपपत्नी के।
पालन में व्यय समान आये।
तो अन्याय-दोष क्यों लें।
अपने ऊपर ॥९४२॥

यदि पीठ के घाव से।
मरण निश्चित ही दिखे।
तो क्यों न सामने से।
सहें उसे ॥९४३॥
कुलस्त्री डण्डों की मार।
सहे परघर भी जाकर।
तो निजपति को ही व्यर्थ।
छोड़ना क्यों? ॥९४४॥
वैसे रुचिकर भी कर्म।
न होते जब बिना श्रम।
तो विहित को विषम।
कहें क्यों पार्थ! ॥९४५॥
लेने में थोड़ा सा अमृत।
भले सर्वस्व बिके पाण्डुसुत।
जिस से प्राप्त हो अक्षयत्व।
जीवन का ॥९४६॥
दूसरा क्यों मोल दे कर।
विष पियें खरीद कर।
आत्महत्या का दोष सहकर।
मरें जिस से ॥९४७॥
वैसे इन्द्रियों को करके क्षीण।
बिता कर आयुष्य के दिन।
संचित हो पाप तो मिले अन्य।
क्या दुःख सिवा ॥९४८॥
अतः करें स्वधर्माचरण।
जो करने में श्रम-हरण।
देगा फल उचित परम।
पुरुषार्थ-राज ॥९४९॥
किरीटी! इस कारण।
स्वधर्म का आचरण।
न छोड़ें, सङ्कटसमय।
सिद्धमन्त्र जैसे ॥९५०॥

या, उदधि में जैसे नाव।
रोगी निज दिव्यौषध।
न छोड़े वैसे बुद्धिमन्त।
स्वकर्म यहाँ ॥९५१॥
फिर कपिध्वज सखे।
इसी स्वकर्म-पूजा से।
तुष्ट हुए ईश मिटाते।
तम रज को ॥९५२॥
और, शुद्ध सत्त्व की बाट पर।
अपनी उत्कण्ठा बढ़ाकर।
भव-स्वर्ग को कालकूट।
सदृश दिखाते ॥९५३॥
वैराग्य-संसिद्धि नाम से।
कहा गया जिसे पहले।
किम्बहुना, वहीं हमें।
पहुँचा देते ॥९५४॥
वह भूमिका पाने पर।
पुरुष जैसे हो सर्वत्र।
उस स्थिति में जो होता।
वह कहूँ अब ॥९५५॥
तो, देहादिक इस संसार में।
सब फँसा जिस जाल में।
वहाँ न फँसे पाश में।
वायु जैसे ॥९५६॥
परिपाक की वेला में अहो।
फल को डण्ठल, या वह फल को।
न पकड़े, वैसे स्नेह-मुक्त।
सर्वत्र वह ॥९५७॥
पुत्र, वित्त, कलत्र।
होने पर स्वतन्त्र।
न कहता 'ये मेरे' पात्र।
विष का जैसे ॥९५८॥

यह रहे, विषय–जाति से।
झुलसी के समान बुद्धि लौटे।
फिर वह प्रवेशे हृदय के।
एकान्त में ।।९५९।।

फिर उस का अन्तःकरण।
न बने बहिर्मुख जान।
न टाले स्वामी का वचन।
दासी जैसे ।।९६०।।

वैसे ऐक्य की मुट्ठी में।
चित्त को पकड़ दृढ़ता से।
फिर उसे लगन लगाये।
आत्मा की ।।९६१।।

तब दृष्टादृष्ट–स्पृहा सब।
हुई रहती सर्वथा नष्ट।
आग भड़कने पर धूम।
न रहता जैसे ।।९६२।।

अतः नियमित होने पर मानस।
स्पृहा न रहे अपने आप।
किम्बहुना ऐसी करे प्राप्त।
भूमिका वह ।।९६३।।

पर अन्यथा–बोध समस्त।
समाप्त हो कर पाण्डव।
बोध मात्र में चित्त।
रहता स्थिर ।।९६४।।

ध्येय से संचय हो समाप्त।
वैसे भोग से मिटे प्राचीन।
होता न क्रियमाण निर्माण।
कर्तृत्वाभाव से ।।९६५।।

कर्म–साम्य दशा तब।
ऐसी होती वीरेश।
फिर श्रीगुरु अपने आप।
मिलते उसे ।।९६६।।

रात्रि के चारों प्रहर।
बीतने पर सुनो पार्थ।
नयनों को तमारि–प्रिय।
मिले जैसे ।।९६७।।

अथवा जैसे फल दे कर।
रुकती केले की बाढ़।
श्रीगुरु मिलकर करते स्थिर।
मुमुक्षु को जैसे ।।९६८।।

फिर पूर्णिमा से आलिङ्गित।
जैसे न्यूनता छोड़े चन्द्र।
वैसा गुरुकृपा से वीरोत्तम।
होता उस का ।।९६९।।

वहाँ रहे जो अबोधमात्र।
वह कृपा से होता नष्ट।
जैसे रात्रि के साथ।
जाता तम ।।९७०।।

वैसे अबोध की कुक्षि में।
कर्म–कर्ता–कार्य रूप से।
त्रिपुटी भी नष्ट होती जैसे।
गर्भिणी के साथ गर्भ ।।९७१।।

वैसे अबोधनाश के सहित।
नष्ट सब क्रियाजात।
ऐसा सम्भव समूल।
संन्यास यह ।।९७२।।

इस मूलाज्ञान–संन्यास से।
दृश्य का जब नाम भी मिटे।
वहाँ जानना निजरूप रहे।
अपने आप ।।९७३।।

जागने पर देखो अरे।
स्वप्न के गर्त में से।
क्या स्वयं को निकालने।
जाना पड़े ? ।।९७४।।

'मैं था अज्ञान, अब हुआ सज्ञान।'
बीत गया वह दुःस्वप्न।
हो गया ज्ञातृ-ज्ञेय-विहीन।
चिदाकाश ॥९७५॥
मुखाभास-सहित आदर्श।
दूर करने पर वीरेश।
रहता दर्शन-दृश्य-रहित।
द्रष्टा जैसे ॥९७६॥
वैसे अज्ञान जो गया।
वह ज्ञान को भी ले गया।
फिर निष्क्रिय शेष रहा।
चिन्मात्र ही ॥९७७॥
धनञ्जय स्वभावतः वहाँ।
नहीं कोई भी क्रिया।
अतएव प्रवाद उस का।
'नैष्कर्म्य' ऐसा ॥९७८॥
वह अपना अपनापन।
जो है वही हो कर विलीन।
वायुलोप से जैसे लीन।
तरङ्ग सागर में ॥९७९॥
वैसे 'न होने' की निष्पत्ति।
वही जानो नैष्कर्म्य-सिद्धि।
सर्व सिद्धियों में यही।
परम, सहज ॥९८०॥
मन्दिर-निर्माण में कलश।
उपरम, गङ्गा का सिन्धुप्रवेश।
या सुवर्णशुद्धि होने पर कस।
सोलहवाँ जैसे ॥९८१॥
वैसे अपना अज्ञान।
नष्ट कर दे जब ज्ञान।
वह भी हो स्थिति में विलीन।
जो ऐसी दशा ॥९८२॥
उस से 'पर' कहीं।
निपजने का और नहीं।
अतएव वह कहलाती।
परम सिद्धि ॥९८३॥
पर यही आत्मसिद्धि।
जो कोई भाग्यनिधि।
श्रीगुरु-कृपालब्धि।
—काल में पाये ॥९८४॥
उदित होते ही दिनकर।
प्रकाश ही बनता अन्धकार।
या दीपसङ्ग से कर्पूर।
बने दीप ही ॥९८५॥
या कणिका लवण की।
उदक से मिलते ही।
उदक ही हो रहती।
जैसे पार्थ ॥९८६॥
या निद्रित के जागने पर।
स्वप्न-सहित निद्रा अस्त।
अपने आप से जाकर।
मिलता वह ॥९८७॥
वैसे जिस किसी की भाग्यसे।
गुरु-वाक्य-श्रवण के लिये।
द्वैत निगलकर विश्रान्त रहे।
वृत्ति निजरूप में ॥९८८॥
उस का फिर करना कर्म।
यह कहे ही कौन?
आकाश का आवागमन।
है क्या कहीं? ॥९८९॥
अतः उस के लिये कुछ भी।
वस्तुतः करणीय नहीं।
पर न हो यह स्थिति।
जिस की तब ॥९९०॥

श्रवण–वचन की भेंट के।
साथ हो किरीटी अरे।
आत्म–स्वरूप हो जाये।
कोई एक ॥९९१॥

अन्यथा स्वकर्म की वह्नि में।
काम्य–निषिद्ध के इन्धन से।
रज–तम दोनों को जलाये।
कोई पहले ॥९९२॥

पुत्र वित्त परलोक।
इन तीनों का अभिलाष।
हो जाता घर का सेवक।
यह होने पर ॥९९३॥

इन्द्रिय जो स्वैर पदार्थों में।
जा कर अशुद्ध मलिन हुए।
वे अब प्रत्याहार तीर्थ में।
हुए प्रक्षालित ॥९९४॥

और स्वधर्म का फल।
ईश्वर को सौंप कर सब।
लिया हाथ में अटल।
वैराग्य पद ॥९९५॥

ऐसे आत्म–साक्षात्कार में।
जो ज्ञान की उज्ज्वलता मिले।
वह सामग्री पूर्ण उसे।
मिली मानो ॥९९६॥

और फिर उसी समय।
सद्गुरु से हो मिलन।
वे न रखते कुछ भी शेष।
देते पूर्ण ॥९९७॥

पर क्या लेते ही औषध।
दिखने लगता पूरा लाभ।
क्या उदित होते ही दिवस।
होता मध्याह्न? ॥९९८॥

आर्द्र हो सुक्षेत्र।
बोये हों बीज समर्थ।
तो मिलेगा प्रभूत फल।
समय पर ॥९९९॥

जुटा हो मार्ग प्राञ्जल।
मिला सुसङ्ग का मेल।
पर पाने में मञ्जिल।
लगता समय ॥१०००॥

वैसे हुआ वैराग्यलाभ।
सद्गुरु से भी हुई भेंट।
चित्त में फूटा अङ्कुर।
विवेक का ॥१००१॥

तब ब्रह्म ही एक सत्य।
अन्य भ्रान्ति ही समस्त।
यह प्रतीति हुई गाढ़।
सचमुच ॥१००२॥

पर वही जो परब्रह्म।
सर्वात्मक सर्वोत्तम।
मोक्ष का भी काम।
न रहे जहाँ ॥१००३॥

तीनों अवस्था उदर में।
किरीटी जो धारण करे।
उस ज्ञान का भी ग्रास भरे।
जो वस्तु ॥१००४॥

ऐक्य का न रहे 'एक'पन।
जहाँ आनन्दकण भी विलीन।
कुछ न शेष रहने पर स्थित।
जो कुछ अरे ॥१००५॥

वह ब्रह्म में ऐक्य–पन से।
ब्रह्म हो होकर रहे।
क्रमशः इस स्थिति को सखे।
पाता वह ॥१००६॥

भूखे के सम्मुख।
परोसे जायें षड्रस।
तो तृप्ति पाता प्रतिग्रास।
जैसी वह ॥१००७॥
वैराग्य का स्नेहन।
पाकर विवेक का दीप।
प्रज्ज्वलित हुआ आत्मनिधान।
दिखा देता ॥१००८॥
तब भोगें आत्म–ऋद्धि।
इतनी योग्यता की सिद्धि।
जिस के अङ्गों में निरवधि।
बनी आभूषण ॥१००९॥
तो जिस क्रम से ब्रह्म।
होना होता सुगम।
अब उस क्रम का मर्म।
कहूँगा सुनो ॥१०१०॥
गुरुदर्शित पथ पर चलकर।
विवेक–तीर्थ तट पर आकर।
समस्त मल कलुष धो कर।
बुद्धि का यह ॥१०११॥
फिर छूटी हुई राहु से।
प्रभा आलिङ्गित चन्द्र से।
वैसे शुद्धबुद्धि मिले।
आत्मा से ॥१०१२॥
जैसे छोड़कर दोनों कुल।
कामिनी करे प्रियानुसरण।
द्वन्द्व त्याग कर स्वचिन्तनरत।
होती वैसी ॥१०१३॥
ज्ञान जैसा खाद्य रुचिकर।
दे दे कर निरन्तर।
इन्द्रियों को दिया महत्त्व।
जिन शब्दादि ने ॥१०१४॥
रश्मिजाल निकलने पर।
लय पाता जैसे मृगजल।
वैसे वृत्तिरोधने किया विलय।
उन पांचों का ॥१०१५॥
अनजाने अधम का अन्न।
खाया हो तो करते वमन।
वैसे इन्द्रियों ने वासना सहित।
उगले विषय ॥१०१६॥
फिर प्रत्यग्–वृत्ति की ओर।
शुद्ध गङ्गातट पर ला कर।
कराया उन से प्रायश्चित।
उत्तम जिसने ॥१०१७॥
फिर–सात्त्विक धैर्य से।
शोधित करणों को इस ने।
मन–सहित योगधारणा में।
किया प्रवृत्त ॥१०१८॥
सब प्राचीन इष्टानिष्ट।
मिलते भोग सहित आकर।
देखकर उन्हें कष्टप्रद।
न करे द्वेष ॥१०१९॥
तथा कदाचित् सुखद।
आने पर सम्मुख।
उस के प्रति साभिलाष।
होता नहीं ॥१०२०॥
इष्टानिष्ट से इस प्रकार।
किरीटी राग–द्वेष।
छोड़कर गिरि–कन्दर।
या निकुञ्ज में बसे ॥१०२१॥
त्यागकर कोलाहल।
वन में करे निवास।
जहाँ साथी केवल।
देह उस का ॥१०२२॥

खेले शम-दमादि से।
मौन - रूप संवाद करे।
गुरुवाक्य के चिन्तन में।
बिताये समय ॥१०२३॥

शरीर में बढ़े बल।
या क्षुधा हो पूरी शान्त।
अथवा जिह्वा के हों पूर्ण।
मनोरथ ॥१०२४॥

भोजन करते समय।
इन तीन पर नहीं ध्यान।
मिताहार से सन्तुष्ट।
न देखे माप ॥१०२५॥

अशन के पावक से।
जाते प्राण बचे रहें।
बस इसी प्रयोजन से।
लेता भोजन ॥१०२६॥

परपुरुष के चाहने पर।
कुलवधू न हो आधीन।
न करे प्रवृत्त निद्रालस्य।
आहार उस का ॥१०२७॥

दण्डवत् नमन-प्रसङ्ग में।
अङ्ग भूमि-स्पर्श करते।
अन्यथा कभी न दिखे।
आलस्य वहाँ ॥१०२८॥

देह-निर्वाह-भर के लिये।
हाथ-पाँव की क्रिया चलें।
किम्बहुना स्वाधीन रहें।
सबाह्य अवयव ॥१०२९॥

मन की भी दहलीज।
वृत्तियाँ न देखें वीर।
वाग्व्यवहार को अवकाश।
कहाँ वहाँ? ॥१०३०॥

ऐसे देह वाचा मानस।
ये जीत कर बाह्य प्रदेश।
किया स्वाधीन आकाश।
ध्यान का जिस ने ॥१०३१॥

गुरुवाक्य से प्रबोधित।
अपना बोध-निश्चय।
परख कर देखा पार्थ।
दर्पण में जैसे ॥१०३२॥

ध्याता स्वयं का जैसे।
ध्यान-रूप वृत्ति में।
देखता ध्येय से।
वह पद्धति सुनो ॥१०३३॥

इन तीनों की एकरूपता।
तब ध्येय-ध्यान-ध्याता।
हो जब तक, तब तक करता।
अभ्यास यह ॥१०३४॥

अतएव मुमुक्षु वह।
आत्मज्ञान में हुआ दक्ष।
फिर अपनाता पक्ष।
योगाभ्यास का ॥१०३५॥

अपान-रन्ध्र-द्वय।
के मध्य में धनञ्जय।
पार्ष्णी से कर पीड़ित।
मूल बन्ध ॥१०३६॥

आकुञ्चित कर के अधो भाग।
बाँध कर तीनों बन्ध।
कर के सब एकत्र।
वायुभेद ॥१०३७॥

कुण्डलिनी को जगा कर।
मध्यमा कर के विकसित।
भेद कर आधारादि चक्र।
आज्ञा तक ॥१०३८॥

सहस्रदलों का मेघ।
बरसे पीयूष सुभग।
मूल तक वह ओघ।
ला कर ।।१०३९।।
नाचते हुए पुण्य गिरि में।
चिद् भैरव के खप्पर में।
मन–पवन की खिचड़ी भरे।
परोस कर ।।१०४०।।
योगाभ्यास दृढ़ करे।
वन्ध–समुदाय सामने रखे।
फिर ध्यान सिद्ध करे।
पीछे की ओर ।।१०४१।।
ध्यान–योग दोनों साधे।
इस आत्म-तत्त्व-ज्ञान में।
निर्विघ्न प्रवेश के लिये।
पहले ही ।।१०४२।।
वीतरागता–सदृश ।
बना रखता निजमित्र।
जो सभी भूमिकाओं पर।
चले साथ ।।१०४३।।
दृश्य दिखे तब तक।
दृष्टि न छोड़े दोष।
लगे फिर कितना विलम्ब।
देखने में? ।।१०४४।।
वैसे मोक्ष में जो प्रवृत्त।
साधे ब्रह्म में वृत्तिलय।
वैराग्य दे साथ, तब तक।
न भङ्ग–भय उसे ।।१९४५।।
अतएव सवैराग्य।
ज्ञानाभ्यास वह सभाग्य।
कर के हुआ योग्य।
आत्मलाभ के ।।१०४६।।

वैराग्य का देह पर।
वज्रकवच पहन कर।
राजयोग – तुरङ्ग पर।
आरूढ़ वह ।।१०४७।।
जो आवे दृष्टिसम्मुख।
उस में लघु–महान् का भेद।
मिटाने को ले ध्यानखड्ग।
विवेकमुष्टि में ।।१९४८।।
संसार-रणभूमि में ऐसे।
तम में सूर्य प्रवेशे जैसे।
मोक्ष-विजयश्री का वर, सखे।
होने के लिये ।।१०४९।।
वहाँ अन्तराय करने आये।
दोष-वैरी सब मार भगाये।
उन सब में पहला अरे।
देहाहङ्कार ।।१०५०।।
जो न छोड़ता मार कर।
न जीने देता जन्म दे कर।
करता विडम्बना, डाल कर।
अस्थिपञ्जर में ।।१०५१।।
उस का आश्रय देह-दुर्ग।
भेद कर किया स्वाधीन।
और फिर मारा द्वितीय।
वैरी प्रबल ।।१०५२।।
जो विषयों के नाम से।
चौगुना बढ़ता जाये।
पाता मृतावस्था जिस से।
सर्वत्र जगत् ।।१०५३।।
वह विषय-विष का अथाह गर्त।
समस्त दोषों का नृप।
पर ध्यान खड्ग का घाव।
सहे कैसे! ।।१०५४।।

और प्रिय–विषय–प्राप्ति।
करे जिस सुख की अभिव्यक्ति।
कन्था पहन कर उसी की।
जो करे गर्जन ॥१०५५॥

जो सन्मार्ग भुलाये।
अधर्म–अरण्य में भटकाये।
फिर ले जाये व्याघ्रमुख में।
नरकादि के ॥१०५६॥

विश्वासघाती रिपु वह।
किया समाप्त दर्प।
जिस के नाम से होता कम्प।
तापसों को ॥१०५७॥

क्रोध जैसा महादोष।
जिस का है परिपाक।
जो भरते हुए भी अधिक।
बने रिक्त ॥१०५८॥

वह काम कहीं भी न रहे।
ऐसी स्थिति दृढ़ करते।
और वही क्रोध के लिये।
व्यवस्था सहज ॥१०५९॥

तोड़ना मूल का जैसे।
होता शाखाओं के लिये।
काम के नाश से वैसे।
क्रोध नष्ट ॥१०६०।

अतः वैरी काम–रूप।
हुआ जब परास्त।
वारो आती तब।
क्रोध को ॥१०६१॥

अधिकारी बेड़ी को जैसे।
ढोवाता अपराधी ही से।
वैसे वृद्धि पाता जो भोग से।
परिग्रह ॥१०६२॥

जो जीव के माथे चढ़ कर।
देह में भरता अवगुण।
लकड़ी पकड़ाता हाथ।
ममत्व की ॥१०६३॥

शिष्य–शास्त्रादि विलास से।
मठ, मुद्रा आदि व्याज से।
पाश डाल कर फँसावे।
निसङ्ग को ॥१०६४॥

घर का कुटुम्बपन बीते।
तो वन में वन्य बन कर आये।
नग्न दशा में भी न छोड़े।
रहे साथ ॥१०६५॥

ऐसा दुर्जय जो परिग्रह।
उसे मिटा कर समूल।
भव–विजय का उत्साह।
भोगे जो ॥१०६६॥

वहाँ अमानित्वादि सब।
ज्ञान–गुणों के समुदाय।
वे कैवल्यदेश के नृपगण।
आये जैसे ॥१०६७॥

तब सम्यग् ज्ञान का उसे।
साम्राज्य सारा सौंप दें।
परिवार बन कर रहते।
उस के समीप ॥१०६८॥

प्रवृत्ति के राजपथ पर।
अवस्थात्रय प्रमदा–रूप।
करतीं प्रतिपद पर।
सुख न्यौछावर ॥१०६९॥

बोध का राजदण्ड ले कर।
विवेक हटाता दृश्य की भीड़।
योग- भूमिका आरती ले कर।
आती सम्मुख ॥१०७०॥

तब ऋद्धि-सिद्धि के अनेक।
वृन्द आते प्रसङ्गवश।
उन की पुष्पवृष्टि में स्नान।
करता वह ॥१०७१॥

ऐसा ब्रह्मैक्य – सदृश।
स्वराज्य आता जब निकट।
तब होते हर्ष-भरित।
तीनों लोक ॥१०७२॥

तब 'मेरा' शत्रु या मित्र।
इतना कहने को अपेक्षित।
ममता-द्वैत धनञ्जय।
न रहे शेष ॥१०७३॥

अथवा किसी भी व्याज से।
वह जिस को 'मेरा' कहे।
उस का द्वितीयपन न रहे।
हुआ अद्वितीय ॥१०७४॥

निज एक सत्ता से पार्थ।
सब कुछ व्याप कर स्थित।
उस ने दिया देश-बहिष्कार।
ममता को ॥१०७५॥

ऐसे जीत कर रिपुवर्ग।
इस जग का कर के बाध।
स्वयं ही योग-तुरङ्ग।
हुआ स्थिर ॥१०७६॥

वैराग्य का सुदृढ़।
पहना था जो कवच।
उसे थोड़ा शिथिल।
करता तब ॥१०७७॥

ध्यान-खड्ग से वधयोग्य।
न रहा सम्मुख द्वैत।
अतः पीछे आता हाथ।
उस वृत्ति का भी ॥१०७८॥

जैसे उत्तम रसौषध।
सम्पन्न करके कार्य निज।
स्वयं पाता विलय।
वैसा यहाँ ॥१०७९॥

देख कर गन्तव्य स्थान।
स्थिर होते दौड़ते चरण।
ब्रह्म-सामीप्य से अभ्यास।
थमता वैसे ॥१०८०॥

महोदधि से मिलते समय।
गङ्गा जैसे त्यागे वेग।
या कामिनी कान्त के समीप।
होती स्थिर ॥१०८१॥

अथवा फलने के समय।
कदली की रुकती बाढ़।
होता समाप्त ग्राम के निकट।
मार्ग जैसे ॥१०८२॥

वैसे आत्मसाक्षात्कार।
निकट होने पर गोचर।
धीमे से साधन-हथियार।
रख देता सब ॥१०८३॥

अतः ब्रह्म के साथ।
ऐक्य होने के समय।
अपने आप सब उपाय।
होते शान्त ॥१०८४॥

फिर वैराग्य का गोधूलिकाल।
ज्ञानाभ्यास का वार्धक्य।
योगफल का भी परिपाक।
जो दशा सखे ॥१०८५॥

वह शान्ति हे सुभग।
आती अङ्गों में सम्पूर्ण।
तब होता ब्रह्म होने योग्य।
वह पुरुष ॥१०८६॥

पूर्णिमा से चतुर्दशी में।
जितनी न्यूनता राशि में।
या जितना न्यून सोलह कस से।
पन्द्रह कस स्वर्ण ॥१०८७॥
वेगयुक्त जल सागर में।
जाता हुआ गङ्गा कहाये।
अन्य जो निश्चल हो रहे।
वह सागर ही ॥१०८८॥
ब्रह्म और भावी ब्रह्म में।
उतना ही अन्तर योग्यता में।
वह भी शीघ्र ही शान्ति से।
होता पार ॥१०८९॥
हुए बिना ही ब्रह्म।
प्रतीति में आया जो ब्रह्मपन।
वही ब्रह्म होने में जान।
योग्यता यहाँ ॥१०९०॥
वह ब्रह्म-भाव–योग्यता।
पाण्डुसुत जो पा चुका।
वह आत्मबोध–प्रसन्नता।
के पद पर बैठे ॥१०९१॥
जिस से होता अन्न सिद्ध।
वह ताप जब होता शान्त।
बनी रसोई होती तब।
कृतार्थ जैसे ॥१०९२॥
अथवा बाढ़ का कोलाहल।
शरद् में गङ्गा को करता मुक्त।
या गीत थमते ही उपाङ्ग।
होते शान्त ॥१०९३॥
वैसे आत्मबोध-हित उद्यम।
करने में हुआ जो श्रम।
उस का भी जब होता उपराम।
सहज भाव से ॥१०९४॥

तो आत्मबोध–प्रशस्ति।
ऐसी जिस दशा की ख्याति।
उसे भोगता महामति।
योग्य वह ॥१०९५॥
आत्मतत्व में, करना शोक।
या कुछ पाने का अभिलाष।
ये सब होने समाप्त।
समभाव में ॥१०९६॥
उदित होने पर गभस्ति।
नाना नक्षत्र–व्यक्ति।
खो देते सब दीप्ति।
अपनी जैसे ॥१०९७॥
वैसे होने पर आत्मप्रथा।
यह भूत–भेद–व्यवस्था।
मिट जाती तब दिखता।
केवल आत्मा ॥१०९८॥
पाटी पर के अक्षर।
पोंछ दें जैसे भोगे कर।
वैसे खो जाते भेदान्तर।
उस की दृष्टि से ॥१०९९॥
वैसे ही अन्यथा ज्ञान से।
जो जागृति–स्वप्न प्रकट होते।
वे दोनों विलीन होते।
अव्यक्त में ॥११००॥
फिर अव्यक्त भी अर्जुन।
बोधवृद्धि से होता क्षीण।
होने पर बोध पूर्ण।
डूबे समस्त ॥११०१॥
जैसे करते समय भोजन।
क्रमशः क्षुधा होती क्षीण।
फिर तृप्ति के अवसर पर।
सर्वथा लुप्त ॥११०२॥

अथवा चलने की गति से।
पथ क्रमशः घटता जाये।
गन्तव्य आने पर न रहे।
अल्प भी शेष ॥११०३॥
जागृति ज्यों-ज्यों होती सघन।
त्यों त्यों निद्रा पड़ती क्षीण।
सर्वथा जागने पर स्वरूप।
न रहे निद्रा ॥११०४॥
या आने पर निज पूर्णत्व।
हों चन्द्र कलायें शान्त।
तब होता शुक्लपक्ष।
निःशेष जैसे ॥११०५॥
वैसे बोध्यजात जो निगले।
उस बोध से मुझ में प्रवेशे।
तब साद्यन्त मिट जाये।
अबोध वह ॥११०६॥
तब कल्पान्त की वेला में।
नदी–सिन्धु के भेद सारे।
मिट कर भर जाता जल से।
आब्रह्म जैसे ॥११०७॥
अथवा न रहने पर घट-मठ।
आकाश सर्वत्र एकरस।
या जल कर काष्ठ से काष्ठ।
शेष वह्नि ॥११०८॥
या अलङ्कारों के आकार।
ढल जाने पर पाण्डुकुँवर।
त्यागे नाम–रूप–भेद।
सुवर्ण जैसे ॥११०९॥
रहने दो जागने पर जैसे।
स्वप्नलेश भी न रहे।
स्वयं हम ही अपने में।
रहते शेष ॥१११०॥
वैसे मेरे सिवा कुछ भी।
निजसहित उस का नहीं।
यह चौथी भक्ति मेरी।
पाता वह ॥११११॥
आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी।
जिस पथ से करते भक्ति।
उन तीन की अपेक्षा चौथी।
कहता इसे ॥१११२॥
अन्यथा न तीसरी चौथी।
न अन्तिम न पहली ही।
अपितु मेरी सहज स्थिति।
कहलाये भक्ति ॥१११३॥
मेरे अज्ञान को प्रकाशित करे।
अन्यथा–रूप मुझे दिखाये।
सबको सब प्रकार से।
भजनीय बताये ॥१११४॥
जो जहाँ जैसे देखे।
वैसा वहाँ उस को दिखे।
यह सब प्रकाशित दिखे।
जिस अखण्ड से ॥१११५॥
स्वप्न का दिखना न दिखना।
है वस्तुतः स्वरूप में रहना।
विश्व का होना न होना।
प्रकाशित वैसे ॥१११६॥
ऐसा यह मेरा सहज।
प्रकाश जो कपिध्वज।
उसी को दिया गया नाम।
भक्ति अरे ॥१११७॥
अतः आर्त के हृदय में।
यह आर्ति बन कर रहे।
उसका अपेक्षणीय भी अरे।
बना मैं ही ॥१११८॥

जिज्ञासु-हृदय में वीरेश।
जिज्ञासा रूप में यही स्थित।
और मुझे ही जिज्ञास्य।
बनाया इस ने ॥१११९॥
यही बन कर अर्थ की चाह।
चाहती मुझे ही पार्थ।
ऐसे 'अर्थ'-अभिधान।
देती मुझे ॥११२०॥
यों कर के अज्ञान स्वीकार।
यदि मेरे भक्त हों प्रवृत्त।
तो दिखाती दृश्यरूप।
मुझ द्रष्टा को ॥११२१॥
अरे मुख को दिखता मुख ही।
यह कथन अन्यथा नहीं।
पर दूसरापन व्यर्थ ही।
लाता दर्पण ॥११२२॥
दृष्टि देखती चन्द्र।
पर इतना तिमिर का दोष।
कि वस्तुतः जो एक।
वह दो दिखे ॥११२३॥
वैसे मैं ही मुझ से सर्वत्र।
भक्ति द्वारा होता गृहीत।
किन्तु दृश्यत्व आता व्यर्थ।
अज्ञानवश ॥११२४॥
वह अज्ञान हुआ विसर्जित।
मेरा द्रष्टृत्व मुझे प्राप्त।
निज बिम्ब से हुआ एकरूप।
प्रतिबिम्ब मानो ॥११२५॥
होने पर भी खोट-मिश्रण।
स्वरूप में शुद्ध ही स्वर्ण।
और निकल जाने पर खोट।
केवल स्वर्ण जैसे ॥११२६॥

अरे क्या पूर्णिमा से पूर्व।
सावयव नहीं चन्द्र।
पर मिलती मानो उसदिन।
उसे पूर्णता ॥११२७॥
ज्ञान द्वारा मैं ही वैसे।
दिखता, पर परोक्ष रूप से।
द्रष्टृत्व हटने पर मुझ में।
मिलूँ मैं ही ॥११२८॥
अतएव दृश्य पथ से।
अतीत मेरा स्वरूप सखे।
उसी को चौथा कहा मैं ने।
भक्तियोग ॥११२९॥
इस ज्ञान–भक्ति से सहज।
भक्त होता मुझ में एक।
वह वस्तुतः मैं ही केवल।
जानते ही तुम ॥११३०॥
जो कि उठा कर भुजा।
'ज्ञानी आत्मा ही मेरा।'
कपिध्वज मैंने कहा था।
सप्तमाध्याय में ॥११३१॥
इस भक्ति का कल्पादि में।
ब्रह्मा को भागवत रूप से।
उत्तम मान कर मैं ने।
किया उपदेश ॥११३२॥
इसे ज्ञानी स्वसंविति।
शैव कहते शक्ति।
मैं अपनी परम भक्ति।
कहता इसे ॥११३३॥
मुझ से मिलते समय यह।
कर्मयोगियों के प्रति होती फलित।
फिर देखते सर्वत्र निखिल।
मुझ से व्याप्त ॥११३४॥

वहाँ वैराग्य–विवेक–सहित।
मिटता बन्ध मोक्ष–सहित।
वृत्तियाँ आवृत्ति–सहित।
होतीं लुप्त ॥११३५॥

ले कर इह–लोकत्व।
समाप्त होता परत्व।
निगल कर चारों भूत।
आकाश जैसे ॥११३६॥

वैसे इस पार–उस पार।
साध्य–साधनातीत शुद्ध।
वह हो कर मद्रूप केवल।
भोगता मुझे ॥११३७॥

मिल कर सागर के अङ्क में।
गङ्गा विलसे सिन्धु में।
उस का भोग भी वैसे।
होता पार्थ ॥११३८॥

दर्पण दर्पण के सम्मुख।
रखा हो कर के स्वच्छ।
उन में जैसा द्रष्टृत्व।
वही उपभोग यहाँ ॥११३९॥

अथवा दर्पण हटने पर।
जाता जैसे मुख–बोध।
अकेले में ही द्रष्टृत्व।
आस्वादित ॥११४०॥

जागृति में स्वप्न नष्ट।
भासता निज का ऐक्य।
द्वैत विना होता भोग।
वैसा पार्थ ॥११४१॥

वही होने पर भोग उस का।
हो कैसे ? यह भाव जिनका।
वे कैसे शब्द से शब्द का।
करते उच्चार ? ॥११४२॥

न जाने वे अपने गाँव में।
दिये से सूर्योदय देखते।
या व्योम के लिये बाँधते।
आधारमण्डप ॥११४३॥

अरे तनु में न हो राजन्यत्व।
तो कैसे भोगे राजत्व ?
क्या तम करता आलिङ्गित।
सूर्य को कभी ? ॥११४४॥

जो स्वयं नहीं आकाश।
क्या जाने आकाश को वह ?
क्या शोभते रत्नों के मध्य।
गुञ्जालङ्कार ? ॥११४५॥

अतः जो न हुआ मद्‌रूप।
उस के प्रति मैं ही कहाँ पार्थ ?
फिर वह करे मेरा भजन।
यह कहें कैसे ? ॥११४६॥

इस के लिये वे कर्मयोगी।
मद्रूप हो कर मेरे भोगी।
तारुण्य को तरुणाङ्गी।
भोगे जैसे ॥११४७॥

तरङ्ग तोय का सर्वाङ्ग स्पर्शे।
प्रभा बिम्ब में सर्वत्र विलसे।
अथवा अवकाश नभ में।
खेले जैसे ॥११४८॥

मद्‌रूप हो कर वैसे।
क्रिया विना ही वह मुझे भजे।
सहज ही अलङ्कार जैसे।
स्वर्ण में स्थित ॥११४९॥

या चन्दन का सौरभ जैसे।
स्वयं ही चन्दन को भजे।
या सहज ही शशि को भजे।
चन्द्रिका ॥११५०॥

वैसे क्रिया का स्पर्श न सहे।
अद्वैत में भक्ति ऐसी रहे।
यह अनुभवगम्य वस्तु अरे।
न शब्दगम्य ॥११५१॥

तब पूर्व-संस्कार-वश।
बोले वह जो भी शब्द।
स्तुति मान उसे, प्रतिसाद।
देता मैं ही ॥११५२॥

बोलना मिला दे वक्ता को निज से।
वह क्रिया न बोलना कहलाये।
वहाँ मौन तत्त्वतः अरे।
स्तवन मेरा ॥११५३॥

अतः वह जब बोले।
तब शब्द में मुझे ही मिले।
तत्त्वतः उस मौन से।
करे स्तवन ॥११५४॥

वैसे ही बुद्धि या दृष्टि।
जो देखने जाय किरीटी।
मिटे दृश्य देखते ही।
दिखाये द्रष्टा ॥११५५॥

दर्पण आने से पहले।
दृष्टिरूप ही मुख रहे।
उस का देखना वैसे।
मिलाये द्रष्टा से ॥११५६॥

दृश्य मिटने पर द्रष्टा से।
द्रष्टा ही मिले जैसे।
उस एकान्त में न रह सके।
द्रष्टृत्व भी ॥११५७॥

स्वप्न की प्रिया को जैसे।
जाग कर भेंटने चलें।
तो वहाँ वो न होने से।
रहते स्वयं ही ॥११५८॥

या दो काष्ठों के घर्षण से।
एक ही वह्नि प्रगटे।
तो 'दो' की भाषा मिटे।
रहे निजरूप ॥११५९॥

या लेने प्रतिबिम्ब हाथ में।
गभस्ति यदि नीचे उतरे।
तो बिम्बत्व उस का लोपे।
सहज जैसे ॥११६०॥

वैसे द्रष्टा हो कर मद्‌रूप।
देखने चलता दृश्य।
तो न रहता द्रष्टृत्वसहित।
दृश्य कहीं ॥११६१॥

रवि तम को करे प्रकाशित।
तब प्रकाश्यता न रहती शेष।
वे न रहे दृश्य द्रष्टृत्व।
मद्‌रूपता में ॥११६२॥

न 'देखना' रहे, न ही 'न देखना'।
निपजे जो ऐसी दशा।
तत्त्वतः दर्शन मेरा।
वही जानो ॥११६३॥

फिर आवे कोई भी पदार्थ।
उस के सम्मुख पार्थ।
उस का ले सदा उपभोग।
दृश्य-द्रष्टातीत ॥११६४॥

आकाश में आकाश।
भरे तो न होती हलचल।
वही मुझ आत्मा में मिलने पर।
स्थिति उस की ॥११६५॥

कल्पान्त में उदक उदक में।
समाये तब बहना थमे।
वैसे मिल कर मुझ आत्मा में।
वह हुआ पूर्ण ॥११६६॥

चरण स्वयं पर चढ़ें कैसे ?
वह्नि स्वयं को दहे कैसे ?
जल यथा निज में प्रवेशे।
स्नान करने ? ॥११६७॥

अतः सब होने पर मद्‍रूप।
रुक जाता आवागमन।
यही होती यात्रा पार्थ।
मुझ अद्वय में ॥११६८॥

देखो जल पर तरङ्ग।
दौड़े भले सवेग।
पर न किया भूमिभाग।
आक्रान्त उस ने ॥११६९॥

वह छोड़े या लिपटे।
जहाँ जैसे चाहे भटके।
पर सर्वथा जलरूप रहे।
इसीलिये ॥११७०॥

चाहे जहाँ जाने पर।
उदकपन से पाण्डुसुत।
एकात्मता न होती खण्डित।
तरङ्ग की जैसे ॥११७१॥

वैसे मद्‍रूप से व्याप्त।
वह सर्वथा मुझ से प्राप्त।
इस यात्रा से होता सचमुच।
यात्री मेरा ॥११७२॥

और शरीर–स्वभाववश।
जो कुछ भी करे वह।
तो मैं ही उस निमित्त।
मिलता उसे ॥११७३॥

वहाँ कर्ता और कर्म।
ये मिट कर पाण्डुसुत।
मुझ आत्मा में देखने पर।
होता मद्रूप ॥११७४॥

दर्पण का दर्पण में।
देखना न कहलाये।
या स्वर्ण को स्वर्ण अरे।
ढके न जैसे ॥११७५॥

दीप को दिखायें दीप से।
वह प्रकाशन न होता अरे।
वैसे मद्रूप हो कर कर्म करे।
वह करना कैसा ? ॥११७६॥

वह कर्म ही करता रहे।
पर करने की भाषा न रहे।
तब 'न करना' ही बने।
कर्म उस का ॥११७७॥

हुआ मद्रूप जब क्रियाजात।
तब कुछ भी 'करना' न शेष।
महापूजा का लक्षण।
वस्तुतः यही ॥११७८॥

अतः करता सब आस्था सहित।
पर यही 'न करना' कपिध्वज।
इसी से होता महापूजन।
सचमुच मेरा ॥११७९॥

वह बोले वही स्तवन।
वह देखे वही दर्शन।
मुझ अद्वय में गमन।
चलना उस का ॥११८०॥

वह जो करें वह सब पूजा।
उस की कल्पना जप मेरा।
कपिध्वज उस का सहज रहना।
समाधि मुझ में ॥११८१॥

जैसे कनक से कङ्कण।
रहता सदा अनन्य।
भक्तियोग से आगमन।
मुझ में वैसे ॥११८२॥

उदक में कल्लोल।
कपूर में परिमल।
रत्न में तेज उज्ज्वल।
अनन्य जैसे ॥११८३॥

किम्बहुना तन्तु में पट।
या मृत्तिका में घट।
ऐसा मुझ से एकरस।
वह मेरा ॥११८४॥

इस अनन्यसिद्धा भक्ति से।
वह समस्त दृश्यजात में।
मुझ द्रष्टा को निज रूप से।
जाने सुमति ॥११८५॥

द्वार पर तीन अवस्थाओं के।
उपाधि-उपहिताकार से।
भावाभाव-रूप स्फुरे।
यह दृश्य जो ॥११८६॥

मैं द्रष्टा ही वह सब।
ऐसे बोध से मदमत्त।
अनुभव-बल से सुभट।
नाचे वह ॥११८७॥

रज्जु होने पर गोचर।
आभासित व्यालाकार।
रज्जु ही यह निर्धार।
होता जैसे ॥११८८॥

अलङ्कार स्वर्ण से कहीं।
गुञ्जा-भर भी पृथक् नहीं।
उन्हें गला कर निश्चय यही।
होता जैसे ॥११८९॥

जैसे उदक से भिन्न।
तरङ्ग नहीं यह निश्चित।
जानने पर आकार।
फँसाये नहीं ॥११९०॥

या स्वप्न-विकारों का समस्त।
जाग कर बैठायें गणित।
तो अपने आप से अतिरिक्त।
न दिखे जैसे ॥११९१॥

वैसे जो कुछ अस्ति-नास्ति।
जिस से होती ज्ञेय-स्फूर्ति।
मैं वह ज्ञाता यह प्रतीति।
भोगता वह ॥११९२॥

वह जानता मैं अज-अजर।
मैं हूँ अक्षय अक्षर।
मैं ही अपूर्व अपार।
आनन्द मैं ॥११९३॥

अचल मैं अच्युत।
अनन्त मैं अद्वैत।
आद्य मैं अव्यक्त।
व्यक्त भी मैं ॥११९४॥

ईश्य मैं ईश्वर।
अनादि मैं अमर।
अभय मैं आधार।
आधेय मैं ही ॥११९५॥

स्वामी मैं सदोदित।
सहज मैं सतत।
सर्व मैं सर्वगत।
सर्वातीत भी ॥११९६॥

नवीन मैं पुराण।
शून्य मैं सम्पूर्ण।
स्थूल मैं अणुतम।
जो कुछ सब मैं ॥११९७॥

अक्रिय मैं एक।
असङ्ग मैं अशोक।
व्याप्य मैं व्यापक।
पुरुषोत्तम मैं ॥११९८॥

अशब्द में अश्रोत्र।
अरूप में अगोत्र।
सम में स्वतन्त्र।
परब्रह्म में ॥११९९॥

मुझ एक को आत्मभाव से।
ऐसे जान कर अद्वय भक्ति से।
उस बोध-बोद्धा को भी जाने।
मद्‍रूप ही ॥१२००॥

जैसे जागने के अनन्तर।
रहता अपना एकपन।
वह स्फुरण भी कुछ क्षण।
निज में हो ॥१२०१॥

प्रकाशित होने पर अर्क।
वही होता प्रकाशक।
उस अभेद का द्योतक।
वही जैसे ॥१२०२॥

वैसे वेद्य के विलय में।
अरे वेदक जो शेष रहे।
वह भी तो निज को जाने।
जाने यह जो ॥१२०३॥

वह अपना अद्वयपन।
जाने जिस ज्ञप्ति से अर्जुन।
वह ज्ञप्तिरूप ईश्वर स्वयं वह।
जाने निज को ॥१२०४॥

फिर द्वैत-अद्वैत से अतीत।
एक में आत्मा निश्चित।
यह जान कर जानना लीन।
जब अनुभव में ॥१२०५॥

तब जागने पर एकपन।
दिखता जो निज में सहज।
वह भी जाने पर दशा कौन।
होगी न जाने ॥१२०६॥

नेत्र से देखने के क्षण में।
दिखे सुवर्णता सुवर्ण में।
तो न गलाने पर भी गले।
अलङ्कारपन ॥१२०७॥

अथवा लवण बने तोय।
तो क्षारता जल में शेष।
जल सूखते ही क्षारत्व।
जैसे विलीन ॥१२०८॥

वैसे 'मैं'-'वह' यह द्वैत।
स्वानन्दानुभव में समरस।
होने पर मिटे तब करे प्रवेश।
मुझ में ही ॥१२०९॥

'वह' 'यह' भाषा न रहे जब।
तब 'मैं' भी कहाँ रहे स्थित।
ऐसे समाते 'मैं' और 'वह'।
मद्‍रूप में ही ॥१२१०॥

जब कपूर जल कर समाप्त।
तब अग्नि भी होता शान्त।
रहे शेष उभयातीत।
आकाश जैसे ॥१२११॥

एक में से घटायें एक।
तो रहता शून्य विशेष।
वैसे 'है' 'नहीं' का शेष।
रहना मैं ही ॥१२१२॥

वहाँ ब्रह्म आत्मा ईश।
न रहे इन शब्दों का सौरस।
मौन को भी अवकाश।
न रहे वहाँ ॥१२१३॥

न बोलना भी न कहा जाये।
अतः मुख भर कर बोले।
ज्ञान-अज्ञान न जानते हुए।
जानें उसे ॥१२१४॥

वहाँ बोध से समझे बोध।
आनन्द पाये आनन्द।
सुख स्वयं ही ले भोग।
सुखत्व का ॥१२१५॥

वहाँ लाभ को मिलता लाभ।
प्रभा से प्रभा आलिङ्गित।
विस्मय में डूबा विस्मय।
खड़ा-खड़ा ॥१२१६॥

शम वहाँ हुआ शान्त।
विश्राम हुआ विश्रान्त।
अनुभव हुआ न्यौछावर।
निजानुभूति पर ॥१२१७॥

किम्बहुना ऐसा अनाविल।
मद्रूपता-रूप पाता फल।
कर के सेवन सादर।
क्रमयोग-वेलि का ॥१२१८॥

क्रमयोगी चक्रवर्ती के मुकुट पर।
किरीटी में बनता चिद्रत्न।
परिवर्त में वह पाता स्थान।
मेरे हृदय में ॥१२१९॥

या क्रमयोग-प्रासाद का।
कलश जो यह मोक्ष का।
उस के ऊपर अवकाश का।
विस्तार वह ॥१२२०॥

अथवा संसार-अटवी में।
क्रमयोग सुभग पथ मिले।
जिस से मदैक्य-ग्राम में।
होता प्रवेश ॥१२२१॥

अथवा, क्रमयोग प्रवाह में।
भक्ति-चिद्गङ्गा द्वारा उसने।
मुझ स्वानन्दोदधि में वेग से।
किया प्रवेश ॥१२२२॥

यहाँ पर्यन्त हे सुवर्मा।
क्रमयोग की है महिमा।
अतः बारम्बार कहा।
तुम से मैं ने ॥१२२३॥

अरे देश, काल, पदार्थ।
साध कर हो जो प्राप्त।
ऐसा नहीं मैं सर्वत्र।
सदा स्वयंसिद्ध ॥१२२४॥

अत एव मेरी प्राप्ति हित।
करना न पड़े आयास।
इस उपाय से होता प्राप्त।
सहज ही में ॥१२२५।

एक गुरु एक शिष्य।
सच यह रूढ़ व्यवहार।
मेरी प्राप्ति का उपाय।
जानने हेतु ॥१२२६॥

अरे वसुधा के उदर में।
निधान सिद्ध हो रहे।
वह्नि सिद्ध हो काष्ठ में।
स्तन में दूध ॥१२२७॥

उस स्थित को ही पाने के लिये।
उपाय सब किये जाते।
सिद्ध ही मिलता वैसे।
उपाय से मैं ॥१२२८॥

फल के बाद उपाय।
क्यों कह रहे अब देव।
यदि पूछो तो अभिप्राय।
ऐसा यहाँ ॥१२२९॥

गीतार्थ की श्रेष्ठता।
मोक्षोपाय-परकता।
अन्य शास्त्रोपाय सर्वथा।
न प्रमाणसिद्ध ॥१२३०॥

वायु हटाता मेघ केवल।
न करे सूर्य का निर्माण।
हाथ से हटाते सेवाल।
न उपजाते जल ॥१२३१॥
वैसे आत्मदर्शन में प्रत्यवाय।
बना जो अविद्या-रूप मल।
उसे नष्ट करते शास्त्र।
मैं स्वयं-प्रकाशित ॥१२३२॥
अतएव समस्त शास्त्र।
अविद्या विनाश के पात्र।
इस के अतिरिक्त स्वतन्त्र।
आत्मबोधन में ॥१२३३॥
वे अध्यात्मशास्त्र सब।
जाँचने को निजसत्यत्व।
आते जिस एक स्थान पर।
वह यह गीता ॥१२३४॥
भानुभूषिता हो प्राची।
तो सब दिशा सतेज होतीं।
वैसे शास्त्रेश्वरी गीता से।
सनाथ शास्त्र ॥१२३५॥
यह रहे, इस शास्त्रेश्वर ने।
बहुत उपाय विस्तार से।
कहे पहले, आत्मा जिन से।
हो करगत ॥१२३६॥
पर प्रथम श्रवण के समय।
न समझा हो धनञ्जय।
इस भाव से करुणहृदय।
श्रीहरि वे ॥१२३७॥
वही प्रमेय फिर एकबार।
शिष्य में करने को अचल।
मुकुल-मुद्रा से निवेदित।
करेंगे अब ॥१२३८॥
और गीता इस प्रसङ्ग से।
समाप्ति की ओर बढ़े।
अतः साद्यन्त दिखाते।
एकार्थत्व ॥१२३९॥
जो ग्रन्थ के मध्यभाग में।
नाना अधिकार-प्रसङ्ग से।
किया अनेक सिद्धान्तों से।
निरूपण ॥१२४०॥
तो वे सब सिद्धान्त।
इस शास्त्र में हुए प्रस्तुत।
न जानते हुए पूर्वापर।
यदि माने कोई ॥१२४१॥
महासिद्धान्त के अन्तर्गत।
सिद्धान्त-कक्षायें अनेक।
समाकर आरम्भ-उन्मुख।
समाप्ति की ओर ॥१२४२॥
यहाँ अविद्या नाश है स्थल।
मोक्षोपादान फल।
इन दोनों में केवल।
साधन ज्ञान ॥१२४३॥
इतना ही नाना प्रकार से।
निरूपित ग्रन्थ-विस्तार में।
उसी का अब दो अक्षरों में।
करें अनुवाद ॥१२४४॥
अतः करगत ही जब उपेय।
करने उपाय का विस्तार।
पुनः प्रवृत्त हुए देव।
इस भाव से ॥१२४५॥
फिर बोले हे सुभट।
वे क्रमयोगी निष्ठा-सहित।
मद्रूप हो कर प्रविष्ट।
मद्रूप में हो ॥१२४६॥

पवित्र स्वकर्म-पुष्पों से।
मेरी सुन्दर पूजा करके।
उस के प्रसाद में पाते।
ज्ञाननिष्ठा ॥१२४७॥

जहां ज्ञाननिष्ठा हस्तगत।
वहाँ मेरी भक्ति उल्लसित।
उस से मुझ में समरस।
होते सुखी ॥१२४८॥

और विश्व-प्रकाशक।
मुझ आत्मा का निज।
करे जो अनुसरण जानकर।
सर्वत्र मुझ को ॥१२४९॥

छोड़कर निज काठिन्य।
जल में आश्रित लवण।
या भ्रमण के बाद निश्चल।
वायु व्योम में ॥१२५०॥

वैसे बुद्धि वाचा काया से।
जो मुझ में आश्रित रहे।
वह यदि कदाचित् करे।
निषिद्ध कर्म ॥१२५१॥

पर गङ्गा का सम्बन्ध पाकर।
नाली-नदी होतीं एक।
मेरे बोध में होते एक।
शुभाशुभ वैसे ॥१२५२॥

अरे बबूल और चन्दन।
तभी तक रहते भिन्न।
जब तक न निगले वैश्वानर।
दोनों को ॥१२५३॥

या, पाँच और सोलह कस।
सोने में यह भेद तभी तक।
जब तक न करे पारस।
समान उन्हें ॥१२५४॥

वैसे ये शुभाशुभ।
तभीतक भिन्न आभासित।
जब तक न दिखूं प्रकाशित।
सर्वत्र में ॥१२५५॥

अरे रात्रि और दिवस।
यह द्वैतभाव तभी तक।
जब तक न पहुँचें गाँव।
गभस्ति के ॥१२५६॥

अतएव मेरी भेंट से।
किरीटी सब कर्म उस के।
पाट पर जा बैठते।
सायुज्य के ॥१२५७॥

देश-काल-स्वभाव से।
व्यय न जिसका सम्भवे।
वह पद मेरा पावे।
अविनाश वह ॥१२५८॥

पाण्डुसुत किम्बहुना।
मुझ आत्मा की प्रसन्नता।
पाकर रहे कौन सा।
अप्राप्त लाभ ॥१२५९॥

इस कारण से धनञ्जय।
अपने सब कर्मों का तुम।
मेरे स्वरूप में संन्यास।
करो सहज ॥१२६०॥

किन्तु वह संन्यास।
करणीय का न करो वीर।
आत्मविवेक में रखो दृढ़।
चित्तवृत्ति ॥१२६१॥

फिर उस विवेक बल से।
स्वयं को भिन्न कर्मों से।
मेरे निर्मल स्वरूप में।
देखोगे ॥१२६२॥

और कर्मों की जन्मभूमि।
कहलाती जो प्रकृति।
उसकी अपने से दूरी।
देखोगे बहुत ॥१२६३॥
वहाँ स्वयं से प्रकृति।
धनञ्जय दूर न रहती।
जैसे छाया न रहती।
रूप बिना ॥१२६४॥
वैसे ही प्रकृतिनाश।
होने पर कर्म-संन्यास।
निपजेगा अनायास।
सकारण ॥१२६५॥
फिर कर्मजात जाने पर।
मैं अपने में ही शेष।
वहाँ करो बुद्धि को पार्थ।
मेरी पतिव्रता ॥१२६६॥
बुद्धि इस अनन्य योग से।
जब मुझ में प्रवेश करे।
तब चैत्य त्याग कर भजे।
चित्त मुझे ॥१२६७॥
ऐसे चैत्य त्याग कर।
चित्त मुझ में ही रहे लग्न।
ऐसा ही शीघ्र पार्थ।
करो सर्वदा ॥१२६८॥
फिर इस अभिन्न सेवा से।
चित्त जब मुझ से भरा रहे।
तब मेरा प्रसाद जानो सखे।
हुआ सम्पूर्ण ॥१२६९॥
तब सकल-दुःख-धाम।
भोगे जाते जो मृत्यु,जन्म।
वे दुर्गम भी सुगम।
लगेंगे तुझे ॥१२७०॥
सूर्य का सहाय।
पा चुके जो नयन।
उन्हें क्या होगा भय।
अँधेरे का? ॥१२७१॥
वैसे मेरे प्रसाद से।
जीवत्व जिसका उपमर्दित अरे।
फिर संसार-हौए से डरे।
क्या वह? ॥१२७२॥
अतएव धनञ्जय।
संसार-दुर्गति से तुम।
होवोगे पाकर उत्तीर्ण।
प्रसाद मेरा ॥१२७३॥
अथवा अहंभाव के कारण।
मेरा यह सब कथन।
यदि कान-मन में प्रवेश।
न पाये तेरे ॥१२७४॥
जो तू नित्य-मुक्त-अव्यय।
वह स्वरूप होगा निरर्थक।
देह-सम्बन्ध का प्रहार।
होगा तुझ पर ॥१२७५॥
जिस देह-सम्बन्ध में पार्थ।
प्रतिपद होता आत्मघात।
वह भोगते हुए विश्राम।
न मिलता कभी ॥१२७६॥
अरे इतना दारुण।
मृत्यु विना ही मरण।
भोगोगे यदि कथन।
न सुनो मेरा ॥१२७७॥
पथ्य-द्वेषी पोसता ज्वर।
या दीपद्वेषी अन्धकार।
विवेक द्वेष से अहङ्कार।
पोस कर वैसे ॥१२७८॥

स्वदेह को मानो अर्जुन।
परदेह को स्वजन-परजन।
सङ्ग्राम को समझो मलिन।
पापाचार ॥१२७९॥

अपनी इसी मति से।
तीनों के तीन नाम ये।
रख कर युद्ध न करूँ ऐसे।
कहोगे पार्थ ॥१२८०॥

यदि चित्त में यह निश्चित।
कर लोगे आत्यन्तिक।
तो उड़ा देगा नैसर्गिक।
स्वभाव तेरा ॥१२८१॥

और, 'मैं अर्जुन ये आत्मिक।
इन का वध होगा पातक'।
इस में माया से अन्य कुछ।
नहीं तात्त्विक ॥१२८२॥

पहले युद्ध के लिये थे प्रस्तुत।
इसीसे धारण किये शस्त्र।
अब युद्ध न करने की शपथ।
कैसी भला ? ॥१२८३॥

अतः न करूँगा युद्ध।
यह कहना तेरा व्यर्थ।
अथवा नहीं यह उचित।
लोकदृष्टि से ॥१२८४॥

अत: युद्ध न करने का यह ।
जो निश्चय करना मानस।
तेरी प्रकृति ही विपरीत।
करायेगी इस से ॥१२८५॥

पूर्व की ओर बहता हो जल।
तब तैरें यदि पश्चिम को ओर।
तो आग्रह ही रहे, ले जाये ओघ।
अपनी ओर ॥१२८६॥

यदि कहे धान का कण।
मैं न बनूँगा धान।
तो क्या बनने देगा अन्य।
स्वभाव उसे ? ॥१२८७॥

वैसे क्षात्र-संस्कार-सिद्ध।
प्रकृति ने तुझे घड़ा प्रबुद्ध।
अब कहते न करूँगा युद्ध।
पर होगे प्रवृत्त ॥१२८८॥

दक्षता शौर्य तेज।
इत्यादि जो पाण्डुसुत।
जन्म से ही दिये गुण।
प्रकृति ने तुझे ॥१२८९॥

तो वह जो समवाय।
तदनुरूप धनञ्जय।
न कर के तुम स्वस्थ।
रह न सकोगे ॥१२९०॥

अतएव उन गुणों से।
कोदण्डपाणि तुम हो बँधे।
वे ले जायेंगे निश्चित तुझे।
क्षात्र पथ में ॥१२९१॥

यदि अपना यह जन्ममूल।
न विचार कर केवल।
'न लड़ूँगा' ऐसा अटल।
लोगे व्रत ॥१२९२॥

तो बाँध कर हाथ-पाँव।
जो रथ में हो स्थापित।
न चलने पर भी देशान्तर।
पहुँचता वह ॥१२९३॥

वैसे तू अपने आप।
'न करूँगा कुछ' — कह कर।
बैठे भले, पर निश्चित।
करेगा तू ही ॥१२९४॥

उत्तर विराट् का राजा।
भागा तब क्यों प्रतिकार किया ?
यह क्षात्र स्वभाव ही तेरा।
लड़ायेगा तुझे ॥१२९५॥
ग्यारह अक्षौहिणी वीर वें।
तूने अकेले हराये रण में।
वह स्वभाव जुझायेगा तुझे।
कोदण्डपाणि ॥१२९६॥
क्या रोगी को रोग प्रिय ?
या दरिद्री को दारिद्र्य !
पर भोगवाता ही प्रबल।
अदृष्ट जैसे ॥१२९७॥
अन्य कुछ वह अदृष्ट।
कर न सकता ईश्वरवश।
वह ईश्वर भी स्थित।
तेरे हृदय में ॥१२९८॥
सब भूतों के अन्तर में।
हृदय-महा-अम्बर में।
चिद्वृत्ति के सहस्रकरों से।
उदित है जो ॥१२९९॥
अवस्थात्रय, तीनों लोक।
प्रकाशित कर के अशेष।
अन्यथादृष्टि में सोये पथिक।
जगाये जिस ने ॥१३००॥
वेद्योदक के सरोवर में।
खिले विषय-कमलवन में।
इन्द्रिय-षट्पदों से चलाये।
जीव भ्रमर ॥१३०१॥
रहे रूपक, वह ईश्वर।
सब भूतों का अहङ्कार।
ओढ़ कर निरन्तर।
उल्लसित ॥१३०२॥

निजमाया-यवनिका वस्त्र।
डाल कर अकेला हिलाता सूत्र।
बाहर नाटियाँ छायाचित्र।
चौरासी लक्ष ॥१३०३॥
उन ब्रह्मादि कीट-पर्यन्त।
अशेष भूतों को वह।
देता योग्यतानुसार।
देहाकार ॥१३०४॥
तब जो देह जिस के सम्मुख।
आता हो कर अनुरूप।
वह भूत होता वहाँ आरूढ़।
'यह मैं' कह कर ॥१३०५॥
सूत सूत में गुँथ जाये।
या तृण ही तृण को बाँधे।
या अपना बिम्ब लेने चले।
बालक जल में ॥१३०६॥
देह को उसी प्रकार।
अपना ही दूसरा रूप।
मान कर वहाँ करता जीव।
आत्मबुद्धि ॥१३०७॥
ऐसे शरीराकार।
यन्त्रपर भूतों को चढ़ाकर।
सुनो वह हिलाता डोर।
प्राचीन की ॥१३०८॥
वहाँ जिस का जो कर्मसूत्र।
आरम्भ हो चुका स्वतन्त्र।
उसे उसी गति का पात्र।
होना पड़ता ॥१३०९॥
किम्बहुना धनुर्धर।
भूतों को स्वर्ग—संसार—मध्य।
घुमाता जैसे तृण को पवन।
आकाश में ॥१३१०॥

भ्रामक (चुम्बक) के सङ्ग से।
गति पाता लोहा जैसे।
वैसे ईश्वरसत्ता के योग से।
चेष्टित भूत ॥१३११॥
जैसे निज चेष्टावश।
समुद्रादिक घनञ्जय।
चन्द्र की सन्निधि से केवल।
होते चेष्टित ॥१३१२॥
सिन्धु में आता ज्वार।
सोमकान्त होता स्रवित।
कुमुद–चकोरों का सङ्कोच।
मिटता तब ॥१३१३॥
वैसे बीज–प्रकृति-वश।
अनेक भूतों को एक ईश।
करता चेष्टित वह स्थित।
तेरे हृदय में ॥१३१४॥
न लेते हुए अर्जुनपन।
'मैं' ऐसा जो पाण्डुसुत।
उठता तत्त्वतः वही भाव।
उस का रूप ॥१३१५॥
अतः प्रकृति को वह।
करेगा प्रवृत्त निश्चित।
और जुझायेगा तुझे वह।
न जूझो तब भी ॥१३१६॥
अतः स्वामी ईश्वर।
उस ने की प्रकृति नियत।
उसी से चेष्टित सहज।
इन्द्रियाँ अपनी ॥१३१७॥
तू करना–न करना उभय।
प्रकृति को ही सौंप कर।
वह प्रकृति भी रहे अधीन।
जिस हृदयस्थ के ॥१३१८॥

उसी को तनु वाचा अहं चित्त।
दे कर हो शरणागत।
महोदधि में गङ्गाजल।
प्रविष्ट जैसे ॥१३१९॥
फिर उसी के प्रसाद से।
सर्वोपशान्ति प्रमदा के।
कान्त होकर स्वानन्द-स्वरूप।
करोगे रमण ॥१३२०॥
सम्भूति जिस से सम्भव।
विश्रान्ति जहाँ विश्रान्त।
अनुभूति का होता अनुभव।
जिस अनुभव में ॥१३२१॥
उस निजात्मपद का अधीश्वर।
हो कर रहोगे अव्यय।
कह रहे लक्ष्मीनाथ।
अरे तुम पार्थ! ॥१३२२॥
यह गीता नामक विख्यात।
सर्ववाङ्मय का मथित।
आत्मा जिस से हस्तगत।
रत्न होता ॥१३२३॥
'ज्ञान' नाम से जो रूढ़।
करने से जिस का स्तवन प्रौढ़।
वेदान्त की कीर्ति शुद्ध।
फैली जग में ॥१३२४॥
बुद्ध्यादि दृश्य पदार्थ।
नगण्य जिस के सम्मुख।
वह सर्वद्रष्टा में दृष्ट।
जिस प्रभात में ॥१३२५॥
अरे वही यह आत्मज्ञान।
मुझ गौप्य का ही गुप्तधन।
पर तुझ से भला छिपाकर।
रखूँ कैसे? ॥१३२६॥

अहो पाण्डव इसी कारण।
मैंने अपना यह गुह्य निधान।
करुणा से होकर व्याप्त।
दिया तुझे ॥१३२७॥
पर, मुग्ध अतिस्नेह से।
बोले माता अपत्य से।
प्रीति होने पर भी वैसे।
न करूँ मैं ॥१३२८॥
छान लें मानो आकाश।
अमृत को निकालें छाल।
या दीपक को अग्निस्नान।
करायें जैसे ॥ १३२९॥
जिस के अङ्गप्रकाश से।
पाताल के परमाणु दिखें।
उस सूर्य को भी जैसे।
लगायें अञ्जन ॥१३३०॥
वैसे मुझ सर्वज्ञ ने।
सब का निर्धारण करके।
निष्कर्ष–रूप सत्य तुझ से।
कहा धनञ्जय ॥१३३१॥
अब तू इस में से।
श्रेष्ठ का निर्धारण करले।
फिर कर वही जो तुझे।
भावे पार्थ ॥१३३२॥
देव का यह वचन सुनकर।
अर्जुन हो रहा स्तब्ध मूक।
तब बोले देव आत्मवञ्चक।
नहीं हो तुम ॥१३३३॥
परोसते हुए के सम्मुख क्षुधित।
व्यर्थ कहे यदि 'हुआ मैं तृप्त'।
तो करेगा स्वयं को पीड़ित।
निजदोष से ॥१३३४॥
वैसे सर्वज्ञ श्री गुरुवर।
मिलने पर आत्मनिर्धारक।
प्रश्न न करे सङ्कोचवश।
जो मूढ़ ॥१३३५॥
वह स्वयं को करता वञ्चित।
और वञ्चना का पाप।
ओढ़ता अपने ऊपर।
अपने आप ॥१३३६॥
तेरे मूकपन का पार्थ।
क्या यही अभिप्राय।
कि पूर्णतया एकबार।
कहूँ ज्ञान ॥१३३७॥
बोला पार्थ स्वामी प्रियवर।
जान गये मेरा अन्तर।
पर कहना यह व्यर्थ अन्य।
जाने कौन? ॥१३३८॥
जो ज्ञेय ही अन्य समस्त।
ज्ञाता तुम एक स्वभाववश।
'सूर्य' कहकर करें वर्णन।
सूर्य का कैसे? ॥१३३९॥
इस वचन पर श्रीकृष्ण।
बोले इस से अधिक अन्य।
क्या होगा मेरा स्तवन।
कि समझे तू ॥१३४०॥
तो विस्तीर्ण अवधान।
करके पुनः एकबार।
मेरे वाक्य निर्मल।
करो श्रवण ॥१३४१॥
यह नहीं वाच्य कि कह सके।
नहीं श्रव्य कि सुन सकें।
किन्तु तेरा भाग्य सखे।
श्लाघनीय ॥१३४२॥

कूर्मी के बालक।
दृष्टि से होते पोषित।
चातक के घर आकाश।
भरता पानी ॥१३४३॥

न सम्भव जहाँ जो व्यवहार।
मिलता वहाँ उस का फल।
दैव हो यदि सानुकूल।
फिर क्या अप्राप्य ॥१३४४॥

अन्यथा द्वैत का आवागमन।
हटाकर ऐक्य के घर पर।
भोगा जाये जो रहस्य।
वही यह ॥१३४५॥

और, निरुपचार प्रेम का।
प्रियोत्तम जो विषय होता।
वह दूसरा नहीं यही आत्मा।
जानो पार्थ ॥१३४६॥

देखने के लिये दर्पण।
स्वच्छ करते अर्जुन।
दर्पण-हेतु नहीं वह मार्जन।
निज-हेतु ही ॥१३४७॥

तेरे मिस पार्थ वैसे।
बोलता मैं अपने लिये।
रहा क्या मुझ में तुझ में।
मैं-तू-पन ॥१३४८॥

अतः हृदय का गुह्यतम।
कहा यह तुझ से प्राणसम।
अनन्यगति का ऐसा व्यसन।
सखे मुझे ॥१३४९॥

जल को करने में स्वार्पण।
निज-सत्त्व भूले पार्थ लवण।
होने में तद्रूप पूर्ण।
न लजाता वह ॥१३५०॥

वैसे तुम मेरे प्रति।
छिपाना न जानते कुछ भी।
तो रखूँ क्या तुझ से मैं भी।
गोप्य सखे! ॥१३५१॥

अतः अन्य सभी गूढ़।
जिस के सम्मुख दिखें प्रकट।
वह मेरा अत्यन्त गुह्य।
सुनो वाक्य ॥१३५२॥

तो बाह्य और आभ्यन्तर।
अपने सभी व्यापार।
मुझ व्यापक के प्रति वीर!
बनाओ विषय ॥१३५३॥

अरे सर्वाङ्ग से जैसे।
पवन गगन में लीन रहे।
रहना तू कर्मों में सकल।
मदर्पित वैसे ॥१३५४॥

किम्बहुना अपना मन।
बनाकर मेरा एकायतन।
मेरे ही श्रवण से पूर्ण।
रहें श्रवण ॥१३५५॥

आत्मज्ञान-मय शुद्ध।
सन्त जो मेरे स्वरूप।
उन पर दृष्टि पड़े सप्रेम।
कामिनी जैसी ॥१३५६॥

मैं सब निवासों का आवास।
मेरे जो नाम विशुद्ध।
लगाओ उन्हीं के पथ पर।
वाणी निज ॥१३५७॥

हाथों के सब कर्म।
पाँवों का विचरण।
मेरे लिये हो सबकुछ।
करो ऐसा ॥१३५८॥

स्वकीय या परकीय।
उपकार जो करे पाण्डव।
उस यज्ञ से बनो श्रेष्ठ।
याज्ञिक मेरा ॥१३५९॥
यह कथा सिखाऊँ एकएक।
सर्वथा बनकर सेवक।
अशेष जानकर मद्रूप।
मानो सेव्य ॥१३६०॥
तब मिटने पर भूतद्वेष।
सर्वत्र प्रणम्य मैं ही एक।
ऐसा आश्रय आत्यन्तिक।
पाओगे मेरा ॥१३६१॥
फिर निखिल जगत् में।
तीसरे की बात न रहे।
केवल रम्य एकान्त रहे।
मेरा–तेरा ॥१३६२॥
तब किसी भी अवस्था में।
मैं तुझ में तू मुझ में।
होगा सदा रमण ऐसे।
बढ़ेगा सुख ॥१३६३॥
तीसरेपन का व्यवधान।
निवृत्त होगा जब अर्जुन।
मद्रूप ही अन्ततः तुम।
होगे तब ॥१३६४॥
जल में स्थित प्रतिबिम्ब जैसे।
जल सूखने पर बिम्ब में।
लौटकर समाये इस में।
प्रतिबन्ध कैसे? ॥१३६५॥
अथवा पवन अम्बर में।
या कल्लोल सागर में।
मिलने में व्यवधान रहे।
किसका अरे ॥१३६६॥

अतएव तू और मैं सखे।
यह देह–धर्म से दिख रहे।
इस का विराम होने से।
तू मद्रूप ही ॥१३६७॥
इस वचन की सत्यता में।
न रखो सन्देह–लेश अरे।
यदि हो अन्यथा इस में।
तो शपथ तेरी ॥१३६८॥
पर लेना तेरी शपथ।
यह आत्मा को करना लज्जित।
प्रीति में लज्जा का भाव।
जानो असंभव ॥१३६९॥
जिसे वेद कहें निष्प्रपञ्च।
जिस से यह विश्वाभास सत्य।
आज्ञाधीन करता नृत्य।
काल जिस के ॥१३७०॥
वह देव मैं सत्य-सङ्कल्प।
जग के हित में सदा समर्थ।
क्यों रखूं वह मैं आग्रह।
शपथ का अरे ॥१३७१॥
पर तेरे प्रेम से अर्जुन।
छोड़े देवत्व के लक्षण।
तू मुझ अर्थ में व्याप्त।
मैं तुझ में ॥१३७२॥
अपने काम के लिये।
राजा अपनी ही जैसे।
धनञ्जय स्वयं शपथ ले।
वैसा यह ॥१३७३॥
तब अर्जुन बोला देव!
ऐसे न कहें व्यर्थ।
बनते हमारे काम।
तव नाम से ही ॥१३७४॥

उस पर करते प्रशंसन।
वह भी शपथ–पूर्वक।
तुम्हारे इस विनोद का पार।
पाता न कोई ।।१३७५।।

कमल-वन का विकास।
करता रवि का एक अंश।
वहाँ सम्पूर्ण प्रकाश।
देता नित्य ।।१३७६।।

पृथ्वी को कर के सन्तृप्त।
सागर भी भरे पूर्ण।
बरसता इतना ले कर मिस।
चातक का ।।१३७७।।

अतएव तुम्हारे औदार्य का।
निमित्त में भले बना।
प्राप्ति विश्व को, दानी राजा।
कृपानिधि ।।१३७८।।

रहने दो–बोले देव तब।
नहीं यह कहने का अवसर।
पाओगे मुझे निश्चित।
इस उपाय से ।।१३७९।।

सिन्धु में पड़े सैन्धव।
जिस क्षण में धनञ्जय।
पृथक् रहने में कारण।
क्या रहे तब ? ।।१३८०।।

मुझे भजते हुए सर्वत्र।
सब होने पर मद्‌रूप।
अहन्ता जाने पर निःशेष।
होगे मद्‌रूप ही ।।१३८१।।

ऐसे मुझे पाने के।
कर्म से ले कर सभी तुझे।
उपाय–प्रकार दिखाये।
विशद मैंने ।।१३८२।।

तो पहले पाण्डुसुत।
सब कर्म करो मुझे अर्पित।
तब प्रसन्नता सर्वत्र।
पाओगे मेरी ।।१३८३।।

फिर मेरे इस प्रसाद से।
मेरा ज्ञान सिद्धि पाये।
निश्चय ही उस से मिलते।
मेरे स्वरूप में ।।१३८४।।

वहाँ पर फिर अर्जुन।
रहते नहीं साध्य–साधन।
किम्बहुना कुछ भी न शेष।
रहे तेरा ।।१३८५।।

तूने अपने सब कर्म।
किये मुझे सदा अर्पण।
इसी से प्रसन्नता आज।
पाई मेरी ।।१३८६।।

अतः उसी प्रसाद–बल से।
युद्ध में बाधा न मान कर के।
करने बैठा उपदेश तेरे।
मोह से तत्क्षण ।।१३८७।।

मिटे अज्ञान प्रपञ्च–सहित।
एक मैं होऊँ गोचर।
उस उपपत्ति का उपाय।
यह गीतारूप ।।१३८८।।

मैंने यह निज–ज्ञान तुझे।
उपदेश किया नाना प्रकार से।
अज्ञान-जात को छोड़ो इस से।
जो धर्माधर्म ।।१३८९।।

आशा उपजाये दुःख।
जैसे निन्दा दुरित।
अथवा दैन्य को दुर्भगत्व।
उपजाये ।।१३९०।।

वैसे स्वर्ग–नरक–सूचक।
अज्ञान उपजाये धर्मादिक।
उन्हें करो समाप्त निःशेष।
इस ज्ञान से ।।१३९१।।
डोरी हाथ में लेने से।
सर्पाकार छोड़े जैसे।
या स्वप्न का व्यापार छूटे।
निद्रा त्याग से ।।१३९२।।
या कामल दोष छूटने पर।
घुलता चन्द्र का पीलापन।
व्याधित्याग से कड़वापन।
मुख का जैसे ।।१३९३।।
अरे दिवस बीतने पर!
नष्ट होता मृगजल।
या काष्ठत्याग से व्यक्त।
वह्नि जैसे ।।१३९४।।
वैसे धर्माधर्म का बवाल।
दिखाता जो अज्ञान–मूल।
उस के त्याग से छूटें सकल।
धर्मजात ।।१३९५।।
फिर अज्ञान मिटने पर।
अपने में मैं रहता एक।
सनिद्र स्वप्न जाने पर।
अपना आप जैसे ।।१३९६।।
वैसे एक मुझ को छोड़कर।
भिन्नाभिन्न न रहता अन्य।
सोऽहंबोध से अनन्य।
हो उस में ।।१३९७।।
अपना भेद न रहने पर।
जो जानना मेरा एकपन।
उसी नाम शरण।
आना मेरे ।।१३९८।।
जैसे घट के नाश से।
गगन में गगन प्रवेशे।
मेरी शरण में आना वैसे।
ऐक्यपूर्वक ।।१३९९।।
सुवर्णमणि जैसे सोने में।
मिले कल्लोल पानी में।
धनञ्जय आओ वैसे।
मेरी शरण में ।।१४००।।
अन्यथा सागर–उदर में।
शरण लो वडवानल ने।
पर जलता ही रहे, वैसे।
न करो कभी ।।१४०१।।
मेरी शरण में आये।
फिर जीव ही बना रहे।
धिक् यह दशा! न लजाये।
प्रज्ञा कैसे? ।।१४०२।।
अरे प्राकृत भी राजा से।
अङ्गीकृत हो कर सखे।
दासी भी क्या न उस के।
होती समान? ।।१४०३।।
मुझ विश्वेश्वर से भेंटे।
और जीव–ग्रन्थि न छूटे।
यह व्यर्थ बात न सुनें।
कान कभी ।।१४०४।।
अतः मुझ में मद्‌रूप होकर।
जो सेवन सहज घटित।
करो उसी को व्याप्त।
इस ज्ञान से ।।१४०५।।
छाछ में से निकाला मथ कर।
फिर छाछ में डालें माखन।
पर मिलता नहीं उस में वह।
करें कुछ भी ।।१४०६।।

दबे लोहे को खाये मिट्टी।
पर यदि पाये वह पारस–संगति।
सोना बनने पर न छुए कभी।
फिर मल उसे ॥१४०७॥

यह रहे, काष्ठ में से।
मथ कर निकाला वह्नि जैसे।
फिर काष्ठ से ही ढकने से।
न ढका जाता ॥१४०८॥

वैसे मेरी अद्वयता में।
शरण लेने पर तुझे।
धर्माधर्म न लगेंगे।
सहज ही ॥१४०९॥

अर्जुन! क्या दिनकर।
देख पाता अन्धकार।
या प्रदोष हो तो रहे गोचर।
स्वप्न-भ्रम? ॥१४१०॥

वैसे होने पर मद्रूप।
मुझ सर्वरूप से रहित।
रहने को कुछ अन्य शेष।
कारण कहाँ? ॥१४११॥

अत एव उस विषय में।
कोई चिन्ता न रखो मनमें।
पाप–पुण्य सब तेरे।
बनूंगा मैं ही ॥१४१२॥

जल में पड़ने पर लवण।
जल ही होता विचक्षण!
होने पर अनन्य शरण।
होगा वैसे ॥१४१३॥

वहाँ सर्व–बन्ध–लक्षण।
पाप जो शेष द्वैतपन।
वह मेरे बोध से निःशेष।
होगा पार्थ ॥१४१४॥

इसी लिये अपने आप।
मुक्त ही हो धनञ्जय।
या मान लो मेरा प्रकाश।
छुड़ायेगा तुझे ॥१४१५॥

इस कारण पुनः कभी।
चिन्ता न करना ऐसी।
एक मुझ में हे सुमति।
आओ शरण ॥१४१६॥

ऐसे सर्वरूपों से रूपयुक्त।
नेत्र–सकल से जो सनेत्र।
वे सर्वदेश–निवास।
श्रीकृष्ण बोले ॥१४१७॥

फिर साँवला सकङ्कण।
बाहु पसार कर दक्षिण।
आलिङ्गन किया स्वशरण।
भक्तराज को ॥१४१८॥

न पहुँच पा कर जिस तक।
बुद्धि को साथ ले कर।
वाणी पीछे अपने-आप।
लौट आती ॥१४१९॥

ऐसा जो कोई रहस्य।
वाणी-बुद्धि से अगम्य।
वह देने को किया व्याज।
आलिङ्गन का ॥१४२०॥

हृदय से हृदय एक हुआ।
इस हृदय का उस में गया।
द्वैत न मिटाते हुए किया।
स्वसम अर्जुन को ॥१४२१॥

दीप से मिला दीप।
वैसा हुआ यह परिष्वङ्ग।
द्वैत न हटाते हुए निजसम।
किया पार्थ को ॥१४२२॥

फिर जो सुख का अपार।
धनञ्जय में आया पूर।
उसमें समर्थ भी देव।
स्वयं मग्न ॥१४२३॥

सिन्धु से मिले सिन्धु आकर।
तब मिलन होता द्विगुणित।
अतएव उछलता ऊपर।
आकाश में ॥१४२४॥

उन दोनों का मिलन वैसे।
दोनो में न समाये।
किम्बहुना श्रीनारायण से।
व्याप्त विश्व ॥१४२५॥

ऐसे वेदों का मूलसूत्र।
सर्वाधिकारैक-पवित्र ।
श्रीकृष्णने गीताशास्त्र।
किया प्रकट ॥१४२६॥

गीता वेदों का मूल।
यह कैसे हुआ बोध?
इस प्रश्न पर कहूँ प्रसिद्ध।
उपपत्ति अब ॥१४२७॥

तो, जिसके निःश्वास-रूप।
वेदराशि का हुआ जन्म।
उन सत्यप्रतिज्ञ ने शपथ-पूर्वक।
स्वमुख से कहा ॥१४२८॥

अतः वेदों का मूलभूत।
गीता को कहना उचित।
और भी यहाँ एक।
है उपपत्ति ॥१४२९॥

जो स्वरूप से न होता नष्ट।
उसका विस्तार जहाँ लुप्त।
उसे उसका कहते बीज।
जगत् में जी ॥१४३०॥

तो काण्ड-त्रयात्मक।
शब्दराशि अशेष।
गीता में स्थित वृक्ष।
बीज में जैसे ॥१४३१॥

अतएव वेदों का बीज।
श्री गीता है यह स्पष्ट।
दिखता मुझे, और सहज।
है प्रकट ॥१४३२॥

वेदों के जो तीन भाग।
गीता में विशद निरूपित।
भूषण-रत्नों से सर्वाङ्ग।
शोभित जैसे ॥१४३३॥

वे तीनों कर्मादिक।
काण्ड किस-किस स्थान पर।
गीता में स्थित, वह प्रकट।
दिखाऊँ सुनो ॥१४३४॥

तो पहला जो अध्याय।
वह शास्त्र-प्रवृत्ति-प्रस्ताव।
द्वितीय में सांख्य-सद्भाव।
प्रकाशित ॥१४३५॥

मोक्ष-दान में स्वतन्त्र।
ज्ञान-प्रधान यह शास्त्र।
यही द्वितीय में सूत्र।
प्रतिपादित ॥१४३६॥

फिर अज्ञान से जो बद्ध।
उन्हें मोक्षपद में करने को स्थित।
तृतीय में साधनारम्भ।
कहा गया ॥१४३७॥

जो देहाभिमान बन्ध।
छोड़कर काम्य-निषिद्ध।
अप्रमाद से करें विहित।
अनुष्ठित ॥१४३८॥

ऐसे सद्भाव से कर्म करें।
तीसरे अध्याय में देव ने।
निर्णय किया यह, उसे जानें।
कर्मकाण्ड यहाँ ॥१४३९॥

और वही नित्यादिक।
आचरण से अवश्य।
अज्ञान से मोचक।
होंगे कैसे ॥१४४०॥

ऐसी अपेक्षा होने पर।
मुमुक्षुता में आये बद्ध।
ब्रह्मार्पण भावसे कर्म।
कहे देव ने ॥१४४१॥

देह वाचा-मानस से।
विहित निपजें जो जैसे।
वे केवल ईश्वरोद्देश से।
करें, कहा ॥१४४२॥

यों ईश्वरार्पित कर्मयोग।
भजन-कीर्तनादिक।
शेष भाग में निरूपित।
चतुर्थ के ॥१४४३॥

ग्यारहवाँ विश्वरूप।
अध्याय जब होता पूर्ण।
वहाँ तक कर्म से ईश्वरभजन।
स्वयं कहा ॥१४४४॥

आठ अध्यायों में स्पष्ट।
कहा उसे देवताकाण्ड।
आवरण हटाकर शास्त्र।
कह रहा ॥१४४५॥

उसी ईश-प्रसाद-वश।
श्रीगुरु-सम्प्रदाय होता लब्ध।
तब सत्य-ज्ञान उद्बोधित।
सुकोमल जो ॥१४४६॥

वह 'अद्वेष्टा' आदि शब्दों से।
अथवा 'अमानित्व' आदि से।
बढ़ाकार द्वादशाध्याय में।
किया दृढ़ ॥१४४७॥

वह बारहवाँ अध्याय आदि।
और पन्द्रहवाँ अवधि।
ज्ञान-फल-पाक-सिद्धि।
निरूपित जिन में ॥१४४८॥

अतएव इन चारों में।
ऊर्ध्वमूलान्त अध्यायों में।
ज्ञानकाण्ड विस्तार से।
किया निरूपित ॥१४४९॥

ऐसे काण्डत्रय-निरूपण में।
श्रुति का संक्षिप्त वर्णन करें।
गीता पद्य-रत्नाभरणों से।
विभूषित ॥१४५०॥

अथवा काण्ड-त्रयात्मक।
श्रुति 'मोक्ष-रूप फल एक।
लो अवश्य' यह गर्जन।
कर रही ॥१४५१॥

उस के साधन ज्ञान से।
प्रतिदिवस जो वैर करे।
वह अज्ञान-वर्ग षोडश में।
प्रतिपादित ॥१४५२॥

उन शास्त्र का ही सहाय।
लेकर वैरी पर करें विजय।
यह आदेश ही सप्तदश।
अध्याय यहाँ ॥१४५३॥

यों प्रथम से लेकर।
सत्रहवें के अन्ततक।
आत्म-निःश्वास विवृत।
दिखाया देवने ॥१४५४॥

उन सभी अर्थों का।
तात्पर्य जहाँ देखा गया।
वही यह अठारहवाँ।
कलशाध्याय ॥१४५५॥
ऐसे सकल सांख्यसागर।
श्रीमद्भगवद्गीता–प्रबन्ध ।
उदारता में अधिक सम्पन्न।
वेद मूर्तिमन्त ॥१४५६॥
वेद है भले अति सम्पन्न।
पर कृपण नहीं वैसा अन्य।
जो बनता केवल श्रव्य।
तीन वर्णों का ॥१४५७॥
और जो भव–व्यवस्था–पीड़ित।
प्राणी स्त्री-शूद्रादिक।
उन्हें अनधिकारी कहकर।
रहता स्तब्ध ॥१४५८॥
तो अपना वह पहला दोष।
मिटाने को गीता–रूप।
हो कर सब के लिये सेव्य।
बना वेद ॥१४५९॥
तथा अर्थ हो प्रविष्ट मन में।
कान श्रवण में लगें।
जप–व्याज से वाणी-मुख में।
रहने लगा ॥१४६०॥
जो जाने गीता का पाठ।
या रहे कोई उस के साथ।
या गीता लिखकर करे दान।
पुस्तक रूप ॥१४६१॥
लेकर ऐसे व्याज।
संसार के चौराहे पर।
खोला भरपूर अन्नसत्र।
मोक्षसुख का ॥१४६२॥

पर आकाश में संचरण को।
पृथ्वी पर बैठने को।
रवि दीप्ति के फैलने को।
प्राकार नभ ॥१४६३॥
वैसे उत्तम या अधम।
ऐसा सेवन में न करता प्रश्न।
समान ही कैवल्यदान।
देता जग को ॥१४६४॥
अतः पहली निन्दा से।
डर कर गीता के उदर में।
प्रवेश किया वेद ने, इसीसे।
पायी सुकीर्ति ॥१४६५॥
अतएव वेद की सुसेव्यता।
वही मूर्त जानो श्रीगीता।
श्रीकृष्ण ने उपदेश दिया।
जिस का पार्थ को ॥१४६६॥
पर वत्स के निमित्त से।
घर भरता जैसे दूध से।
वैसे पाण्डवों के मिस से।
जगदुद्धरण ॥१४६७॥
चातक के प्रति कृपा से।
मेघ जल लेकर दौड़े।
सचराचर तृप्त उस से।
होता जैसे ॥१४६८॥
अनन्यगति कमल के हित।
सूर्य प्रतिदिन उदित।
पर सुखी होते नयन।
त्रिभुवन के ॥१४६९॥
वैसे अर्जुन के व्याज से।
गीता प्रकाशित कर श्रीहरिने।
संसार जैसा बोझा अरे।
हटाया जग का ॥१४७०॥

सर्वशास्त्र-रत्नों का प्रकाश।
फैलाता त्रिजगत् में उज्ज्वल।
लक्ष्मीपति-वक्षाकाश का यह।
सूर्य नहीं क्या? ॥१४७१॥

अहो वह कुल पवित्र।
जिस में पार्थ इस ज्ञान का पात्र।
जिस ने बनाया गीताशास्त्र।
जग का रक्षक ॥१४७२॥

यह रहे, पुनः वे तब।
सद्गुरु श्रीकृष्ण।
लाये पार्थ का ऐक्यभान।
द्वैत में ॥१४७३॥

फिर बोले हे पाण्डव।
समझ पाये क्या यह शास्त्र।
तब 'हाँ' कह कर बोला 'देव!
कृपा आपकी' ॥१४७४॥

अरे पाने को निधान।
होता बहुधा भाग्य अर्जुन।
पर मिले हुए का भोग।
पाना कठिन ॥१४७५॥

क्षीरसागर जैसा विशाल।
निरुपम दूध का पात्र।
सुरों-असुरों का कितना श्रम।
हुआ मन्थन में ॥१४७६॥

वह आयास हुआ सफल।
नयनों से देखा अमृत।
पर चूक गये करना रक्षण।
उस का वे ॥१४७७॥

जो लिया पाने को अमरत्व।
वह मरण का बना निमित्त।
भोगना न जानें तो यही पार्थ।
होती दशा ॥१४७८॥

स्वर्गाधिपति हुआ नहुष।
पर रहने में हुआ भ्रमित।
तब उसने पाया भुजङ्गत्व।
न जानते क्या? १४७९॥

अतः पहले बहुत पुण्य।
किये तूने धनञ्जय।
जो आज बने हो विषय।
शास्त्रराज के ॥१४८०॥

इसी शास्त्र का अर्थ।
सम्प्रदायनिष्ठा-पूर्वक।
भलीभाँति अनुष्ठान।
करो समझ कर ॥१४८१॥

अन्यथा अमृत – मन्थन।
के समान होगा अर्जुन।
यदि करोगे अनुष्ठान।
सम्प्रदायरहित ॥१४८२॥

मिले भी दुधारू गाय।
तो वही कर सकता उपयोग।
किरीटी जो जाने दोहन।
भलीविधि ॥१४८३॥

वैसे श्रीगुरु हों प्रसन्न।
विद्या भी पा ले शिष्य।
पर वह फलती यदि उपासन।
हो सम्प्रदाय का ॥१४८४॥

अतः इस शास्त्र का जो उचित।
सम्प्रदाय है पार्थ।
सुनो उसे अब सम्पूर्ण।
आदर-सहित ॥१४८५॥

पर तुझे आस्था से जो यह।
गीता-शास्त्र हुआ प्राप्त।
वह तपोहीन को किसीप्रकार।
कहना नहीं ॥१४८६॥

अथवा भले हो तापस।
पर, गुरुभक्ति में जो शिथिल।
उसे वेद के प्रति अन्त्यज सदृश।
रखो दूर ॥१४८७॥
अथवा, न देते जैसे पुरोडाश।
वायस को भल हो वृद्ध।
वैसे न कहो गुरुभक्तिहीन।
तापस को गीता ॥१४८८॥
या तप भी करे शरीर।
और भजे गुरुदेव-चरण।
पर श्रवण का न हो पार्थ।
चाव यदि ॥१४८९॥
तो पहली दोनों बातों से।
भले उत्तम हो जग में।
किन्तु इस के श्रवण के।
योग्य नहीं ॥१४९०॥
कैसा भी हो मुक्ताफल।
किन्तु न हो उस में मुख।
तो सूत्र कर सकता प्रवेश।
क्या उस में? ॥१४९१॥
गर है गम्भीर।
कौन करे अस्वीकार।
पर वृष्टि जाती व्यर्थ।
वहाँ पर ॥१४९२॥
तृप्त को परोसें दिव्यान्न।
तो होगा वह निरर्थक।
तब क्षुधार्त के प्रति उदार।
क्यों न बनें ॥१४९३॥
अतः कैसा भी हो योग्य।
पर सुनने का न हो अभिलाष।
तो भूल कर भी उसे यह।
देना न कभी ॥१४९४॥

रूप के सुविज्ञ नयन।
परिमल में आयें क्या काम?
अतः जहाँ जो योग्य।
वही फलता उसे ॥१४९५॥
अतः तपी में भक्ति।
देखो यदि सुभद्रापति।
पर शास्त्र श्रवण में अनासक्ति।
तो रखो दूर ॥१४९६॥
अथवा तप तथा भक्ति।
दोनों सहित हो श्रवणार्ति।
मिले ऐसी सामग्री।
किसी व्यक्ति में ॥१४९७॥
पर गीता-शास्त्र-निर्माता।
जो मैं सकल-लोक-शास्ता।
उस मुझ में सामान्यता।
देखे जो ॥१४९८॥
मेरे जनों को और मुझे।
जो निन्दावचन कहे।
ऐसे व्यक्ति को भी अरे।
न कहो योग्य ॥१४९९॥
उस की और सब।
सामग्री वैसी जान।
दीप-शिखा बिना प्रदीप।
रात्रि में जैसे ॥१५००॥
देह गौर हो तथा तरुण।
और पहने हों आभूषण।
किन्तु हों निकले प्राण।
उस में से जैसे ॥१५०१॥
सुवर्ण-मय सुन्दर।
निर्मित हो कोई घर।
किन्तु बैठी सर्पिणी द्वार।
रोके हुए ॥१५०२॥

बना हो दिव्यान्न शुद्ध।
पर मिला हो कालकूट।
अथवा कपट–गर्भित।
मैत्री जैसे ॥१५०३॥

वैसे तप–भक्ति–मेधा।
जानो उस के सखा।
जो मेरों को निन्दा।
करे या मेरी ॥१५०४॥

इस कारण धनञ्जय।
वह तपी मेधावी भक्त।
भले हो पर न दो उसे स्पर्श।
इस शास्त्र का ॥१५०५॥

बहुत क्या कहूँ निन्दक।
भले हो योग्य स्रष्टा सदृश।
उसे कौतुक से भी गीतास्पर्श।
न कराओ कभी ॥१५०६॥

अतः तप का धनुर्धर।
तल में दबा कर आधार।
पूर्ण गुरुभक्ति का उस पर।
जो बना प्रासाद ॥१५०७॥

और श्रवणेच्छा रूप।
सदा खुला रहे द्वार।
ऊपर कलश सुन्दर।
अनिन्दा रत्न का ॥१५०८॥

ऐसे भक्तालय में शुद्ध।
गीता रत्नेश्वर करो प्रतिष्ठित।
तब मेरे समान प्रसिद्ध।
होवोगे जग में ॥१५०९॥

जो एकाक्षर–पन सहित।
त्रिमात्रा–कुक्षि में स्थित।
गर्भवास में था प्रणव।
बन्दी हुआ ॥१५१०॥

गीता की डालियों में वह।
वेद–बीज हुआ सुविस्तृत।
या गायत्री पुष्पित–फलित।
हुई श्लोकों में ॥१५११॥

वह यह मन्त्र रहस्य गीता।
जो मेरे भक्तों को देता।
अनन्य जीवन शिशु को माता।
से मिलाये जैसे ॥१५१२॥

वैसे भक्तों की गीता से।
सादर जो भेंट कराये।
वह देह के बाद मुझ से।
होता एक ॥१५१३॥

और देहरूप आभूषण।
धरे जो मुझ से पृथक्सम।
वह भी मुझे प्राणतुल्य।
प्रिय सदा ॥१५१४॥

ज्ञानी, कर्मठ, तापस।
आदि विविध मानव।
उन में जैसा वह एक।
प्रिय मुझे ॥१५१५॥

वैसा भूतल में समस्त।
न दिखे अन्य पाण्डव।
जो भक्त–समुदाय में पाठ।
करे गीता का ॥१५१६॥

मुझ ईश्वर के लोभ से।
जो गीता पढ़े अक्षोभ से।
वह सन्तों की सभा में।
होता मान्य ॥१५१७॥

नव–पल्लवों से रोमाञ्चित।
मन्दानिल से कम्पित।
आमोद–जल से आर्द्र।
सुमन–नयन ॥१५१८॥

कोकिल–कलरव के मिस।
बोले जैसे सगद्गद।
अथवा प्रवेशे वसन्त।
भक्तोद्यान में ॥१५१९॥
चकोर पाते जन्मफल।
जब अम्बर में उदित चन्द्र।
अथवा मयूरों को नवघन।
दे प्रतिसाद ॥१५२०॥
वैसे सज्जन–समुदाय में।
गीता पद्यरत्न बरसाये।
जो मुझे लक्ष्य कर के।
भरपूर ॥१५२१॥
फिर उस के समतुल्य।
मेरा अत्यन्त प्रिय।
नहीं आगे--पीछे अन्य।
दिखता मुझे ॥१५२२॥
मैं यहाँ तक अर्जुन।
उसे हृदय में देता स्थान।
जो गीतार्थ–परिवेशन।
करे सज्जनों को ॥१५२३॥
पर मेरे–तेरे मिलन से।
बढ़ी जो यह कहानी सखे।
जीने के लिये जहाँ आये।
सब मोक्षोपाय ॥१५२४॥
वह यह सकलार्थ–प्रबोध।
हम दोनों का संवाद।
न करते हुए भी पदभेद।
जो करे पाठ ॥१५२५॥
तो प्रदीप्त ज्ञानानल में।
मूल अविद्या की आहुति से।
सन्तुष्ट होता सुमति उस से।
मैं परमात्मा ॥१५२६॥
ले कर गीतार्थ का आधार।
विचक्षण ज्ञानी जो पाते फल।
वही पाते जो गायन–वर्णन।
करें गीता का ॥१५२७॥
गीता–पाठक का प्राप्य।
अर्थज्ञ के सदृश ही फल।
गीता-माता को ज्येष्ठ-कनिष्ठ।
नहीं कोई ॥१५२८॥
और सब प्रकार की निन्दा।
छोड़ कर रखते शुद्ध आस्था।
गीता-श्रवण में श्रद्धा।
पूर्ण जिन की ॥१५२९॥
उन के श्रवण-पुट में जब।
प्रवेश करते गीताक्षर।
उसी क्षण वहाँ से पलायन।
करते पाप ॥१५३०॥
अटवी में जैसे दावानल।
लगते ही सहसा सवेग।
सब दिशाओं में वनचर।
दौड़ जाते ॥१५३१॥
अथवा उदयाचल पर।
झाँके अंशुमाली जब।
अन्तराल में तिमिर तब।
होता विलीन ॥१५३२॥
वैसे कर्णों के महाद्वार में।
गीता जब गर्जना करे।
तब सृष्टि के आदि तक के।
मिटते पाप ॥१५३३॥
ऐसे उस का कुल सकल।
पुण्यरूप होता सुन्दर।
इस से भी और बढ़ कर।
मिलता फल ॥१५३४॥

कि जितने गीता के अक्षर।
कर्णद्वार से करते प्रवेश।
उतने हो होते पूर्ण।
अश्वमेघ ॥१५३५॥

अतः श्रवण से जाते पाप।
उन्नति पाता धर्म।
अन्त में स्वर्ग-राज्य।
पाता हो वह ॥१५३६॥

मेरे समीप आने के लिये।
पहला पड़ाव हो स्वर्ग में।
वह भोग कर जब तक रुचे।
फिर मिलता मुझे ॥१५३७॥

धनञ्जय गीता ऐसी।
सुनने-पढ़ने वाले के प्रति।
महानन्द--फल देती।
क्या कहूँ बहुत ॥१५३८॥

अतः रहने दो यह।
पर जिस के लिये शास्त्रातिशय।
किया, वह हेतु पूर्ण।
हुआ या नहीं? ॥१५३९॥

कहो तो अब पाण्डव।
शास्त्र–सिद्धान्त पूरा यह।
एक चित्त से सुन कर।
हुआ बोध? ॥१५४०॥

मैंने जैसे जिस रीति से।
दिया कानों के हाथों में।
वैसा तेरे चित्त में इस ने।
किया प्रवेश? ॥१५४१॥

अथवा कहीं मध्य में।
छूट बिखर गया अरे।
किंवा तूने उपेक्षा से।
दिया छोड़? ॥१५४२॥

मैंने कहा जैसे जो कुछ।
वैसे हृदय में हुआ स्वीकृत।
तो कहो जो पूछूँ अब।
मैं तुम से ॥१५४३॥

स्वाज्ञान से जनित।
जिस मोह से भ्रमित।
हुए थे पहले वह शेष।
रहा या नहीं? १५४४॥

क्या पूछूँ यह बहुत।
कहो तुम अपने में अब।
कर्माकर्म का विचार कुछ।
पाते हो क्या? ॥१५४५॥

स्वानन्द–रस में पार्थ।
विलीन होगा इसलिये इस।
भेद–दशा में लाये, व्याज।
प्रश्न का कर के ॥१५४६॥

पूर्ण ब्रह्म हुआ पार्थ।
पर साधने को कार्यार्थ।
न दी लाँघने मर्यादा तब।
श्रीकृष्णनाथ ने ॥१५४७॥

अन्यथा अपना कार्यफल।
न जानें क्या वे सर्वज्ञ!
किन्तु फिर--फिर किया प्रश्न।
इसीलिये ॥१५४८॥

ऐसे कर के प्रश्न।
न रहा हुआ अर्जुन-पन।
ला कर सिद्ध पूर्णपन।
कहलाया उससे ॥१५४९॥

फिर क्षीराब्धि से निर्गत।
गगन में तेजोपुञ्ज शोभित।
दिखता अभिन्न भी जैसे भिन्न।
पूर्णचन्द्र ॥१५५०॥

वैसे 'मैं ब्रह्म' यह भूले जब।
जग ही ब्रह्मत्व से भरता तब।
इसे छोड़े तो हो विलीन।
ब्रह्मपन ही ॥१५५१॥

यों डूबता–उतराता ब्रह्म में।
वह दुःख से ही देह सीमा में।
'मैं अर्जुन' इस नाम में।
हुआ स्थिर ॥१५५२॥

फिर काँपते करतल से।
रोमावली दबा कर के।
पुलक–स्वेदबिन्दु तनु में।
शान्त कर ॥१५५३॥

प्राण–क्षोभ से डोलते हुए।
अङ्गों में अङ्ग स्थिर कर के।
स्तब्ध सा खड़ा भूले।
सब हलचल ॥१५५४॥

नेत्रयुगलों के प्रवाह।
आनन्दामृत की बाढ़।
सँभाली प्रयत्नपूर्वक।
किसी प्रकार ॥१५५५॥

विविध औत्सुक्य का समूह।
कर रहा कण्ठ को अवरुद्ध।
उतारा उसे फिर सायास।
हृदय में ॥१५५६॥

वाचा का विस्खलन।
संयत कर के प्राण।
अक्रम का श्वसन।
किया नियमित ॥१५५७॥

फिर बोला अर्जुन देव!
पूछते तुम–'है क्या मोह'?
जी वह तो गया सकुटुम्ब।
घर भी लेकर ॥१५५८॥

नेत्रों के समीप आकर।
दिनकर पूछे कहाँ अन्धकार।
होता क्या यह सम्भव।
कभी कहीं? ॥१५५९॥

वैसे तुम श्रीकृष्णराज?
मेरे नयनों के गोचर।
इसी से क्या न पूर्ण।
होगा मनोरथ ॥१५६०॥

और फिर माँ से भी बढ़कर।
कहा प्रेम से जी भर।
जो किसी से भी न सम्भव।
पाना ज्ञान ॥१५६१॥

अब है या नहीं मोह।
तुम पूछते मुझे यह।
मैं तो हुआ कृतकृत्य।
तेरेपन से ॥१५६२॥

बँधा था अर्जुन–गुण से।
सो मुक्त हुआ तेरेपन से।
अब पूछना–कहना न रहे।
शेष दोनों ॥१५६३॥

तुम्हारे कृपा–प्रसाद से।
आत्मबोध पाने से।
मोह और मूल भी उसके।
न रहे शेष ॥१५६४॥

अब 'करना' या 'न करना' यह।
जिस द्वैत भाव से होता उदित।
वह न दिखता तुम से अन्य।
सर्वत्र कुछ ॥१५६५॥

इस विषय में कहीं।
मुझ में सन्देह रहा नहीं।
निश्चय ही जहाँ कर्म नहीं।
वही हुआ मैं ॥१५६६॥

तुम्हारी कृपा से देखा स्वरूप।
निपट गये सब कर्तव्य।
अब तुम्हारी आज्ञा से अन्य।
नहीं कुछ शेष ॥१५६७॥
जिस दृश्य में दृश्यों का नाश।
जो द्वितीय करता द्वैत ग्रास।
जो एक किन्तु सदा स्थित।
सब देशों में ॥१५६८॥
जिस के सम्बन्ध से मिटता बन्ध।
जिस की आशा से आशा समाप्त।
जो मिलने पर मिले सबकुछ।
अपने आप में ॥१५६९॥
वह तुम मेरे गुरु-रूप।
जो एकाकीपन में सहाय।
जिस के लिये करें न्योछावर।
अद्वैत-बोध ॥१५७०॥
आप ही होकर ब्रह्म।
मिटे कृत्याकृत्य का काम।
फिर करें केवल निःसीम।
सेवा उनकी ॥१५७१॥
गङ्गा सिन्धु सेवन को गई।
पहुँचते ही समुद्र हुई।
वैसे भक्तों को प्रभु ने बाँटी।
निज पदवी ॥१५७२॥
वह मेरे आप निरुपचार।
श्रीकृष्ण सद्गुरु सेव्य।
मैं ब्रह्मता का उपकार।
मानूँ यहो ॥१५७३॥
जो मेरे तुम्हारे मध्य।
था भेद का प्रतिबन्ध।
उसे हटाकर दिया मधुर।
सेवा-सुख ॥१५७४॥

तो आज्ञा तुम्हारी अब।
सकल देवाधिदेवराज।
करूँगा, दीजिये अनुज्ञा प्रभुवर!
किसी भी विषय में ॥१५७५॥
अर्जुन के इस कथन से मुग्ध।
नाचे सुख से बोले देव।
सकल-विश्व-फल मुझ में आज।
लगा पार्थ-फल ॥१५७६॥
न्यूनता रहित सुधाकर।
देखकर अपना कुंवर।
मर्यादा क्षीरसागर।
भूले न क्या ॥१५७७॥
यों संवाद की वेदी पर।
चित्तैक्य से हुए विवाहित।
देखकर हर्षनिर्भर।
हुआ सञ्जय ॥१५७८॥
उसी वृत्ति में सरबोर।
धृतराष्ट्र से बोला संजय।
बादरायण ने कैसा रक्षण।
किया हम दोनों का ॥१५७९॥
सुनिये आज आप।
जिन्हें संसार न गोचर।
उन्हें ज्ञान-दृष्टि-व्यवहार।
हुआ उपलब्ध ॥१५८०॥
रथ के लिये आवश्यक।
जो मैं अश्वसेवक।
उस को हुआ यह गोचर।
व्यासकृपा से ॥१५८१॥
फिर यह युद्ध-प्रसङ्ग।
सम्मुख है ऐसा दारुण।
कि दोनों की हार में हार।
है अपनी ही ॥१५८२॥

ऐसा जो समय विकट।
उस में हम पर कितना अनुग्रह।
कि ब्रह्मानन्द प्रकट।
भोग रहे हम ॥१५८३॥
ऐसा बोल रहा सञ्जय।
पर दूसरा अद्रवित स्तब्ध।
चन्द्रकिरण का स्पर्श पा कर।
पाषाण जैसे ॥१५८४॥
उसकी यह दशा देख कर।
संजय मौन रहा कुछ पर।
सुख में भरा हुआ मत्त।
लगा बोलने ॥१५८५॥
भ्रमित था हर्ष–वेग से।
इसीलिये कहता धृतराष्ट्र से।
अन्यथा योग्य नहीं इस के।
यह जाने वह ॥१५८६॥
फिर बोला हे कुरुराज।
ऐसे वह तेरा बन्धुपुत्र।
बोला तो लगा मधुर।
अधोक्षज को ॥१५८७॥
ये अरे पूर्वापर सागर।
इन में भेद नाम–मात्र।
यों सर्वत्र नीर।
एक जैसे ॥१५८८॥
वैसे श्रीकृष्ण–पार्थ ये।
देह से ही भिन्न दिखते।
पर संवाद में न रहे।
कोई भेद ॥१५८९॥
मानो दर्पण से भी स्वच्छ।
दो पदार्थ हों सम्मुख।
तब देखे जैसे परस्पर।
अपने आप को ॥१५९०॥

वैसे देव में पाण्डुसुत।
देखे अपना आप।
और पाण्डव में अनन्त।
स्वयं को ॥१५९१॥
देवदेव भक्त–हृदय में।
निज को विवृत देखते।
उधर पार्थ उन की छबि में।
देखे उभय को ॥१५९२॥
कुछ भी नहीं और।
कर रहे दोनों क्या फिर।
देखते हुए परस्पर।
आनन्दित ॥१५९३॥
मिट जाय यदि भेद।
तो कैसे हो प्रश्नोत्तर।
भेद रहे तो कैसे सम्भव।
संवाद–सुख ॥१५९४॥
यों बोलते हुए द्वैतपन से।
निगलें द्वैत संवाद में।
ऐसे उन दोनों के सुने।
वचन मैं ने ॥१५९५॥
स्वच्छ करके दो दर्पण।
रखे हों सम्मुख परस्पर।
तो किस को देख रहा कौन।
करें कल्पना! ॥१५९६॥
या दीप के सम्मुख।
रखा हुआ हो दीपक।
तो कौन किसका प्रकाशक।
कौन जाने? ॥१५९७॥
अथवा अर्क के सम्मुख अर्क।
उदित हो और एक।
तो किसे कहें प्रकाशक।
प्रकाश्य कौन? ॥१५९८॥

करने चलें यह निर्धारण।
तो निर्धार ही प्रतिबद्ध।
वे दोनों हुए परस्पर।
इतने सदृश ॥१५९९॥

मिलने चलें दो उदक।
मध्य में लवण अवरोधक।
तो घुल कर होता उसी निमिष।
उदक रूप ॥१६००॥

श्री कृष्ण-अर्जुन दोनों के।
संवाद मन में लेने से।
मेरी भी दशा अरे।
हो रही वैसी ॥१६०१॥

ऐसा कहते न कहते।
सात्त्विक भावों के उदय से।
भान कहाँ गया न जाने।
सञ्जयपन का ॥१६०२॥

ज्यों-ज्यों होता रोमाञ्च।
त्यों-त्यों अङ्ग सङ्कुचित।
स्तम्भ-स्वेद को करे विजित।
अकेला कम्प ॥१६०३॥

अद्वयानन्द के स्पर्श से।
दृष्टि रसमय हुई ऐसे।
अश्रु नहीं वे साक्षात् जैसे।
द्रवत्व ही ॥१६०४॥

न जाने क्या न समाये उदर में।
और क्या रुँध रहा कण्ठ में।
वागर्थ भी घिरे हुए।
उच्छ्वासों से ॥१६०५॥

किम्बहुना, अष्टसात्त्विक।
का सँभालते हुए आवेग।
चौराहा बन गया संजय।
संवाद-सुख का ॥१६०६॥

उस सुख की ऐसा जाति।
कि आप ही पाता शान्ति।
फिर उसे देह-स्मृति।
हुई प्राप्त ॥१६०७॥

तब आनन्द से बैठ कर।
बोला कि जो उपनिषद।
न जानते, व्यासप्रसाद से वह।
सुना मैं ने ॥१६०८॥

सुनते ही वे वचन।
ब्रह्मत्व का पाया आलिङ्गन।
फिर 'मैं-तू'-पन की विलीन।
हुई दृष्टि ॥१६०९॥

अहो यह कैसा योग।
जिस स्थान पर जाते मार्ग।
उन्हीं के वाक्य मुझे सुलभ।
कराये व्यास ने ॥१६१०॥

अहो अर्जुन के निमित्त।
स्वयं हो बनकर द्वितीय।
अपने प्रति ही देव।
जो बोले वचन ॥१६११॥

अहो वहाँ मेरे श्रोत्र।
योग्य हो कर बने पात्र।
कैसे करूँ वर्णन स्वतन्त्र।
श्रीगुरु-सामर्थ्य का ॥१६१२॥

राजा को सुनाने में विस्मित।
वहीं लीन हो कर स्थित।
निज कान्ति से जैसे आवृत।
आकृति रत्न की ॥१६१३॥

हिमवन्त के सरोवर।
चन्द्रोदय से बनते स्फटिक।
फिर सूर्यागम से पुनःद्रवत्व।
आता उनमें ॥१६१४॥

वैसे शरीरस्मृति आने पर।
सञ्जय-चित्त में वह संवाद।
लाता और पुनः विलीन।
होता उस में ॥१६१५॥
फिर उठ कर बोला अहो नृप!।
श्रीहरि का विश्वरूप।
देखा फिर भी कैसे आप।
बैठे स्वस्थ? ॥१६१६॥
न देखने से भी जो दिखे।
न होनेपन में भी रहे।
बिसरने में भी स्मरण रहे।
उसे हटाऊँ कैसे? ॥१६१७॥
देख कर उसे 'चमत्कार'।
कहें इतना न अवकाश।
मेरे सहित डुबाता सब।
महापूर ॥१६१८॥
यों श्रीकृष्णार्जुन के।
संवाद-सङ्गम-तीर्थ में।
स्नान कर के तिलदान करे।
अहन्ता का ॥१६१९॥
तब असंवृत आनन्द में।
अलौकिक ही कुछ बोले।
गद्‌गद कण्ठ से 'श्रीकृष्ण' कहे।
बारम्बार ॥१६२०॥
इस अवस्था का कुछ भी।
कौरव पर परिणाम नहीं।
अतः न सम्भव कल्पना भी।
राजा के मन में ॥१६२१॥
तब पाया हुआ सुखलाभ।
अपने आप में समेट कर।
शान्त किया अवष्टम्भ।
संजय ने ॥१६२२॥
अरे कौन से अवसर पर।
क्या करना उसे दूर रख कर।
तुम क्या कर रहे? बोला धृतराष्ट्र।
संजय के प्रति ॥१६२३॥
यहाँ पर तुझे व्यास ने।
बिठाया था किस उद्देश से?
अप्रसङ्ग क्या बोल रहे।
यह सब? ॥१६२४॥
अरण्यवासी महल में पहुँचे।
तो दश दिशा सूनी लगें उसे।
या प्रभात होने पर रात पड़े।
निशाचरों को ॥१६२५॥
जो न जाने जहाँ का गौरव।
उसे वहाँ लगता भयङ्कर।
अतएव राजा को अप्रसङ्ग।
लगे यह ॥१६२६॥
फिर बोला कहो प्रस्तुत।
आरम्भ हुआ जो युद्ध।
उस में विजयी कौन।
होगा अन्त में ॥१६२७॥
यों कहूँ तो बहुत विशेष।
अनुमान मेरा मानसिक।
कि दुर्योधन का ही अधिक।
प्रताप सदा ॥१६२८॥
और दूसरों की तुलना में।
दल-बल ड्योढ़ा इस का अरे।
अतएव विजय निश्चित उसे।
न मिलेगी क्या? ॥१६२९॥
मुझे तो लगता यह।
क्या कहता तेरा ज्योतिष।
न जानूँ सो कहो संजय।
जो है वही ॥१६३०॥

इस पर बोला संजय।
और न मैं जानता कुछ।
पर जहाँ आयुष्य वहाँ जीवन।
यह निश्चित ॥१६३१॥

जहाँ चन्द्र वहाँ चन्द्रिका।
जहाँ शम्भु वहाँ अम्बिका।
जहाँ सन्त विवेक वहाँ।
रहेगा ही ॥१६३२॥

राजा वहाँ कटक।
सौजन्य वहाँ सम्बन्ध।
वह्नि वहाँ वादक।
—सामर्थ्य रहे ॥१६३३॥

दया वहाँ धर्म।
धर्म वहाँ सुखागम।
सुख में ही पुरुषोत्तम।
रहें जैसे ॥१६३४॥

वसन्त में ही वन।
वन में खिले सुमन।
सुमनों पर समुदाय।
भ्रमरों के ॥१६३५॥

जहाँ गुरु वहीं ज्ञान।
ज्ञान में आत्मदर्शन।
दर्शन में समाधान।
निहित जैसे ॥१६३६॥

भाग्य, वहीं प्रकाश।
अथवा वहीं विलास।
सुख, वहीं उल्लास।
जहाँ सूर्य ॥१६३७॥

वैसे सकल पुरुषार्थ।
जिस स्वामी से सनाथ।
वे जहाँ श्रीकृष्णराज।
वहां लक्ष्मी ॥१६३८॥

और अपने कान्त सहित।
जगदम्बा हों जिस के पास।
उस की दासी अणिमादिक।
होंगी न क्या ? ॥१६३९॥

कृष्ण स्वयं विजय-स्वरूप।
जिस के पक्ष में वे स्थित।
विजयी होगा वही पक्ष।
निश्चय ही ॥१६४०॥

विजयी नाम से अर्जुन ख्यात।
विजय—स्वरूप श्रीकृष्णनाथ।
श्रीसहित विजय निश्चय।
रहे वहाँ ॥१६४१॥

उस के देश के वृक्ष।
स्पर्धा में कल्पतरु से श्रेष्ठ।
होंगे न क्या ? माई—बाप।
ऐसे जिस के ! ॥१६४२॥

वहाँ के सब पाषाण।
क्यों न बनें चिन्तारत्न।
उस भूमि में ही सुवर्णत्व।
होगा न क्या ? ॥१६४३॥

अरे उस के गाँव में।
नदी भी अमृत बहाये।
तो आश्चर्य क्या इस में।
करो विचार ॥१६४४॥

जिस के सहज कहे शब्द।
सुखदता से लगते वेद।
सदेह सच्चिदानन्द।
क्यों न हो वह ! ॥१६४५॥

क्योंकि स्वर्ग—अपवर्ग।
दोनों पद जिन के अधीन।
वे श्रीकृष्ण जिसके जनक।
जननी कमला ॥१६४६॥

जिस की दाहिनी ओर खड़े।
लक्ष्मी के वल्लभ वे।
वहाँ सब सिद्धियाँ स्वयं प्रगटें।
न जानूं और ॥१६४७॥
समुद्र से उठा मेघ।
उस से भी उपयोगी अधिक।
वैसा दिख रहा पार्थ।
आज यहाँ ॥१६४८॥
कनकत्व–दीक्षा में गुरु समर्थ।
लोहे के प्रति पारस निश्चित।
पर जग में चलाता व्यवहार।
सुवर्ण ही ॥१६४९॥
इस से गुरु में न्यूनत्व।
आता — न कहे कोई यह।
वह्नि प्रदीप द्वारा प्रकाशित।
करे निज को ॥१६५०॥
वैसे देव की ही शक्ति से।
पार्थ देव से अधिक दिखे।
और देव का ही भक्त-स्तुति से।
होता गौरव ॥१६५१॥
पुत्र सब गुणों में मुझे।
जीते, पिता यह चाहे।
यह चाह शार्ङ्गपाणि के लिये।
हुई फलित ॥१६५२॥
किम्बहुना नृप ऐसे।
कृष्ण पार्थ पर कृपा–भरे।
तो विजय उस की होने में।
सन्देह कहाँ? ॥१६५३॥
अरे वही विजय–स्थान।
इस में तुम्हें क्या सन्देह?
वहाँ न हो तो होगा व्यर्थ।
विजय ही ॥१६५४॥
अतः जहाँ वे श्रीकान्त।
और जहाँ पाण्डु का सुत।
वहीं विजय समस्त।
अभ्युदय भी ॥१६५५॥
यदि व्यास के कथन पर।
विश्वास करे तुम्हारा मन।
तो मेरे ये वचन।
मानो ध्रुव ॥१६५६॥
जहाँ वे श्रीवल्लभ।
जहाँ भक्तकदम्ब।
वहीं सुख और लाभ।
मङ्गल का ॥१६५७॥
यदि हो कुछ इस से अन्य।
तो न कहाऊँ व्यास-शिष्य।
बाहु ऐसे गरज कर।
उठाई उसने ॥१६५८॥
यों भारत का सार।
एक श्लोक में ला कर।
कुरुनायक के हाथ पर।
रखा संजय ने ॥१६५९॥
जैसे वह्नि-प्रताप न कह पायें।
पर बाती पर शिखा प्रगटायें।
तो सूर्य के अभाव में बने।
अवलम्ब वह ॥१६६०॥
वैसे शब्दब्रह्म अनन्त।
बना सपादलक्ष भारत।
भारत का सप्त शतात्मक।
सर्वस्व गीता ॥१६६१॥
उन सात सौ श्लोकों का।
तात्पर्यार्थ यह अन्त का।
व्यास–शिष्य सञ्जय का।
पूर्णोद्‌गार जो ॥१६६२॥

इस एक ही श्लोक पर।
जो रहे स्थिर, उस का सब।
अविद्याजात, होगा विजित।
भलीभाँति ॥१६६३॥

ऐसे सात सौ श्लोक।
गीता के पदों में धृत।
इन्हें पद कहें या परमामृत।
गीताकाश का ॥१६६४॥

या आत्मा-राजा की सभा में।
गीता ने रचे स्तम्भ ये।
प्रतिभा से ये श्लोक मुझे।
लगते ऐसे ॥१६६५॥

या गीता यह सप्तशती।
मन्त्र-प्रतिपाद्य भगवती।
मोह-महिष को दे कर मुक्ति।
आनन्दित ॥१६६६॥

अतः मन-काया-वाचा से।
जो इस की सेवा करे।
स्वानन्द-साम्राज्य का उसे।
करे चक्रवर्ती ॥१६६७॥

अविद्या-तिमिर मिटाने में।
श्लोक स्पर्धा में सूर्य को जीतें।
गीता-मिस ऐसे प्रकाशित किये।
श्रीकृष्णराज ने ॥१६६८॥

या श्लोकाक्षर-द्राक्षलता का।
मण्डप बनी यह गीता।
संसार-पथ से श्रान्त का।
विश्राम-स्थल ॥१६६९॥

या सुभागी सन्त-भ्रमरों से।
सेवित श्लोक-कमलों से।
श्रीकृष्णाख्य सरोवर में।
भरी कमलिनी ॥१६७०॥

या श्लोक नहीं कोई अन्य।
गीता का महिमागान।
करने वाले बन्दीजन।
उद्भट ये ॥१६७१॥

या सात सौ श्लोकों का सुन्दर।
बना कर सुदृढ़ प्राकार।
गीता-पुर में सभी आगम।
रहने आये ॥१६७२॥

या निजकान्त आत्मा से।
गीता सप्रेम आई मिलने।
श्लोक नहीं ये बाहें।
पसारीं उस ने ॥१६७३॥

या गीता-कमल के भृङ्ग।
अथवा गीता-सागर-तरङ्ग।
या ये श्रीहरि के तुरङ्ग।
गीतारथ के ॥१६७४॥

या श्लोक सब तीर्थ-सङ्घात।
आये श्रीगीता-गङ्गान्तर्गत।
कि अर्जुन नर-सिंहस्थ।
हुआ जान कर ॥१६७५॥

अथवा, नहीं श्लोकश्रेणी।
यह अचिन्त्य-चिन्तामणि।
या निर्विकल्प-फलदा पंक्ति।
कल्पतरु की ॥१६७६॥

ऐसे सात-सौ श्लोक।
एक-एक से बढ़ कर।
किस-किस को पृथक् ले कर।
करूँ प्रशंसा? ॥१६७७॥

ब्याई या अनब्याई।
कामधेनु पर दृष्टि ऐसी।
रख कर करता न कोई।
बात उस की ॥१६७८॥

दीपक पहला या पिछला।
सूर्य छोटा या बड़ा।
अमृत-सिन्धु गहरा या उथला।
कहता कौन? ॥१६७९॥

वैसे उत्तम या सामान्य।
न कहलाते गीता–श्लोक।
पुराना–नया पारिजात।
होता क्या? ॥१६८०॥

तर–तम नहीं इन श्लोकों में।
यह क्या सिद्ध करना पड़े?
वाच्य--वाचक भी न दिखे।
विभाग यहाँ ॥१६८१॥

क्योंकि इस शास्त्र में एक।
श्रीकृष्ण ही वाच्य–वाचक।
यह प्रसिद्ध जानें लोक।
कोई भी ॥१६८२॥

यहाँ अर्थ और पाठ।
देते समान ही फल।
वाच्य–वाचक का ऐक्य।
साधता शास्त्र ॥१६८३॥

अतः मेरे लिये कोई।
समर्थन का अब विषय नहीं।
गीता यह जानो वाङ्मयी।
श्रीमूर्ति प्रभु की ॥१६८४॥

शास्त्र वाच्य अर्थ में फलित।
फिर स्वयं होता अस्त।
वैसा नहीं यह समस्त।
परब्रह्म ही ॥१६८५॥

कैसे विश्व पर कृपालु हो कर।
महानन्द करके सुलभ।
अर्जुन–व्याज से प्रगट।
किया देव ने ॥१६८६॥

चकोर के निमित्त।
जो तीनों भुवन सन्तप्त।
उन्हें शान्ति देता कलावन्त।
चन्द्र जैसे ॥१६८७॥

या गौतम के व्याज से।
कलिकाल--ज्वरितों के लिये।
प्रवाहित किया गिरीश ने।
गङ्गा-प्रवाह ॥१६८८॥

कामधेनु गीता वैसे।
पार्थ--वत्स लगा कर के।
दुही समस्त जग के लिये।
श्रीकृष्ण ने ॥१६८९॥

यहाँ स्नान करें हृदय-सहित।
तो होवें तद्रूप तत्क्षण।
अथवा करें पाठ का खेल।
यदि जिह्वा केवल ॥१६९०॥

तो लोहा एक अंश से।
छू जाय यदि पारस से।
तो दूसरे अंश भी होते।
सुवर्ण ही ॥१६९१॥

वैसे पाठ के पथ पर।
श्लोक–पथ छुएँ न छुएँ ओष्ठ।
तभी ब्रह्मता की पुष्टि व्याप्त।
होती सर्वाङ्ग में ॥१६९२॥

अथवा मुंह फेरें दूसरी ओर।
यह कानों से करे प्रवेश।
तो भी होता वही फल।
मोक्षरूप ॥१६९३॥

क्योंकि पाठ, श्रवण या अर्थ से।
गीता मोक्ष से अन्य न दे।
समर्थ दाता किसी को जैसे।
'ना' न कहे ॥१६९४॥

अतः मुझ और सामान्य।
एक गीता का करें सेवन।
तब अन्य शास्त्रों से प्रयोजन।
क्या रहे? ॥१६९५॥

श्रीकृष्णार्जुन ने खुलकर।
किया जो अद्भुत संवाद।
उसे व्यास ने करतल–लभ्य।
बनाया ऐसा ॥१६९६॥

बालक को प्रेम से।
खिलाने जब माँ बैठे।
तब उसी के माप के।
देती ग्रास ॥१६९७॥

अथवा अमर्याद पवन।
चतुरों ने स्वाधीन।
किया जैसे व्यजन।
बनाकर ॥१६९८॥

वैसे शब्दों से जो न लभ्य।
उसे बनाकर अनुष्टुभ।
स्त्री-शूद्रादिक के बुद्धिगम्य।
बनाया सरल ॥१६९९॥

यदि स्वाति का जल।
न बनता मुक्ताफल।
तो सुन्दरियों के अङ्गों पर।
शोभता कैसे? ॥१७००॥

वाद्य में न आता नाद।
तो क्या होता गोचर?
पुष्प न बने तो आमोद।
हो कैसे गृहीत? ॥१७०१॥

माधुरी न बने पक्वान्न।
तो कैसे रसना ले आस्वादन।
दर्पण के बिना कैसे नयन।
देखे स्वयं को? ॥१७०२॥

द्रष्टा श्रीगुरुमूर्ति धर कर।
आवें न यदि दृश्य पथ पर।
तो किस की उपासना फिर।
करे लोक? १७०३॥

वैसे वस्तु जो असंख्यात।
उस की संख्या सैंकड़े सात।
न होती तो पा सकता कौन।
उसे यहाँ? ॥१७०४॥

लाता सिन्धु का पानी मेघ।
उसी की ओर ताके लोक।
क्योंकि उपयोग में अमाप।
न आवे किसी के ॥१७०५॥

और वाणी से जो न प्राप्य।
वह न बनता ये श्लोक सुन्दर।
तो कान मुख उसका भोग।
पाते कैसे? ॥१७०६॥

अतः श्रीव्यास का महत्तर।
विश्व पर हुआ उपकार।
कि श्रीकृष्णोक्ति को आकार।
दिया ग्रन्थ का ॥१७०७॥

और उसे ही मैं अब।
श्री व्यास के पद देख-देखकर।
ले आया हूँ श्रवणपथ पर।
मराठी के ॥१७०८॥

व्यासादि का उन्मेष।
रहता जहाँ कभी साशङ्क।
उसे भी मुझ जैसा रङ्क एक।
करे मुखरित ॥१७०९॥

पर गीता ईश्वर भोला।
धरे व्यासोक्ति कुसुममाला।
न करे मेरे दूर्वादल का।
अस्वीकार ॥१७१०॥

और क्षीरसिन्धु के तट पर।
गजघटा आवे पीने जल।
वहाँ मशक को क्या निषेध।
पीने का? ॥१७११॥

नन्हे पंखी के फूटे पंख।
उड़ न सके पर नभ में स्थिर।
गगन पार करे सत्वर।
गरुड़ भी वहाँ ॥१७१२॥

राजहंस का पदक्रम।
भूतल में कहलाया उत्तम।
तो और कोई वहाँ पर।
चले न क्या? ॥१७१३॥

जो अपना अवकाश-भर।
कलश लेता अगाध जल।
तो क्या न ले अञ्जलिभर।
जल अञ्जलि? ॥१७१४॥

मशाल अपने आकार से।
विशाल तेज धारण करे।
दीपक क्या प्रकाश न करे।
निज अनुरूप? ॥१७१५॥

समुद्र में समुद्र-तुल्य।
आभासित आकाश।
पुष्कर में हो प्रतिबिम्बित।
पुष्कर जितना ॥१७१६॥

वैसे महामति व्यासादिक।
इस ग्रन्थ पर करें ऊहापोह।
तो क्या हम निज शक्त्यनुरूप।
न करें यत्न? ॥१७१७॥

जिस सागर में जलचर।
सञ्चार करते मन्दराकार।
उन्हें देखकर नन्हें शफर।
क्या तैरें नहीं? ॥१७१८॥

समीप स्थित अरुण।
देखता सूर्य को पूर्ण।
तो क्या न देखे भूतल को।
चींटी उसे? ॥१७१९॥

इस लिये हम प्राकृत।
देशी भाषा में गीता-प्रबन्ध।
कहें तो इसे अनुचित।
न कह सकते ॥१७२०॥

पिता आगे-आगे चले।
उसी पथ को बालक पकड़े।
तो क्या कभी न पहुँचे।
उसी स्थान पर? ॥१७२१॥

वैसे व्यास का पथ लेते हुए।
भाष्यकारों से पथ पूछते।
अयोग्य भी मैं क्या न अरे।
पहुँचूँ वहीं ॥१७२२॥

पृथ्वी जिस की क्षमता से।
स्थावर-जङ्गम से न ऊबे।
चन्द्र दे जिस के अमृत से।
जग को शान्ति ॥१७२३॥

जिस का अङ्गभूत।
तेज लेकर अर्क।
अन्धकार का सङ्कट।
मिटाता सब का ॥१७२४॥

समुद्र में जिसका तोय।
तोय में जिसका माधुर्य।
माधुर्य में सौन्दर्य।
जिसका जी ॥१७२५॥

पवन में जिस का बल।
आकाश जिस से व्यापक।
ज्ञान जिस से उज्जवल।
-चक्रवर्ती ॥१७२६॥

वेद जिस से सुभाष।
सुख जिस से सोल्लास।
रहे यह, जिस से विश्व।
रूपायित ॥१७२७॥

वे सर्वोपकारी समर्थ।
सद्गुरु श्रीनिवृत्तिनाथ।
मुझ में करते निवास।
प्रविष्ट होकर ॥१७२८॥

प्रसिद्ध ही गीता जग में।
कही मराठी ढंग से मैं ने।
इस में विस्मय के लिये।
स्थान कहाँ? ॥१७२९॥

श्रीगुरु के नाम पर मिट्टी केवल।
पर्वत की थी जिस के पास।
वह भील हो सका सर्वमान्य।
त्रिजगत् में ॥१७३०॥

चन्दन के समान सुरभित।
उस के समीपस्थ वृक्ष।
जाज्वल्यमान् वसिष्ठ-वस्त्र।
सूर्य जैसा ॥१७३१॥

फिर मैं तो सचेतन मानव।
और श्रीगुरु ऐसे दानवीर।
जो दृष्टि से ही निज पद पर।
बैठा देते ॥१७३२॥

पहले ही निर्दोष नेत्र।
फिर उदित हुआ आदित्य।
तब न दिखे ऐसा पदार्थ।
होगा क्या? ॥१७३३॥

अतः मेरे नित्य नवीन।
श्वासोच्छ्वास ही बनते प्रबन्ध।
श्रीगुरु-कृपा से क्या न सम्भव।
कहे ज्ञानदेव ॥१७३४॥

इस कारण मैं ने।
श्रीगीतार्थ मराठी में।
कहा कि लोगों के लिये।
बने दृष्टि-विषय ॥१७३५॥

पर मराठी अलङ्करण से।
गीतार्थ समझने में।
गायक के अभाव में।
न होगी त्रुटि ॥१७३६॥

अतः कोई गीतार्थ कहने चले।
तो यह वक्तृत्व-भूषण बने।
नहीं अकेला भी कहने में।
गीतार्थ से न्यून ॥१७३७॥

सुन्दर अङ्गों पर पहना न जाये।
तो भी निज में शृङ्गार ही रहे।
यदि यथायोग्य सजा दें उसे।
उचित क्या और ॥१७३८॥

अथवा मोती जैसे।
स्वर्ण को मान देते।
अन्यथा अपने-आप में।
सुशोभित ॥१७३९॥

अथवा गुंथे हों या मुक्त।
परिमल में न होते अल्प।
वसन्तागम के विकसित।
मोगरे जैसे ॥१७४०॥

वैसे गायक को करे सुशोभित।
अपने आप भी करे रञ्जित।
ऐसा प्रिय ओवी में प्रबन्ध।
रचा मैंने ॥१७४१॥

यह आबाल-सुबोध।
ओवी में रचित प्रबन्ध।
यहाँ ब्रह्मरस-सुस्वाद।
भरे अक्षर गुंथे ॥१७४२॥

चन्दनतरु के निकट।
पाने को परिमल।
न देखनी पड़ती राह।
फूलने की ॥१७४३॥
वैसे श्रवणों में यह प्रबन्ध।
पड़ते ही करे समाधिस्थ।
न लगे व्याख्या सुनने पर।
व्यसन कैसे? ॥१७४४॥
पाठ का ही लें व्याज।
तो आता अभिजात पाण्डित्य।
फिर न भाये इस के सम्मुख।
अमृत भी ॥१७४५॥
वैसे ही यह सहज प्राप्त।
बना कवित्व का विश्रामस्थल।
श्रवण ने मनन-निदिध्यास।
जीते यहाँ ॥१७४६॥
स्वानन्द-भोग का पात्र।
बनाता किसी को भी यह।
सर्वेन्द्रियों को करे सुतृप्त।
श्रवण से ही ॥१७४७॥
चन्द्र को निज क्षमता से।
भोगे चतुर चकोर भले।
पर चाँदनी का सुख पाते।
सभी लोग ॥१७४८॥
यह अध्यात्म-शास्त्र वैसे।
अन्तरङ्ग अधिकारी के लिये।
पर लोग सब वाक्-चातुर्य से।
होंगे सुखी ॥१७४९॥
ऐसा श्रीनिवृत्तिनाथ का।
गौरव है जो सच्चा।
ग्रन्थ नहीं यह उन की कृपा का।
वैभव ही ॥१७५०॥

क्षीरसिन्धु के परिसर में।
शक्ति के कर्ण-कुहर में।
रहस्य श्री त्रिपुरारि ने।
कहा था जो ॥१७५१॥
वह क्षीर-कल्लोल के मध्य।
मकरोदर में गुप्त।
बैठे हुए जिस के हाथ।
आया पूर्ण ॥१७५२॥
उन मत्स्येन्द्र को सप्तशृङ्ग पर।
चौरङ्गी भग्नावयव।
मिला तो उस के सर्वाङ्ग।
हुए सम्पूर्ण ॥१७५३॥
फिर समाधि अव्युत्थित।
पाने की वासना से युक्त।
श्री गोरक्ष को दी मुद्रा वह।
मीननाथ ने ॥१७५४॥
इस से योगाब्जिनी-सरोवर।
विषय-विध्वंसक-वीर।
पद पर मानो किया अभिषेक।
सर्वेश्वर का ॥१७५५॥
फिर उन्होंने वह शाम्भव।
अद्वयानन्द-वैभव।
सम्प्रदान किया सप्रभव।
श्री गहिनीनाथ को ॥१७५६॥
वे जीवों को कलि-कवलित।
देख कर आये कृपा-युत।
श्रीनिवृत्तिनाथ को आज्ञा तब।
दी ऐसी ॥१७५७॥
कि आदिगुरु श्रीशङ्कर।
उन से शिष्यपरम्परागत।
बोध का यह जो प्रवाह।
मुझे प्राप्त ॥१७५८॥

उसे लेकर सम्पूर्ण तुम।
कलिपीड़ित जीवों का हित।
करो सर्वथा सवेग।
जाओ शीघ्र ॥१७५९॥

पहले ही वे कृपालुवर।
फिर पाया गुरु-आज्ञावचन।
पा कर मानो वर्षाकाल।
बरसे मेघ ॥१७६०॥

फिर आर्तों के प्रति सकरुण।
गीतार्थ-ग्रथन का ले व्याज।
बरसाया उन्होंने शान्तरस।
वही यह ग्रन्थ ॥१७६१॥

वहाँ सम्मुख था मैं चातक।
पिया भरपूर निज आर्तिवश।
इसी से पा गया इतना यश।
प्रसादरूप ॥१७६२॥

ऐसे गुरुक्रम से प्राप्त।
अपना जो समाधिधन।
वह बाँध कर दिया ग्रन्थरूप।
स्वामी ने मुझे ॥१७६३॥

अन्यथा न पढ़ा न सुना।
न जानूं स्वामी की सेवा।
ऐसे मुझ में योग्यता।
ग्रन्थ की कहाँ? ॥१७६४॥

पर सत्य ही गुरुनाथ ने।
निमित्त बना कर मुझे।
जग को इस प्रबन्ध-व्याज से।
बचाया जानो ॥१७६५॥

तो पुरोहित के नाते से।
न्यूनाधिक जो कहा मैं ने।
वह आप माता-पन से।
सह लीजियेगा ॥१७६६॥

कैसे करते शब्द-गठन।
कैसे चढ़ते प्रमेय पर।
किसे कहते अलङ्कार।
न जानूं मैं ॥१७६७॥

सूत्रधर की कठपुतली जैसे।
सूत्र की हलचल से नाचे।
वैसे बुलवाते मुझ से।
स्वामी मेरे ॥१७६८॥

इसलिये मैं गुण-दोष-विषयक।
क्षमा न माँगता विशेष।
क्योंकि ग्रथन किया आचार्यदृष्ट।
अर्थों का मैं ने ॥१७६९॥

और आप सन्तों की सभा में।
खड़ा मैं न्यून रहूँ कथन में।
तो अपूर्णता का कोप लाड़ से।
होगा आप पर ॥१७७०॥

पारस से छूने पर।
लोहेपन का कलुष।
न छूटे तो भला दोष।
किस का कहें? ॥१७७१॥

झरने का यही कर्तव्य।
कि गङ्गा में मिला दे अङ्ग।
फिर न पाये यदि गङ्गात्व।
तो करे क्या वह! ॥१७७२॥

अतः बड़े सौभाग्य से।
आप सन्तों के चरणों में।
आ गया फिर क्या रहे।
कमी जग में ॥१७७३॥

अहो जी मेरे स्वामी।
सन्त-सङ्ग दिया तुम ने ही।
इस से सब कामना मेरी।
हुई परिपूर्ण ॥१७७४॥

देखिये आप जैसा मुझे।
पीहर मिला अत: सुख से।
ग्रन्थ की अभिलाषा ने।
पाई सिद्धि ॥१७७५॥
जो कनक का निखिल।
बन सकता भूमण्डल।
चिन्तारत्न से कुलाचल।
बनना सम्भव ॥१७७६॥
सातों ही सागर।
अमृत से भरना सरल।
ताराओं से नहीं कठिन।
बनाना चन्द्र ॥१७७७॥
कल्पतरु का आराम।
लगाना नहीं विषम।
पर गीतार्थ का मर्म।
न होता अवगत ॥१७७८॥
वह मुझ जैसे मूक से।
कहा कर मराठी भाषा में।
लोगों के दृष्टिगोचर उसे।
कराया ऐसा ॥१७७९॥
यह इतना बड़ा ग्रन्थसागर।
पार कर परले तीर पर।
कीर्ति विजय का उच्च ध्वज।
जो फहरा रहा ॥१७८०॥
गीतार्थ का यह मन्दिर।
सकलश-महामेरु-तुल्य।
रचकर मध्य श्रीगुरुलिङ्ग।
पूजता मैं जो ॥१७८१॥
गीता माता निष्कपट।
उसे भूल शिशु भटके व्यर्थ।
उन माँ–बेटे की हो भेंट।
यह धर्म आपका ॥१७८२॥
आप सज्जनों का कहा हुआ।
समझ कर मैं बोल सका।
यह फल नहीं कोई छोटा।
कहे ज्ञानदेव ॥१७८३॥
बहुत क्या कहूँ, आप सबने।
दिलाया जन्म-फल मुझे।
कि ग्रन्थ-सिद्धि का पर्व मैं।
देख रहा आज ॥१७८४॥
मैंने जैसी-जैसी आशा।
ले कर आप पर किया भरोसा।
वह पूर्ण कर के सर्वथा।
किया सुखी ॥१७८५॥
स्वामी! ग्रन्थ को मेरे लिये।
यह दूसरी सृष्टि की आपने।
यह देख कर हँस रहा मैं।
विश्वामित्र पर १७८६॥
वह तो त्रिशङ्कु के उद्देश से।
धाता को न्यून दिखाने के लिये।
थी नश्वर, पर नहीं वैसी।
सृष्टि आप की ॥१७८७॥
शम्भु ने उपमन्यु-प्रति मोहवश।
बना दिया था क्षीरसागर।
पर वह भी नहीं उपमा–योग्य।
क्योंकि विषगर्भ ॥१७८८॥
अन्धकार निशाचर।
निगल रहा था सचराचर।
दौड़ कर सूर्य ने किया नष्ट।
पर बढ़ा ताप ॥१७८९॥
सन्तप्त जग के लिये।
चाँदनी लुटाई चन्द्र ने।
पर उस सदोष को कैसे कहूँ।
सदृश यहाँ ॥१७९०॥

आप सन्तों ने जो मेरा।
ग्रन्थरूप से कराया।
त्रिजगती में उपयोग बड़ा।
वह अनुपम ॥१७९१॥

किम्बहुना आप का कर्म।
धर्मकीर्तन यह हुआ सिद्ध।
इस में मेरा रहा शेष।
सेवकपन ॥१७९२॥

अब विश्वात्मक देव।
इस वाग्यज्ञ से हों सन्तुष्ट।
तुष्ट होकर प्रसाद-दान।
दें मुझे यही ॥१७९३॥

कि खलों की कुटिलता छूटे।
सत्कर्म में उन की रति बढ़े।
भूतों में परस्पर प्रगटे।
हार्दिक मैत्र ॥१७९४॥

जाये दुरितों का तिमिर।
विश्व में स्वधर्म सूर्य हो उदित।
जो-जो चाहें वह करें प्राप्त।
प्राणिजात ॥१७९५॥

बरसे सकल मङ्गल।
ईश्वर निष्ठों का समुदाय।
अनवरत भूमण्डल पर।
यह देखें प्राणी ॥१७९६॥

कल्पतरु के उद्यान सचल।
चेतना चिन्तामणि के गाँव।
जो बोलते हुए अर्णव।
पीयूष के ॥१७९७॥

चन्द्रमा जो अलाञ्छन।
मार्तण्ड जो तापहीन।
वे सब के प्रति सदा सज्जन।
हों प्रिय सब के ॥१७९८॥

किम्बहुना सब सुखों से।
पूर्ण हो कर तीनों लोक ये।
आदि पुरुष का भजन करें।
अखण्डित ॥१७९९॥

और ग्रन्थोपजीवी जन।
लोक में इसके विशेष।
वे दृष्ट-अदृष्ट फल पर।
पायें विजय ॥१८००॥

तब बोले श्रीविश्वेश।
यही होगा दान प्रसाद।
इस वर से हुए ज्ञानदेव।
सुखी परम ॥१८०१॥

ऐसे इस कलियुग में।
महाराष्ट्र-मण्डल में।
श्रीगोदावरी के दक्षिण।
तीर पर ॥१८०२॥

त्रिभुवनैक-पवित्र ।
अनादि पञ्चक्रोश क्षेत्र।
समस्त जग का जीवनसूत्र।
है श्रीमहालय ॥१८०३॥

वहाँ यदुवंश-विलास।
जो सकल-कला-निवास।
हुए न्यायनिष्ठ क्षितीश।
श्रीरामचन्द्र ॥१८०४॥

वहाँ महेशान्वय-सम्भूत।
श्री निवृत्तिनाथ-सुत।
ज्ञानदेव ने किया गीतार्थ।
देशी भूषा में ॥१८०५॥

यों भारत रूप ग्राम में।
भीष्म नाम प्रसिद्ध पर्व में।
किया श्रीकृष्णार्जुन ने।
सुन्दर संवाद ॥१८०६॥

जो उपनिषदों का सार।
सब शास्त्रों का पीहर।
परम हंसों से सेवित।
सरोवर जो ॥१८०७॥

उस गीता का कलश।
पूर्ण हुआ यह अष्टादश।
कहते श्री निवृत्तिदास।
ज्ञानदेव ॥१८०८॥

कहूँ बारम्बार यह।
ग्रन्थसम्पत्ति पुण्यमय।
सब सुखों से सर्वभूत।
हों सम्पूर्ण ॥१८०९॥

शक द्वादश द्वादशोत्तर में।
यह टीका रची ज्ञानेश्वर ने।
सच्चिदानन्द बाबा सादर।
हुए लेखक ॥१८१०॥

इति श्रीमद्ज्ञानेश्वरविरचितायां श्रीमद्भगवद्गीता – 'भावार्थ-दीपिकायां' मोक्षसंन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥

॥ हरिः ॐ तत् सत् ॥

श्री एकनाथ महाराज द्वारा ज्ञानेश्वरी ग्रन्थ–संशोधन के पश्चात् लिखी ज्ञानेश्वरी–विषयक ओवियाँ

श्रीशक-षडुत्तरपञ्चदश में। तारण नामक संवत्सर में।
सादर जनार्दनी एकनाथ ने। ज्ञानेश्वरी गीता की शुद्ध ॥ १ ॥
ग्रन्थ पहले ही अतिशुद्ध। पर पाठान्तर में शुद्ध अवद्ध।
उसे शोधित कर एवंविध। प्रतिशुद्ध सिद्ध ज्ञानेश्वरी ॥ २ ॥
ज्ञानेश्वर निष्कलंक को प्रणाम। जिन की गीताटीका का करें पाठ।
उन ग्रन्थार्थियों को होता ज्ञान। सब भावुकों को ॥ ३ ॥
चिरकाल से हुई प्राप्त। भाद्रपद में कपिलाषष्ठी आज।
प्रतिष्ठान में गोदातट पर। हुआ लेखन सम्पूर्ण ॥ ४ ॥
श्रीज्ञानेश्वरी–पाठ पर। मराठी ओवी जो रचित।
वे रखीं डिठौनारूप। अमृतथाल में ॥ ५ ॥

॥ ॐ हरिः ॐ ॥

॥ हरये नमः। हरये नमः। हरये नमः ॥

— श्रीकृष्णार्पणमस्तु —

॥ॐ॥

वन्दना

आरती ज्ञानराजा। महाकैवल्य तेजा। सेविती साधुसन्त।
मनु वेधिला बा माझा। आरती ज्ञानराजा ॥
लोपले ज्ञान जगीं। हित नेणती कोणी। अवतार पाण्डुरङ्ग।
नाम ठेविलें ज्ञानी। आरती ज्ञानराजा ॥
प्रगट गुह्य बोले। विश्व ब्रह्मचि केले। एका जनार्दनीं।
पायीं मस्तक ठेले। आरती ज्ञानराजा ॥

* * *

आरती तुकारामा। स्वामी सद्‌गुरु धामा। सच्चिदानन्द मूर्ती।
पायी दाखवी आम्हा। आरती तुकारामा।
तुकया तुलनेसीं। ब्रह्म रूपासीं आले। रामा जनार्दनीं।
पायीं मस्तक ठेले। आरती तुकारामा ॥

* * *

घालीन लोटांगन वन्दीन चरण। डोळ्यांनी पाहीन रूप तुझे।
प्रेमे आलिङ्गीन आनन्दे पूजीन। भावे ओवाळीन म्हणे नामा।
अकल्प आयुष्य व्हावे तया कुळां। माझिया सकळा हरिचा दासां।
कल्पनेची बाधा न हो कोणे काळीं। ही सन्त मण्डळी सुखी असो।
अहंकाराचा वारा न लागो राजसां। माझिया विष्णुदासां भाविकां सी।
नामा म्हणे व्हावे तयांचे कल्याण। जामुखीं निधान पाण्डुरङ्ग ॥

जय जय राम कृष्ण हरि। जय जय राम कृष्ण हरि।
जय जय गोविन्द हरि। जय जय गोपाल हरि।
जय जय माधव हरि। जय जय मुकुन्द हरि।

जय जय राम कृष्ण हरि!

पुण्डरीकवरद! हरि! विट्ठल! विट्ठल! विट्ठल!

श्री ज्ञानदेव! तुकाराम!

[महाराष्ट्र–परम्परानुसार श्री ज्ञानेश्वरी–पारायण के पश्चात् उक्त रीति से आरती गायी जाती है। श्रीज्ञानदेव–आरती के पश्चात् उस से ठीक दुगनी लय में श्री तुकाराम आरती गायी जाती है। इन के पश्चात् पारायण–कर्ता महात्मा सन्त नामदेव जी के शब्दों में भगवान् से भक्तों के लिये आशीर्याचना करते हैं। फिर नाम –धुन (सङ्कीर्तन) के पश्चात् उच्चस्वर से पुण्डरीक को वर देने वाले (उस के अनुसार) पण्ढरपुर में श्रीपाण्डुरङ्ग के रूप में 'ईंट पर खड़ा' श्रीविग्रह धारण कर के नित्य–निवासी भगवान् के नाम का घोष और उन्हीं के–मानवविग्रह रूप श्रीज्ञानदेव एवं तुकाराम का नामघोष होता है।]

आरती–अर्थ

हम श्री ज्ञानराय की आरती करते हैं। जो महाकैवल्य–तेज–स्वरूप हैं। सब साधु–सन्त उन का सेवन करते हैं। उन्होंने मेरा हृदय वींध दिया है (मन मोह लिया है)। जब जगत् में ज्ञान लुप्त हो गया था, कोई हित को नहीं पहचानता था, तब भगवान् पाण्डुरङ्गने अवतार लिया — ज्ञानदेव अपना नाम रखा। गुह्यतम परमतत्त्व को, निगमागम रहस्य को प्रासादिक भाषा में प्रकट खोलकर कहा। विश्व को ब्रह्मरूप बना दिया। श्रीजनार्दन –चरणों में मस्तक टेकते हुए एकनाथ श्रीज्ञानराजा की आरती करते हैं।

हम भक्तशिरोमणि श्री तुकाराम जी को आरती करते हैं, जो सद्गुरु धाम हैं सच्चिदानन्द प्रभु की प्रकटमूर्ति–स्वरूप हैं, वे अपने चरणों के हमें दर्शन दें। तुकाराम को तुलना (स्वरूप वाणी एवं प्रत्यय) में तो ब्रह्म ने ही रूप धारण किया। श्रीजनार्दन–शिष्य राम उन के चरणों में प्रणाम करते हैं।

साष्टाङ्ग प्रणाम करते हुए चरण–वन्दना करते हुए, प्रेम से आलिङ्गन करते हुए, आनन्द से पूजा करते हुए, भाव से आरती उतारते हुए नामदेव कहते हैं कि मेरे श्रीहरि के सब दासों (भक्तों) के कुल में अकल्प (चिरन्तन) आयुष्य हो; कल्पना की बाधा उन्हें कभी आड़े न आवे, यह सन्तमण्डली सदा सुखी रहे। अहङ्कार (रूपी व्याधि) की हवा भी मेरे प्यारे इन भावभरे विष्णुभक्तों को कभी न लगे! नामदेव कहते हैं जिन के मुख में श्रीपाण्डुरङ्ग–नाम का निधान है उन का सदा–सर्वदा कल्याण हो।

॥ हरिः ॐ तत् सत् ॥

परिशिष्ट

१
श्रीज्ञानेश्वरी में चर्चित विषय

॥ ॐ ॥

परिशिष्ट १.

श्रीज्ञानेश्वरी में चर्चित विषय

[अध्ययन की सुगमता के लिये मुख्य विषय स्थल अकारादि क्रमसे सङ्कलित सूची रूप से प्रस्तुत हैं। मुख्य विषयों के नीचे उन के अवान्तर भेद दिये हैं। । जैसे कर्म के नीचे सात्विक, राजस, तामस, विकर्म।]

[केवल इस परि. १ में वर्णक्रम मराठी पद्धतिसे रखा है, तदनुसार क्ष, ज्ञ सब वर्णों के अन्त में लिये गये हैं। अन्यत्र संस्कृत पद्धति से क के अन्त में क्ष तथा ज के अन्त में ज्ञ लिया गया है।]

ॐ प्रणव

नमन – १/१ १/२०
ब्रह्म का नाम ८/११८, १७/३४३
महत्त्व १७/३१८-४३;
'ॐतत् सत्' का विनियोग १७/१५७८५

अक्रोधत्व; १६/१२५-२९

अचापल्य; १६/१८३-८५

अन्तकाल
अवस्था (सामान्य) ७/१८२
(भक्तों की) ८/५१-७५, १२१-३१
वासना का कार्य ६/४१७
श्रीकृष्णस्मरण ८/९२-९९

अद्रोह; १३/१९९-२०३

अधिभूत ८/३०-३२

अध्यात्म
ज्ञाननित्यत्व १३/६१५-२०
विद्या १०/२६६
व्याख्या ८/१८-१९
श्रेष्ठता ११/४४-४७

अध्यायसम्बन्ध
१/२७२-७५, २/३७१-७३, ३/२७४
५/१७७-७८, ७/१८९-२०५,
१०/४१ १०/३३०-३५,
११/७०२-७, १४/३३-३८
१५/३८-४३, १६/४९-६३,
१७/२१-३० १८/६०-७४
संगति १०/२४-२९, १८१४३५-५५

अपैशुन्य; १६/१४१-५२

अभ्यासयोग;
सामर्थ्य ८/८१-८५, १२।१११११३
स्वरूप ६/४१९-२६, १२/९७११०

अमानित्व १३–१८४-२००, १६/२०५

अमृत; उत्पत्ति १८/१४७६-७७
दुर्लभत्व २/२४०
परमामृत २/६७, १०/१९४-९८
परिणाम १/७७
प्राकृत १०/१९२-९३
अर्चिरादि मार्ग ८/२२०-२५

अर्जुन
अनन्य भक्त २।५८-६२, ३/२१-२९
९/२३३-३६, १०/१८३-८४
उपरति १०/१४५-४८, ११/२५५-६०
उत्कण्ठा (श्रवण की) ९/२३८,
१३/११४७-५१, १४/६१-६३
१५/६८-७१
पापभीरु १/२०७-६७, २/३०-४१
प्रशस्ति-
ज्ञानदेव कृत ६/१२०-३०, ८/८-१४,
१८/१६८६-८९
श्रीकृष्णकृत — ४/२८-३० ६/१४८—५१,
९/३६-४१, २२९, १०/५६-६१,
१५/४४७-५२, १५/५५७-८१,
१६/२६९-७०
संजयकृत — ४/७-१५, ११/१६५-७५
११/६४१-४६, १७/४२७-३०
१८/१४७०-७२
प्रश्नचातुरी ७/२०३-४
मोहग्रस्त १/१७७-२०६, ११/४९-६१
विविध विशेषण २/९-११,१२/२०,
११/४९-४९,१७/३१-३३
१८/१५५८-६६,
शौर्य १/२०१, २/८-११,
११/३८७, १८/१२९५-९६
श्रीकृष्ण का प्रेम (अर्जुन पर)
१/१४१-४३, ५/१६९-७३,
६/१४६, ९/३५-४१, ११/३९-४३
१८/२८२-८५, १३४७-५१,
६८-७८, —८६-८७, १४१८-२५
श्रीकृष्ण से सख्य ३/३-३४,
११/५३७-५४
श्रीकृष्ण से अभेद १०/२९३-९४,
१३/११४५, १५/४५५, -५८,
१८/१३४८

अलोलुपत्व; १६–१६३-६७
अवतार;
कारण ४/४९-५१, १०/२५२
कार्य ४/५२-५७, १०/२५३-५४
निज स्वरूप, परमतत्त्व
६/३२०-२३, ११/८३-८५
१८०-८१, ६१४-१५, १८९१
१३/१०७२-७४, -११४०४१
१५/३१२-१६
प्रकार ११/६०-६१
अवस्था
उन्मनी ६/३०९-२०, १५/५३३-४१
जागृति ९/२४६, १८/४०४-५, ११०४
निद्रा १८/३८१, ४०३, ५४०
सुषुप्ति १५/५२६
स्वप्न (कार्य) ५/५३-५४, ८/७३
अश्वत्थ वृक्ष
अधःशाखा १५/९२-१७४
आश्रयस्थान १५/७३-७९
ऊर्ध्वशाखा १५/१८४-२०७
छेदन का उपाय १५/२४८
मध्यशाखा १५/१७६
मूल १५/७९-९१
विभूति १०/२३५
वर्णन १५/१११-१४
असक्तबुद्धि
१३/५९३, १८/९५६-५९
अहङ्कार
उत्पत्ति १४/९२
कार्य ३/१७७-७८, -८४-८५,
७/१६५-७१, १८/१०५१
१२७४-७७
नाहंकृतिभाव ५/३८-६३, १८/४०१-२१
निरहङ्कार १३/५२४-३३

स्वरूप १३/७७-८२, ७१४-२७
अहिंसा १३/२१७-३१७, १६/११४
अक्षर प्रणव ८/११७-१८
ब्रह्म ८/१५-१७
लक्षण ८/१००-३, १८०-८१
अज्ञान ४/६८-७०, १४/१२९-३३
कार्य १५/१३८, ३४२, १६/४३-५१
१८/३२६, ४६०, ५४१
त्याग ५/८३, १८/१३९०-९५
परमात्मविषयक ५/८२, ९/१५५-७०
लक्षण १३/६५६-८५१
स्वरूप १४/७०-७९, १६/२४६-५१
आचार्य–(गुरु)-उपासना
आचार्यवर्णन १३/३७१-४५३, १४/१
गुरुकृपा की आवश्यकता १०/१५३-७२
गुरुप्रेम १३/४५५-५७, १५/१९-२६
गुरुसामर्थ्य १/७७-७९, १८/१७२३-२४
गुरुलक्षण १७/२०८
नाथपरम्परा १८/१७५१-५९
फल (कृपा का) १/३२-३६ १/७५,
१८/१७३४
(सेवा का) ४/१६८, १३/३६१
१५/९-१६
भजन ४/१६५-६७, १८/१५६८-७५
आत्मा
अकर्तृत्व १३/१०८२-११२८, १८/२६८
-७५, १८/५१५-१६
अगम्य २/१४८-४९
अनुभव २/७२-७६, ३/३६९-७२
उद्धार ६/६८-८१
प्राप्ति-उपाय १८/३९७-४००
लाभ १८/१२५९
व्यवधान ४/१९-२६
स्वरूप २/१२५-७१, १३/११०६-२०
आत्मानात्म-विचार २/१२६-३३
१३/१०३६-३८, १३/११३५-४२
१५/२९६, ३८१-९०
अपनाआप ४/१६४, ५/१०५, ५/११०-
१२, ६/७१, ८/६०, १४/३१७,
१५/२६७, २७४, १८/१५६१
आर्जव १३/३५४-६६ १६/११६
१८/८४२-४३
आहार
अन्न ३/१३३-३५
सात्त्विक १७/१२५-३७
राजस १७/१३९-५२
तामस १७/१५३-५९
महत्त्व १७/११२-१५
साधक का ६/३४९, १८/१०२४-२७
इच्छा
कार्य १३/९६८
स्वरूप ७/१६५-६६, १३/१२२-२५
इन्द्रिय
अधीनता २/१११-२०
१३/१३९-४२, २०२-१२
कर्मेन्द्रियें १३/१००-१०२
जितेन्द्रिय २/१२३-२४, ३०२-९
३१५-१६, -५१-५३, ६/६२, ९०-
९१
दमन २/३४७, ३/२६८, १८/७८५-
-८७, ८३५, १०१७
प्रबलता २/३१०-१४, ४८-५०
लक्षण १८/५०६
विषय १३/११७-२०
ज्ञानेन्द्रिय १३/९८-९९
ईश्वर
अकर्तृत्व ५/७६-८१
अगम्य ५/१७४, १०/६४-७१

अवतारकार्य ४/४९-५७, १०/२५२-५४
औदार्य ११/९८-१०७
कर्मकर्ता ३/१६०-६७
कार्य (भक्तों का) ६/३२४, ८/१२७-३०, १०/१३३-४३, १२/८२-९५
गुण २/२९०, ३/२८, ६/३७-३८ १२/२३९-४४, १७/४२३
दुर्लभत्व ४/८-१३, ६/१४६
प्रसाद १८/२१८-२१, १८/१२६६-७३ १३२०-२२, –८३-८७, १४०९-१५
प्राप्ति-उपाय ९/४३०, –६५-६, ६–७०-७१, ५१६, १०/७२-७३, ११/६८५-८८, –९६-९८, १२/३५-३८, –४०-८१, १२/९७- १४०, १८/९१४-२२
प्रेम (भक्तों के प्रति) १/१४२-४३, ६/१३१, १२/१५६-५७, २१४-२८, २३४-४०
विशेषण ९/२७८-९५
व्याप्ति १७/२१५-३०७
योगक्षेम ९/३३५-४३
वर्णन १८/१२९९-१३०४
व्याप्ति (स्वरूप) ७/३३-३९, ७–१५९-६४, ९/२६५-३०२, १०/८२-११४, २६३-६४, ३१७, ११/२७१-७७, १४/३७३-८०, १५/३१७-४२१
शरणागति १८/१३१९, १३९८-१४००
सगुणरूपवर्णन ११/६००-६०८
साक्षीमूत ९/१२९
स्तुति (अर्जुन द्वारा) १०/१४४-८४, ११/९८-१०९

उपाधि
अक्षरपुरुष १५/५०२-१९
निरुपाधिक (के ज्ञानहेतु) २/१४८-५० ८/१७९-८१, ८/१९४, १५/४६४-७०, १५/५२५-५७
एकान्तसेवा ६/१६४-७९, १३/१९८-९९ ५१८-१९, ६१२-१३ १८/१०२२-२३
ऐश्वर्ययोग ९/७१-९२

कर्ता
ज्ञानी १८/२१२-१४
स्वरूप ३/१७८, १८/३२१-२६
सात्त्विक – १८/६३१-४८
राजस – १८/६५०-६१
तामस – १८/६६२-८८

कर्म
अपरिहार्य ३/५६-६३
कर्माकर्मविवेचना ४/८५-९८
काम्य १८/९८-१०५
कारण व हेतु १८–३१५-७६
नामविरहित १७/४१४-२२
नित्य १८/११५-१७
निषिद्ध ४/९१
नैमित्तिक १८/११०-११
नैष्कर्म्य ४/९३-९८, १८/१५४ १८/१८/९७०-८३
प्रायश्चित्त १८/१०१७
प्रेरणा या प्रवर्त्तक १८/४६१-७७
फल ३/१५१, १८/१२२-२३, १३९, –१५८-६३ (विविध) १८/२३३-५६
फल-ईश्वरार्पण १८/२२७-३२
फलत्याग १८/१२४-२६ २५७-६७
फलत्याग न करने वाला ७/१५१-७८

फलहेतुरहित २/२६४-७९,
३/६८-७५
बन्ध ३/१८४-८५, १८/२०५
ब्राह्मण के – १८/८३३-५४
क्षत्रिय के – १८/८५६-७८ वैश्यके
८८०-८२ शूद्र के ८८३
मिथ्याचार ३/६४-६६
युक्ति १७–३४६-५२
१८/१६४-७७
योग ३/३७, ४४, ५/१६-१७
योगरूप से साधन ६/५४-६०
लोकसंग्रहार्थ ३/१५४-५९, –७३-७६
विकर्म ४/९०
विभूति ७/४६-५१
विहित ३/११८-२६, १८/ १४९-५३
व्याख्या ४/८९, ८/२७-२९ १८/५०७-
१४
शास्त्रयुक्त १८/८८८-९३
संग्रह १८/४७८-५१५
सात्त्विक १८/५८६-९३
राजस – १८/५९५-६१०
तामस – १८/६११-२६

काम-क्रोध

जीतने का उपाय ३/२६७-७०
त्याग का कारण १८/४२५-२६
त्याग का फल १२/४३७-४४
परिणाम ३/२६०-६२, १२/४४५-५४
प्राबल्य ३/२३२-६६
वर्णन ३/२१-३८, २३९-५९,
१६/३२७-४२, ३९५-९६,
१६/१०५७-६१

कीर्तन

दुर्लभत्व ९/२०६
फल ९/१९७-२०५, २०७-९
स्वरूप ९/२१०, १०/११९-१२९

कुण्डलिनी

जागरण, स्वरूप –६/२२१-२४,
परिणाम ६/२२५-२९०, ९/२१४
बल ६/२५१-६०
मार्ग १२/४६-५१, १८/१०३६-४०
कृतकृत्यता ३/१४७-४८, ७/१११,
–१७६-७७, १५/५८५-८७
१८/१५६२-७१
क्रमयोग १८/१०११-१११, १२१८-
२३, १२४६, –४८,
गणेश १/१-२०, १०/१२४, १३/१,
१७/१-८

गीता

अगम्यत्व १/७०-७१, ११/२६-२७
अधिकारी १/५६-६०, ६/२२-३०,
९/३६-४०, १२/२३०-३३, १५/
५८१, १८/१७४९
अनधिकारी ३/१९४-९९
काण्ड (वेद के अनुसार, गीता में)
उपासना – १८/१४४०-४५
कर्म० – १८/१४३७-३९
ज्ञान० – १८/१४४६-५१
फल १८/४८, १८/१६९४
माहात्म्य १५/-५५, १८/३०-५९
१८/१६६०-८९
विषय १८/१२४३-४४
वेदों का मूल १८/१४२६-६६
वेदों से तुलना १८/१४५६-६६२
–१५१०-११
सम्प्रदाय १८/१४७५-१५०९

गुण

उत्पत्ति १४/१३८-४५
बन्ध १४/१४६-४८, १९९-२०२

सत्त्व १४/१४९-५१, १५/१८४-२०५
रजस् १४/१६०-७३, १५/१५५-६२
तमस् १४/१७४-९४, १५/१५५-५९,
–१६३-७४
मरणोत्तर गति (तमस्की) १४/२५५-
५८, २७४
(रजस् की) १४/२३८-४२, २७२-७३
(सत्त्व की) १४/२१४-२५, २७१
(गुणों से) मुक्त होने का मार्ग
१४/३०१-८, ३७१-४००
गुणातीत १४–३२७-६९
वृद्धि (गुणों की)
सत्त्व – १४/२०५-१३
रजस् – १४/२२७-३६
तमस् – १४/२४४-५४
व्याप्ति १७/५६-६०, १८/८१४-१७

चित्त

आत्मस्वरूप में ३/१८६, ५/३४-३६,
–१४८
ईश्वरस्वरूप में १८/१२६७-६९
शुद्धि १८/१५५-६०

चिन्ता

ईश्वरविषयक ६/४४७
लौकिक १६/३३०-३३

जगत्

उत्पत्ति १४/६६, –११६
स्वरूप १८/२३८-३९

जन्म–मृत्यु

अनुदर्शन १३/५३६-५४, १६/१७५-८२
अपरिहर २/१५९-६०, १८/१०१
स्वरूप १८/१२७०

जरा

अनुदर्शन १३/५५५-८६
वर्णन १३/७५६-६०

जीव

अलिप्तता १४/३४८-५०
अविद्याग्रस्त ७/६०-६७, १५/३४२-४७
१८/१३०५-९
कर्ता १८/४९०-५०५
जीव-परमात्म-ऐक्य ६/७१-८४, –४८०
१२/१५३
पुनर्जन्म १५/३६१-६७
प्रकृतिवश – १५/३५२-६०
विषयी १५/३६८-७२
स्वरूप १८/३२१-२६
तत्त्वज्ञानार्थदर्शन १३/६२३-३२

तप

तामस १७/२५४-६२
मानसिक १७/२२५-३७
राजस १७/२४२-५२
वाचिक १७/२१६-२३
सात्त्विक १७/२४०-४१
स्वरूप ४/६५, १६/१०५-१२,
१८/८३७
तेज १६/१८६-९०, १८/८५८-६०

त्याग

तामस – १८/१७८-८३
राजस – १८/१८४-९८
सात्त्विक – १८/१९९-२१६
स्वरूप १३/१३१-३५, १८/९२
दम्भ २/२५०, १३/६५८-६०,
१६/२१७-२३
(अदम्भ) १३/२०२-१५
दम १६/८९-९३, १८/८३५-३६
दया १३/१५४-६२
दर्प १६/२२४-२९, ३९३-९४
१८/१०५५-५७

दान
क्षत्रियगुण १८/८६९-७०
दैवीसंपत्ति १६/८५-८८
तामस १७/२९४-३०७
राजस १७/२८४-९३
सात्त्विक १७/२६६-८३
दुःख
अनुदर्शन १३/५९०-९१
०कारण २/१११-१९, ५/१२०-२६, ७/१६५-७१, १५/४१४-२० १८/१२७०
०नाश का उपाय २/३६९-७२
स्वरूप १३/१३२-३३
देह (शरीर)
आत्मा से सम्बन्ध १३/१०९५-११०३
देहात्मवादी ३/१२६-२९ १६/२९९-३०२, १८/१८८-९१, ३८१-९४
देहात्मवाद का परिणाम ७/१६५-७१, १८/१२७४-८०
विचार २/१०३-१०, १५१-६१
स्वरूप ८/१४०-५०, १३/११०२-५, १५/३०३-७५
दैव
कार्य (लक्षण) ६/३५४, १५/२२ १८/४९६, १२९७-९८, १३४४
१८/४९६, १२९७-९८, १३४४
देवतार्थी ५/९०, १८/३४४-४२
प्रतिकूल ११/४११, १८/७२५
भाग्य १३/५२२, १०६७, १०७८
द्वन्द्व
कारण ७/१६७-७०
कार्य १५/२९१-९५
मुक्त ७/१७२-७९, १२/१६५-६९, १४/३५
धर्म
परिपालन ३/११९-२५, १८/९०६-१३
पालन न करनेवाले ३/१०३-१७, -२७-२९
फल ३/८०-८३, ९४-१०२, -१५१-५२
श्रेष्ठता २/१८०-२००, २१९-२९, १८/९२३-३०
संरक्षण के लिये अवतार ४/४८-५७, १०/२५२-५४
धर्महेतुकता २/२२४-२५
धूम्रमार्ग ८/२२६-३६
धृतराष्ट्र १/८५, ९/५२२-२४, १०/३२८-३०, १४/४०९-१०, १५/५९८-९२, १७/४३१, १८/१६२१-३०
धृति
गुण १३/१४३-४८, १८/७६३-६५, ८६१
दैवीसम्पत्ति १६/१९२-९६
सात्त्विक १८/७३२-४४
राजस १८/७४५-४८
तामस १८/७४९-६२
ध्यान
फल १२/१३०
योग १८/१०३१-४१
श्रेष्ठता ५२/१४१
नमन
प्रार्थना ६/३१-३६, ९/१-३३ १०/१-२२, ११/१-२४, १८/१-२९
मानसपूजा १५/१-१८
रूपकों में (माँ) १२/१-१०

(गणेश) १३/९, १७/१-७
(सूर्य) १६/१-१७
हेतु १४/१७

नरक

कारण १६/३७१-७४
मार्ग १६/४३०-३२

नाम

नाम से अभेद १७/४०३
महिमा १०/२३२-३३
विनियोग १७/३५४-९९
विनियोग की आवश्यकता १७/३४५-५२
सात्त्विक कर्म में सहायक १७/३२०-४४
सामर्थ्य १०/३२१, १७/४०१-८
स्मरण ९/२०६-१०

निर्गुण १३/१०७३-७४, ११०७-१३ १७/३२९, ३६९

पञ्चमहाभूत १२/७६, १३/१४३-४६

पतिव्रता १/१११, १६/४५६, १७/१७१ १८/९०७

परिग्रह १८/१०६२-६६

पाप

उत्पत्ति ३/१२७-२९, ३/१४०, २३६ १३/३०-३१
० नाश का उपाय ३/१९९-२४, २२५ ४/१७२-७८

परिणाम १/२२९-३४, २४५-६१

पारुष्य १६/२४३-४५

पुनर्जन्म ८/१५१-६६

कारण ९/४०३
अन्त २/१७६, ७/१७५-७९, ८/१९८-२०२, ९/४८, ४०४, १०/१९८, १२/१३६, १३/१०३३, ४०-४५, १०७७, १५/३२०

पुरुष १/१८२-८९

अधिदैव ८/३३-३६
अधियज्ञ ८/३७
अव्यक्त ८/१७९-८१
अक्षर (कूटस्थ) १५/५०२-२४
ब्रह्म ८/१००-१०३
उत्तम १५/५२५-५७
क्षर १५/४७८-५००

पुरुषार्थ

प्रत्यवाय १६/४३३
चतुर्थ १४/४०१
पञ्चम १२/२१४, –१९, १८/८६७

प्रकृति

अष्टधा (अपरा) ७/१७-१८
उत्पत्ति १३/१०७१-८१
कार्य ३/१७७-७८, १८४-८५, १९४-९६, ७/१९
पुरुषविचार १३/९५९-१०३५
पुरुषसम्बन्ध १३/९७९-८५
प्रकृतिविचार ९/९७-१२०
माया १३/१८७, १४/६०-७०
सामर्थ्य १८/१२७८-९६
स्वरूप ७/९५-९६, १३/१८५-९८

प्रसाद (ईश्वर का) १८/१९८

उपाय १८/९९७
लक्षण २/३३८-४०, १८/१२६९-७३

बन्ध (योगके)

उड्डीयान ६/२०९-१०
जालन्धर ६/२०७-८
मूल ६/१९२-९९

बल १३/३९२, १८/१०५२-५४

बुद्धि

सात्त्विक १८/६९१-७१७
राजस १८/७१८-२३

तामस १८/७२४-२९
दुर्बुद्धि २/३४३-५५
बुद्धिभेद न करें ३/१७२-७६
बुद्धियोग २/२३१-४२
सद्‌बुद्धि २/२३६, ४२, ५/८७, १६/८०
सद्‌बुद्धिमार्ग ७/१२७
स्थूल देहबुद्धि ९/९४१-५५
स्वरूप १३/८३-८९, १८/६९०-९३

ब्रह्म
ऊर्ध्व १५/७२-७९
ज्ञेय १३/८६८-९३८
पद ८/१००-१०३, १८/१५५८-५९, —१६२१-२२
परब्रह्म १८/१००३
प्राप्ति का उपाय ६/२८, ८/१०४-६, ८/१११-१९, १३/११२८-३९, १५/२६८-३०५
श्रीकृष्ण ही ब्रह्म २/२९०, १४/४०४, १७/३४
सुख ५/१३०-३५
स्वरूप ८/१५-१७, —६८९, १३/१०७२ ७४, —११४०-४१, १५/२६७

ब्रह्मचर्य १७/२११

ब्रह्मा
कालगणना ८/१५४-५९
तप १७/२३६—४१
पुनरावृत्ति नहीं छूटती ८/१५२, १६६
प्रजा के प्रति उपदेश ३/७५-१३६
ब्रह्म होने का उपाय १५/३१

भक्ति
अद्वैत १८/११३७-५१
अन्ध ७/१३८-५८
अनन्य ८/१२४-२६, १९२ ९/३३५-३८, ११/६८८-९०, ६९६-९८, १२/३५-३८, १३/६०३-१०
अभेद ११/१११-१८, १४/३८१-८७
अव्यभिचारिणी १४/३७३-८२
अज्ञानियों की भक्ति ९/९५५-७१
आवश्यकता ९/४९०-५१६
कर्म की अङ्गभूत ९/३९८-४०१ १२/७७-८२
कैसे की जाय ९/३५९-६४, ५१७-१९ १२/९७-१४०, १८/१३५६-६१
कीर्तन ९/१९७-२१०
गहनभक्ति ९/२१२-१८
गुर्वी ९/२२०-२७
चार प्रकार ७/१०९-११
नमन ९/२२१-२७
परा १८/११११-१७
फल (योगक्षेमवहन प्रभुद्वारा) ४/६३-६६, ८/१२७-३९, ९/३३८-४३, १०/१३०-४३, १२/८३– ९५
महात्माओं का भजन ९/१९५-९६ १०/११९-२९
मुख्य कारण भाव ९/३६७-९७
लक्षण ९/४११-१४
व्यभिचारिणी १३/८०७-२१
सब का अधिकार ९/४४१-७४
सहज भक्ति १८/११७३-८५
ज्ञानयुक्त भक्ति ९/२३९-६१
ज्ञानी भक्त १२/१४४-२१४

भारत (ग्रन्थ) माहात्म्य १/२८-४९

भ्रमर १/२०१, ९/५८ (जीव) १६/४ १८/७२९, १३०१

भ्रान्ति
निरास १३/११६५-६९, १४/३०३-५
परिणाम ६/६८, ७२-७९, ९/६०
स्वरूप २/१३३

मद
(तारुण्य) १३/७५५-६०
(धन) १६/२२७
मन
आत्मविनिग्रह १३/५०१-९
निग्रह के उपाय ६/१८६, ३८०-८९
—४१९-२०, ८/१११-१३,
१७/१०१७-१८
मन की दौड़ (प्रभु प्रति) ८/८२-८३
१२/९७-१२०
(विषय-प्रति) १५/३५५-६०
मनःप्रसाद १७/२२५-३५
स्वरूप ६/४११-१७, १३/१०६-१५
माया
तरणोपाय ७/९७-१०२
दुर्लङ्घ्य ७/८३-९६
परिणाम ७/६०-६७
वर्णन ७/६८-८२, १४/८८-८९, —९३-
११६, १५/८०-८९
सामर्थ्य — १/२०३
स्वरूप — १४/६७-११५
मार्दव १६/१६८-७४
मूढ़ ३/१७८-७९, ३/१९८, ४/२५
९/१४३-४५
मृत्युलोक ९/४९०-५१५
मोह
उत्पत्ति ७/१६७
ग्रस्त २/७१
परिणाम २/३२३-२४, १६/३६९-७०
मोक्ष
अधिकारी (तीव्र) १८/९८८-९०
(मन्द) ६/३४२, १८/९९१
इच्छुक १५/२७७-७९
उपाय ३/७७-८३, १४/५०-५९, १५
३२, ३५, १७/३२७, १८/१०४६
बद्ध ३/६४-६६
स्वरूप ६/६८-७०
मौन १०/२९८
यज्ञ
सात्त्विक १७/१७१-८४
राजस १७/१८५-८८
तामस १७/१८९-९५
विविध प्रकार ४/१२३-४८,
१७/३६०-६४
नाम-जप यज्ञ १०/२३२-३३
स्वधर्मरूप० ३/८६-१३०
ज्ञानरूप ९/२३९-५९
योग
अंग ६/५४-६०
अधिकारी ६/३४२, ४९-५६
अनधिकारी ६/३४४-४८
अभ्यास-स्थल ६/१८१-८५
कष्ट १२/५१-६४
जीव-परमात्मयोग—१२।१५३-५५
नाथ-पन्थ-संकेत ६/२९१
फलप्राप्ति ६/२९३-३१०
योगभ्रष्टस्थिति ६/४३०-७
योगारूढ़ ५/१४८-६०, ६/६२-६५
सर्वश्रेष्ठ ६/४७४-८५
संन्यास से ऐक्य
(कर्मयोग—) ६/३९-५३
(सांख्ययोग—) ५/२९-३१
(बुद्धियोग—) २/२७३-७५
राजहंस २/१२७, ९/४४, १३/११४२
१८/१७१३
राजा ९/४५३, १०/२३९, १८/७३३,
८४९, १६३३

राम
विभूति १०/२५१-५५
हृदयस्थ ९/६०
लज्जा १३/५३५-४३, १६/१७५-८२
लोकसंग्रह ३/१५२-५९, ६/१६८-७६
१६/४६८
विकार उत्पत्ति १३/९६६-६७
देहगत १३/३१५,
क्षेत्रगत १३/७२-१६०
विभूति १०/२१५-३०७
विवेक कार्य — १/२२, ५/८४-८५,
९/१९०, १४/२०६-७८
स्वरूप १८/१६३२

विश्वरूप
दिखाने का हेतु ११/४९७-९८
दिव्यदृष्टि आवश्यक ११/१५४-६३
दुर्लभत्व ११/१६५-७५
महत्त्व ११/६०९-२१
सगुण से श्रेष्ठ ११/६२३-३७
विषय उत्पत्ति (महाभूतों से)
१४/९३-९४
कर्मेन्द्रिय के — १३/११९-२०
त्याग (सच्चा) २/३३१-३७
(झूठा) ३/६४-६६
त्यागका फल २/१२३-२४
भोक्ता ५/११०-१२, १२०-२६
सुख ५/११३-२०
सुखपरिणाम ३/२०१, २१०—१६
स्मृति १५/४१७-३०
वेद उत्पत्ति १/७२, ९/२७६-७७
निरुपाय ९/३७१, १०/६४
—मूल (गीता) १८/१४२६-३३
श्रेष्ठ ९/३७०

वैराग्य
आवश्यकता १५/३९१-९६, १८/
१०४३-४७
काठिन्य १८/७८२-८९
फल १८/९०४
स्वरूप ६/३७३-७७, १३/५१२-२३
१५/३६-३९, —२५६-५७,
—२७७, १८/९१८-२१
व्यास १/९, ३९, ५१, १३/११५३,
१५/५७१, १८/३४-४१, १६९६-
१७०७

शंकर
औदार्य ५/११, १०/१७
गीताचिन्तन १/७०-७१
गुरु (विष्णु के) १२/२१६
नम्रता ९/३७२
भोलापन ९/१४
वैराग्य १३/२४-२५, १८/७८९
शम १८/८३३-३४

शरण
प्रकार १८/१३१९, १३९८-१४०५,
—१४१६
फल ९/८८, १८/१४०९-१५

शान्ति
उपाय ४/१८९-९१, ५/७१, ९/४२९,
१८/१३२०
स्वरूप १६/१३१-४०, १७/४२४-२६
१८/१०८५
शास्त्र १६/२९५-९७ —४५५-६७,
१८/८८८-९३, —१४५२
शुचित्व १३/४६१-८३, १६/१९७-
९८, ८/८३९-४०
शौर्य १८/८५६-५७

श्रद्धा
अश्रद्धा ४/१९३-२०६, ९/५७-६१
सात्त्विक १७/७६-७७
राजस १७/७८
तामस १७/७९-८२
लक्षण ४/१८७-८८, १६/४६०, १८/८४९-५०
व्याप्ति १७/६१-७७

श्रीकृष्ण
जगत् के माता-पिता ९/२६९-७० १४/११६
(श्रीकृष्ण को) प्रिय नैवेद्य – ९/३८२-९७
ब्रह्म १४/४०३-८
विशेषण २२९०, ६३७–३८, १०/१८१, १७/४६-४८

संजय
अष्ट सात्त्विक भाव ९/५२५-३०, १८/१६०२-६
आनन्द १४/४१३-१४, १७/४२४-४० १८/१६१३-२०
भाग्यवर्णन १८/१५७९-८३
व्यासकृपा १८/१६०८-१२
सन्त (असक्त, मुक्त, ज्ञानी आदि) २/१२६, ३/६८-७४, ४/९३-११४, ५/७३-७५, –१०५-६, ९/१८८-९६, १४/३०८-१८, १५/२८४-३०५, ५५८-६९, १८/१३५६
सन्तसंगति १५/४२२, १८/१६३२
स्तुति ५/१३६-४०, १८/१७७०-९१
स्थितप्रज्ञ २/२९१-३६७
सत्य १६/११५-२४
सत्त्वशुद्धि १६/७४-८०
(भावशुद्धि) १७/२२५-३५

संन्यास
आश्रमसंन्यास ६/४९-५०
महत्त्व १८/७०-७१
लक्षण ५/१९-२५
व्याख्या १८/९२
ज्ञानप्रधान १८/२५७-६७, –१२६०-६७
संसार ९/६२, १५/३४७
मिथ्यात्व ८/१७८, १५/२४, ४२ १७/२०८
सर्वाधिसत्त्व २/२६७-८४ १२/१९७-२०४, २०७-१०, १३/६००-१, १४/३४९-६८ १८/१०१-२१
समदर्शन ५/८७-१०४, ६/९६-१००, ३९१-४१० ७/१३६, १३/१०५६-७०

सम्पत्ति
आसुरी १६/२१७-२६३
आसुरी मनुष्यकी ९/१७२-८३, १६/२८१-४०४
उसकी गति ९/१८४-८५, १६/४०५-२२
परिणाम १६/२६२
दैवी ९/१८८-९४, १६/६८-२०६
महत्व १६/२०७-१२
व्याख्या १६/६६
स्वरूप १६/५९, –६५-६७
सरस्वती १/२१, ७८, १३/११६७
सांख्यशास्त्र १८/५१९-२२

सुख
अन्तःसुख ५/१३०-३५
आत्यन्तिक ६/३६५-७२
तामस १८/८०६-९
राजस १८/७९४-८०५
सात्त्विक १८/७७८-९३

व्याख्या १३/१२७-३१, १८/७६७-७७
स्वर्गसुख ८/२६०-६७ ९/३२०, १३/५२९
उसी के प्रति आसक्त २/२४४-५५, ९/३०७-१९
स्थैर्य १३/४८४-९९
क्षमा १३/३४०-५३
क्षेत्र (व्याख्या) – १३/७
कालवादी – १३/५८-६५
जीववादी – १३/२७-३२
प्रकृतिवादी – १३/३३-३९
भगवान का मत १३/७२-१५०
संकल्पवादी १३/४०–५०
स्वभाववादी १३/५२-५७
क्षेत्रज्ञ १३/७-८
ज्ञान
अधिकारी १५/३३-३६
अन्ध ९/१५५-७१, १५/२४८-५४, ३७३-८०
तामस १८/५४९-७८
राजस १८/५३८-४८
सात्त्विक १८/५२९-३७
ज्ञानप्राप्ति का उपाय ४/१६५-६८, –१८७-८८, ८/४८-५२, १३/१६२-६४, १०३६-४६-११२८-३८
महिमा ४/१५८-६४, १६९-८३, ९/४७-५२, १४/४१-४८
लक्षण १२/१४४-२१४, १३/१८४-२६१, १५/२८५-३०४
सामर्थ्य १६/४५, ५०-५१
सामान्य ज्ञाता १८/४६३-६६
„ ज्ञान १८/४६७-७०
„ ज्ञेय १८/४७२-७६
'ज्ञान' के विषय में ७/५, १३/९, १४/४८
ज्ञान-निष्ठा ३/३६
ज्ञानयज्ञ ९/२३९-६१
ज्ञानी के कर्म १८/४२२-३६
ज्ञेय (परब्रह्म) १३/८६२-९३८
ज्ञानेश्वर-ज्ञानेश्वरी
काव्य-साहित्य ४/२१२-२४, ६/१५-२०, ७/२०७-१०, ११/२-६, १२/११-१४, १३/११५६-६३
गुरुभक्ति १/२२-२७, ५/१७-२७, ११/४५५-५८,
ग्रन्थफल १८/१७४२-४९
तत्कालीन परिस्थिति १८/१८०४
तपश्चर्या १६/३२-३३
तुलना (गीता से) १०/४३-४७ १८/१७३६-४१
परिहार १८/१७८१-९२
प्रसाददान १८/१७९३-१८०१
मराठी भाषा का अभिमान ६/१४, १०/४२, ११/९, १२/१६
लीनता १/७६, ८०-८२, ९/१०-१२, १८/१७६४-६८
लेखक काल व स्थल १८/१८०२-३,

परिशिष्ट २.

कठिन शब्दों तथा नवीन प्रयोगों के अर्थ

[संकेत :— अ० भी — अन्यत्र भी, व०प्र० बहुधा प्रयुक्त
म० मराठी प्रयोग, वि० प्र० — विशेष प्रयोग
व्र० — व्रजभाषा इ० — इत्यादि, सं० — संस्कृत]

(क) संस्कृत शब्द

अकल्पनाख्यकल्पतरो ! १८/१० 'कल्पनातीत' कहलाने वाले स्वरूप की उपलब्धि कराने वाले कल्पवृक्ष-रूप हे प्रभो !

अक्षम १७/४२ असमर्थ, (अन्ध या मन्ददृष्टि)

अगुण १८/२० गुणातीत

अग्रहार ९/४७५ (अ. भी.) ब्राह्मण को निर्वाहार्थ दिया हुआ भूमिदान। जागीर।

अङ्गलीन १६/४२ शरीर में छिपे या छाये हुए।

अचर्च्य १३/१००१, जिस की चर्चा न की जा सके।

अतिक्रुतकन्दर्पसर्पदर्प ! मदन-वासना रूपी सर्प का दर्प हरने वाले।

अद्रि १७/२४२ पर्वत

अद्वयाब्जिनीविकास १६/१ अद्वैतरूपी कमलिनी को विकसित करने वाला।

अधोर्ध्वशाख १५/२०८ नीचे-ऊपर शाखाओंवाला (अधः – ऊर्ध्व की सन्धि मराठी से प्रभावित)

अनर्घ्य १७/२६८ अमूल्य

अनाक्रोश १३/३५३ बिना शिकायत

अनाविल १३/३६६ शुद्ध, उन्मुक्त

अनुष्ठेय १८/११९ अनुष्ठान करने योग्य (कर्मविधि का पालन अनिवार्य)

अन्तरङ्ग १८/१०८ भीतरी तत्त्व या मर्म जानने वाले।

अन्य १८/२४ (मौन से–) इतर दूसरे, न्यून, घटते हुए

अन्यथा १३/५३५ इस से भिन्न दूसरा कुछ। १६/२५१ अयथार्थ

अन्वित १५/५६९ प्राप्त, सम्बद्ध, (भक्ति में प्रवेश होता क्या ?)

अपत्य (व० प्र०) सन्तान

अपशब्द १७/३०६ गाली

'अपांपति' १३/१०७६ सागर

अपाय (यन्त्र) १६/३४४ घाव करने वाला, १६/६२४ – अतिकष्ट देने वाला

अपितु १५/४३७ 'इतना ही नहीं, और भी कि –'

अब्जिनी १८/२७६ कमलिनी (अ० भा.

अभिचार १६/३६० दूसरों को हानि पहुँचाने वाले तन्त्र-मन्त्र के प्रयोग, प्रेतविद्या, टोना – टोटका

अभ्र १५/५२० (अ० भी०) मेघ,

अभ्रागम १८/३०८ बादल आना

अयुक्त १७/३०७ (अ०भी) अनुचित

अर्कमण्डल १५/५३२ सूर्यमण्डल

अलि (ब० प्र०) भ्रमर

अवभृथ-स्नान ९/२४४ यज्ञ पूर्ण होने पर यजमान का विधिविहित स्नान

अवर १५/५४० न्यूनकोटि का

अविचारितसुन्दर १४/८९, –११० विचार न किये जाने तक ही सुन्दर, व प्रतीतिगोचर।

अव्यङ्ग १८/६९ दोषरहित

अव्यवहार्य १८/८१ व्यवहार से अतीत

अष्टाध्यायी १८/१४४५ चतुर्थ से एकादश पर्यन्त गीता के आठ अध्याय (ज्ञा. कृत नवीन प्रयोग अन्यथा मूल पाणिनीय-सूत्रग्रन्थ ही अष्टाध्यायी नाम से रूढ़ है।)

असमञ्जस १७/३३६ (हिन्दी में –) 'क्या करें क्या न करें' – न सूझने की व्यामूढ़ दशा।

असिपत्र – १६/३७३ तीक्ष्ण धार वाले पत्तोंवाला कँटीला पेड़ (इस नाम का नरक भी कहा गया है।)

आकुञ्चित ६/२३७ सिकुड़ा हुआ भीतर खिंचा हुआ

आक्रन्द १३/५५० चिल्लाहट, पुकार

आचार्योपास्ति १३/३७ गुरु-उपासना

आज्ञासिद्ध १६/३५५ जिस की आज्ञा टले नहीं; जो कहे वह हो कर रहे।

आटोप १४/१७२, १६/३२९ (अ० भी.) आडम्बर, दिखावा, पसारा,

आत्मप्रथा १८/१०९८ आत्मा का प्रकट प्रकाश, आत्मबोध का उदय।

आद्यन्त १५/२३९ आदि और अन्त

आपादन १७/३८ सम्पादन, पालन

आब्रह्म १३/१०२४, १८/११०७ ब्रह्मापर्यन्त समस्त सृष्टि

आमिष-कवल १६/३३७ काँटे में लगाया हुआ मांस या अन्न का ग्रास (कौर)

आम्नाय १८/२४३ वेद

आराम १८/३४५ (अ० भी०) उद्यान, बगीचा

आर्द्र आश्रय ११/५१३ करुणामय आधार

आलस्य १३/५१८ आलस (यहाँ चञ्चलता और अतिप्रवृत्ति के विपरीत शान्त बैठने के अर्थ में प्रयुक्त)

आलाप १८/२६ कुछ न कुछ बोलते जाना।

आसन्नमृत्यु १८/१६२ जिसकी मृत्यु पल-पल पास आ रही हो।

आस्थानिधि १५/५८० विश्वासपात्र

इन्द्रियास्पृष्ट ६/२३ इन्द्रियों की पहुँच के परे, इन्द्रियों से न छुआ हुआ।

इहभोग १५/१५८ इहलोक के भोग

उच्छिन्न १३/५३१ कटा, उखड़ा नष्ट, मिटा हुआ।

उत्संग ९/४७७ गोद

उद्देश १३/६४० लक्ष्य
उन्नत १७/५७ अधिक, उभरा हुआ।
उपमर्द ११/५४६ उद्धतपन
उपरोध १३/२८९ अगत्या, विवश हो कर
उपसार १३/४२२ पक्वान्न, रसोई के व्यञ्जन
उपाङ्ग १८/१०९३ स्वर-ताल का साथ देने के लिये बजते हुए विविध वाद्य
उरग १७/२२५ सर्प
एकान्तर कृच्छ्र १७/३६४ एक दिन छोड़कर एक दिन भोजन लेना —ऐसा उपवास-शृंखला का व्रत
एकार्णव १५/५३४ (प्रलय में—) सब कुछ एक करता हुआ समुद्र
एकावली १८/५६(अ०भी)मोतियों की इकलड़ी माला
ओघ १५/४०४ जलप्रवाह
ओघपात्र १८/४१३ नदी या जलप्रवाह का पट (गहरा चौड़ा लम्बा जल बहने का (स्थान)
कर्मरन्ध्र १३/५९१ कर्मेन्द्रिय रूपी छिद्र
कलितकालकौतूहल १८/३ जिस ने काल की करामात रची है, तथा उसे ग्रास किये हुए।
कलुषकरि-केसरी १७/४२३ पाप, दोष, मल रूपी हाथी को मारने वाले सिंहस्वरूप।
कल्लोल (व० प्र०) लहर
कश्मल १७/१०७ (अ० भी) दुर्गन्धित गन्दगी, मैल, मल
काम (व० प्र०) कामना, इच्छा
कामला कामलदोष (व० प्र०)कुपित-पित्त से यकृत का रोग पीलिया
कारण १७/१३३ करानेवाला (सत्त्व-वृद्धि रूपी कार्य के प्रति कारण)
काश्मीरा १३/११६९ सरस्वती
कुमार १६/१२८ बालक
कुलाचल १८/१७७६
सात महान् पर्वत महेन्द्र, मलय शुक्तिमान् गन्धमादन विन्ध्य, पारियात्र, मेरु।
कुलाल १८/३११ कुम्हार
कृतनिश्चय ११/६३२ परमात्मोपलब्धि का निश्चय कर चुके हुए
कृत्याकृत्य १७/२२ करने योग्य—न करने योग्य कर्म
क्षालन १७/१०७ धोना, पखारना
खपुष्प १५/२१५ आकाश का फूल
गण्डकी शिला १३/३२० कसौटी के रूप में प्रयोग में आने वाले गण्डकी नदी के पत्थर
गन्धर्व-दुर्ग १५/२१५ आकाश में बादलों के आकारों में कल्पित दुर्ग, नगर
गभस्ति १८/१०९७ (अ० भी) सूर्य
गीतागम १८/३२ गीतारूपी (शास्त्र)
गुल्फद्वय ६/१९७ पांव के टखने गट्ठे।
गुरुतल्पग १३/६७६ गुरु-पत्नी-गामी
गोचर १६/१०३ (अ० भी) बुद्धि व इन्द्रिय द्वारा जानने योग्य
गोप्य १५/५७९ छिपाकर रखने योग्य
गौतम १७/९१ एक ऋषि, जिन्होंने तप कर के शिव से गङ्गा मांग कर नासिक के समीप (गोदावरी नाम से) बहाई।

ग्रामसिंह १३/६८१ कुत्ता

चङ्क्रमण १३/११९ चलना, एक जगह से दूसरी जगह जाना

चण्डांशु १६/१ सूर्य

चलितचित्तपान – तुन्दिल १८/४ चञ्चल चित्तों का पान करने से बढ़े उदर (तोंद) वाले।

चान्द्रायण १७/३६४ एक व्रत जिस में पूर्णिमा को पन्द्रह ग्रास भोजन करके फिर क्रमशः एक-एक ग्रास कम करना और शुक्लपक्ष में एक-एक ग्रास बढ़ाना होता है।

चिन्तामणि व० प्र० कविकल्पना का – ऐसा मणि जो चित्त में उठी अभिलाषा, या जो भी चिन्तन करें वह साकार प्राप्त कर देता है।

चैत्य १८/१२६७-६८
चित्तवृत्ति के विषय (वि० प्र०)

छन्न २/३२२ छिपा हुआ

जगदम्बुदगर्भनभ १८/६ जगत् रूपी मेघ जिस के भीतर दिखाई देता है वह आकाश (वस्तुतः जिस का मेघ आदि से कोई सम्बन्ध या स्पर्श नहीं) ऐसे आकाशके तुल्य।

जगदुन्मीलनाविरलकेलिप्रिय १८/४ जगत् की उत्पत्ति का निरन्तर खेल करना जिन्हें प्रिय है ऐसे।

जन्य-जनक-भाव १८/७५ कार्य-कारण-सम्बन्ध, एक में से दूसरा उत्पन्न होना।

जवनिका ११/६५७ परदा

जात व० प्र० समूह। विद्याजात, कर्मजात, ज्ञानजात, विषयजात, भोगजात इत्यादि

ज्ञानमित्र १५/५६० ज्ञान रूपी सूर्य

डिण्डिमा १६/४४३ नगारा, प्रसिद्धि

डिम्भोपाधिक दोष १८/२१ डिम्भ यानी बालक रूप उपाधि द्वारा ही 'माता-पिता' संज्ञा दी जा सकेगी। शब्दातीत व सम्बन्धातीत के प्रति यह कहना दोषयुक्त होगा।

तव व० प्र० तुम्हारा

तवरूप १५/३२५ तुम से अभिन्न

तापापह १८/८ सर्वविध ताप दूर व नष्ट करने वाले

तुम्बिनी १३/१०६२ लौकी कुम्हड़ा आदि की बेल

तुरङ्ग १८/१०४७ घोड़ा अश्व,

'तूष्णीं' – स्थिति १८/८० चुप रहना न बोलना

तृषार्त १८/१६१ प्यास से व्याकुल

तोय १८/३९८ जल

त्राण १७/१३१ (अ० भी) रक्षा

त्रिताप-तिमिर-तमारि १७/४२३ आध्यात्मिक – आधिभौतिक – आधिदैविक ताप (कष्ट) रूपी अन्धकार मिटाने वाले सूर्य

त्रिदोष १६/२५५ वात-पित्त-कफ एक साथ बढ़ना, सन्निपात

त्रिधा १७/११२ तीन प्रकार से

त्रिधातुक व० प्र० शरीर

त्रिवर्ग १८/३६ धर्म-अर्थ-काम
१५/२५६ स्वर्ग-मर्त्य-पाताल

त्रिवार व० प्र० किसी बात पर बल देने या निश्चितता बताने के लिये तीन बार कहना।

त्र्यक्षर या तीन अक्षर १७/ 'ॐ तत् सत्' (के लिये वि० प्र०)
दीपन १५/४०६ (वि० प्र०) पकाना, पाचन
दुर्भगत्व १८/१३९० दुर्भाग्य
द्रवभाव १७/१२८ जलीयता तरलता, रस।
द्रव्य १७/२८७ धन १७/४० – वस्तु, भोग्य पदार्थ
द्राक्ष १८/५९७ (अ० भी०) अंगूर
द्वन्द्व १६/३८४ कलह, झगड़ा
धातु १७/११६-१७ शरीररचना की प्रकृति (वात-पित्त-कफ आदि)
नग्न कहे कलहप्रिय १८/१३५ कोई निर्वस्त्र होकर सड़क पर चले, लोग हँसें तो उन्हें झगडालू कहे, अपना दोष न देखे।
नवल १६/१ नवीन प्रातःकालीन
नाराच अग्र १७/४२५ वाण की नोक (तीक्ष्ण सिरा)
निक्षेप १५/५८० धरोहर
निगमागमद्रुमफल १८/२ वेद और तन्त्र (तथा समस्तशास्त्र) रूपी विशाल वृक्ष के फलरूप
निजजनजित १८/९ अपने जनों द्वारा जीते गये, अपने भक्तों के अधीन।
निजाङ्ग ६/२४ अपना अङ्ग
नित्य-निरस्ताखिलमल १८/५ जिन में सभी प्रकार के कलुष का सर्वदा निरास (अभाव) है।
निधन १८/२५१ मृत्यु
निधान १८/७७८ निधि, पुरातन खजाना
निपुत्रिक १७/१९४ निस्सन्तान
निरास (व० प्र०) नष्ट होना, न रहना, खण्डन
निरयालय १८/६७ नरकलोक
निर्माण १७/१८४ अनुष्ठान (वि. प्र०)
निषाण १८/२७९, १/१३३ निशान नगारा, डंका, रणभेरी
पण्याङ्गना १८/७९७ वेश्या
पत्रावलम्बन १३/६७ विजयपत्र (वि० प्र०)
परचक्र १३/१३८ (वि० प्र०) अन्य राजा का आक्रमण (होने पर उस से युद्ध)
परत्र १७/४० (अ० भी) परलोक में
परमारक १६/३६० दूसरों को (शत्रु को) मारने वाले
परस्परोपजीवी १६/६७ एक-दूसरे पर आश्रित
परिणतोपरमैकप्रिय १८/९ परिपक्व हुई वासना का भी उपरम (विश्रान्ति) होने की दशा के एकमात्र प्रिय
परिष्वङ्ग १८/५८६ आलिङ्गन
परोपताप १६/३२७ दूसरों को कष्ट
पर्जन्योदक १८/३६८ वर्षा का जल
पार्ष्णि ६/१९८ एड़ी
पांसुता १५/५०५ मिट्टीपन
पाञ्चभौतिक १३/४९१ शरीर
पारुष्य १६/२४५ कठोरता, कर्कशता
पिपीलिका ११/२४३ चींटी
पीठ, पीठिका (व० प्र०) मंच उच्चासन, सिद्धस्थान
पुरोडाश १८/१४८८ यज्ञ में आहुति दिया जाने वाला विशेष व्यञ्जन
प्रतिभित्ति १५/४४४ सामने की दीवार

प्रतिभाद (ब० प्र०) उत्तर, उत्तरात्मक संवेदना
प्रत्यय (ब० प्र०) निश्चिति, दृढ़ प्रतीति, विश्वास अनुभव, धारणा
प्रभञ्जन १८/१ आँधी (जन्म-जरा आदि बादलों का जाल उड़ा देने वाली)
प्रभूत १७/३६० बहुत सारा
प्रलयाम्बु प्रलय के समय सब उड़ा देने वाली जल की बाढ़
प्रशस्यतर १६/१८ अधिक प्रशंसनीय (उचित)
प्राकार १८/३६ चारदीवारी
प्राचीन १८/१३०८ प्रारब्ध (वि०प्र०)
प्राञ्जल १३/६७० निश्छल, सीधा,
फलाढ्यता १५/१९८ भरपूर फलों से लदा होना
बाष्प (ब० प्र०) भाफ़
भक्तभावभुवनैकदीप १८/८ भक्तों के भावरूपी भवन के एकमात्र प्रकाशक प्रदीप ('भवन' की जगह 'भुवन'—मराठी प्र०)
भवध्वंस १८/६ जन्म होना समाप्त कर देनेवाले
भाण्ड १३/८७३ नाँद जैसा मिट्टी का बड़ा बर्तन
भुवनोद्भवारम्भस्तम्भ १८/६ जो संसाररूपी भवन के आरम्भ का आधार-रूप खम्भा हैं।
भ्रामक १८/१३११ चुम्बक (लोहे को खींचने वाला)
मकरन्द (ब० प्र०) फूलों का पराग
मतपत्रिका १३/६६ स्वीकारोक्ति, समर्थन
मतिपाटव ९/२४२ (आत्म-अनात्म-विचार में—) बुद्धि की कुशलता
मत्ता—मत्—ता १४/८९ (अ. भी.) मेरा होनापन, मेरी सत्ता,
मत्सिद्धभावना १३/९४४ मुझ में सर्वथा लगी हुई, स्वरूप-सिद्धि में पहुँची हुई भावना।
मदमुख ११/३९३ हाथी
मद्भावन ४/६३, १२/१२४ (अ. भी.) मेरे (परमात्मा के) स्वरूप का अनुसन्धान
मद्रूपता (ब. प्र.) मुझ परमात्मा से अभिन्नता
'मधुर' १८/७०४ 'माहुर' (ब्र०)का तत्सम रूप। माहुर का अर्थ विष है।
माधव १३/१३६ वसन्तऋतु
मायागम्य १८/९ माया जहाँ पहुँच नहीं सकती, माया से अतीत; अथवा माया रूपी चिह्न जिस की (अधिष्ठानरूप) सत्ता का संकेत है।
मार्जन १६/१०२ (अ. भी.) मांजना स्वच्छ करना, दोष या मैल हटाना
मार्जनी १७/६४ झाड़ू (बुहार कर फेंक देने वाली)
मुकुल-मुद्रा १८/१२३८ (वि. प्र०) संक्षेप, कली के समान थोड़े में सब कुछ होना, रखना।
मुकुलित २/२३० (वि. प्र०) कली के समान थोड़े में गुँथा हुआ सब
मुक्तकैवल्य १६/१३ केवलस्वरूप भाव
मुष्टि (ब० प्र०) मुट्ठी
मूर्ति १३/८८१ शरीर

मूलनक्षत्री १८/१२३ ज्योतिष के अनुसार 'गण्ड-मूल' नक्षत्र में उत्पन्न सन्तान माता-पिता के लिये अनिष्टकारी होती है अतः उसे त्याग देना कहा गया है।

मृगाम्बु १५/२३२८१८/२१० (अ. भी.) मृगजल

मौढ्य (व. प्र.) मूढ़ता, मूर्खता

यज्वा ९/२४२ यजमान, यज्ञ करने वाला

यथासम्पन्न १६/८५ अपनी शक्तिभर

युक्त १८/२० उचित, अच्छा

रुद्ध (-होगी) १८/४१४ रुकेगी?

लोकनाथनायक-नायक १७/२२४ लोकपालों (देवताओं)के नायकों के भी नायक (अग्रणी)

लोष्ट १५/१७३ लोढ़ा, बेडौल कंकड या ढेला

वधिक १५/२२ कसाई, वध करने वाला

वन्ध्य १७/२५२ कुछ उत्पन्न करने के अयोग्य

वाक्पथ १३/८८१ वाणी, शाब्दिक निरूपण

वाग्भव १७/२२३ वाणी से होने वाला

वाचावल्ली १५/१४ वाणी रूपी लता

वापी-कूप-आराम १८/९९ बावडी-कूआ-बगीचा (-बनवाना 'आपूर्त कर्म')

वामाङ्गी १७/८ सुन्दरी

वायस (व० प्र०) कौआ

विगतविषयवत्सल १८/३ जिन के चित्त से विषय छूट चुके हैं ऐसों के प्रति स्नेहमय

विदलितामङ्गलकुल १८/२ जिसने समस्त अमङ्गल का नाश कर दिया है ऐसे।

विदुदयोद्यानद्विरद १८/७ विषय-ज्ञान या वृत्तिज्ञान का जहाँ उदय होता है उस उद्यान को उखाड़ देनेवाले अथवा ज्ञानाभिमान को समाप्त करने वाले हाथी-स्वरूप

विरुद १८/१३ ख्याति, कीर्ति

विलोपित १७/२३३ घुलकर लुप्त हो गया।

विविक्त १६/११० पृथक्-पृथक्

विश्वाङ्घ्रि १३/८७६ सर्वत्र चरण हैं जिसके।

विहित १८/८४ (अ० भी०.) वेद में विधि-वाक्य द्वारा कहा हुआ, विधान किया हुआ, करने योग्य

वेष्टित १८/४१० लिपटा हुआ

वैरी का कलेवर ११/१०५ शङ्ख

व्यक्ति १३/८७० व्यक्त होना व्यक्तता

व्यामोह १५/१०२ भ्रम

व्याहृत १७/३५२ उच्चारित

व्योम का नृप १६/१४ आकाश का राजा – सूर्य

शराव १३/८७३ मिटी का छोटा बर्तन – शकोरा

शल्य १३/५८५ काँटा; चुभन

शशविषाण १५/२१५ खरगोश का सींग

शाब्द १७/२०० शब्द-सम्बन्धी

शारीर १७/२०० शरीर-सम्बन्धी

शालिधान्य १८/९४ उत्तम जाति का चावल, धान

शिबिर १७/२९४ छावनी, डेरा

शिवादि-तृणावसान १८/५३१ शिव रूप से ले कर तिनके तक

श्यामिका १५/३४२ नीलिमा श्याम वर्ण
श्रीराम ११/५१० (वि० प्र०) लक्ष्मी-रमण, विष्णु,
श्लाघा (ब० प्र०) प्रशंसा
श्लाघ्यताभिमान १८/१६७ 'बहुत बड़ा कार्य किया है, ऐसी प्रशंसा का पात्र (अपने को) मानना
श्लोकावच्छेद १८/५४ पृथक् पृथक् श्लोकरूप (अवच्छेद नव्य-न्यायशास्त्र का पारिभाषिक प्रयोग)
सकल १८/३ समस्त कलाओं से युक्त, सम्पूर्ण
सगर्भ १५/१८७ भरे हुए
सङ्घात १६/४३३ समूह
सदोदित ११/५१२ नित्य उदित
सध्यान १२/२४ (अ०भी) ध्यान सहित
सन्निधि १८/२५ (अ० भी) समीपता, निकट रहना
सबाह्य १६/२४४ भीतर-बाहर सब
समान १८/४०० मानसहित, अवधानपूर्वक
सम्भवन १/७० (अ० भी) घटित होना
सम्भूति १३/१००० उत्पत्ति
सवृत्तिक १२/९७ वृत्तियुक्त
सहास १८/२९३ हँसते हुए
साङ्ग १७/४१३ अङ्गों (शिक्षा-व्याकरणादि छहों) सहित
साध्य, सिद्ध, भोजन ३/३८ राँधने से पहले सामग्रीरूप-साध्य तैयार रसोई –सिद्ध
सामुद्रिक १३/११६९ शरीर-रचनागत शुभ-अशुभ लक्षण
सावकाश १३/१०९३ (अ. भी.) अवकाशयुक्त, खुला, उन्मुक्त
सावेग १५/४८७ आवेगसहित
सिंहस्थ १८/१६७५ (पुण्योदयकाल में) सिंह राशि में प्रविष्ट
सिंहका नासिका-केश, तक्षक-मणि १७/२४ अतिदुष्कर कार्य (सिंह की नाक के बाल में तक्षक के फन की मणि पिरो कर आभूषण बनाना)
सुकृताङ्कुर १५/१८४ पुण्यरूपी अङ्कुर
सुखाभिरत १८/८२ सुख में मग्न, सुखेच्छु
सुचक्षु १७/४२ अच्छी नेत्रज्योतिवाला
सूपकार १७/९० रसोइया
सूर्यकान्त १६/८ (अ. भी) एक मणि, जिस में सूर्यप्रकाश में अग्नि प्रकट होता है।
सोमकान्त १८/१४ (अ. भी) (कवि कल्पना का) एक मणि जो चन्द्र के सम्मुख द्रवित होता है। पिघल कर बहने लगता है।
स्तव्यबुद्धि १६/१८ 'स्तवन करना चाहिये' ऐसी भावना
स्थपति १८/३५ भवननिर्माणकला (स्थापत्य) में निष्णात प्रमुख निर्माता ("आर्किटेक्ट")
स्नेह १७/३५१ घी-तेल
स्फुरदमन्दानन्दबहुल १८/५ जिन में महान आनन्द बहुलता से स्फुरित हो रहा है।
स्रुक्-स्रुवा ९/२४२ यज्ञ में आहुति डालने के वैदिक उपकरण

स्वसंविद्-द्रुमबीज-प्ररोहणावनी १८/१० स्वरूपबोध रूपी वृक्ष का बीज जहाँ अङ्कुरित हो कर पनपता है वह भूमिरूप।

हर, ब्रह्मा ११/५८३, शिव, ब्रह्मा

हिमोदक १७/२५८ हिम जैसा ठण्डा (बर्फीला) पानी

हुताशन (ब. प्र.) अग्नि

(ख) मराठी अर्थमें प्रयुक्त संस्कृत (–तत्सम) शब्द

अनकलित २/२२० अनायास निष्कण्टक

अनावर ६/४२८, १३/९९८ वश में न आनेवाला परात्पर, मर्यादातीत

अनुसङ्ग का अगर ४/३० सख्यका सौरभ

अपभ्रंश २/११८ अधोगति ३/७ भ्रम

अबाधित २/२३२ (अ. भी) निश्चित, बाधारहित

अभङ्ग १३/९९३ अकाट्य प्रबल

अरोचक १२/१०६ अरुचि

अवधारिये १/४९ (अ. भी) ध्यानपूर्वक सुनिये

उद्दण्ड १३/६९२ अतिशय

ऊर्मि १३/६६८ (अ. भी.) भावना का आवेग, मनोवेग

कर्कश १७/४२६ विषम, कठोर

गुर्विणी १४/८९ गर्भिणी

जीवित १/७७, १३/७४३ (अ. भी) जीवन

त्रिकुटी १६/४३९ तीन अपराध चोरी-चुगली-व्यभिचार

दैव १६/३१ भाग्य

द्वन्द्व १६/३८४ झगड़ा, कलह

द्विखण्डित १३/३४६ दो में बँटी वृत्ति —सुख में हर्ष, दुःख में शोक

निर्दैव १५/२८० अभागा

निभ्रान्त (ब० प्र०) निःसंशय, निःशंक (निष्टंक) निश्चित

निर्धार १/७० विचारपूर्वक निश्चित, १३/२४१ प्रस्थापना १७/१७ सहाय, आधार १८/५८२ भेद निश्चय

पाखण्ड १३/१९ पाखण्डी, ऐसे ही अज्ञान – अज्ञानी अर्थ में

'पुण्यजन' १८/७५० राक्षस, पिशाच के लिये प्रयुक्त लाक्षणिक शब्द

प्रतिभा ११/१०१७ प्रतिबिम्ब

प्राचीन १७/३८ प्रारब्ध

बन्दिमोक्ष १६/४ कारावास से छूटना

बन्दिशाला १८/३९२ कारावास

बाधित १६/३०२ दोषरूप

भोग १८।११३७-४४ (अ. भी) आस्वाद लेना

मातङ्ग १८/५४८ कसाई

मोह १३/२५२ स्नेह-वात्सल्य ममत्व

वर १८/१०४९ पति

वस्तु (वि० प्र०) ६/७१, १३/१०६३, १५/८४ १७/२१० ब्रह्म, तत्त्व

वैकुण्ठ ११/५४७ (अ० भी) विष्णु

लग्न ६/४७२ १६/३०३ विवाह

शतवृद्ध १३/५८५ सौ वर्ष का बूढ़ा

श्रमित होता १६/४०० कष्ट पाता

सदैव १२/१७ भाग्यशाली

सभ्य चोर (ब० प्र०) ऊपर सभ्य संभ्रान्त वेश रखते हुए ठग,

समर्थ १२/८५ (अ० भी) वैभवसम्पन्न

सरल (क्रियाविशेषण) ७/२०३, १५/९८-१५०-१८७ ९/१७४ सीधे, सीधा, सीधी

संवाहन १७/३८ १८/३०६ सहायता,

साकांक्ष १७/३४ (गूढ़ प्रयोग) 'अभी और समझना चाहते हैं'

साभिप्राय ६/९ हेतुपूर्वक

साक्षेप १७/२४९ कष्टसहित, कष्ट मानते हुए।

सामान्या १८/२५० वेश्या

सारस्वत (व० प्र०) साहित्य, वाङ्मय,

सौरस, सौरस्य १०/६, ११/६१८ (अ० भी) प्रसाद, अभिरुचि, अपना रस, उपयोग

(ग) देशी भाषा के (तद्भव) शब्द
(हिन्दी, जनभाषा के विभिन्न रूप, कहीं मराठी भी)

अघाये (व० प्र०) अघाना—छक कर तृप्त होना, किसी वस्तु के सुख-पूर्वक भरपेट सेवन से तृप्ति 'अब और नहीं चाहिये' का भाव।

अदहन १३/४८३, १५/२३ दाल-चावल आदि राँधने के लिये आग पर चढ़ाया हुआ खौलता पानी।

अमाये (नहीं) १४/३०८ अँटता नहीं, समाता नहीं, पात्र छोटा पड़ता है, ढका नहीं जाता।

आधासीसी १८/१७९ एक रोग जिस में मस्तक के ठीक आधे भाग में भीषण पीड़ा होती है।

आरोगे १४/२७३ खाये

ईख—१४/२८२, १५/१२८, १८/३६३ गन्ना

उघड़े १५/१३४ (अ० भी०) खुले

ऊँघे १४/१८५ बैठे-बैठे नींद के झोंके खाता है।

ऊसर (व० प्र०) खेती के अयोग्य खारी, रेतीली जमीन

एकाध १७/२२३ कोई कभी

ओला ९/१४८ वर्षा में गिरने वाले छोटे-छोटे हिमखण्ड

कमरख १८/७९० अतिशय खट्टे स्वाद का पाँच फाँकों वाला हरा-पीला रसीला एक फल

करकट १८/३६ छुट-पुट कूड़ा-कचरा

करवत १६/२४४ मुक्ति पाने के लिये आरे के नीचे गर्दन रखना

कलली १६/२४८ रसोई पकाने के पात्र में वस्तु को हिलाने-डुलाने तथा परोसने का वड़ी डण्डीवाला गोल गहरा चम्मच।

काँख १२/५६ वगल, भुजामूल के नीचे स्थान

कांजी ९/१५१ मराठी में चावल की माँड, हिन्दी में पिसी राई नमक वाला खट्टा पानी

काई १५/४६५ सैंवार, जलमें उग कर उसी पर छा जाने वाली घास

कोंपलें (व०प्र०) नवजात सुकोमल पत्ते

खप्पर १७/४२० ठीकरे, मिट्टी के बर्तनों के टूटे टुकड़े, भैरव का खप्पर — शव की खोपड़ी-अस्थि से बना भिक्षापात्र।

खर्राटे १५/४९१ नींद में होने वाली सांस की आवाज

खुभें १५/३२५ खुभना – नुकीली या तीक्ष्ण धार वाली वस्तु (कांटा, भाला, तीर, तलवार आदि) का शरीर में धँसना, गड़ना

खोल-बांध १३/३६४ (म०) उधेड़-बुन, क्षण-क्षण में बदलना, अनिश्चय की अवस्था।

गोफन १३/२८५ (म०) गुलेल पक्षियों को ढेला-कंकड़ मार कर गिराने का एक अस्त्र

घड़ा १८/३७ (घड़ना) रचा, बनाया गठित किया

घर बांधना १३/१०९२ (म०) मकान बनाना

चकराये १६/३६५ चक्कर खाये, भ्रान्ति से भटके

चप्पू १८/३०९ नाव चलाने वाले वांस जिन में नीचे चौड़ी लकड़ी की पट्टी लगी रहती है।

चाव १७/४१ (अ० भी) उमंग-युक्त अभीप्सा उत्कट रुचि (इच्छा)

चिचड़ा १३/५६० एक सब्जी, देखने में बूढ़े सांप जैसे पोले चिमड़ाये हुए विवर्ण फल

छोर १८/१८६ किनारा

जग (ब० प्र०) जगत्

जतन १७/८३ विशेष सँभाल

जाँचना १८/१२३४ परखना, परीक्षा करना

जिस-तिस प्रकार से १५/५९५ बड़ी कठिनाई से

ज्यों-जैसे, त्यों-वैसे (तैसे) (व्र०) (ब० प्र०)

टिकली १४/३८३ चिपकाई जानेवाली बिन्दी

ठौर (ब० प्र०) (व्रज०) स्थान, ठिकाना, स्थान पर

डबरा १८/३२२ (अ० भी) बरसाती पानी भरा हुआ गड्ढा

डली (लवण०) १८/१६ नमक का छोटा ढेला

डालें १५/१९१ डालियाँ, शाखायें

डौंडी १८/२८१ मुनादी, घोषणा

ढोर १३/५६६ चौपाये, पशु

ढोवाता १८/१०६२ वहन कराता

तलाशती ६/२३२ खोजती, जहाँ भी हो वहाँ से निकाल लेने का भाव

तोतले १०/१४६ जिह्वादोष से तुतला कर बोलने वाले

थूहर ९/४३७ (सं०-स्थूण) एक पेड़ जिस के डण्ठल सीधे डण्डे जैसे होते हैं। सेंहुड़ भी उसी का नाम है।

दँवनी १३/३९ पकी फसल के ढेर को बैलों से रौंदवाकर अन्न-दाने बाहर निकालना

दह १४/२४२ गहरा गड्ढा, नदी या सरोवर का अधिक गहरा स्थान

दाँव ११/५८१ खेलमें पारी, मौका

दातार ११/५४२ दानी

दिया १३/६२७ छोटा दीपक
दूजा १४/१५२ दूसरा, अन्य
धकेले १४/५० धक्का देकर हटाये
नकेल १४/१५८ बैल भैंस ऊँट के नाक में पहनाई जाने वाली रस्सी, जिस से उनका नियन्त्रण करते हैं।
नवाई ११/२९९, १५/२३९ (म०) आश्चर्य, नयापन
निष्टङ्क १२/९७ (म०) निःसंशय, सुदृढ़, निश्चित
पटाबाजी ११/५४८ (म०) चौसर, चौपड़ – खेल
पठार १८/३५ पर्वतीय प्रदेश में बहुत ऊँचाई पर आया हुआ समतल मैदान (जैसे तिब्बत)
पड़वा १६/७५ प्रतिपदा, चन्द्र के दोनों पक्षों की पहली तिथि
पाक १५/५९३ (म० गुज०) फसल एकऋतु में प्राप्त सम्पूर्ण फलराशि
पाटी १८/१०९९ बच्चों के अक्षर सीखने के समय जिस पर काली स्याहीसे लिखा जाता था वह लकड़ी की तख्ती, या स्लेट जिस पर खड़िया से लिखते-मिटाते हैं।
पित्त उछलना १६/३९४ आवेश चढ़ना उद्दीप्त होना
पीहर (ब्र०) १३/३६७ मायका, माँ-बाप का घर
पुतली १६/११७ नेत्रका मध्यस्थ काला गोलक
पुरती ६/५९ पूर्ण होती, पुरी – पूर्ण हुई
पुराते १८/२९२ पूर्ण करते
पूर–(ब०प्र०) नदी-नाले में अधिक पानीके वेग से आने वाली बाढ़
पेरना – १२/२०० तिलहन से तेल, गन्ने से रस निकालने की क्रिया
पैठते १३/६२३, २८ (अ० भी.)
पैठना – प्रवेश कर के स्थिर होना गहराई में प्रवेश करना।
पोसे १६/२३ पुष्ट किये, पोषित
पौढ़ा ६/३७० लेटा, शय्या या हिंडोले में सुखनिद्रित।
पौ फटना १६/७ प्रभात होना उषा का उदय
फानूस १३/१८३ छत से लटकाने वाले काँच या बिल्लौर के सजावट वाले दीप-पात्र।
फोकट १३/४५८ मुफ्त, व्यय या श्रम किये बिना प्राप्त।
बँटवारा १५/४२७ सम्पत्ति विभाजन
बचनाग १८/७९६ एक विष, जो पहले मीठा लगता है। सींगिया तेलिया।
बबुआ १८/४३८ खेतों मे पक्षी आदि को डराने के लिये खड़ा किया हुआ मनुष्याकार।
बरौनियाँ १८/३२७ पलकों के आगे के बाल
बंजर (ब० प्र०) खेती के अयोग्य बजरीवाली या वीरान जमीन
बंसल या सब्बर १७/१४३ नुकीला-तीखा भारी औजार जो पत्थर या दीवार में छेद करने के काम आता है।
बाल १४/१२६ गेहूँ-जौ आदि के पौधों का फलभाग जिस में दाने गुछे होते हैं।

विसरे १३/१२७ (व्रज०) भूले

बेड़ी १८/१०६२ कैदी के पाँव में डाली जाने वाली लोहे की सांकल।

भँवर १४/२२८ आँधी में गोल-गोल चक्कर घूमने वाली तेज हवा।

मट्ठीपात्र १८/१४१ धोबी का बड़ा बर्तन जिसमें मैले कपड़ों को साबुन सहित उबाला जाता है।

भराव १३/११३५ भरापन

भाथी १५/४०८ आग तेज करने के लिये सीधी तेज हवा देने वाली चमड़े की धौंकनी (लुहार-सुनार कलईकार के उपयोग की)

भुट्टे १८/२५३ मक्का-ज्वार-बाजरा के पौधे का फलभाग जिस में दाने गूंथे रहते हैं।

भूले भी तहँ २/३४५ (व्रज०) भूल-कर भी वहाँ

मदारी १८/६०६ नट, बाजीगर प्राणों को संकट में डाल कर तमाशा दिखाने वाले।

महन्त १६/३७८, १७/३४७ (म०) महान् व्यक्ति

मींचीं १५/१३८ मूंदी, बन्द की हुई (आँख)

रायते १७/१४७ राई पीस कर मिलाये हुए चटपटे तीखे व्यञ्जन (मराठी पद्धति के) (दही का सौम्य व्यञ्जन यहाँ अभिप्रेत नहीं)

रीता १७/१९, रिक्त, खाली

रौब १४/१९१ शान, धाक, दबदबा

लगे आग }– १३/४७१ तिरस्कार-
जले वह }– ९/४३६ –सूचक

लंघन १७/३५० उपवास, फाका

लपक पाते १२/४० झपट कर हाथ में ले पाते।

लाड़ १५/५९८ (अ० भी.) दुलार, वात्सल्य स्नेह

वाट (व० प्र०) राह, पथ

विनसे १८/२२९ नष्ट होता है।

शेवन्ती १५/५९६ (म०) गुलदावरी या गुलदाउदी फूल

सराह ११/६२३ प्रशंसा कर! (मिलने का अहोभाग्य मान!)

सांकल १६/२६६ कैदी को बाँधने की बेड़ी, निगड

साध ११/३७० (साध्य) उत्कट हार्दिक अभीप्सा, चाह,

साध कर १६/३४४ निशाना तान कर

सेंवार १८/२७२ (अ० भी०) सं. शेवाल, देखें-काई

सेंहुड़ ९/१७४ थूहर

हाँडी १६/३६८ रसोई बनाने का मिट्टी का गोल पेंदी का बर्तन।

हित (व० प्र०) 'पाने हित,' 'करने हित' इ० (व्रज०) 'के लिये' के अर्थ में अव्यय। इसी अर्थ में 'हेतु' भी अनेक बार प्रयुक्त हुआ है।

हौंस – हवस (व० प्र०) उमंग – उत्कण्ठा – प्रबल इच्छायुक्त उत्साह

हौआ – १५/२१४ (अ० भी०) बच्चों को डराने के लिये कल्पित भयानक जीव।

(घ) संस्कृत धातुओं के देशीकृत प्रयोग

अनुभवते – अनुभव करते।
अनुभवें – अनुभव करें।
आन्दोले – आन्दोलित होती है।
अलिङ्गती– आलिङ्गन करती।
उद्दीपे – उद्दीप्त हो।
धारे – धारण करे।
'ध्या 'कर – ध्यान कर के।
प्रकाशे – प्रकाशित हो, प्रकाशित करे; करता है।
प्रवेशे – प्रवेश करे, करता है।
वर्णे – वर्णन करे, करती है।
विश्रमे – विश्रान्त हो जाती है।
विरमे – गति रुक जाती है।
सञ्चरती – सञ्चरण करती है।
सञ्चरे – संचरण करे।
संवेदें – संवेदना लें।
स्पर्शे – स्पर्श करे, करता है।
इत्यादि

(ङ.) पारिभाषिक शब्द

अनाहत नाद ६/२७४–२७९, १२/७ (अ. भी) योगसाधना की विशिष्ट भूमिका में सुनाई देनेवाला अन्तर्नाद जो स्वरयन्त्र में पवन-अग्नितत्त्वों के आघात से उत्पन्न न होने के कारण अनाहत कहलाता है।

अपान ६/२००, १२/४८ (अ० भी) पञ्चप्राणों में द्वितीय। शरीर के निचले भाग में वायु–संचालन करने वाला वायु।

अर्धमात्रा ६/३०४ (अ० भी) अर्धबिम्ब ८/११५ आगम में प्रणव अक्षर की साढ़े तीन मात्रायें कही गई हैं, उन में अन्तिम अर्धमात्रा, इस का ध्वनि सम्बन्ध अनुस्वार से है। आगम-तत्त्वज्ञान में इसका बहुत माहात्म्य है।

इड़ा – पिंगला – सुषुम्णा ६/२४४, २७१ (अ० भी) प्राणवाहिनी त्रिविध नाड़ी के नाम; गुदास्थान के निकट से तीनों निकलती हैं। मध्यस्था सुषुम्णा के बाँयी ओर इड़ा और दाहिनी ओर पिंगला हैं। नासिकामूल-पर्यन्त तीनों साथ हैं। भ्रूमध्य में तीनों परस्पर मिल जाती हैं। सुषुम्णा आगे ब्रह्मरन्ध्र तक गई है। साधारणतया प्राणशक्ति निरन्तर इड़ा-पिंगला द्वारा श्वास-प्रश्वास रूप में प्रवाहित होती रहती है। इड़ा चन्द्रनाड़ी और पिंगला सूर्यनाड़ी कहलाती है।

उड्डीयान बन्ध ६/२१० दोनों जानु (घुटने) मोड़कर पाँव के तलुओं को परस्पर मिलाकर नाभि के ऊपर नीचे के आठ अंगुल हिस्से को बलपूर्वक खींच कर मेरुदण्ड से लगा देना, जिससे पेट के स्थान पर गड्ढा सा दिखने लगे।

उन्मनी ३६/३२० जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति-तुरीया से भी आगे बढ़कर मन-रहित चैतन्यावस्था। वह नित्य रहे तो उन्मनी स्थिति (कबीर–प्रोक्त 'उन्मनि रहनी)

उन्मेष १३/१०९२, १५/५८४, १६/८ उदित ज्ञान, शैवदर्शन का विशेष शब्द।
ककारान्त १२/५२ सुषुम्णा का अन्तिम छोर, सुषुम्णामुख।
काकीमुख ६/३२० योगसाधना का विशेष पारि० शब्द, कण्ठस्थान,
कुण्डलिनी व० प्र० तान्त्रिक ग्रन्थों के अनुसार मूलाधार चक्र के नीचे त्रिकोण-मण्डल के मध्य ब्रह्मनाड़ी। सुषुम्णा के आरम्भक मुख में स्वयंभू लिंग में अतिसूक्ष्म विद्युत-समान अद्‌भुत दिव्यशक्ति वालीनाड़ी, जिस का वर्णन ऐसी सर्पिणी के रूप में किया जाता है जो साढ़े तीन लपेट खाये हुए अपनी पूँछ को मुखमें दवाये शंखाकार हो कर सो रही हो। निखिल ब्रह्माण्ड में जितनी शक्तियाँ वर्तमान हैं वे सब पिण्ड (शरीर) में इस कुण्डलिनी नामक शक्ति में सघन रूप से स्थित हैं। तन्त्र में इसे कुलकुण्डलिनी कहा गया है।
कुम्भक (६ठे अ० में अनेकबार) प्राणायाम का प्रकार, प्राण की स्तम्भ-वृत्ति। श्वास-प्रश्वास दोनों गतियों के अभाव से प्राण को जहाँ का तहाँ रोक देना।
कोष्ठ ६/२१७ शरीर के भीतर के पोले व खाली स्थान
क्षेत्रसंन्यास ६/३६७ निश्चित की हुई अवधि तक एक ही स्थान में रहने का व्रत
चन्द्र और दिनमान पवन ६/२४४ क्रमशः इड़ा और पिंगला नाड़ियों से प्रवाहित होते हुए प्राण।
चन्द्रामृतघट ६/२४७ योगशास्त्र व तन्त्र के अनुसार मस्तक के अन्तर्गत व्योम चक्र में स्थित अमृतघट, सत्रहवीं कला।
जालन्धर बन्ध ६/२०८ कण्ठ को मोड़कर ठोडी को कण्ठकूप में स्थापित करना। यह कण्ठस्थान के नाड़ीजालसमूह को बाँधता है अतः जालन्धर बन्ध नाम है।
तुरीया ६/३२० (अ० भी) जागृति–स्वप्न–सुषुप्ति से आगे बढ़कर चेतना का चौथा आयाम
दशांगुलपवन ६/२३६ रेचक प्राणायाम के दीर्घसूक्ष्म स्तर में प्रश्वास नासिका से बारह अंगुल तक जाता है।
नाथसंकेत का दंश ६/२९१ नाथसम्प्रदाय का रहस्य, मर्म।
नाद–बिन्दु–कला–ज्योति ६/२८८ तन्त्र के विशेष पारि० शब्द (यहाँ विवरण सम्भव नहीं)
पद-पिण्ड ३/२७२, ६/३०८ पद–शिव या परमतत्त्व, पिण्ड–जीव; शैवदर्शन के विशेष शब्द
पश्यन्ती ६/३०३ वाणी के स्तरों में ऊपर से दूसरा स्तर, जहाँ शब्द और अर्थ अभिन्न हैं, दृष्टिमय श्रवण और कथन हैं।

पूरक – प्राणायाम का प्रकार, प्राण को आभ्यन्तर वृत्ति, श्वास भीतर खींच कर स्वाभाविक गति का अभाव।

भृकुटीचक्र ६/२४७ भृकुटी के मध्य स्थान में स्थिर आज्ञाचक्र, जहाँ इडा· सुषुम्णा एकत्र मिलती हैं।

मकारान्त सोपान १२/५६ प्रणवाक्षर ॐ जिसका तत्त्वबीज है वह आज्ञाचक्र।

मणिपूर ६/२१५ नाभिस्थानीय चक्र

मध्यमा ६/२४६, १८/७३९ वाणी के चार स्तरों में नीचे से द्वितीय; मनः-स्थानीय, वर्णविभाजन और ध्वनि से रहित वाणी।

मूर्धानभ ६/३०२ मस्तक के उच्चतम भाग का आकाश, ब्रह्मरन्ध्र।

मूलबन्ध ६/१९९ दोनों अधोद्वारों के संकोचन द्वारा अपानवायु को ऊपर खींचने की मुद्रा।

योगपट १६/३३२ संन्यासदीक्षा के पश्चात् पालने के नियम।

रेचक–प्राणायाम–प्रकार, प्राणवायु की बाह्यवृत्ति। प्रश्वास द्वारा वायु बाहर निकाल कर उसकी स्वाभाविक गति का अभाव।

वज्रासन ६/१९९ दोनों घुटने मोड़कर पाँव के तलवे अधोद्वार के दोनों ओर टिका कर बैठना।

वैखरी ६/३१२ वाणी के चार स्तरों में नीचे से पहला स्तर, स्व-पर-वेद्य उच्चारण में आने वाली वाणी, यहाँ शब्द और अर्थ भिन्न रहते हैं।

षट्चक्र ६/२४४ योगशास्त्र एवं तन्त्र-प्रतिपादित सूक्ष्मनाड़ियों – सूक्ष्मशक्तियों के शरीरस्थ मुख्य केन्द्रस्थान। मूलाधार, स्वाधिष्ठान (पेडूस्थान) मणिपूरक (नाभि स्थान) अनाहत (हृदयस्थान) विशुद्धि (कण्ठस्थान) आज्ञा (भृकुटी)। सप्तम सहस्रार (मस्तिष्क)।

सत्रहवीं (कला) १२/५४, १५/५७४ देखें चन्द्रामृत। योगमार्ग, शैव दर्शन में सप्तदशी कला उच्चतम प्रकर्षस्थिति की सूचक है। चन्द्र की १५ कलायें जगत् में प्रकट हैं जहाँ घटना-बढ़ना चलता है। इस न्यूनता से रहित हैं षोडशी – निजस्वरूप में पूर्णता की स्थिति, उस के भी बढ़कर – सप्तदशी स्वयंपूर्ण होते हुए अन्य को भी पूर्ण बनाने की क्षमता वाली स्थिति।

सप्तधातु ६/२३५ शरीररचना के घटक – रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र ये सात धातु आयुर्वेद में कहे गये हैं।

सामरस्य ६/३८९ (अ० भी०) परमतत्व से ऐक्य, शैवदर्शन का विशेष शब्द।

सोहंभाव ब० प्र० 'वह ब्रह्म मैं हूँ' – ऐसी ऐक्यबोध की वृत्ति।

परिशिष्ट ३

विशिष्ट तथा नवीन उपमा-दृष्टान्त-रूपकादि

१/३–१८ शब्दब्रह्मरूप श्रीगणेश–विग्रह–वर्णन (रूपक)
१/५९–६० सुकोमल सेवन की उपमा
१/७२ अनिरूपता का उपमान
१/११९–२० भीष्म का रूप
१/१८६ करुणा-अपमानित वीरवृत्ति
१/२४०–४१, ४४, ४८, ५२-५९ कुलक्षयकृत दोष की उपमायें
२/१३–१६, २२३ असम्भव विपरीत वृत्ति के उपमान
२/७०–७२, ७५-७९ अर्जुन की विफलता पर रूपक
२/१४०–४१ 'तनुनाश से तत्त्वनाश नहीं'—के उपमान
२/१५३ आदि-मध्य-अन्त की निरन्तरता की उपमा
२/१८४ असमय की वृत्ति का उपमान
२/१९५ यदृच्छा की उपमा
२/२५१–५४ बनी बात बिगाड़ने के दृष्टान्त
२/२९७; १२/१९७-२००, १३/६०१–३ समता, समानता के उप० दृ०
२/३६३-६४ उत्कृष्ट–अपकृष्ट
३/८–९, ७/९३-९६, १०/६९-७१ विपरीत असम्भव कार्य की उपमायें . . . .
३/३८-४२ विभिन्न मार्गों की मंजिल एक; विभेद की उपपन्नता के दृ०
३/४७-४८ साधन-बिना साध्य कैसे?
३/२००–२०१, १६/२३४, १८/६१८ दीपक–पतंग-सम्बन्ध का नवीन रूप।
३/२४०-२६२ काम-क्रोध पर रूपक
४/१२०-१३८ ब्रह्मकर्म पर रूपक
४/१७७–१८२ ज्ञान की उत्तमता में अनन्वय
५/९०–९२ ज्ञानी की दृष्टि (अभेद, समता) पर रूपक
५/१०७ आत्मतुष्टि पर दृष्टान्त
५/११०–११९ विषयसुख की भ्रान्ति पर दृ०।
६/२४८–८६ कुण्डलिनी — जागरण के पश्चात् साधक की कान्ति का उत्प्रेक्षाभरा निरूपण।
६/२६–३० गीतार्थ–ग्रहण के अधिकार पर दृ०।
६/४४ निष्काम कर्म का दृ०!

६/६८–१०० अविद्याकृत द्वैत तथा अद्वैतबोध पर रूपक–दृष्टान्त
६/३९६–४०० ऐक्य की उपमायें
७/१६५-१७१ संसार-रहस्य पर रूपक
७/१८५-१९५ श्रीकृष्णवाणी पर रूपक
८/४१-४४ ऐक्य और द्वैत पर दृ०
८/६०–६६ आतमरत की स्थिति पर दृ०
८–७०–७४ 'अन्तमति सो गति' पर उत्प्रेक्षा
९/८–३१ उपमाजटित विनय–निवेदन
९/४३–४५ विवेचन की उपमा
९/७४–८१ भेदभ्रान्ति के दृ०
९/१०६–१३१ सन्निधि-कर्तृत्व के दृ०
९/१९७-२०८ महात्मा-महिमा वर्णन
९/२३३–३६ अल्प आर्ति महान् दान के दृ०
९/३११ अभागे की मूर्खता
१०/७८ ज्ञानी की मनुष्यता पर उत्प्रेक्षा
१०/१११–१२५ अभेद की उपमायें
११/२२१–२५ विश्वरूप की शोभा पर उत्प्रेक्षा
११/५३८–५४० व्यर्थ गँवाने के दृ०।
११/६२४–२७ सौभाग्य को धकेलने के दृ०।
१२/४६–५७ अव्यक्तोपासना का रूपकमय वर्णन
१२/६२–७२ अव्यक्तोपासना की दुष्करता का दृष्टान्तमय वर्णन
१२/११९–२३ शरणागति के दृ०।
१२/१२९–३३ कर्मफलार्पण के दृ०।
१२/१९७–२०० समता के दृ०।
१३/२७–४८ 'क्षेत्र' का खेती–परक रूपक
१३/२३१–३४ मूर्खताभरे कार्य के दृ०।
१३/२४६–५४ सुकोमल कर्म (अहिंसा) के दृ०।
१३/३२०–२६ विषाद-निरूपण का कारण-निवेदन
१३/५२५–३४ निरहङ्कारिता के दृ०।
१३/५३७, ५४५–५५२ सावधानता तथा समय रहते काम कर लेने के दृ०।
१३/५५६-७० वृद्धावस्था की उपमायें
१३/५९४-९८ अनासक्ति के दृष्टान्त
१३/६४१–४४ मधुर से अघाये कौन?
१३/६५२–५४–५६ स्वाभावोक्ति अलंकार
१३/६५७–८५० प्रतिपद उपमा–दृष्टान्तों से भरा अज्ञान-निरूपण

१३/७२०–२२ दोष का दोषात्मक दृ०।
१३/७८२-८०३ आसक्ति-निरूपण में विविध दृ०।
१३/८९२–९५, ९१३-१६ व्यापकता (सर्वांगस्थिति) के दृष्टान्त
१३/८९६–९०३ विकारों में स्थित भी विकारी नहीं – दृ०।
१३/९०५–१२ निर्गुण का गुण-सम्बन्ध – दृ०।
१३/९१८-१९ अनेक में एक की व्याप्ति – दृ०।
१३/१०६२–६७ नाना आकारों में एक तत्त्व – दृ०।
१३/१०८२–८३ सक्रिय-निष्क्रिय-सम्बन्ध – दृ०।
१३/१०९५–११०३, ११११६–२७ देह-आत्मा-सम्बन्ध – दृ०।
१३/११०५–७ देह की नश्वरता के दृ०।
१३/११०८–१५ 'नेति'–शैली में प्रासादिक व रोचक आत्मा-वर्णन
१४/२–१३ परब्रह्म-रूपक से काव्यात्मक श्रीगुरु-स्तवन
१४/७२–८५ नवीन-सरल दृष्टान्तों से अज्ञाननिरूपण
१४/८७–११६ जगत्-सृष्टि का रूपक
१४/११७–१३५ जगत् ब्रह्म का ही रूप है, भिन्न नहीं – विविध दृ०।
१४/२९५–९७ अकर्तृत्व के दृष्टान्त
१४/३०१–६ जीव-ईश–ऐक्य – दृ०।
१४/३०८–१७ देहभाव से मुक्ति – दृ०।
१५/४८–६२ संसारवृक्ष की ऊर्ध्वमूलता पर विविध नवीन निरूपण
१५/१११–१३ अश्वत्थ के अर्थ की उपमायें
१५/११९–१३२ प्रवाह-नित्यता के दृ०।
१५/१३३–३७ भ्रमजन्य सत्-प्रतीति के दृ०।
१५/१४७–२०८ सृष्टितरु का स्वभावोक्ति-सदृश विस्तीर्ण रूपकमय रूपक।
१५/२१४–२४२ मिथ्या के विविध नये उदाहरणों से अनेक रूपकमय दृष्टान्त।
१५/२३१-३६ असत् की अनादिता की उपपत्ति में रूपक।
१५।४७१–७६ क्षर-अक्षर पुरुष तथा संसार पर ग्राम का रूपक।
१५/४८७–९७ द्वैत-अद्वैत में स्वप्नरूपक
१५/५५७ अनन्वय
१५/५६६–७८ ज्ञानखड्ग से भव-तरु-छेदन पर रूपक
१६/१२५–३० अक्रोध के विविध दृष्टान्त
१६/१३१–३४ मूलत्याग से समस्तत्याग के दृ०।
१६/१४१–१५२ अपैशुन्य व सहज करुणा के दृ०।
१६/१६८–१७४ दृष्टान्त-भरा 'मार्दव' वर्णन
१६/१९० क्षमा की उपमा, १६/२०५ लज्जा की उपमा

१६/१९१–९६ धृति के दृष्टान्त
१६/२१८–२६० विविध दृष्टान्तों से भरा आसुरी-गुण-वर्णन
१६/२७६–७८, २८१–९४ प्रकृति व शरीर में आधार-आधेय-भाव के दृष्टान्त
१६/३१८–४०४ आसुरी–प्रकृतिवालों का उपमा-दृष्टान्त-भरा वर्णन
१७/१–८ गणेशरूपक से सद्गुरु–स्तुति
१७/२४ शास्त्रोक्त कर्म की दुष्करता का दृ०।
१७/५२–५४ संग-जन्य दोष के दृ०।
१७/८८–९१ श्रद्धा से प्राप्त फल के दृ०।
१७/२३५ सहज भावशुद्धि की उपमा
१७/२७५-७६, ७९–८० निष्काम दान की उपमायें
१७/३५०–५१ विनियोग-विना विफलता के दृ०।
१७/३८९–९९ सत्‌शब्द अपूर्ण को पूर्ण करता है – अनेक दृ०।
१८/३०–४९ गीता की अध्यायसंगति – विशाल प्रासाद का सर्वांग रूपक
१८/५१–५८ अनेक में एक की अभिव्यक्ति के दृष्टान्त
१८/८४ अविलम्ब कार्य का दृष्टान्त
१८/९४–९६ सहज और परिश्रमसे उत्पाद्य के दृष्टान्त
१८/१०२–१०५ अवश्यंभावी तथा अमिट होनेके दृष्टान्त
१८/११५–१७ अनायास स्थिति के दृष्टान्त
१८/१२०–२२ सहज-लभ्य फल के दृष्टान्त
१८/१२३–२५ फलत्याग के दृ० ।
१८/१४९–५२ कर्म-उद्यम कब तक करना – इस के दृष्टान्त
१८/१५४–५७, १६१–६४ नैष्कर्म्य के लिये कर्म–उपयोगिता के दृष्टान्त
१८/१६७–६९ कर्ताभावरहित कर्म के दृष्टान्त
१८/१७२–७४, २०२–४ फलाशा रहित फलत्यागपूर्वक कर्म के दृ० ।
१८/१७८–८१ मूर्खता-उत्तेजना से अपनी हानि के दृष्टान्त
१८/१८५–८७ आरम्भ कठिन फल सुखद के दृष्टान्त
१८/१९३–९५ व्यर्थ हानि के दृ०
१८/२१९–२६ कर्मत्याग असंभव – विविध दृष्टान्त
१८/२५३–५५ कर्म और फलभोग की प्रवाह–शृंखला के दृ० ।
१८/२६३–६५ मूलनाश से विस्तार–नाश के दृ० ।
१८/२८६–८७ सुख-विभोर अर्जुन का अलंकृत वर्णन
१८/३०७–१२ आत्मा के अकर्तृत्व के विविध दृष्टान्त
१८/३२७–३० एक कर्तव्यशक्ति से अनेक कर्ता–कर्म–प्रतीति के दृष्टान्त
१८/३४४-५० एकावली का नया रूप
१८/३७८–८० कर्ता-कर्म से पृथक् आत्मा के दृष्टान्त

१८/४१४–२१ आत्मस्थ को (देह में) अहंभाव नहीं – विविध दृष्टान्त
१८/४२२–२९ आत्मस्थ के कर्म – विविध दृ०
१८/४३३–३६ विदेह–दृष्टि के दृष्टान्त
१८/६१८–६२५ स्वयं कष्ट सहकर भी दूसरे को कष्ट देना (तामसकर्म) के दृ०
१८/७८५–८६ विषय छोड़ने में इन्द्रियों के कष्ट के दृ०
१८/८३३–७८ ब्राह्मण के नवगुणयुक्त, क्षत्रिय के सप्तगुणयुक्त कर्म का उपमा–बहुल वर्णन
१८/९२२–५० स्वधर्माचरण का दृष्टान्तबहुल औचित्य वर्णन
१८/९५२–८७ स्वधर्म-कर्म से नैष्कर्म्यदशा – मोक्ष – आत्मोपलब्धि का प्रासादिक दृष्टान्तबहुल वर्णन
१८/१०८५–११११ ब्रह्मभाव-उदय का क्रम एवं दशा का दृष्टान्त-बहुल वर्णन
१८/१११३–११३३ भक्ति का तात्त्विक (नवीन) दृष्टान्तपूर्ण प्रासादिक वर्णन
१८/११४५–५१ अद्वैतबोध होने पर ही भक्ति सम्भव – दृष्टान्तबहुल वर्णन
१८/११५३–९२ अद्वैतदशा में भक्ति के उपचारों – स्तवन-दर्शन-यात्रा-कर्म-पूजा इत्यादि का दृष्टान्तमय वर्णन
१८/११९३–१२०० परमात्मतत्त्व का वेद-उपनिषद-शैली में प्रासादिक वर्णन।
१८/१२०१–१८ भगवद्रूपता या अद्वयबोध का दृष्टान्तमय वर्णन।
१८/१२५२–५७ आत्मबोध-उदय से शुभाशुभ कर्म-द्वैत की समाप्ति के विविध दृ०
१८/१२८७,९७ स्वभाव की बलीयता का सचोट दृष्टान्त
[१८/१२९९–१३१४ ईश्वर सब को चलाता है – के विविध रूपक, दृष्टान्त
१८/१३४७–५१ गुह्यतम देने का कारण कथन – दृष्टान्त
१८/१४०७–१३ अद्वयता के शरणागत होने पर समस्त दोषमुक्ति के दृष्टान्त
१८/१४१७–२५ श्रीकृष्णार्जुन-मिलन का अलंकृतवर्णन
१८/१५१८–२० रमणीय वर्णन
१८/१६३१–५५–५८ जहाँ श्रीकृष्ण-अर्जुन वहीं विजय – दृष्टान्तबहुल वर्णन
१८/१६६४–७६ गीताग्रन्थ का विविध रूपक अपह्नुति आदि अलंकारपूर्ण वर्णन
१८/१६७७–८४, ८५–९५ गीता के सभी श्लोक समान स्तर के हैं तथा गीता का कैसा भी स्पर्श मोक्षप्रद है। अलंकृत वर्णन
१८/१६९७–१७०७ गीता द्वारा परमतत्व की सर्व–सुलभ भोग्यता का दृष्टान्तमय वर्णन
१८/१७०९–२२ देशी भाषा में गीतार्थ कहने के औचित्य का दृष्टान्तमय वर्णन
१८/१७२३–५० श्रीश्रीगुरु (निवृत्तिनाथ) की महिमा-कथनपूर्वक ज्ञानेश्वरी ग्रन्थ की उत्तमता का दृष्टान्तबहुल वर्णन

शुद्धिपत्र

(अनेक स्थानों पर अनावश्यक बिन्दु ˙ अक्षरों के बीच में, अक्षरों के ऊपर नीचे मात्राओं के बीच छपने में आ गया है। अनेक जगह ा के बदले । ɪ छपा है। अनेक बार मात्रायें, ˙ ˜, अक्षरों के आधे भाग कभी पूरे अक्षर भी उड़े हैं, टूटे हैं, अपने स्थान से खिसक गये हैं। अनेक बार ऋ के स्थान पर ऋ छपा है। इन्हें नगण्य कर के जहां अर्थ-व्यतिक्रम या अस्पष्टता ६८ की संभावना है वे स्थल इस पत्रक में दर्शित हैं।)

पृष्ठ	ओवी	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१२	१८८	१	म	में
१५	२३३	३	पुष्य	पुण्य
१९	६	१	भया	भैया
४३	१	३	सुनें	सुने
४३	७	१	कहे	कहें
४४	२३	२	क्य	क्या
४५	अध्यायनाम		द्वितीय	तृतीय
४६	६२	१	वसे	वैसे
६५	६३	२	सद्रूप	मद्रूप
७४	२१९	४	दव	दैव
७८	४२	२	प्राण	घ्राण
८६	१७०	२	दुलरा	दुलार
९०	३९	४	ह	हैं
९७	१५२	१	श्र	श्री
९९	१८६	३	द्गुरु	सद्गुरु
१००	२०१	१	कम्पुट	सम्पुट
१०१	२२२	४	आ	हुआ
१०५	२७१	४	गें	में
११०	३५३	२	वढ़	वढ़े
"	३६०	१	साआंक्ष	साकांक्ष
१११	३७१	१	म	में
१२९	१५०	४	ह ते	होते
१३०	१६४	३	(अस्पष्ट)	संसार
"	१६५	२	ख लती	खोलती

१३०	१७२	२	तक्ष्ण	तीक्ष्ण
१४२	१२९	१	भक्ति	भक्त
१४३	१५०	१	स्वप्र	स्वप्न
१५१	१	१	दे	दें
१६७	२६७	३	ममिधा	समिधा
१८०	४६३	१	मा	भी
१९०	८१	३	मुम्र त्पन्न	उत्पन्न मुम्र
२०४	३०३	१	का नहीं	का कहीं
२१७	१६८	१	और	ओर
२२०	२१८	२	किरीटो	किरीटी
२२५	३००	२	जसा सर्य	जैसा सूर्य
२२९	३५४	२	ढके जायें	न ढके जायें
२३२	४०६	४	क	का
२३९	५१७	४	प्रवेश	प्रवेशो
२४२	५६८	२	हा	हो
२४६	६३७	२	भूला	भूलो
२५२	८	२	मैं	में
२५४	३१	२	खरी	वैखरी
२६०	१४२	१	कर्मफल त्याग	कर्मफल-त्याग
२६४	१९४	२	भेद जिस	भेद न जिस
२६८	४	१	भावा	भावों
२७२	७६	४	महाभूंत	महाभूत
२७६	१२८	२	दिल ये	दिलाये
२८१	२१३	३	दता	देता
२९८	४८९	४	जसे	जैसे
३०१	५२८	४	?	प्रश्न नहीं
३१९	८२८	३	छूट	छूटे
३२०	८३२	३	वसा	वैसा
३२३	८९१	२	आका रसे	आकार से
३३७	११९७	४	जसा	जैसा
३४८	९७	२	गटते	प्रगटते
	१०२	१	पांचा	पाँचों
३५०	१३४	४	हा	ही
३५३	१८८	३	का	को

३५४	१९६	४	का	को
३५५	२०७	२	उग्र	अग्र
३८६	२७४	३	हा	ही
३८७	३०२	३	वसे	वैसे
३९९	४८७	४	भेँ	मेँ
४००	५०८	२	अत्म	आत्म
४०९	४५	२	वल	बल
४१८	१८९	४	आध्यामित्क	आध्यात्मिक
४३७	१३	३	बसारे	बिसारे
४४१	६५	३	प्रवृत	प्रवृत्त
४४४	१११	३	बुद्धि	वृद्धि

[इस के आगे शुद्धिपत्र देना सम्भव नहीं हो सका है]

।। ईश्वरार्पणमस्तु ।।

।। हरिः ॐ तत् सत् ।।

चेतोदर्पणमार्जनं भवमहादावाग्निनिर्वापणम् ।
श्रेयः कैरवचन्द्रिकावितरणं विद्यावधूजीवनम् ।
आनन्दाम्बुधिवर्धनं प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनम् ।
सर्वात्मस्नपनं परं विजयते श्रीज्ञानवाग्वैभवम् ।।

(श्रीश्री चैतन्यमहाप्रभु द्वारा श्रीकृष्णसंकीर्तन के प्रति गाये गये उक्त श्लोक के सभी विशेषण श्रीज्ञानदेव-वाणी में अनुभव होते हैं, इसी भावना से 'श्रीकृष्ण-संकीर्तनम्' के स्थान पर 'श्रीज्ञानवाग्वैभवम्' पद रखा है।)

'प्रसाद'

अब विश्वात्मक देव। बरसें सकल सुमङ्गल।
इस वाग्यज्ञ से हों सन्तुष्ट। ईश्वरनिष्ठों का समुदाय।
तुष्ट होकर प्रसाद-दान। अनवरत भूमण्डल पर।
दें मुझे यही ॥१॥ यह देखे प्राणी ॥४॥

खलों की कुटिलता छूटे। कल्पतरु के उद्यान सचल।
सत्कर्म में उनकी रति बढ़े। चेतना-चिन्तामणि के ग्राम।
भूतों में परस्पर प्रगटे। जो मुखरित अर्णव।
हार्दिक मैत्री ॥२॥ पीयूष के ॥५॥

जाये दुरितों का तिमिर। चन्द्रमा जो अलाञ्छन।
स्वधर्मसूर्य हो उदित। मार्तण्ड जो तापहीन।
जो जो चाहें वह करें प्राप्त। वे सबके प्रति सदा सज्जन।
प्राणिजात ॥३॥ हों प्रिय सबके ॥६॥

किम्बहुना सर्वसुखों से। पूर्ण हों तीनों लोक ये।
आदिपुरुष का भजन करें। अखण्डित ॥७॥

[श्रीज्ञानेश्वरी—१८वाँ अध्याय, ओवी १७९३-९८]